द्वै मासिक अप्रैल १९६४

अनेकान्त

श्री बड़े बाबा (भ० आदिनाथ) कुंडलपुर

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के १७ वें वर्ष का वार्षिक मूल्य जिन अधिकांश ग्राहकों का प्राप्त नहीं हुआ, उन्हें चाहिये कि अनेकान्त का प्रथमांक पहुँचते ही पेशगी मूल्य छह रूपया मनीआर्डर से भिजवा कर अनुग्रहीत करें। मूल्य प्राप्त न होने पर अगला अंक वी. पी. से भेजा जावेगा। आशा है प्रेमी महानुभाव इस निवेदन पर ध्यान देंगे, और अपना मूल्य निम्न पते पर भिजवा ने की कृपाकरें।

व्यवस्थापक अनेकान्त
वीर सेवामंदिर २१ दरियागज दिल्ली

सहायता

ला० प्रद्युम्नकुमार नरेशचन्द्रजी जैन पानीपत ने बाबू जयभगवान जी एडवोकेट पानीपत के स्वर्गवास के समय निकाले हुए दान में से इक्कीस रूपया सधन्यवाद प्राप्त हुए।

प्रेमचन्द जैन
सं० मंत्री, वीर सेवा मन्दिर

दानी महोदयों से निवेदन

जो धर्मात्मा सज्जन धार्मिक कार्यों में दान देते रहे हैं वे दान देते समय अनेकान्त पत्र और वीर-सेवा-मन्दिर लायब्रेरी को न भूलें, इन्हें भी अपना आर्थिक सहयोग प्रदान कर पुण्य व यश के भागी बनें। अनेकान्त के स्वयं सहायक बन कर और अपने मित्रों को बना कर, तथा स्वयं ग्राहक बन कर और प्रेरणा द्वारा दूसरों को बना कर जैन संस्कृति के अभ्युत्थान में सहयोग प्रदान करें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपये
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ न. पै.

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १७	वीर-सेवा-मन्दिर, २१, दरियागंज, देहली-६.	अप्रैल
किरण, १	वीर निर्वाण सं० २४६०, वि० सं० २०२०	सन् १९६४

शान्तिनाथ स्तोत्रम्

त्रैलोक्याधिपतित्वसूचन परं लोकेश्वरैरुद्धृतं,
यस्योपर्युपरीन्दुमण्डलनिभं छत्रत्रयं राजते ।
अश्रान्तो द्गतकेवलोज्ज्वलरुचा निर्भर्त्सितार्क प्रभं,
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥१
देवः सर्वविदेष एष परमो नान्यस्त्रिलोकीपतिः,
सन्त्यस्यैव समस्ततत्त्वविषया वाचः सतां संमताः ।
एतद्घोषयतीव यस्य विबुधैस्ताडितो दुन्दुभिः,
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥२

पद्मनंद्याचार्य

अर्थ—जिस शान्तिनाथ भगवान के एक एक के ऊपर इन्द्रों के द्वारा धारण किए गए चन्द्रमण्डल के समान तीन छत्र तीनों लोकों की प्रभुता को सूचित करते हुए निरन्तर उदित रहने वाले केवलज्ञान रूप निर्मल ज्योति के द्वारा सूर्य की प्रभा को तिरस्कृत करके सुशोभित होते हैं वह पाप रूप कालिमा से रहित श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगों की सदा रक्षा करें। जिसकी भेरी देवों द्वारा ताडित हो कर मानो यही घोषणा करती है कि तीनों लोकों का स्वामी और सर्वज्ञ यह शान्तिनाथ जिनेन्द्र ही उत्कृष्ट देव है और दूसरा नहीं है, तथा समस्त तत्वों के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने वाले इसी के वचन सज्जनों को अभीष्ट हैं, दूसरे किसी के भी वचन उन्हें अभीष्ट नहीं है, वह पापरूप कालिमा से रहित श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगों की सदा रक्षा करें॥ १, २ ॥

संयोजक वीरसेवा-मन्दिर
संक० परमानन्द शास्त्री

नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली के जैन मूर्ति-लेख

वेदी २ कटनी नं० ३

१. बाहुबली खड्गासन सफेद पाषाण साइज ऊंचाई १७॥ इंच चौड़ाई ८ इंच, चौकी ४॥ इंच। दोनों ओर दो इन्द्र। वि० सं० १९७६ फागुण मासे शुक्ल पक्षे श्री कुन्दकुन्दाम्नाये अकलतरा नगरे प्रतिष्ठितम्।

२. सिद्ध मूर्ति सा० उचाई ८ इंच, चौड़ाई ६ इंच। श्री सं० १९४५ माघ शुक्ला १३ भानुपुरे श्री कुन्दकुन्दादि दिगम्बर गुरूपदेशात् प्रतिष्ठितं जिनबिम्बं सकल संघ शुद्धाम्नायां प्रणमिति नित्यम्।

३. कुन्थनाथ चिन्ह बकरा सफेद पाषाण सा० उंचाई ७ इंच, चौडाई ५ इंच सं० २४७१ वि० सं० २००१ माघ शु० १५ मूलसंघे कुन्दकुन्दाम्नाये मोदीनगरे उत्तर प्रदेश, दिल्ली निवासी ला० रघुवीरसिंह श्री जिनबिम्बं प्रतिष्ठापितमिदं।

नोट—इस वेदी में बक्स नं० १ में दो पाषाण मूर्ति-१ सफेद पाषाण की और दूसरी काले पाषाण की, तथा १७ धातु की, २-३ इंच तक की लेखरहित हैं।

महावीर स्वामी—सं १९४७ पौष शु० ६ बिम्बं, चन्द्रप्रभ स्वामी वैशाख मासे, (संवत नहीं)

४. छोटी मूर्तियां १ इंच से १॥ इंच तक की लेख रहित, शेष ७० मूर्तियां छोटी एक इंच वाली लेख रहित।

तथा पेटी नं २ में निम्न मूर्तियां और हैं जिनमें एक मूर्ति चौमुखी धातु की है। सं १७१६ मिति माहसुदी ६ श्री मूलसंघे भ० जगत्कीर्ति······। दूसरी मूर्ति पार्श्वनाथ की है। लेख नहीं है। तीसरी नवफणी पार्श्वनाथ की है जो ३ इंच ऊंची और दो इंच चौड़ी है। सं० १५४२, वैशाख १०। चौथी भी पार्श्वनाथ की है, ३ इंच ऊंची और दो दो इंच चौड़ी है। लेख है, पर अस्पष्ट होने से पढ़ा नहीं जाता। पांचवीं सप्तफणी पार्श्वनाथ की है। जिस पर निम्न लेख अंकित है। संवत १६४१ फागुन सुदि ३ मूल संघे भ० शीलभूषण, ज्ञानभूषण, तदाम्नाये पार्श्वनाथ······

छोटी छोटी ४१ मूर्तियां और हैं। जिनमें पार्श्वनाथ की एक त्रिमूर्ति है। सं १७४१ मगसिर सुदि १५ भट्टारक श्री अजित कीर्ति तदाम्नाये [अग्नोतकान्वये] गरग गोत्र सोनपालेन प्रतिष्ठापितम्।

आदिनाथ हल्का गुलाबी पाषाण साइज ऊंचाई १६ इंच चौड़ाई १२॥ इंच। सं० १९३५ माघ सु० ३ भ० राजेन्द्र कीर्तिस्तदाम्नाये मेहरचन्द्रेण प्रतिष्ठापितं, इन्द्रप्रस्थ दिल्ली नगरे, रंगीलाल।

शीतलनाथ चिन्ह-कल्पवृक्ष मूंगिया पाषाण सा० ऊंचाई १५ इंच, चौड़ाई १२ इंच। सं० १९३५ माघ सु० ३ काष्ठा सं लोहाचा-र्यान्वये भ० राजेन्द्रकीर्ति तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गर्ग गोत्रे साधु ईश्वरचंद तत्पुत्र मेहरचन्द्रेण प्रतिष्ठापितं, इन्द्रप्रस्थ नगरे दिल्ली।

मूल वेदी

आदिनाथ सफेद पाषाण साइज ऊंचाई २० इंच, चौड़ाई १५ इंच चिन्ह वृषभ।

सं० १६६४ माघवदि २ सोमवासरे महाराजाधिराजा श्री थानसिंह जी राज्ये भ० श्री चन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री देवेन्द्रकीर्ति स्तदाम्नाये सरस्वती गच्छे बलात्कार गणे कुन्दकुदाचार्यान्वये······

तत्प्रतिष्ठा कारितं मोजीमाबाद नगरे।

ध्यान

(डा० कमल चन्द्र सोगाणी, प्राध्यापक दर्शन शास्त्र, राज ऋषि कालेज अलवर)

भारतीय जीवन एवं दृष्टिकोण अध्यात्म प्रधान रहे हैं। यद्यपि चार्वाक जैसे भौतिकवादी भारत में पनपे, किन्तु वे इसकी अध्यात्मप्रधान विचार शैली पर अपना प्रभुत्व स्थापित न कर सके। अध्यात्म यहां के साहित्य, कला और जीवन में अंकुरित हुआ, विकसित हुआ और फला-फूला है। आध्यात्मिक मूल्यों की दृष्टि से वस्तुओं को परखना भारतीय पद्धति है आध्यात्मिक आदर्शों का साक्षात्कार, उनकी गहरी अनुभूति व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के द्योतक हैं। ध्यान वही साधन है जो आदर्शों को कोरे विचारों के क्षेत्र से उठाकर जीवन के क्षेत्र में ले आता है। जीवन में आदर्शों से तन्मयता ध्यान का ही प्रतिफल है। ध्यान की प्रक्रिया का उदय मनुष्य के जीवन में उस समय हुआ होगा, जब मनुष्य को यह भान हुआ कि सत्य प्राप्ति का संबध प्राकृतिक शक्तियों की ओर ताकने से नहीं किन्तु अपने भीतर के अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने से है। ध्यान मनुष्य के विकास की अवस्था का परिचायक है जब बाह्य शक्तियों के आश्रित रहकर शान्ति और सन्तोष प्राप्त करने में असमर्थ रहा होगा, बाह्य आडम्बरमय जीवन से वह थक गया होगा, और संकुचित सामाजिक जीवन से बृहत् सामाजिक जीवन में पदार्पण कर रहा होगा। Dr. Caird ने ठीक ही कहा है "Man looks outward before he looks, inward, he looks inward before he looks upward" मनुष्य सर्व प्रथम बहिर्मुखी होता है, तत्पश्चात् अन्तर्मुखी और फिर सत्यमुखी ध्यान ही अन्तर्दर्शी मनुष्य को सत्य-दर्शी बनाता है। और मुख्य बात तो यह है कि ध्यान के माध्यम से सत्य मानव मात्र द्वारा प्राप्ति की वस्तु बन जाता है। जातीयता ही नहीं राष्ट्रीयता के बन्धन भी दो टूक हो जाते हैं।

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का एक विशिष्ट स्थान है, आध्यात्मिक अनुभूति को यहां सर्वोपरि महत्ता प्रदान की गई है। साधारणतया यह समझा जाता है कि जैन दर्शन एक आचार दर्शन है, आध्यात्मिकता को यहां विशेष महत्व नहीं दिया गया है। किन्तु यह विचार त्रुटिपूर्ण है। जैन आचार आध्यात्मिक भूमिका पर अवस्थित है। जैन साहित्य में सम्यग्दर्शन की महत्ता, गुणस्थानों द्वारा आत्मा का प्रतिपादन, द्वादश तपों में अंतरंग तपों का स्थान, आत्मा के तीन रूपों पर विचार-ये सब बातें इस ओर संकेत करती हैं कि जैन दर्शन कोरी नैतिक अनुभूति को ही सर्वोपरि नहीं मानता, किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति को आधार रूप में स्वीकार करता है। इतना ही नहीं इसकी प्राप्ति का मार्ग भी प्रस्तुत करता है। अणुव्रत, महाव्रत, विभिन्न तप साध्य नहीं साधन हैं। ये सब एक उच्च तत्व, आत्मिक तत्व की प्राप्ति की ओर संकेत करते है। अतः इस आत्मिक तत्व की श्रद्धा, इसकी सतत चेतना, की सर्व प्रथम आवश्यकता है। यही सम्यदर्शन है कुन्दकुन्द ने कहा है कि सम्यदर्शन गुणरूपी रत्नों में सर्वश्रेष्ठ है और मोक्ष का प्रथम सोपान है[1]। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि सम्यक्त्व के विना चारित्र नहीं हो सकता [2]। यहां तक कहा गया है कि सम्यक्त्व रहित मनुष्य उग्र तप करते हुए भी सहस्त्र करोड़ वर्ष तक बोधि को नहीं पा सकता[3]। अतः जिस तरह नगर के लिये द्वार का का, मुंह के लिये चक्षु का और वृक्ष के लिये मूल का महत्व है उसी तरह ज्ञान, दर्शन वीर्य और तप के लिये सम्यक्त्व का महत्व है[4]। इस तरह से आध्यात्मिक प्रगति जीवन का आदर्श है। इस आध्यात्मिक प्रगति, इस आध्सोत्मि प्राप्ति के लिये ध्यान सर्वश्रेष्ठ साधन है। अन्य सब साधन ध्यान की भूमिका बनाने के लिये है। ध्यान परम आत्मा की प्राप्ति के लिये द्वार है। जैन साहित्य में ध्यान की महत्ता को विभिन्न शब्दों में व्यक्त किया गया है। आराधना सार में कहा गया है कि खूब तप

१-भाव पा० १४५, २-उत्तरा० २८।२९

३- दर्शन पा० ५, ४-भगवती आ०७३६

करो, संयम का पालन करो, सारे शास्त्रों को पढ़ो किन्तु जब तक आत्मा का ध्यान नहीं करो, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता५। तत्वसार के अनुसार ध्यान के बिना जो कर्म क्षय करने की इच्छा करता है वह उसी मनुष्य के समान है जो बिना पैर का होने पर भी मेरू के शिखर पर चढ़ने की इच्छा करता है६। भगवती आराधना के अनुसार जैसे क्षुधा को नष्ट करने के लिये अन्न होता है तथा जिस तरह प्यास को नष्ट करने के लिये जल है वैसे ही विषयों की भूख तथा प्यास को नष्ट करने के लिये ध्यान है७।

एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है१। चित्त चंचल होता है इसका किसी एक बात में स्थिर हो जाना ध्यान है २। षट्खंडागम में कहा गया है कि विचारों का किसी एक विषय पर स्थिरता ध्यान है जबकि चित्त के एक विषय से दूसरे विषय पर जाने को भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है३। ध्यान का विषय शुभ अथवा अशुभ हो सकता है। ध्यान का विषय जब शुभ होता है तब वह प्रशस्त ध्यान है और जब अशुभ होता है तो वह अशुभ होता है तो वह अप्रशस्त ध्यान है४। पूज्यपाद के अनुसार इसी ध्यान से दिव्य चिंतामणि मिल सकता है, और इसी से खली के टुकड़े भी मिल सकते हैं। जब ध्यान के द्वारा दोनों मिल सकते हैं तब विवेकी लोग किस ओर आदर बुद्धि करेंगे५? निश्चय ही वे दिव्य चिंतामणि को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न शील होंगे। शुभचन्द्र ने ध्यान के भेद बतलाते समय एक स्थान पर ध्यान के तीन भेद-शुभ, अशुभ और शुद्ध-किये हैं, और दूसरे स्थान पर प्रशस्त और अप्रशस्त इस तरह को भेद किये है६। इन दो भेदों में कोई विरोध नहीं है, पहिले विभाजन में दृष्टि सैद्धान्तिक है किन्तु दूसरे में व्यवहारिक। प्रशस्त ध्यान धर्म और शुक्ल के भेद से दो प्रकार का है, और अप्रशस्त आर्त और रौद्र के भेद से दो प्रकार का है। यहां हम जिस ध्यान को मोक्ष हेतु मान रहे हैं वह प्रशस्त ध्यान है। अतः ध्यान से हमारा अभिप्राय यहां प्रशस्त ध्यान ही है।

ध्यान की आवश्यक शर्तें:-

ध्यान के लिए सर्वप्रथम ध्याता में निम्नलिखित गुणों का होना अनिवार्य है७: (१) मुक्ति की इच्छा, (२) वैराग्य, (३) शान्त चित्त, (४) धैर्य, (५) मन व इन्द्रियों पर विजय, (६) उद्यम, (७) यथार्थ वस्तु का ज्ञान, (८) दृढ़ आसन का अभ्यास। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ध्याता (क) सांसारिक, (ख) दार्शनिक, (ग) मानसिक बाधाओं को जीतने वाला होना चाहिये तथा उसे (घ) समय, (च) स्थान, और (छ) आसन की उचितता का ध्यान रखते हुए (ज) समता की प्राप्ति का अभ्यास करना चाहिए। (क) गृहस्थ का जीवन अनेकों बाधाओं से घिरा होने के कारण ध्यान में कठिनाइयां उपस्थित करता है। शुभचन्द्र के अनुसार किसी देश वा काल आकाश के पुष्प और गधे के सींग हो सकते हैं, परन्तु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होनी तो किसी देश व काल में संभव नहीं१, यहां यह नहीं समझना चाहिए कि गृहस्थ ध्यान कर ही नहीं सकता, इसका अभिप्राय तो केवल इतना ही है कि उत्तम कोटि का ध्यान गृहस्थाश्रम में असंभव है। (ख) जिनके पास तत्वज्ञान नहीं है, जो तत्वों में सन्देह करने वाले हैं उनके ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है। (ग) मन का रोध ध्यान के लिये अतिआवश्यक है। जिसने अपने चित्त को वश नहीं किया उसका तप, शास्त्राध्ययन, व्रतधारण, ज्ञान, कायक्लेश इत्यादि सब तुष खंडन के समान व्यर्थ है, क्योंकि मनके वशीभूत हुए बिना ध्यान की सिद्धि नहीं होती २। जो मन को जीते बिना ध्यान की चर्चा करता है वह ध्यान को समझता ही नहीं३। मानसिक बाधाओं को जीतने के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओं का अभ्यास कार्यकारी होता है ४। (घ) (छ) ध्यान के लिए स्थान, आसन और समय का चुनाव भी कम महत्व की शर्तें नहीं हैं। वे सब स्थान छोड़ देने चाहिए जहां दुष्ट, मिथ्यादृष्टि, जुआरी

५- आराधना १११ ६-तत्व० १३
७- भगवती आ० १६०२

१-तत्वा० ९।२७ २-नव पदार्थ पे० ६६८
३-षट्खंडा० १३ पे० ६४ ४-कार्ति० ४६८
५-इष्टो० २० ६-ज्ञाना० ३।२७,२८ २५।१७

७-ज्ञाना ४२७।३
१- ज्ञाना० ४-१७ २- ज्ञाना० २२-२८
३- ज्ञाना० २२-२४ ४- ज्ञाना० २७-४

मर्यादायें, अव्यभिचारी निवास करते हों। ऐसे स्थानों का चुनाव करना जो शान्त हों, मन पवित्रता उत्पन्न करने वाले हों, जैसे पर्वत का शिखर, गुफा, नदी का किनारा, आदि। जो आसन मन को निश्चल करने में सहायक हो वही आसन सुन्दर है। पद्मासन सामान्यतया ध्यान का उत्तम आसन माना गया है। जिस समय चित्त क्षोभ रहित हो वही काल ध्यान के लिए उपयुक्त है। जन सहित क्षेत्र हो अथवा जन रहित प्रदेश हो, आसन उपयुक्त हो वा अनुपयुक्त, जिस समय चित्त स्थिर हो जाय तब ही ध्यान की योग्यता है५। (ज) समता या साम्य की उत्पत्ति भी ध्यान के लिए आवश्यक है। जिस पुरुष का मन चित्त-अचित, इष्ट अनिष्ट रूप पदार्थों के द्वारा मोह को प्राप्त नहीं होता, उस पुरुष के ही साम्यभाव में स्थिति होती है १। जिस पुरुष के साम्यभाव की भावना है उसकी आशाएँ तत्काल नष्ट हो जाती हैं, चित्तरूपी सर्प मर जाता है २। और ऐसा व्यक्ति नेत्र के टिमकार मात्र में कर्मों का जीतने के योग्य हो जाता है ३। इस साम्यभाव का शुभचन्द्र पर इतना प्रभाव है कि उन्होंने साम्यभाव को ही ध्यान की संज्ञा दे डाली है ४।

ध्यान की पद्धति—

योगी अपने वर्तमान स्वरूप और शुद्ध स्वरूप में तुलना प्रारम्भ करे। और यह विचारे कि वह न तो नारकी है, न तिर्यंच, न मनुष्य न देव ही, किन्तु वह तो सिद्ध स्वरूप है। फिर वह द्रव्यों के स्वरूप का विचार करे। तत्पश्चात अपने मन के करुणा रूपी समुद्र में मग्न करे। फिर परम आत्मा के गुणों पर ध्यान एकाग्र करे। और उसमें इतना लीन हो जावे कि ध्यान ध्याता और ध्येय का भेद समाप्त हो जावे। यह समरसी भाव है और आत्मा और परमात्मा का समीकरण है ५। इस प्रकार के ध्यान को सवीर्य ध्यान कहा गया है ६।

शुभचन्द्र ने ध्यान की एक दूसरी पद्धति भी बताई है। योगी बहिरात्मा को छोड़ कर, अन्तरात्मा में स्थित होकर अविनाशी परमात्मा का ध्यान करे ७। वह आत्मा को वचन और काय से भिन्न करके मन को आत्मा में लगावे और अन्य कार्यों को केवल वचन और काय से करे ८। 'वही मैं हूँ' 'वही मैं हूँ' इस प्रकार अभ्यास करता हुआ आत्मा में अवस्थित हो जाये ९। ध्यान में लगा हुआ योग, क्या, कैसा, किसका, क्यों, कहां इत्यादि विकल्पों को न करते हुए शरीर को भी नहीं जानता १०

शुभचन्द्र ने ध्यान के भेद भी किये हैं। (१) पिण्डस्थ (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ और (४) रूपातीत ११। ये भी ध्यान की चार पद्धतियां हैं। ये मन को एकाग्र करने की सामग्री प्रस्तुत करती हैं। पिण्डस्थ ध्यान में पांच धारनायें सम्मलित हैं। (क) सर्व प्रथम योगी एक शान्त और गम्भीर समुद्र की कल्पना करे। उस समुद्र के मध्य एक वृहत् हजार पंखड़ी वाले कमल का चिन्तवन करे। कमल के मध्य एक ऊंचे सिंहासन का विचार करे। उस सिंहासन पर योगी अपने आपको स्थित अनुभव करे। वहां बैठ कर यह विश्वास प्रकट करे कि उसकी आत्मा कषायों को नष्ट करने में समर्थ है। इस प्रकार के विचार को पार्थिवा धारणा कहते हैं १। (ख) सिंहासन पर स्थित योगी नाभि मण्डल में स्थित कमल के मध्य से अग्नि को निकलता हुआ सोचे। तत्पश्चात यह विचारे कि वह अग्नि हृदयस्थ आठ कर्मों को सूचित करने वाले आठ पत्रों वाले कमल को जला रही है। आठ कर्मों के जलने के बाद शरीर को जलता हुआ सोचे और फिर अग्नि को शान्त अनुभव करे। इस प्रकार विचार करने को आग्नेयी धारणा कहा गया है २। (ग) तत्पश्चात् योगी शरीरादि की भस्म को प्रचण्ड वायु द्वारा उड़ा हुआ सोचे। यह विचार श्वसना धारणा कहलाती है३। (घ) इस धारणा के पश्चात् वारूणी धारणा आती है जिसमें शरीरादि की बची हुई भस्म वर्षा के जल से साफ होती हुई विचारी जाती है ४। (च) अन्तिम धारणा तत्त्वरूपवती कहलाती है। इसमें योगी अपनी आत्मा को अर्हत् सदृश कल्पना करता

५- ज्ञाना० २८-२२

१- ज्ञाना० २४।२ २- ज्ञाना० २४।११

३- ज्ञाना० २४।१२ ४- ज्ञाना० २४।१३

५-तत्त्वानु० १३७ ६- ज्ञाना० ३१

७- ज्ञाना० ३२।१० ८- ज्ञाना० ३२।६१

९- ज्ञाना० ३२।४२ १०- इष्टो० ४२

११- ज्ञाना ३७।१

(१) ज्ञाना० ३७/४-९ (२) ज्ञाना० ३७/१०-१९

(३) ज्ञाना० ३७/२०-२३ (४) ज्ञाना० ३७/२१-२७

है५। इस पिण्डस्थ ध्यान में हम देखते हैं कि योगी अपने चारों ओर एक ऐसे वातावरण का निर्माण करता है जो सांसारिक विषय वासनाओं से कोसों दूर है। मन के ऊपर धारणाओं की कई तहें जम जाती हैं जहां से मन अपने अनादि स्थित कुसंस्कारों को छेदने में समर्थ होता है। (२) दूसरे पदस्थ ध्यान में योगी पवित्र पदों का अवलंबन लेकर चिंतवन करते हैं, जैसे—ओम्, अरिहन्त आदि। शुभचंद्र ने मंत्र पदों की बड़े ही विस्तार से व्याख्या की है ६। (३) रूपस्थ ध्यान में अरहन्त के गुणों व अरहन्त की शक्तियों का चिन्तवन किया जाता है जिससे आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त होती है। (४) रूपातीत ध्यान में सिद्धों के स्वरूप पर चिन्तवन किया जाता है।

रामसेनाचार्य ने ९ ध्यान पद्धति की दृष्टि से ध्येय के चार भेद किये हैं। (१) नामध्येय, (२) स्थापनाध्येय, (३) द्रव्य ध्येय और, (४) भाव ध्येय। (१) अरहन्त का नाम पंच परमेष्ठी वाचक 'अ सि. आ. उ. सा.' तथा णमोकार मंत्र का ध्यान 'नाम' नामक ध्येय है १०। (२) कृत्रिम और अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं का आगम अनुसार ध्यान स्थापना नामक ध्येय है ११। (३) जिस प्रकार एक द्रव्य एक समय में उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य वाला है वैसे ही समस्त वस्तु हमेशा उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य वाले हैं ऐसा चिंतन 'द्रव्य नामक ध्येय है १२। (४) अर्थ तथा व्यंजन पर्याये और मूर्तिक तथा अमूर्तिक गुण जिस द्रव्य में जैसे अवस्थित हैं उनको उसी रूप में चिंतवन करना भाव नामक ध्येय है१।

ध्यान का यह उपर्युक्त वर्णन आगमिक परंपरा से बाह्य है। आगमिक परम्परा के अनुसार धर्म व शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं। सर्व प्रथम हम धर्म ध्यान को लेते हैं। स्थानांग २ सूत्र में धर्म ध्यान का चार दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। (१) इसका विषय, (२) इसका लक्षण, (३) इसका आलम्बन, (४) इसकी अनुप्रेक्षाएं।

(१) धर्मध्यान चार प्रकार का है ३। (क) आज्ञा विचय (ख) अपाय विचय, (ग) विपाक विचय, और (घ संस्थान विचय, पूज्यपाद ४ ने सर्वार्थसिद्धि में इनका विशद विवेचन किया है। (क) उपदेश देने वाले का अभाव होने से, स्वयं मन्दबुद्धि होने से, कर्मो का उदय होने से, पदार्थो के सूक्ष्म होने पर सर्वज्ञप्रणीत आगम को प्रमाण मानना आज्ञा विचय धर्म ध्यान है। अथवा जो स्वयं पदार्थो के रहस्य को जानता है, और उनके प्रतिपादन करने का इच्छुक है, उनके लिए नय और प्रमाण का चिन्तन करता है, वह सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करने वाला होने से आज्ञा विचय धर्मध्यान का करने वाला है। (ख) जीवों को सांसरिक दुःखों से छुटकारे के उपाय का विचार अपाय विचय धर्म-ध्यान है। मूलाचार५ में कहा है जीवों के शुभ अशुभ कर्मों का नाश कैसे हो ऐसा विचारना अपाय विचय धर्मध्यान है? ज्ञानार्णव६ में इस ध्यान के अन्तर्गत ये विचार भी सम्मिलित हैं। मैं कौन हूं? मेरे कर्मो का आस्रव क्यों है? कर्मो का बंध क्यों है? किस कारण से निर्जरा होता है? मुक्ति क्या वस्तु है? एवं मुक्त होने पर आत्मा का क्या स्वरूप होता है? यहां यह कहा जा सकता है कि आज्ञा विचय धर्मध्यान व्यक्ति को सत्य का ज्ञान कराता है और अपाय विचय धर्मध्यान सत्य प्राप्ति का मार्ग प्रस्तुत करता है। (ग) विपाक विचय धर्मध्यान में कर्मो के फलों का चिन्तन होता है। (घ) और संस्थान विचय धर्मध्यान में लोक के स्वभाव का व आकार का निरन्तर चिन्तन होता है। तत्वानुसाशन७ में कहा गया है कि (१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र मय धर्म का जो चिंतन है वही धर्मध्यान है। (२) मोह क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम है वह धर्म है। उस धर्म से युक्त जो चिंतन है वही धर्मध्यान है। (३) वस्तु स्वरूप को धर्म कहते हैं। उस वस्तु स्वरूप से युक्त जो ज्ञान है उसे धर्मध्यान कहा है। (४) दश धर्म से युक्त जो चिंतन है उसे धर्मध्यान कहते हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा १ के अनुसार सकल विकल्पों को छोड़ कर आत्म स्वरूप में मन को रोकर आनन्द सहित चिंतन होता है वही उत्तम धर्मध्यान है।

---

(५) ज्ञाना० ३७/२८-३० (६) ज्ञाना० ३८/१-१६ (७) ज्ञाना० ३९-१-४६ (८) ज्ञाना० ४०/१५-२३ (९) तत्वानु० ९९ (१०) तत्वानु १०१, १०२ १०३ (११) तत्वानु० १०९ (१२) तत्वानु० ११०

(१) तत्वानु० ११६, (२) स्था० स० ४१-/२४७ (Tatia, Studies in Jaina Philsophy के आधार से २५३ (३) (४) सर्वार्थ० ९/३६ (५) मूला० ४०० (६) ज्ञाना० ३४/११ (७) तत्वानु ५१ ५५ (१) कीर्ति० ४८०

(२) इस ध्यान के लिए चार लक्षण कर्ता में होते हैं। (१) जिन मार्ग में रुचि (आज्ञा रुची) (२) स्वाभाविक तत्वरुचि (निसर्ग रुचि) (३) आगम में रुचि और (सूत्र) रुचि) (४) आगमों के गहरे अध्ययन की रुचि (अवगाढ़ रुचि)।

(३) इस ध्यान के लिए चार आलम्बन हैं। (१) अध्ययन (वाचना) (२) विचार विमर्श (प्रतिपृच्छा), (३) बारंबार पठन (परिवर्तना) और (४) गहरा चिंतन (अनुप्रेक्षा)

(४) इस ध्यान की चार अनुप्रेक्षाये हैं। (१) अनित्य (२) अशरण, (३) एकत्व और (४) संसार।

शुक्ल ध्यान के भी चार भेद है२—(१) पृथक्त्व-वितर्क विचार, (२) एकत्व-वितर्क अविचार, (३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति, (४) व्युपरत क्रिया निवर्ति। इनमें से प्रथम दो १२ वे गुणस्थान तक होते हैं और अन्तिम दो केवल ज्ञानियों के होते हैं। जिस स्थान में पृथक्त्व (नानापन) वितर्क (श्रुतज्ञान) और विचार (अर्थ, व्यंजन और योगों का संक्रमण) होते हैं वह प्रथम शुक्ल ध्यान है३। जिस ध्यान में योगी खेद रहित होकर एक द्रव्य को, एक अणु को अथवा एक पर्याय को एक योग से चिन्तन करता है उसको एकत्व ध्यान कहते हैं। इसमें पृथक्त्व के स्थान पर एकत्व होता है, विचार के स्थान पर अविचार होता है और वितर्क वर्तमान है। इस ध्यान से योगी चार घातिया कर्मों का नाश कर देता है और केवल ज्ञान का स्वामी हो जाता है। जब केवली की आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण रह जाती है तब तीसरा शुक्लध्यान होता है। इसमें मन और वचन योग दोनों का निग्रह हो जाता है और केवल सूक्ष्मकाययोग उपस्थित रहता है। चौथे शुक्ल ध्यान में सूक्ष्मकाययोग भी समाप्त हो जाता है योगी अब अयोग केवली होता है। इस ध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं२। भय का अभाव (अव्यथा), मोह का अभाव (असंमोह) विवेक और व्युत्सर्ग। इस ध्यान के चार आलम्बन है३। क्षमा, निर्लोभता, सरलता और निरभिमानता। इस ध्यान की चार अनुप्रेक्षायें हैं ४। दुःख के कारणों का विचार, संसार के अशुभ होने का चिंतन, जन्म मरण की अनन्तता का चिंतन और वस्तुओं के निरन्तर परिणमन का चिंतन।

(२) सर्वार्थ, ६/३६ (३) सर्वार्थ,६/४४

(१) सर्वार्थ० ६/३४ (२-४) नवपदार्थ० पेज० ६७१

काबड़ : एक चलता फिरता मंदिर

महेन्द्र भनावत

रंगरूपों की जितनी विशाल परतें हमें राजस्थान में देखने को मिलती हैं उतनी कहीं नहीं। सच तो यह है कि सदियों से साहित्य, संस्कृति, कला और सभ्यता की शतशः धारायें इसकी विशाल भित्ति को अभिसिंचित करती रही हैं। यही कारण है कि राजस्थान आज भी उतना ही रंगीन और रसलीन बना हुआ है। कला की अनुपम कृतियों के साथ धार्मिक अभिव्यक्ति के ऐसे कई उदाहरण हमें मिलते हैं जो आज भी लोकधर्म के प्रति अत्यन्त-विनीत एवं श्रद्धाभाव बनाये हुए हैं।

कावड़िया भाटों की कावड़ एक इसी प्रकार की अन्यतम धरोहर है जो कला की अनुपम कृति के साथ-साथ धार्मिक अभिव्यक्ति की चरम है। राजस्थान में चित्तौड़ के पास बसी की काष्ठ कला अत्यन्त प्रसिद्ध रही है। यहां के खेरादियों ने काष्ठकला के कई रूपों को प्रश्रय देकर अपनी विशिष्ट परम्परा कायम की है। कावड़ भी उन्हीं की विशेष थाती है। बसी में जहां नाना प्रकार के खिलौने, बाजोट, तोरण, थंभ, बेवाण, झूले, चौपड़े, पाये, गणगौर ईसर पुतलियां तथा कठपुतलियां आदि के बेजोड़ रूप हमें देखने को मिलते हैं वहां कभी-कभी आम, अड़ूसा, सेमला आदि की लकड़ी के बने छोटे-छोटे पाटों (कपाटों) पर नाना

प्रकार की चित्रकारी करते हुए भी यहां के खेरादी परिवार देखे जा सकते हैं। संपूर्ण कावड़ छोटे बक्स भी होती हैं जिसमें आठ अथवा दस पाट बन्द रहते हैं। कावड़िया भाट इसे अपनी बगल में दबाये गांव-गाव अपनी यजमान वृत्ति के लिये घूमता रहता है। मारवाड़ में कावड़िया भाटों के पास ये कावड़ें भली प्रकार देखी जा सकती हैं।

इन कावड़ों के दो रूप देखने को मिलते हैं। (१) आठ पाट वाली कावड़ तथा (२) दस पाट वाली कावड़। पाटों के दोनों ओर लोकशैली में चित्रित घने गहरे रंगों में चित्तौड़ की कलमकारी के सुन्दर चित्र दृष्टिगोचर होते हैं। नाना प्रकार के रंग खेरादी स्वयं ही पत्थरों से तैयार कर लेते हैं। सर्व प्रथम कवेलू के महीन टुकडे बना कर उसे घट्टी में पीस कर उसमें गोंद मिला दिया जाता है फिर उसे खूब घोटा जाता है। घोटने का काम औरतें करती हैं। इस क्रिया को ये लोग 'इंटाला' कहते हैं। पाटों पर पहले पहल इसी का लेप कर दिया जाता है। इसके सूखने पर बड़ल्यास गांव के लाल पत्थर को बारीक घिस कर उस में गूंद मिलाकर इन पाटों पर लगा दिया जाता है। एक बार सूखने पर दूसरी बार, और इस प्रकार कुल पांच बार लेपन करने पर उन पाटों पर फिर लाल रंग लगाया जाता है और तब उन पर चित्रकारी का जाती है। बस्सी में छगन लाल जी, छोगा लाल जी भूरा जी तथा कजोड़ जी आदि के घराने अपनी काष्ठकला के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रहे हैं।

कावड़ में चित्रित चित्रों की विविध झाँकियाँ

कावड़ के ऊपर ही ऊपर एक टिकट लगा रहता है जिस पर ठिकाने (पत्ते) के रूप में लिखा रहता है "यह कावड़ काशी पुरी अन्नपूर्णा देव के मन्दिर पर बनती व मिलती है। दः कुंदणाबाई बामणी।" इससे यह लगता है कि इसकी प्रमुख स्वामिनी काशी के अन्नपूर्णा मन्दिर की कुन्दणबाई ब्राह्मणी है। इसके बाद दो द्वार खुलते हैं जिन पर दोनों ओर नर-नारायण अंकित रहते हैं। उन शेरों के नीचे दोनों ओर दो हिदायतें लिखी मिलती हैं जिनमें "इस कावड़ को धूप देकर खुलावो, धूप देकर खुलावे वह स्वर्ग में जाता है। सच मानो, झूठ मत मानो। दः कुंदणा बाई।" तथा दूसरी ओर—"सच मानो, झूठ मत मानो, जो कावड़ को नास करे वो नरक में जाता है। आधी कावड़ खुलावे तो १।) आखी का २॥) रू० । दः कुंदणाबाई।" लिखा रहता है। इसके पीछे की ओर सूर्य-रथ, सीता-हरण, राम-लखन-वनगमन, मृग-शिकार, चन्द्र-रथ, राम-लखन तथा शबरी एवं शबरी तथा उसकी सहेलियां चित्रित की हुई मिलती हैं।

दूसरा पाट—शेषनाग पर विष्णु-शयन तथा उनके पांव दबाती हुई कमला। चौथ माता-जिसके दोनों ओर उसकी पूजा करने वाले दो पुजारी रहते हैं।

पीछे की ओर—ऊंट पर यात्रा करते हुए रेबारी दंपति। तंदूरे पर भजन करता हुआ भक्त। राजा भरथरी, गोपीचन्द, पूजा करने जाते हुए दम्पति तथा हाथी-रथ।

तीसरा पाट—साधु तथा दो औरते, जल भरने जाती नानी बाई का राधा कृष्ण के दर्शन करना तथा दम्पति।

पीछे की ओर—डोली ले जाते हुए दो सिपाही, दरजी तथा कृषि करता हुआ भक्त धन्ना।

चौथा पाट—अपनी तीनों रानियों के साथ राजा दशरथ, बनिये की परीक्षा लेते हुए भगवान।

पीछे की ओर—शेष नाग पर नृत्य करते हुए भगवान बिष्णु, गणेश, दम्पति, रथ तथा बजरंगबलि हनुमान।

पांचवां पाट—सत्यनारायण-कथा-झांकी, नारद जी तथा प्रसाद लेने आया हुआ राजा लीलावती, कमलावती कन्याएं, तुंग ध्वज।

पीछे की ओर—यशोदा तथा दही चुराते हुए कृष्ण। रथ, ऊंट सवार तथा दो दम्पति।

छठा पाट—ऊंट, पीपल के पत्ते में कृष्ण अपने पुत्र को आरी से चीरता हुआ मोर ध्वज राजा। सिंह को ले जाते हुए कृष्ण अर्जुन तथा पांडवों को शिक्षा देते हुए कृष्ण।

पीछे की ओर—मेघनाथ शयनावस्था में, वन-बिहार करता हुआ हाथी, मन्दोदरी, सीता को समझाती हुई राक्षसनियां, मुन्दर डालते हुए हनुमान, राम रावण युद्ध, राम-लखन को ले जाते हुए हनुमान। राम-रावण की फौजें।

सातवां पाट—जगदीश झांकी, गंगा को लाता हुआ राजा भागीरथ, दम्पति।

पीछे की ओर—उड़लपंख जो पांच हाथी लेकर उड़ सकता है। कृष्ण को दूध पिलाती राक्षसनी, बांसुरी बजाते

हुए कृष्ण, सुथार, अपने अन्धे माता पिता को ले जाता श्रवण, सुनार, तोता पढाती हुई वेश्या, तेली छींपा, बुनकर कुम्हार तथा दम्पति।

आठवां पाट—दो दरवाजे जिन पर घोड़ा, घाणी में पिलता हुआ राक्षस, सूली पर लटकता पुरुष।

पीछे की ओर—सरस्वती, कृष्ण सुदामा मिलन, राजा बलि की छाती पर पांव धरते कृष्ण, राम लखन तथा सीता की मनमोहक झांकी।

नवां पाट—भक्त कबीर रोहिदास चमार, रामाधीर नाले घोड़े पर पीछे हरजी चंवर ढोरते हुए, आगे डाली बाई आरती करती हुई, पास में खड़ा भाणेज हाथ जोड़े। रथ-हाथी, देवर, भौजाई के कांटा निकालता हुआ।

पीछे की ओर—तुलछामाता, पंथवारी, रामदेव जी के पगल्ये, जोडे, नारसिंधी शेर पर, कालाजी—गोराजी।

दसवां पाट—रेवारी दम्पति-पीछे औरत तीर चलाती हुई, आगे मन्दर जाता हुआ दम्पति, कृष्ण की रासलीला, कृष्ण, गोपियों के कपड़े चुराते हुए। कृष्ण नायिका वेश धारण कर राजा रतन के बाल बनाते हुए। बाकी जोडे।

पीछे की ओर—सीतवर रामेश्वर, राजा गन्धर्व सेन इन्द्र का लड़का, जोड़े, दूध पीता हुआ सांप।

आठ पाट वाली कावड़ १२" लम्बी ६" चौड़ी तथा ६" ऊंची होती है। दस पाट वाली कावड़ १४" लम्बी ८-९" चौड़ी तथा ७-८" ऊंची होती है। इसके एक ओर गौशाला की पेटी बनी हुई होती है। दरवाजे पर गाय का चित्र अंकित रहता है जिस पर लिखा रहता है—"इस पेटी के अन्दर जो पैसे डाले वो मेरे पास आते हैं। काशीपुरी में अन्नपूर्णा देवी के मन्दिर पर मेरे पास आते हैं जिससे गायों को घास डालते हैं और मेरे एक हजार कावड़ें फिरती हैं। द. कुंदणाबाई बामणी।"

गौशाला की पेटी के एक ओर चांदे पर रेबारी देव तथा दूसरी ओर अन्दर की तरफ पाबूजी अपनी कला घोड़ी पर बैठे हुए दिखाये जाते हैं। अन्दर की ओर गुप्त बाड़ी होती है जिस पर लिखा रहता है—"यह गुप्त की बाड़ी है जो दान करो वह मेरे पास आता है। द: कुंदणा-बाई बामणी।"

कावडिया भाट को जब कभी कावड़ बनवानी होती है, वह खेरादी को लिख देता है। कावड़ को भाट चौखुणे चौरस कपड़े में लपेटे रखता है। अपने साथ वह मयूर पंख का छोटा सा झाड़ भी रखता है जिससे वह कावड साफ़ करता रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कावड़ एक छोटा सा चलता फिरता बगल में दबा कावड़िया भाटों का बगल मन्दिर है जिसके कपाटों पर चित्रित नाना प्रकार की धार्मिक झांकियों के दर्शन कर भक्तजन परम कल्याण एवं अनन्त सुख की गंगा में सराबोर होकर नाना पापों से मुक्ति पा अपना जन्म सार्थक करते हैं १।

---

१. कावड़ सम्बन्धी इस जानकारी के लिए लेखक बस्सी के लोक चित्रकार श्री मांगीलाल मिस्त्री के अत्यन्त आभारी हैं।

कविवर रइधू रचित-सावय चरिउ

श्री अगरचन्द नाहटा

अपभ्रंश भाषा में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों जैन सम्प्रदायों की छोटी-बड़ी सैकड़ों रचनायें प्राप्त हैं। ८ वीं ९ वीं शताब्दी से लेकर संवत् १७०० तक की इन रचनाओं में आख्यानक काव्य सबसे अधिक हैं, कुछ रचनायें जैन धर्म के संबंध में हैं कुछ रचनायें तो बहुत ही महत्व पूर्ण हैं महाकाव्य, प्रबंध काव्य, खण्डकाव्य, रूपक काव्य और मुक्तक काव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इधर कई वर्षों में राजस्थान आदि के जैन भण्डारों की सूचियाँ बनाने और प्रकाशित करने का काम ठीक से हुआ है और इससे बहुतसी नवीन रचनाओं की जानकारी प्रकाश में आई है। दिगम्बर कवियों की तो कुछ बड़ी बड़ी रचनायें प्रकाशित भी हुई हैं पर श्वेताम्बर रचनायें यद्यपि छोटे-छोटे रास आदि कई प्रकाशित हुये हैं पर नेमिनाह चरित, विलास वइ कहा आदि बड़ी और महत्वपूर्ण रचनायें अभी तक अप्रकाशित हैं। अपभ्रंश रचनाओं का क्षेत्र भी काफी बड़ा रहा। राजस्थान, गुजरात, एवं उत्तर-मध्य प्रदेश में सर्वाधिक अपभ्रंश रचनायें रची गई बहुत सी रचनाओं की प्रशस्तियां ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े ही महत्व की हैं अनेकों अज्ञात एवं महत्वपूर्ण तथ्य इन प्रशस्तियों से विदित होते हैं। अतः भाषा-विज्ञान एवं साहित्य की दृष्टि से मूल्यवान होने के साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन रचनाओं का बड़ा महत्व है।

अपभ्रंश साहित्य का ज्ञातव्य विवरण डा० हीरालाल जैन ने करीब २० वर्ष पूर्व नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित किया था उसके बाद डा० हरिवंश कोछड़ ने शोध प्रबन्ध लिख कर अपभ्रंश साहित्य के महत्व को अच्छे रूप प्रकाशित किया, पाटण भण्डार सूची और Catalogue of Sanskrit and Prakrit manuscripts in the Central Provinces & Berar में तो सन् १९३६-१९३७ में कतिपय अपभ्रंश रचनाओं का आदि अन्त विवरण प्रकाशित हुआ था और पं० अभयचंद भगवानदास गांधीने अपभ्रंश काव्यत्रयी तथा स्व० मोहनलाल दलीचंद देशाई ने 'जैन गुर्जर कवियो' भाग १ की विस्तृत भूमिका में अपभ्रंश साहित्य का ज्ञातव्य विवरण प्रकाशित किया था। सन् १९५० में दि० जैन अतिशय क्षेत्र, महावीर जी की ओर से प्रकाशित 'प्रशस्तिसंग्रह' नामक ग्रन्थ में करीब ५२ अपभ्रंश रचनाओं का आदिअन्त विवरण प्रकाशित हुआ और सन् १९४४ में पं० परमानन्द शास्त्री ने अनेकान्त की ८ वीं किरण में 'जयपुर में एक महीना' नामक लेख में अपभ्रंश के २६ ग्रन्थों के रचना काल आदि का विवरण दिया था, पश्चात् परिचयात्मक लेख भी निकले। और सन् १९५६ में 'अनेकान्त में' पं० परमानन्दशास्त्री ने जैनग्रंथ प्रशस्ति संग्रह के नाम से ३९ दि० जैन अपभ्रंश रचनाओं का आदि अन्त के पद्यों सहित विस्तृत विवरण प्रकाशित किया। फिर इसके बाद अनेकान्त का प्रकाशन स्थगित हो गया। अतः उनका वह कार्य अधूरा ही पड़ा रहा। हर्ष की बात है कि अब वह ग्रंथ वीर-सेवा-मन्दिर से विस्तृत प्रस्तावना के साथ प्रकाशित हो गया है। इसमें १२२ ग्रंथों की प्रशस्तियां प्रकाशित हुई हैं। १४४ पृष्ठों की पं० परमानन्द जी की प्रस्तावना वास्तव मे बड़े ही परिश्रम से लिखी गई है और अनेकों नवीन तथ्यों की जानकारी देती है। अपभ्रंश रचनाओं का इतना अधिक विवरण अन्य किसी भी ग्रंथ में प्रकाशित नहीं हुआ इसलिए इस ग्रंथ के सम्पादक परमानन्द जी और प्रकाशक वीर सेवा मंदिर की जितनी भी प्रशंसा की जाय वह थोडी है।

यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रस्तावना बहुत साधारण सी लिखी गई है। पर किसी एक ही व्यक्ति को सभी बातों की जानकारी होना कम ही सम्भव है सामग्री के अभाव और कभी कभी कुछ असावधानी आदि से भी कुछ भूल-भ्रान्तियों हो जाती हैं। जिनका परिमार्जन जल्दी से जल्दी हो जाना चाहिये। ताकि उन भूल-भ्रान्तियों की परम्परा

अधिक आगे बढ़ने न पाये। उदाहरणार्थ इस लेख में जिस रचना का परिचय दिया जा रहा है उसका नाम असावधानी१ से पं० परमानन्द जी ने सावयचरिउ की जगह सम्यक्त्व कौमुदी लिख दिया तो प्रो० राजाराम जैन ने भी इसी के अनुकरण में आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ में प्रकाशित अपभ्रंश भाषा सन्धिकालीन महाकवि रइधू नामक लेख में भी उस भूल की पुनरावृत्ति करदी। मेरे अवलोकन में ऐसी जो कतिपय भूल भ्रांतियां आई हैं उनके संबंध में संक्षिप्त लेख भेजा गया था पर वह डाक की गड़बड़ी से कहीं इधर-उधर हो गया अतः फिर कभी प्रकाश डाला जायेगा। प्रस्तुत लेख में उक्त ग्रन्थ में अपूर्ण रूप से प्रकाशित प्रशस्ति नं० १०५ को पूर्ण रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। चूंकि पं० परमानन्द जी इस ग्रन्थ को पूरा ठीक से नहीं देख पाये इस लिए उन्होंने ग्रन्थ का नाम सम्यकत्व कौमुदी और ग्रंथ रचना की प्रेरणा करने वाले सेउ साहु का नाम दिया है, पर ये दोनों ठीक नहीं हैं। वास्तव में इस ग्रन्थ का नाम सावय चरिउ है और प्रेरक सेउ साहू के पुत्र कुमराज है। प्रस्तुत ग्रन्थ की एक प्रति कलकत्ता के स्व० पूरणचन्द नाहर के संग्रह से प्राप्त हुई। ५८ पत्रों की यह प्रति सवत् १६१४ की लिखी हुई है। ग्रंथ का छठा सन्धि में 'सम्यकत्व कौमुदी' का नाम आता है उसीसे परमानन्द जी ने इस ग्रंथ का नाम सम्यकत्वकौमुदी लिख दिया है पर वास्तव में ग्रन्थ के प्रारम्भ और प्रत्येक सन्धि के अन्त में 'सावय चरिय' ही नाम दिया है। परमानन्दजी के द्वारा उद्धृत प्रशस्ति में भी सेउसाह के पुत्र कुमराज का उल्लेख है और वास्तव में उन्हीं के लिये इस ग्रन्थ की रचना हुई है। यह ग्रन्थ की प्रत्येक सन्धि के अन्त में दिये हुये पद और प्रशस्ति से स्पष्ट है। परमानन्द जी ने ग्रन्थ के आदि भाग को भी त्रुटित होना लिखा है, पता नहीं नागौर की प्रति का प्रथम पत्र खण्डित था या उन्होंने नकल नहीं की। अन्तिम प्रशस्ति तो उन्हें पूरी उतारने नहीं दी गई इसका उल्लेख तो उन्होंने स्वयं किया है—"प्रस्तुत प्रशस्ति अधूरी है, इसे नागौर के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने पूरी नहीं उतारने दी थी प्रस्तावना के पृष्ट १०२ में इस ग्रन्थ के संबंध में उन्होंने निम्नोक्त विवरण दिया है— "१०६ वीं प्रशस्ति' सम्यक्त्व कौमुदी की है। इसमें सम्यक्त्व की उत्पादक कथाओं का बडा ही रोचक कथन दिया हुआ है, इसे कवि ने ग्वालियर के राजा डूंगरसिंह के पुत्र राजा कीर्तिसिंह के राज्यकाल में रचा है, इसकी आदि अन्त प्रशस्ति से मालूम होता है कि यह ग्रन्थ गोपाचल वासी गोलालारीय जाति के भूषण सेउसाहु की प्रेरणा से बनाया है। इसकी ७१ पत्रात्मक एक प्रति नागौर के भट्टारकीय ज्ञान भण्डार में मौजूद है उक्त अपूर्ण प्रशस्ति उसी प्रति पर से दी गई है। उस ग्रन्थ की पूरी प्रशस्ति वहां के पंचों तथा भट्टारकजी ने सन् ४४ में नोट नहीं करने दी थी, इस लिये वह अपूर्ण प्रशस्ति ही यहां दी गई है।"

प्रस्तुत प्रशस्ति में कई महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख है प्रारम्भ में आचार्य नामावली के बाद टेकणि साहु का उल्लेख है और इसके बाद ग्रन्थ कार के या कवि द्वारा रचित कतिपय पूर्ववर्ती रचनाओं के नाम दिये हैं। उनमें से महापुराण अनुपलब्ध है। इस तरह रैधू का करकंडु चरिउ और सुदंसण चरिउ के अनुपलब्ध होने का उल्लेख परमानन्द जी ने किया है प्रो० राजाराम ने कुंथुनाथ स्तुति का भी उल्लेख किया है।

प्रस्तुत सावय चरिउ की रचना ग्वालियर के राजा कीर्ति सिंह के समय में हुई इसलिये संवत् १५१०-१५३६ के बीच

१ सन् १९४४ में जब मैंने और पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने नागौर का भंडार देखा, तो उस समय जो ग्रंथ सामने आये, उनको देखते हुए सम्यक्त्वकौमुदी नाम का ग्रंथ भी मिला जो कवि रइधू की रचना थी। उस ग्रंथ का मैं एक पत्र पढने लगा, एक पत्र पं० महेन्द्रकुमार जी ने लिया और शेष भ० देवेन्द्रकीर्ति जी देखने लगे। इसी समय मैंने उसे आवश्यक समझकर उस पत्र को नोट कर लिया कुछ शेष रहा वह नोट न कर सका, नोट करने की मना ही कर दी। अतएव प्रशस्ति अधूरी ही रही। पं. महेन्द्रकुमार जी वाले पत्र में से भी १० पंक्तियां लिखी गई फिर वह पत्र भी उन से ले लिया। प्रशस्ति पूरा करने के लिये कहा गया किन्तु व्यर्थ। उस प्रति पर ग्रंथ का नाम सम्यकत्व कौमुदी लिखा था, सारा ग्रंथ देखकर नोट किया जाता, तब फिर उस पर ग्रंथ के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला जाता, ग्रंथ पूरा न देखने की बात लेख में लेखक ने स्वयं स्वीकृत की है, ऐसी स्थिति में असावधानी की बात कैसे कही जा सकती है? सं०

की रचना है। इस ग्रन्थ की ६ सन्धियाँ या परिच्छेद हैं। ग्रन्थ रचना के प्रेरक कुसराज के वंश का भी प्रशस्ति में अच्छा परिचय दिया है। और अन्त में ऋषि कमलकीर्ति और संघाधिप हरिसिंह साहु का उल्लेख है परमानन्दजी के प्रकाशित पाठ से प्रस्तुत प्रति के पाठ में कुछ भिन्नता है। प्रकाशित प्रशस्ति के बाद थोड़ा ही पाठ ऐसा है जो नहीं छप सका। ग्रन्थ का परिमाण करीब १॥ हजार श्लोकों का है। कवि रइधू के संबंध में आरा के प्रो० राजाराम जैन शोध प्रबन्ध लिख रहे हैं। रइधू १५वीं शताब्दी के महान अपभ्रंशसाहित्यकार हैं। उनकी २४ अपभ्रंशरचनाओं का पता मिल चुका है। इतनी रचनायें अन्य किसी अपभ्रंश कवि की नहीं मिलती। इनमें से ८ अनुपलब्ध हैं जिनकी खोज की जानी चाहिये। ग्वालियर हिसार आदि के जैन भण्डारोंमें सम्भव है ये प्राप्त हो जाय, वहां और भी कोई अज्ञात रचना मिल जाय। अब प्रस्तुत सावय चरिउ के आदि अन्त के पद्य नीचे दिये जा रहे हैं—

सावय—चरिय

पणविवि णाहेयहु, भव-भय-हेयहु, पयडिय णेयहु पय जुयलं।
सुइ गई णेयारं, दुह अवहारं, भणमि उवमय विहि विमलं ॥ १ ॥

जय जिण रिसह परम सुह कारण
जय जय अजिय भवंवुहितारण
जय संभव संभव णिरणासण
जय अहिणंदण णंदिय सासण
जय जिण सुमइ सुमइ वित्थारण
जय पउमप्पह कलिमल वारण
जय सुपास पोसिय परमप्पय
जय चंदप्पह सण्णिगुय सप्पय
जय जय सुविहि सुविहि विहि भूसण
जय सीयल इंदिय सुह दूसण
जय सेयंस सेय सर णव घण
जय जय वासु पुज्ज कय सम मण
जय जय विमल विमल गुण मंन्दिर
जय अणंत लोयत्तय वंदिर
जय जय धम्म धम्म भासाविय
जय संतीस संति जिण साभिय
जय जय कुंथु कुणय करि केसरि
जय अर चरिय मग्गु दंसण करि
जय जय मल्लिणाह मामंडिय
जय मुणिसुव्वय सीला खंडिय
जय णमि सुद्ध बुद्ध अजरामर
जय णेमीसर रायमई वर
जय सिरिपास फणीस कयासण
जय जय वीर पवट्टिय सासण

घत्ता—एदे तित्थंकर, सिवसंपयवर, वड्ढमाण मिच्छत्त हर,
पउमप्पह पमुह जि होसहि एत्थु जि तह अतीत पणवेवि पर ॥ १ ॥

जिण मुह कमलह पगण भडारी
वाएसरि तिल्लोय — पियारी
साय-वाय--विहि--पयडण सारी
मिच्छावाय वाय अवहारी
सव्व भास गुण उरणाइ धारी
पणवेप्पिणु सासिणि सुहयारी
चउदह सय तेवरणा तवोणिहि
णिच्च भव्व मग्गु उप्पाइय दिहि
कम्मेंधण पउजालण खरसिहि
भोयण काल भमिय सावय गिहि
वसहसेणु धुरि अंति जि गोयमु
ते अहि वंदिवि पयडिय गोयमु
ताह अणुक्कम पट्ट पयासणु
सिरि पुंगमुणिंदिय जिणसासणु
मूलसंघ उज्जोयण दिणयरु
पोमणंदिरिसि बुहयण सुरतरु
तासु पट्टि रयणत्तय धारउ
संजायउ सुहचंदु भडारउ
पुणु उवरणु सिंहासण मंडणु
मिच्छावाइ वाय-भड-खंडणु

जिण सासण काणण पंचाणणु
णंदिसंघ णंदिय तव माणणु
सइ बंभ रयणोह पयोणिहि
दिव्य वाणि उप्पाइय जणदिहि
सरसइ गच्छे गच्छ सत्थाहिउ
बाल बंभयारी मज माहिउ
सिरि जिणचंदु भडारउ मुणिवइ
तहु पय-पयरुह वंदिवि कइवइ

जा सत्थत्थुपचिंतइ पावणु
जिणहरि अज्जतउ सुह भावणु
ता तत्थाइण्णा सुह जोणं
भव्य चित्त उप्पाइय मोणं
आयम चरिय पुराण वियाणें
टेक्कणि साहु गुणेण पहाणें
पंडितत्थ तेण विरणत्तउ
करमउ लेप्पिणु वियसिय वत्तउ

घत्ता—भो भो कइयण वर, दुक्किय रय-हर, पइ कइत्त भरुवहिउ सिरि
णिसुणहि णिम्मल मण, रंजिय बुहअण, गव्वसुहायरमच्चगिरि ॥ २ ॥

जिह पइइह रयउ महापुराणु
तेसट्ठि महा पुरिसाहिट्ठाणु
जह पुण गाहा बंधेण सारु
विरइया पयडु सिद्धंतसारु
पुण्णासउ मेहेसरुचरित्तु
जसहरचरियउ पुणु दयणिमित्तु
अवर वि जिह णाणा भेय तत्थ
तह सावयचरिउ भणेहु इत्थ
ता कणा पडिउ उत्तरू पउत्तु
तुह कहिउ करमि हंउ तुह णिरुत्तु
परणिय मिण सोय । णर पहाणु
जो सत्थ भाउ उव्वहइ जाणु
जा वहिणउ कोवि महंत्तु होइ
ता किम विच्थरइ समत्थु लोइ
पुणु टेक्कणि जंपइ वियसियासु

एत्थु जि गोवग्गिरि सुह पयासु
तोमर कुल कमल वियास-मित्तु
दुव्वार–वैरिसंगरअतित्तु
डुंगर निव रज्जधरा समत्थु
बंदियण समप्पिय भूरि अत्थु
चउराय विज्ज पालण अतंदु
णिम्मल्ल जसवल्ली भवण-कंदु
कलि चक्कवट्टि पायड णिहाणु
सिरि कित्तिसिंघु महिवइ पहाणु
तहु रज्जि वणी सु-महाणुभाउ
गोलाराडय अणणइ अपाउ
सेओ सेयाहिउ विदिय णामु
बुहयण कुवलय पालेय थामु
सुहग्गापिय मम राएण रत्तु
सग वसण पाव वासण विरत्तु

घत्ता—तहु हुव वर णंदणु, दुरिय णिकंदणु चारिदाणणं दुरिय हरा।
कइ चिरा पऊमरण गोत्ताहो तोस्मणिरुवम गुण-गण-रयण-धरा ॥ ३ ॥

पढमिल्लु धम्म धुरि दिन खंधु (?)
साहम्मिय णर कय पणय–बंधु
तवयरण पमुह गुणरयण–गेहु
णिव्वाहिउ चउविह संघ–गेहु
माणिक साहु मणि मुणिय तच्चु
कह मविण पयंपइ गिरि ण सच्चु
बीयउ पुणु परउवयारलीणु
जिण गुण परिणय उद्धरिय दीणु

जिण काराविउ जिणहरु समेरु
धयवडपंतिहिं रह–सूरतेउ
णिय मंतत्तणि रंजियउ राउ
सावय–विहाण कम्माणु राउ
परणारि-परम्मुहु-विगय-लोहु
असपत्ति साहुजण जणिय मोहु
तुव्थिय (विव्वय ?) जण पोसण कामधेणु
वरदाण पूर पूरण करेणु

सासण सुपहावण पह पवरणु
कुसराजु कुसलु तीयउ पसरणु
पुणु तुरिउ सगुरु पय-पोम-रत्तु
धणि वणणु जेण सखि णिविहु पत्तु
जाचय जण पूरण कप्प वत्थु [च्छु]
इंदीवर दल सारिच्छ अच्छु
सारं वर पवियारण पवित्ति
जगि पायडु जो जि पसण्ण कित्ति
णयाह मज्झि कुल भवण-दीउ
कुसराज महामइ णिरु विणीउ
तुहु पुरु संठिउ विणवइ एहु
सत्थत्थ जाणु किणउ मुणेहु
इहु णिव्वाहइ सकइत्त भारु
इय मुणिवि करहि किण चरिउचारु
इहु कवियण जण भत्तउ पहाणु
तुम्हह कारेसइ अहिउमाणु
तं णिसुणि विवुहु पडि चवइ तस्स
हउ किंण वियाणमि —र अम्म
इहु सच्चु कइत्तहु मरु वहेइ
णिम्मलु जस पसरुवि इह लहेइ
साहम्मिय वच्छलु गुण पवित्तु
कि किं ण करमि एयहु पउत्तु

घत्ता—इय वयणांतरि, सुक्ख णिरंतरि, कर जोडिवि णियसिय वयणु
कुसराउ पयंपइ, सुहिउ समप्पइ, भव भमणहु भव-भीय-मणु ॥ ४ ॥

भो रइधू पंडिय दुरिय-मंथ
सुद्धायमपरमपुराणगंथ
पइ विरइय एत्थु अणेय भव्व
ते अम्हह आयणियइ सव्व
एहउ भाविउ मइ माणसम्मि
अइ दुल्लहु णरभउ भव-वणम्मि
तस थावराइ जम्मइ गहंतु
चुलसीदिलक्ख जोणिहि भमंतु
जरमरणभूरि दुक्खइ सहंतु
अच्छियउ जीउ कालु जि अणंतु
सदंसण सज्जय वय पवित्त
एण जि जीवे कह सविणपत्त
दंसण पुव्वइ सयलाइं ताइं
वंछमि सोओ विहु णिय रयाइं
जिण भणिय सत्थ कंचण गिरिंद
बहु णाम ठवहि सेविय सुरिंदि
ता वुहु जंपइ वणि कुल ललाम
भो विणयभुत्त कुसराज णाम
लइऊ [illegible]स वर पइ मयंक
दुव्वारवइरि-वारण-असंक
तुहु वयणें करमि कइत्त विहि
पर दुज्ज (ण) जण भउ वह मि चित्ति

घत्ता—ज णउ णिसुणिज्जइ सणि ण सुणिज्जइ णवि पेल्लिज्जइ पुणुयणिा,
तं भासइ दुज्जणु असमंजस मणु अघउ वयण पावमइ खणि ॥ ५ ॥

प्रथम सन्धि पत्र ७ B

घत्ता—तुहुः ति वहिरब्भंतवि अरि मइ जित्ता भंति णउ
रइधर धिय सुलणरोम इअ सल वरधम्मं कुसराज थुओ ॥ १३ ॥

इय सिरि सावइ चरिए, सदंसण पमुह सुद्ध गुण भरिए सिरि पंडिय रैधू वणिणए. सिरि महाभव्व सेउ, साहु सुय कुसराज अणु मणिणए अहिगम सम्मत्त विच्छा करणं पढमो संधी परिच्छेओ ॥ संधिः ॥ १ ॥

द्वितीय सन्धि प्रान्ते पत्र १८ A

घत्ता—रइधर इण सच्च कइत्तगंधि कुसराज पमुह भावण पउरे
किं किज्जइ रयणिहि एत्थु सइ सिर कामिउ इय इणि दिवसयरे ॥ २ ॥

इयसिरि सावयचरिए, सदंसण पमुह सुद्ध गुण भरिए सिरि पंडिय रइधू वणिणए सिरि महा भव्वसेउ साहु सुय कुसराज संघाहिवइ अणुमणिणए अहिगम सम्म सेट्ठि भजदुइ कहंतरवण्णणं णाम बीओ संधि परिच्छेउ सन्धि ॥२॥

तृतीय सन्धि प्रान्ते पत्र ३१ A

घत्ता—कुसराय वणिंद अखंडु मह तइया दंसणुजायउ
रइधू णउ सुणिवि तं मह पियहि सेय मुणहु चिरु आयउ ।। २६ ।।

सिरि पंडिय रइधू वणिणए सिरिमहा भव्व सेऊ साहु सुय कुसराज संघाहिवइ अणुमणिणए अहिगमण सम्मत्त स्वाण वणणं नाम तीउ सन्धि परिच्छेद ।। सन्धि ३ ।।

चतुर्थ सन्धि प्रान्ते पत्र ३८ B

घत्ता - सम्मत्त कहंतर हिय मुणिवि भावं तंजि ध रजइ
हेलय सामय पउ पाविज्जइ जिं भविउ वहित्तरिज्जइ ।। १६ ।।

इय सिरि सावयचरिए सदंसण पमुह सुद्ध गुण भरिए सिरिमहासाधु सेउ सुय संघाहिवइ कुसराज अणुमणिणए अधिगम सम्मत्त वणणो तुरिउ संधि परिच्छेउ ।। संधि ।। ४ ।।

पंचम सन्धि प्रान्ते पत्र ४५ B

घत्ता—इय पत्तापत्तह, मुणि विन चित्तह, जो कुसुराउ दाण करइ
सो दंसणु रइधू, मुणिवि परमुपरु, भवसागर लीलइं तरइ ।। १६ ।।

इयसिरि सावयचरिए सदंसण पमुह सुद्ध गुण भरिए सिरिपंडिय रइधू वण्णिए सिरि महा भव्य सेऊ साहू सुय संघाहिवइ कुसराज अणुसणिणए पोसह पडिमावणणो णाम पंचमो संधि परिच्छेओ सम्मत्तो ।। संधि ।। ५ ।।

अन्त्य प्रशस्ति :—

घत्ता—तहि अधम्म दव्वायहु, सुद्ध सहायहु, ठिदि पावेप्पिणु सिद्ध वरु
णिवसइ रइधू हुउ, अप्पमिद गुण जुउ, कुसराजहु संपत्तियरु ।। २४ ।।

इय धण कण रयण गुणोह पुण्णु   तहु णंदणु जिण पय पयय भाणु
विजयच्छ गिरि व जिणहर रवण्ण   विहडिय जणाण अधार ठाणु
बहु विबुहासिउ णंतिय सवासु   लडऊहिहाण पालिय सधम्म
गोवग्गिरि दुग्गु महीपयासु   रूपाविय यम तुहु रूव रम्म
तहि महिवइ णामें कित्तिसिंधु   तह जि सुओ विस्सुओ सुकयधारि
अरि वर गय वड णिद्दलण सिंधु   डूंगरणिव भंडाराहियारि
तस्सेव रज्जि पायडु वणिदु   सिरि सेऊसाहु पसिद्ध साहु
गोलाराडिय कुल कुमयचन्दु   संजाउ जासु वर धम्मलाहु
चिरु हूवउ महरू णाम साहु   मुहग्गा तहु पिययम सुह पवित्ति
गुण मंदिरु सीया भज्ज णाहु   मल हारिणि णं जिणणाह कित्ति

घत्ता—इय चारि वि णंदण, जण आणंदण, धम्मकज्ज धुर धरण वर
भवियण सन्दर, पुज्ज पुरंदर मग्गण जण दालिद्द हरु ।। २५ ।।

गुणहि गरिट्ठु जेट्ठु सुहभवणु   तहु णंदणु चउक्कु गुणभूसिउ
सुहि सहयरू अरियण संतावणु   पढम वणु कइ पणहि पसंसिउ
सिरिमाणिक्कसाहु विक्खायउ   हरिसिंधु हरिसु पायणु अगणो
तिय लक्खणसिरि सुह अणुरायउ   पहरू रूव पहाणय मगणो

कुमय चंदु चंदु व सुकलालउ
जिण पय पुरउ णमिय णियभालउ
पुणु बीयउ णंदणु सकियत्थें
रज्ज-कज्ज-धुर-धरण-समत्थें
संघाहिउ असपरि असंकिउ
ससि पहकर णिम्मल जस अंकिउ
णिरसिय-पाव-पडल णिरु रुंभइ
जेण पइट्ठाविय जिणबिंबइ
तहु थिरुमा संजाया भज्जा
जिण सपहावणंग सुमणोज्जा
तहु सुय माघउ अरियण गंजणु
संजाया बे पुत्त वियक्खणु
उवरण देवचन्द सल्लक्खण

सेऊ साहु हु णंदणु तीयउ
सिरि कुमराजु सयम्मि विणीयउ
तस्य पिया मुणिदाणकयायर
लोहट णामें सुह-भावणपर
बीई वीरा जिणगुण मण्णइ
रूवे रई मिलेणं जाणइ
णंदणु णेमिदासु सुह पावणु
परउवयार रयण-गुण भरिउ
पावणु परियणु जण मण तोसणु
पुणु सेऊ सातहु सुह तुरिउ
जुंजिय ज्जुणाज्जुण वियारो
णामें जे जिम हिम जिण यारो

घत्ता—जो जिहु पियरइ सो पाण पिय सुय मंडण मंडिय अणह
णंदउ सिरि सुक्ख अइखंज्जुया इय चउ भायर वंस कहा ॥ २६ ॥

इय चिरु णंदउ सुह लच्छि गेहु
सिरि वीयराय जिण समउ एहु
णंदहु णिग्गंथ रिसिंद विंद
ये दुविह महातव पह दिणिंद
णंदउ महिवइ सिरि कित्तिसिंघु
समरंगण पंगण अरि अलंघु
जे धम्म कम्म णिरु सावहाण
सम्मदंसण--भावण--पहाण
गोवालय--वासिय सावयावि
णंदउ चिरु ते अणणवि सयावि
णंदउ गोलाराडयहुवंसु

जत्थ जि उवरण्णु कुमराज हंसु
जसुभत्ति वसें मइ पंडयेण
सकइत्त महा गुण मंडिएण
सिरि कमलकित्ति रिसि सीसएण
हरिसिंह साहुसंघाहिवेण
सुय उदयारय जणेण एहु
कइणा वि रइउ सुह सहहेउ
सावय चरित्तु जं अत्थवंतु
सत्ता विहिणि वज्जिउ पुणुत्तु
तं वुहयण सोहिवि करहु सुद्धु
फेडिप्पिणु पउ आयम विरुद्धु

घत्ता—सइ सरसइ जणणी हिय पिय भणणी सयलु खमिज्जउ दोसु परा
पढियंतु लिहंतउ रवि वरिज्जंतउ णंदउ सत्थु पसुत्थ धरा ॥ २७ ॥

इयसिरि सावयचरिए, सदंसण पमुह सुद्ध गुण भरिए सिरि पंडित रयधू वण्णिए, सिरि महाभव्व सुय साहु संघाहिव कुमराज अणुमण्णिए । सम्मत्त कौमई नाम छट्टो संधि परिछेओ सम्मत्तो ।

शुभं भवतु संवत् १६१४ वर्षे आषाढ वदि ३

प्रतिः- गुलाबकुमारी लायब्रेरी पत्र ४८ पंक्ति १० अक्षर ४० प्रति पंक्ति आदि पत्र १ और सेरिक्र अंतिम १॥ पंक्ति, नं. २ १८७ ।

भगवान महावीर के जीवन प्रसंग

मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

भारतवर्ष की महान विभूतियों में भगवान श्री महावीर का नाम अग्रणी है। वे इसलिए नहीं पूजे गये कि वे एक राजकुमार थे और न केवल इसलिए भी स्मरणीय बने हैं कि उन्होंने उत्कट साधना की थी। क्योंकि साधना के द्वारा जीवन को निखारने वाले करोड़ों मानव हो चुके हैं, जिनमें से कुछेक तो इतिहास के गर्भ में समा चुके हैं और कुछ एक इतिहास के केवल उभरने हुए पृष्ठों तक ही सीमित हैं। किन्तु जन-जन के मुख पर उनका कोई विशेष नाम नहीं है। जनता उन पुरुषों को विशेष याद करती है, जिन्होंने अपनी साधना के साथ जन कल्याण के लिए भी भगीरथ प्रयत्न किया हो। भगवान महावीर एक ऐसी ही विभूति थे, जिन्होंने जितना प्रयत्न अपनी साधना के लिए किया था, उतना ही प्रयत्न जनता के सुसुप्त मानस में विवेक का अलख जगाने के लिए। जनता अपने उपकारी का ही युगयुगान्त तक स्मरण करती है और उसके ही पावन चरणों में श्रद्धा के कोमल कुसुम चढ़ा कर उऋणता का अनुभव करती है।

भगवान श्री महावीर का बाल्य व यौवन राजकीय वैभव के बीच बीता। उभरता हुआ यौवन जहां मनुष्य में अल्हड़ता व उन्माद जागृत करता है, वहां भगवान् महावीर को उसने अनुरक्ति से विरक्ति की ओर मोड़ा। तीस वर्ष की अवस्था में वे परिव्राजक बने। साढ़े बारह वर्ष तक वे एकान्त स्थान में गिरि-कन्दराओं या सूने घरों में, सघन जंगलों में या टूटे-फूटे देवालयों में अपनी आत्मा को तपस्या व ध्यान के द्वारा निखारते रहे उनका ध्यान केवल जाप तक ही सीमित नहीं था, अपितु उसमें सृष्टि के प्रत्येक पहलू पर, चाहे वह जड़ हो या चेतन, सामाजिक हो या आध्यात्मिक, चिन्तन चलता था, जो सिद्धि प्राप्तकरने के अनन्तर वाणी द्वारा लाखों व्यक्तियों के हृदय में उतराव उनका आलोक बना। उनकी दृष्टि में जड़ और चेतन का समवायी रूप। सामाजिकता और आध्यात्मिकता का संवलित रूप व्यक्ति के तब तक साथ रहेगा, जब तक वह साधना की कठिनतम मंजिल पार नहीं कर लेता।

साढ़े बारह वर्ष की उत्कट साधना के बाद वे सत्य और अहिंसा के उपासक के रूप में नहीं, अपितु सत्य व अहिंसामय ही बन गये थे। आत्मा की परम पवित्रता अहिंसा व सत्य के द्वारा होती है, यह स्थूल कथन है। वस्तुतः तो अहिंसा या सत्य से व्यतिरिक्त कोई भी आत्मा हो भी नहीं सकती जितना आवरण इन पर पड़ा होता है उतना ही अवरोध रहता है, जिसका परिणाम अज्ञान या जड़ता होता है और उसकी अभिव्यक्ति भी साधना शब्द में की जाती है।

कोई भी आदर्श प्रेरणा का रूप तब लेता है जबकि वह व्यवहार में उतरता है। भगवान् श्री महावीर अहिंसा व सत्य की प्रतिमूर्ति थे। अतः जनता के दिल में उनकी उन घटनाओं ने अधिक स्थान पाया जबकि उन्होंने अपने प्रथम साधु शिष्य गौतम स्वामी व सम्राट् श्रेणिक जैसे श्रावक को स्पष्ट शब्दों में एक को क्षमा मांगने का निर्देश दिया तथा दूसरे को उसकी अपनी नरक-गमन की भवितव्यता बतला दी। साधक सत्य का अवलम्बन करे, यह स्थूलता है, पर वह आत्मसात करे, यह प्रथम अपेक्षा है। जो सत्य को आत्मसात कर लेता है, उसके समक्ष दूसरों की आत्मा भी निखरती है। गणधर इन्द्रभूति (गौतम स्वामी) एक बार गोचरी के लिए वाणिज्य ग्राम में पधारे। शहर में उन्होंने आनन्द श्रावक की पौषधशाला में आए। आनन्द ने शारीरिक असामर्थ्य के कारण लेटे-लेटे ही वन्दना की और चरण स्पर्श किया। आनन्द ने कहा—भगवान गौतम! क्या गृहस्थ को आमरण अनशन में अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है।

गौतम—हां, हो सकता है।

आनन्द—मुझे अवधि-ज्ञान प्राप्त हुआ है और उससे मैं उत्तर में चलू हेमवन्त पर्वत तक, दक्षिण, पश्चिम और पूर्व में पांच सौ योजन लवण समुद्र तक, ऊपर सौधर्म देवलोक तक और नीचे प्रथम नरक के लोलुप नरकवास तक देखने व जानने लगा हूं।

गौतम-आनन्द गृहस्थ को इतना विशाल अवधि-ज्ञान नहीं मिल सकता। अनशन में तेरे से यह मिथ्या सम्भाषण हुआ है, अतः तू इसकी आलोचना या प्रायश्चित कर।

आनन्द—प्रभो! महावीर प्रभु के शासन में सत्याचरण का प्रायश्चित होता है या असत्याचरण का?

गौतम — असत्याचरण का।

आनन्द—प्रभो ! आप ही प्रायश्चित करें। आप ही से असत्याचरण हुआ है।

आनन्द की इस दृढ़ता पूर्ण वार्ता को सुन कर गौतम स्वामी सम्भ्रान्त हुए। वहां से चल कर महावीर प्रभु के पास आए और वह सारा वार्तालाप उन्हें कह सुनाया। भगवान् महावीर ने कहा-गौतम तुम्हारे से ही अत्याचरण हुआ है। तू आनन्द के पास जा और उनसे क्षमा याचना कर।

गौतम स्वामी तत्काल आनन्द के घर आये और कहा-आनन्द ! भगवान् महावीर ने तूझे ही सत्य कहा है। मैं वृथा विवाद के लिए तेरे से क्षमा चाहता हूँ१।

'हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' स्वर्ण पात्र से सत्य का मुख ढका रहता है।' किन्तु भगवान् श्री महावीर इस उक्ति के विरोधी थे। वे सत्य को आत्मा का महभावी गुण मानते थे, अतः वस्तु सत्य हमारी अपेक्षा में चाहे वह कितना भी कटु क्यों न हो, वे मृदु ही समझते थे और उसके उद्घाटन में कभी सकुचाते नहीं थे। एक बार भगवान श्री महावीर बृहत्-श्रमण समुदाय के साथ राजगृह नगर में पधारे। राजा श्रेणिक राज-परिवार और सेना के साथ बड़े ठाठ से वन्दन करने के लिए आया। विशाल परिषद् में धर्मोपदेश हुआ। देशना के अन्तर श्रेणिक राजा ने खड़े होकर विनम्रभाव से भगवान से पूछा—भगवन् ! आपके प्रति मेरी अगाध श्रद्धा है। अतः बताएं, मैं यहां से काल धर्म को प्राप्त होकर किस योनि को प्राप्त करूंगा ? सारी परिषद् जानने को उत्सुक हो उठी थी। श्रेणिक के मन में अपूर्व उत्साह था और निश्चय था, भगवान् मेरे लिए विशिष्ट गति का ही निरूपण करेंगे।

भगवान् ने उत्तर दिया श्रेणिक ? यहां से आयुष्य पूर्ण कर तू पहले नरक में पैदा होगा।

श्रेणिक स्तब्ध रह गया। सारी परिषद् विस्मित हो उठी। भगवान् ने कहा-श्रेणिक ! डरो मत ! विराट् सुखों की ओर जाते हुए तुम्हारा यह नरकावास बहुत ही लघु है। उस नरक योनि को पार कर तू फिर मनुष्य योनि प्राप्त करेगा और मेरे ही जैसा भावी चौबीसी का प्रथम तीर्थंकर होगा।

श्रेणिक-भगवान् ! किस कर्मों के परिणाम स्वरूप मुझे यह नरक का भोग मिला ? भगवान्—तूने आर्हत्—धर्म प्राप्त करने से पूर्व शिकार खेलते समय एक गर्भवती मृगी को अपने बाण से मारा था और उस हिंसा-कृत्य पर गर्वित हुआ था, मैंने कैसा लक्ष्य साधा है कि एक बाण से हिरणी और उसके गर्भस्थ बच्चे बींध गए। उस अकृत्य की अतिशय शलाघा से यह निकाचित (नहीं टूटने वाला) कर्मबन्ध हुआ और वह तुझे अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ेगा।

वृद्धावस्था में वही श्रेणिक राजा राज्यलोलुप पुत्र कोणिक के द्वारा कारावास में डाला गया माता चेलना के द्वारा कोणिक दुत्कारा गया तो उसे अपने कृत्य पर पश्चाताप हुआ और वह पिता को मुक्त करने के लिए कारावास की ओर गया। श्रेणिक ने समझा, यह दुष्ट पुत्र मेरी और भी विडम्बना करना चाहता होगा। अच्छा है, मैं अपने आप मर जाऊं। राजा के हाथ में विष मुद्रिका थी और वह उस माध्यम से आत्म हत्या कर मर गया और नरकगामी हुआ।

साधक का आत्म-बल असीम होता है, किन्तु शरीर कभी कभी उसे तिरोहित कर स्वयं उसपर छा जाता है। साधक जब अपनी अभिलषित मंजिल पर पहुँच जाता है, आत्म-पक्ष गौण हो जाता है। साधक से सिद्ध बन जाता है। शरीर व्यतिरिक्त आत्मा का उस समय स्पष्ट आभास होने लगता है। भगवान् महावीर को अपनी साधनाकाल में अनेक भयंकरतम उपसर्ग झेलने पड़े थे। उनमें वे अम्लान रहे किन्तु जब उन्होंने कैवल्य प्राप्त कर लिया था। और जनता को आत्म—कल्याण का आदर्श मार्ग बतलाया। उन्होंने अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त किया, जिससे उनके समक्ष जाति विरोधी जीवों का वैर भाव मिट गया उनकी अहिंसा के दिव्य आलोक में हिंसा रूप तिमिर विलीन हो गया और जनता में सुख शान्ति का साम्राज्य हो गया। इसी कारण जनता आज भी अपने उपकारी का भक्ति पूर्वक स्मरण करती है।

भगवान् श्री महावीर का जीवन अहिंसा व सत्यमय था। उनका आत्म-बल अक्षुण्ण था। अतः शरीर बल भी उसके अधीन ही रहता था। उनके जन्म दिवस के उपलक्ष में करोड़ों व्यक्ति जहां श्रद्धा का अर्घ्य समर्पित करें, वहां अहिंसा, सत्य व आत्म-बल की पुनीत प्रेरणा भी अपने में संजोये।

★★★

१ यह कथा श्वेताम्बर परम्परा सम्मत है।

महावीर का गृह त्याग

डा० कस्तूर चंद कासलीवाल एम. ए. पी. एच. डी.

दिन बीतते देर नहीं लगती। राजकुमार महावीर पूरे युवा हो चुके थे। सुन्दरता में वे कामदेव को भी लज्जित करने लगे थे। उनके प्रत्येक अंग की शोभा निराली थी। जब वे हाथी पर चढ़ कर वन विहार अथवा नगर दर्शन को निकलते तो प्रजा जन महावीर जैसे सुन्दर एवं योग्य राजकुमार को देख फूली नहीं समाती। अनेक सुन्दरियां उनके दर्शन मात्र से ही पुलकित हो उठतीं और उन्हीं के समान सुन्दर वर पाने की कामना करतीं। कभी वे उस राजकुमारी के भाग्य की भी सराहना करतीं जिसके भाग्य में महावीर जैसा पति पाना लिखा था। बड़े बड़े राजा महाराजा महावीर के विवाह के लिये अपनी कन्या देने का प्रस्ताव रखते। इस तरह के प्रस्ताव आये दिन आते लेकिन महावीर विवाह के प्रश्न को सदा टालते रहे। राज्य कार्य में भी वे बहुत कम समय दे पाते लेकिन जब भी थोड़ा समय वे देते राज्य की बारीक से बारीक गुत्थियों को सहज ही वे सुलझा देते। न्याय करने में निष्पक्ष रहते और अपने विशिष्ट ज्ञान से दूध का दूध और पानी का पानी करते। इसलिये झूँठे लोग तो उनके पास जाने में भी संकोच करते। महावीर दिन प्रति दिन बड़े होने लगे। माता पिता को चिन्ता बढ़ने लगी। प्रजा में विवाह प्रश्न पर विभिन्न प्रकार की चर्चा होने लगती। प्रजा के प्रतिनिधि उनसे विवाहके प्रश्न को लेकर मिलते और विवाह के पश्चात राज्य कार्य सम्हालने की प्रार्थना करते। लेकिन महावीर का सब को एक ही उत्तर होता कि अभी उन्हें इस प्रश्न पर विचार करने का समय ही नहीं मिला है। जनपद सभाओं में विवाह करने का अनुरोध के प्रस्ताव पास होते और उन्हें महावीर की सेवा में भेजा जाता। उनके विचारों में परिवर्तन करने के लिये अनेक प्रकार के आयोजन किये जाते। नाच गान होते। वन विहार के आयोजन होते तथा सुन्दर से सुन्दर चित्र उनकी सेवा में भेजे जाते लेकिन किसी को भी सफलता नहीं मिलती। अन्त में एक दिन महाराज सिद्धार्थ ने महारानी त्रिशला के आग्रह से महावीर को बुलाया और लगे करने बात इस विषय पर। महावीर वहां आये और मौन होकर बैठे रहे। वे माता पिता के भावों को ताड़ गये थे इसलिये स्वयं ने इस विषय पर मौन रहना उचित समझा। उस समय वहां केवल छह सदस्य थे—महाराज सिद्धार्थ, महारानी त्रिशला, महावीर, प्रधान मंत्री, सेनाध्यक्ष तथा प्रजा की ओर से एक प्रतिनिधि।

मौन को भंग करते हुये महाराज सिद्धार्थ ने कहा- "युवराज, अब तुम पूर्ण युवा हो चुके हो। गत १२वर्षों से राज्य कार्य में भी कभी कभी हाथ बटाते रहे हो। तुम्हारी बुद्धि, शासन योग्यता एवं न्यायप्रियता की सभी ओर से प्रशंसा हो रही है। प्रजाजन एवं राज्य कर्मचारी तुम्हें अपने शासक के रूप में देखना चाहते हैं। इसलिये आज हम सबने यह निश्चय किया है कि तुम्हें युवराज घोषित कर दिया जाये और शीघ्र ही तुम्हारा विवाह कलिंग देश की सुन्दर राजकुमारी यशोधरा से कर दिया जावे। हमारी इस इच्छा को तुम बहुत दिनों से टालते रहे हो, लेकिन अब उसे भविष्य के लिये स्थगित नहीं किया जा सकता।"

महाराज के इस आदेश के पश्चात महारानी त्रिशला ने कहा "राजकुमार माँ बाप की इस एक मात्र इच्छा को पूर्ण करना पुत्र का कर्त्तव्य होता है। मैं और स्वयं महाराज तुम्हारे जन्म से ही उस दिन की आशा लगाये बैठे हैं जिस दिन तुम अपनी वधू के साथ राज महल में प्रवेश करोगे। इस सुनसान महल में फिर से आकर्षण कर दोगे और तुम जानते हो कि महाराज की शक्ति दिन प्रति दिन घट रही है। इस लिये वे शासन का सारा भार तुम्हें सौंपने लिये आतुर हो रहे हैं।

प्रधान मंत्री ने अपने आसन से खड़े होकर एवं तीन बार सादर अभिवादन करने के पश्चात् निवेदन किया "राजकुमार। सारी प्रजा आपको युवराज के रूप में देखना चाहती है और उसकी हार्दिक इच्छा है कि आप पूर्ण रूप से

राज्य कार्य संभाले। श्रीमान के निर्देशन में सारी शासन व्यवस्था चले। वह अपनी भावी महारानी को भी देखना चाहती है और उसके लिये जितना भी त्याग वह कर सकती है करने को तैयार है।

जन प्रतिनिधि ने हाथ जोड़ कर पहिले अभिवादन किया और बड़ी नम्रता से कहा कि आपके सारे राज्य की जनता ने मुझे प्रतिनिधि नियुक्त कर इसीलिये आप की सेवा में भेजा है कि मैं राजकुमार से शासन की बागडोर अपने हाथ में लेने एवं विवाह करने के लिये उनकी ओर से निवेदन करूँ। राजकुमार! सारी प्रजा विवाहोत्सव में सम्मिलित होने को अधीर हो रही है। सब प्रकार से विवाह की तैयारी हो चुकी है केवल आपकी स्वीकृति मात्र की देरी है।

महाराज सिद्धार्थ ने फिर कहा, "राजकुमार! मैं तुम्हारी भावनाओं का सम्मान करता हूँ। मुझे बड़ा गर्व है कि राजकुमार के हृदय में पीड़ित, दलित एवं अपमानित व्यक्तियों के लिये दर्द है। उनकी सेवा के भाव हैं। मैं भी चाहता हूँ कि उनका जीवन स्तर ऊंचा हो। भेदभाव, छुआ छूत, एवं ऊंच नीच की गन्ध समाप्त हो। लेकिन ये बुराइयां तुम्हारे शासन भार सम्हालने से जल्दी दूर हो सकती हैं। शासन के बल पर जो सुधार हो सकते हैं वे केवल उपदेश एवं प्रचार से नहीं हो सकते। विवाह जीवन का आवश्यक अंग है। शांत एवं सरल जीवन के लिये उसका होना आवश्यक है। नारी को विलासिता की दृष्टि से ही नहीं देखना चाहिये किन्तु नारी में मनुष्य जीवन को अच्छाई की ओर मोड़ने की जो शक्ति है उसका भी हमें सम्मान करना चाहिए। मनुष्य के उच्छृंखल विचारों पर रोक लगाने के लिये नारी का होना आवश्यक है।"

माता त्रिशला उदास बैठी हुई थीं। उसकी आंखें सजल थीं और स्नेह वश अपने पुत्र के मुंह के भावों को बार बार जानने का प्रयास कर रही थीं। वे पुनः कहने लगीं, "राजकुमार! माता पिता की इच्छापूर्ति करना सन्तान का प्रथम कर्त्तव्य है। पुत्र ही वृद्धावस्था का एक मात्र सहारा होता है। यदि वही उनकी इच्छाओं का पालन नहीं करेगा तो फिर किससे आशा की जा सकती है। तुम्हें हमारी ओर भी देखना चाहिए।

महावीर इतनी देर से मौन थे। वे सारी बातों को बड़े ध्यान से सुन रहे थे और स्थिति की गम्भीरता को भी समझ रहे थे। उनके चहरे पर न तो प्रसन्नता थी और न विषाद। वे अपनी सहज मुद्रा में थे। जब सब चुप हो गये तो वे उस अप्रिय एवं असह्य शान्ति को भंग करते हुये बोले—

महाराज, माता जी, प्रधान मंत्री एवं जन प्रतिनिधि, मैं आप सब का आभारी हूं जिन्होंने अपने विचारों के प्रकट करने के पश्चात मुझे भी कुछ कहने का अवसर दिया। महाराज चाहते तो वे मुझे आदेश भी दे सकते थे। माता का प्यार मुझे सदा स्मरण रहेगा। संसार में ऐसी माताएं मिलना कठिन है। आपने जो कुछ भी कहा वह अक्षरशः सत्य है लेकिन इसी से समस्या नहीं सुलझ सकती। महाराज एवं माता जी को मुझे युवराज बनाने की जो चिन्ता है उसे भी मैं खूब जानता हूं। विवाह करके घर गृहस्थी एवं राज्य कार्य चलाने की उपयोगिता में भी मुझे कम विश्वास नहीं है। फिर भी मैं ही तो आपका एक मात्र पुत्र नहीं हूं। सारी प्रजा ही राजा की सन्तान मानी जाती है। यदि वह दुःखी है तो एक मात्र मेरे सुखी होने से क्या हो सकता है। आप सब जानते हैं कि आज देश की क्या स्थिति है। लोगों की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियां कितनी विषम होती जा रही है। धर्म के नाम पर पाखण्ड एवं विवेक हीन क्रिया काण्डों का बोल बाला है। शुद्रों एवं स्त्रियों के लिए धर्म के द्वार ही बन्द कर दिये गये हैं। चारों ओर अज्ञान पैर फैलाये बैठा है। शिक्षा का प्रचार नहीं है। स्त्रियों की समाज में जो दयनीय स्थिति है वह आप से छिपी नहीं है। आज चारों ओर निराशा एवं उदासीनता के भाव दिखलाई देते हैं। लोगों में न उत्साह है और न प्रसन्नता। वे अपने आपको बेबश एवं असहाय अनुभव करते हैं। यह स्थिति केवल अपने प्रदेश ही तक सीमित हो ऐसी बात नहीं है। बल्कि सारे भारत की ही ऐसी दशा है। ऐसी स्थिति में मुझे राज्य के प्रति कोई आकर्षण नहीं है और न मैं विवाह को जीवन विकास के लिए आवश्यक समझता हूं। मैं आज से सातवें दिन गृहत्याग करूंगा और एकान्त में बैठ कर निरन्तर चिन्तन एवं मनन में अपना समय व्यतीत करूंगा। इससे सास्वत सुख

का मार्ग खोज कर दुखी एवं पीडित जन समूह तक उसे पहुँ-चाने का प्रयत्न करूंगा। मुझे दृढ़ विश्वास है कि बिना श्रमण-मार्ग अपनाये न तो आत्मिक सुख प्राप्त किया जा सकता है और न संसारी प्राणियों का अज्ञान ही हटाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में विवाह करने एवं राज्य-भार सम्हालने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

साधु बनने का नाम सुनते ही माता त्रिशला रोने लगी और पिता का दिल भी बैठ गया। प्रधान मंत्री एवं जन प्रतिनिधि के मुंह पर भी उदासी छा गई। वे नहीं चाहते थे कि उनका सुकुमार जिसकी सेवा को सैकडों दासी दास थे, साधु बन कर गांव २ में भ्रमण करता रहे।

मां की ममता उमड़ आई तथा रोते हुए कहने लगी, पुत्र, तुमने अभी केवल सुख ही सुख देखा है। राज महलों में रहे हो। दुःख क्या चीज है इसका तुम्हें अनुभव नहीं है। गर्मी, सर्दी, एवं बरसात के कष्टों को कभी देखा नहीं। नग्न रहते हुए जंगलों में रहना तथा वहां प्राकृतिक प्रकोपों एवं मानवीय उपसर्गों को सहना अति दुष्कर है। मेरा तो हृदय इनका नाम सुनते ही थर २ कांपने लगता है। मैं ऐसे कठिन मार्ग पर अपने हृदय के टुकड़े को नहीं जाने दूंगी।

माता की करुण कथा को सुन कर महावीर माता से बड़े प्रेम एवं विनय से कहने लगे, मां तुम इसकी चिंता न करो। यद्यपि मैंने अभी कोई कष्ट नहीं देखा लेकिन मैं इससे डरने वाला व्यक्ति नहीं हूँ। जीवन में वही आगे बढ़ सकता है जिसे कष्टों एवं आपत्तियों की परवाह नहीं। संसार में सभी प्राणी अभाव एवं अभियोगों से पीड़ित है। तथा अधिकांश लोगों को सामान्य जीवन की सुविधाएं भी प्राप्त नहीं है। ऐसी स्थिति में मैं विवाह कर राज्य-सुख भोगूं यह कैसे संभव हो सकता है ?

महाराज सिद्धार्थ ने कहा, राजकुमार यह मैं जानता हूँ कि तुम्हारा जन्म जगत के दुखी प्राणियों के उद्धार के लिए हुआ है। लोक कल्याण ही तुम्हारे जीवन का ध्येय है। हम लोग तुम्हें कितना ही प्रलोभन दें, समझायें एवं आग्रह करें लेकिन तुम अपने विचारों में अडिग रहोगे। इसलिए मैंने अब निश्चय किया है कि राज दरबार किया जाय तथा सभी प्रजाजनो के समक्ष तुम्हारे निश्चय को प्रगट किया जाय जिससे प्रजा भी अपने प्रिय राजकुमार का एक बार फिर से दर्शन कर सके।

माता त्रिशला ने महाराज सिद्धार्थ की बातें सुनी तो मूर्छित हो गई किन्तु महाराज के निर्णय को न बदल सकी।

× × ×

२

चार बजे का समय। सभा-मण्डप खचा खच भरा हुआ था। दूर तक दृष्टि डालने पर भी कहीं तिल धरने को जगह नहीं थी। स्त्री पुरुष रंग बिरंगी पोशाकों में वेष्टित थे। सभास्थल की बायीं ओर संभ्रान्त कुल की नारियां बैठी थीं तथा दाहिनी ओर संभ्रान्त नागरिक। सरदार, उमराव, सामन्तगण, मंत्री परिषद के सदस्य अपनी २ पोशाकों में सजधज कर यथा योग्य स्थान पर सुशोभित थे। महाराज ने सभी संभ्रान्त नागरिकों को सभा भवन में उपस्थित होने के लिए आमंत्रित किया था। सबको आने की खुली छूट थी। नगर रक्षक भी काफी संख्या में थे। सभा-भवन में अपेक्षाकृत शान्ति थी। भवन तोरणद्वारों पताकाओं एवं बन्दनवारों से सजाया गया था। भवन के मध्य में एक बहुत बड़ा कांच का झाड था जिस पर मोम-बत्तियां रखी हुई थीं। सभा के बीचों बीच लाल पट्टी बिछी हुई थी। सामने ही ऊंचा मंच था तथा उस पर तीन मख-मली कुर्सियां पड़ी हुई थी। सभी की आंखें प्रवेश द्वार पर लगी थीं। इतने में ही एक अंग रक्षक ने महाराज, महारानी एवं राजकुमार के आने की सूचना दी सब अपने २ आसन पर खड़े हो गए तथा ज्योंहि उपस्थित जन समूह ने महा-राज को करबद्ध हो तीन बार नमस्कार किया त्योंहि महाराज सिद्धार्थ महारानी त्रिशला एवं राजकुमार महावीर की जय-घोषणा से सारा आकाश गूंज उठा।

महाराज आसन पर विराजमान हुए तथा महारानी एवं राजकुमार भी अपने आसन पर बैठे। सिद्धार्थ अपने राज-कीय वेष भूषा में थे तथा सदा की भांति आज भी उनके चेहरे पर उल्लास एवं प्रसन्नता थी। महारानी अवश्य उदास मालूम पड़ती थी। जब उन्होंने अपने चारों ओर अपनी प्रिय प्रजा को देखा तो महारानी की आंखों से आंसू ढलक गये। महावीर अपेक्षा कृत गम्भीर थे यद्यपि उनका मुख अपने निश्चय की सफलता के कारण प्रदीप्त था।

सभा में कुछ समय के लिए सन्नाटा रहा। महाराज अपने आसन से उठे और कहने लगे, प्रजाजनो मैंने आप लोगों को यहां आज किस कारण से उपस्थित होने का निमन्त्रण दिया है यह जानने के लिए आप उत्सुक हो रहे होंगे। बात भी ऐसी ही है। आपके हृदयों में तरह २ की आशाएं अथवा आकांक्षाएँ होंगी इस लिए उसे दूर करने के लिए ही आप लोगों को बता रहा हूँ कि राजकुमार महावीर जो गत ३० वर्षों से हमारी आशाओं के केन्द्र बने हुए हैं, ज्ञान साहस एवं बुद्धि में जिनकी गणना सर्व प्रथम होती है, अब तक जिन्होंने राज्यकार्य में मेरा हाथ बटाया है तथा इससे ही जो जनता के सर्व प्रिय बन चुके हैं, जिन के विवाह के दिन को देखने के लिए मेरी ही प्रजा नहीं किन्तु आस-पास एवं दूर के सभी देशों की प्रजा आशा लगाए हुए है, जिनके युवराज पद अभिषेक की प्रतीक्षा में सारी प्रजा आंखें लगाये हुए है उन राजकुमार महावीर का आग्रह है कि उन्हें साधु जीवन स्वीकार करने दिया जावे।

महाराज के इस वचन से सभा में एक दम सन्नाटा छा गया। सारी आंखें महाराज की ओर लग गई और प्रत्येक के हृदय में गहरी वेदना का अनुभव हुआ। लेकिन इसके पहिले कि उपस्थित जन समूह में से कोई आपत्ति आवे, महाराज ने फिर कहना आरम्भ किया, मुझे यह सूचित करते हुए हर्ष होता है कि हमने उनके इस आग्रह को स्वीकार भी कर लिया है। आज से चौथे दिन मंगसिर शुक्ला १० के दिन राजकुमार महावीर जिन दीक्षा लेंगे। वे श्रमण बन जायेंगे और सामाजिक धार्मिक एवं आर्थिक बोझ से उत्पीड़ित समाज की सेवा में लग जावेंगे। यद्यपि हमने यह फैसला हृदय पर पत्थर रख कर किया है लेकिन आप लोगों को मालूम होगा कि राजकुमार महावीर एक साधारण मानव नहीं हैं वे तीर्थंकर हैं और उनका जन्म स्वपर कल्याण के लिए हुआ है। वे नहीं चाहते कि देश तथा समाज में किसी भी मानव को जाति विशेष अथवा धर्म विशेष के कारण पददलित किया जावे तथा उससे घृणा की जावे। यद्यपि साधु जीवन अत्यधिक कठिन है। पद पद पर अनेक बाधाएँ हैं लेकिन राजकुमार ने इन सब की परवाह किये बिना ही इस जीवन को अपनाना स्वीकार किया है। हमारे लिए यह गौरव की बात है कि कुण्डलपुर का राजकुमार श्रमण संस्कृति के २४ वें तीर्थंकर हैं और जगत-कल्याण के लिए अवतरित हुए हैं। इसलिए मेरा आप लोगों से आग्रह है कि महावीर का दीक्षा कल्याण सारे देश में बड़ा धूम-धाम से मनाया जावे। इस दिन सामूहिक प्रतीज्ञा की जावे कि हम भविष्य में किसी को हीन दृष्टि से नहीं देखेंगे। न धर्म साधन में बाधा डालेंगे और न किसी की उन्नति में बाधक बनेंगे।

III

मार्गशीर्ष सुदी दशमी का दिन था। आकाश स्वच्छ एवं निर्मल था। सूर्य की किरणें न अधिक तेज थी। राजकुमार महावीर के दीक्षा कल्याण का पावन उत्सव देखने के लिए कुण्डलपुरी के बाहर अपार जन मेदनी उमड रही थी। झुण्ड के झुण्ड स्त्री पुरुष महावीर की शोभा यात्रा में सम्मिलित होने के लिए गीत गाते हुए जा रहे थे। किसी को कुछ चिन्ता न थी। सारा नगर तोरण वन्दनवार एवं ध्वजा पताकाओं से सजाया गया था। रंग विरंगी कागज की मालाओं से सारा मार्ग सुसज्जित था। गुलाब, मोगरा आदि विविध फूलों की मालाओं की पंक्तियों से सारा शोभा मार्ग सुगन्धित हो उठा था। बाजार के छज्जों पर महलों की खिड़कियों पर बच्चे एवं स्त्रियां हाथ में फूलमाला लिये हुये महावीर के दर्शनार्थ खड़े थे। सारे नगर में एक अभूतपूर्व चहल पहल थी। वृद्धों के मुख से सुना जा रहा था कि इस प्रकार का स्वागत अभी तक इसके पहले किसी का हुआ न देखा और सुना था। नगर के प्रत्येक चौराहे पर नगारे शहनाई एवं तुरी बज रही थी। सबको अपने प्रिय राजकुमार के दर्शनों की उत्कंठा थी। जनता पलक पावडे बिछाये हुए थी। सम्भ्रान्त एवं कुलीन स्त्रियां रथों एवं पालकियों में बैठ कर जा रही थी।

प्रात: काल के दश बजे होंगे। महाराज सिद्धार्थ एवं माता त्रिशला ने अपने लाडले राजकुमार को आज अपने सजल नेत्रों से खूब आभूषित किया। नवीन एवं बहुमूल्य कपड़े अपने ही हाथों से पहनाये। विविध प्रकार के आभूषण पहिनाये गये। माथे पर सुन्दर तिलक लगाया गया। माता ने स्वयं अपने पुत्र की आरती उतारी। आंखों में कज्जल डाला। पूरा श्रृंगार करते भी क्यों नहीं। वे तीर्थंकर थे और अर्हत् बनने जा रहे थे। मोक्ष रूपी तरुणी का उन्हें वरन जो करना था।

माता पिता का चरण स्पर्श कर महावीर पालकी में विराजमान हुए। महाराज सिद्धार्थ की आंखों से आंसू टपक पड़े। माता त्रिशला के स्तनों से दूध झरने लगा। जिस लाडले पुत्र को उन्होंने प्राणों से भी अधिक समझ कर पाला था उसे वे ही आज श्रमण बनने के लिए विदा दे रहे थे। राजमहल के चारों ओर गम्भीर एवं करुण वातावरण बन गया था। महावीर ने सबको अभिवादन किया। राजमहल के दासी दास एवं परिचारिकाओं से हाथ जोड़ कर क्षमा मांगी। सभी के नेत्र सजल थे।

तुरही, भेरी, घन्टा एवं झांझर की जय घोष के साथ महावीर राजमहल से रवाना हुए। चारों ओर जय-जयकार होने लगी। राजकुमार महावीर की जयघोष से आकाश गूंज उठा। चारों ओर से पुष्प वर्षा होने लगी। महावीर सबसे अन्तिम विदा मांग रहे थे। स्थान स्थान पर उनकी आरती उतारी जा रही थी। फूल मालायें पहनायी जाती थी। तिलक किया जाता था और चरण स्पर्श से मानव अपने जीवन को पवित्र कर रहा था। अचानक आकाश से भी पुष्प वृष्टि होने लगी। देव भी उनके दीक्षा में जो सम्मिलित थे। एक छोटी सी बदली आई और लगी फुहार बरसाने मानो वह भी महावीर के गृह त्याग के कारण नेत्रों से आंसू बरसा रही हो।

कुछ दूरी पर पालकी में चले ही थे कि देवों ने भी पालकी को अपने कंधों पर उठा लिया। महावीर स्कंध वन पहुंचे। वह सघन वन था। भंवर गुंजार कर रहे थे। कोयल कूक रही थी। वे सब महावीर का स्वागत कर रहे थे। फूल खिल रहे थे और पत्ते लाल हो गये थे। महावीर पालकी से उतरे। अपने साथ आने वाले विशाल जन समूह से अन्तिम विदा ली। महाश्रमण महावीर की जयघोष से सारा धरातल एवं आकाश गूंज उठा। शीघ्र ही उन्होंने वस्त्र आभरण उतार कर फेंक दिए और दिगम्बर हो गए। सिद्धों को नमस्कार कर अपने हाथों से अपने केशों को उखाड़ कर फेंक दिया और वे पूरे निर्गंथ हो गये। ★

आचार्य भावसेन के प्रमाणविषयक विशिष्ट मत

(डा० विद्याधर जोहरा पुरकर, जावरा)

प्रास्ताविक—

तेरहवीं सदी के सेनगण के आचार्य भावसेन त्रैविद्यदेव के विषय में एक टिप्पण हमने अनेकान्त के पिछले अंक (दिसम्बर ६३) में प्रकाशित करवाया है। इनके विश्वतत्त्व-प्रकाश का प्रथम संस्करण जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। इसके सम्पादन के सिलसिले में आचार्य भावसेन के दूसरे ग्रन्थ प्रमाप्रमेय की की एक ताड़ पत्रीय प्रति हुम्मच के श्री देवेन्द्रकीर्ति-मठ में हमने देखी। यह कन्नड लिपि में है। मैसूर के श्री पद्मनाभ शर्मा के सहयोग से इसकी देवनागरी प्रतिलिपि हमें प्राप्त हुई। इसी पर से इस ग्रन्थ का संपादन करने का प्रयास हमने किया है। ग्रन्थ का नाम प्रमाप्रमेय सूचित किया है।

श्री वर्धमानं सुरराजपूज्यं साक्षात्कृताशेषपदार्थतत्त्वम्।
सौख्याकरं मुक्तिपतिं प्रणम्य प्रमाप्रमेयं प्रकटं प्रवक्ष्ये॥

किन्तु अन्तिम पुष्पिका में इसे सिद्धान्तसार-मोक्षशास्त्र का प्रमाण निरूपण नामक पहला परिच्छेद बताया है। इति परवादिगिरिसुरेश्वर श्रीमद्भावसेन — त्रैविद्यदेवविरचिते सिद्धान्तसारे मोक्षशास्त्रे। प्रमाणनिरूपणं नाम प्रथमः परिच्छेदः॥

शायद इसीलिए इस पूरे ग्रंथ में आचार्य ने कोई उपविभाग या प्रकरण नहीं किए है। अध्ययन तथा अनुवाद की सुविधा के लिए हमने १३० परिच्छेदों में इसे विभाजित किया है। इसमें आचार्य भावसेन ने प्रमाणों के विषय में कई वैशिष्ट्यपूर्ण मत व्यक्त किये हैं। अतः यहां कुछ विस्तार से हम ग्रन्थ का परिचय दे रहे हैं।

प्रमाण का लक्षण—

पहले परिच्छेद में मंगलाचरण तथा ग्रन्थ का विषय-निर्देशक करके दूसरे परिच्छेद में लेखक ने प्रमाण का सामान्य लक्षण सम्यक ज्ञान अथवा पदार्थ याथात्म्यनिश्चय यह बतलाया है। इस विषय में उन्होंने स्वापूर्वार्थव्यवसाय अथवा अनधिगतार्थग्रहण जैसे विशेषण का प्रयोग नहीं किया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण—

प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण में लेखक ने स्पष्ट या विशद शब्द के स्थान पर साक्षात् शब्द का प्रयोग किया है तथ

प्रतीत्यन्तराव्यवधान (दूसरे किसी ज्ञानका व्यवधान न होना) यह साक्षात् शब्द का स्पष्टीकरण दिया है। परिच्छेद ३ से १० तक प्रत्यक्ष के भेदों तथा आभासों का वर्णन है। लेखक ने प्रत्यक्ष के चार भेद किये हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, योगीप्रत्यक्ष तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के लिए सांव्यवहारिक जैसे किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया है। अपने आपके बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न आदि के बारे में मन द्वारा होने वाले ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष कहा है। योगि प्रत्यक्ष में केवलज्ञान, मन.पर्ययज्ञान तथा अवधिज्ञान का समावेश किया है। ज्ञान को अपने स्वरूप का जो ज्ञान होता हैं उसे स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष कहा है। प्रत्यक्ष प्रमाण का यह चार प्रकार का विभाग आचार्य की मौलिक सूझ प्रतीत होती है। हमारे अध्ययन में अन्य किसी जैन आचार्य का इस तरह का विभाजन ज्ञात नहीं हुआ। प्रत्यक्ष के आभास में लेखक ने संशय विपर्यास इन दो भेदों का ही समावेश किया है। अनध्यवसाय को वे ज्ञान का अभाव मानते हैं और इसलिए ज्ञान के आभास में उसे समाविष्ट नहीं करते।

परोक्ष प्रमाण के भेद–

परोक्ष प्रमाण के भेदों में भी आचार्य ने एक नई बात जोड़ी है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पांच पूर्व प्रचलित भेदों के साथ ऊहापोह यह नया भेद उन्होंने जोड़ा है। इससे यह होता है, इसके बिना यह नहीं होता इस तरह के साधारण ज्ञान को ऊहापोह कहा है, जैसे-इच्छा पूर्ण होने पर सब को प्रसन्नता होती है, इच्छा अधूरी रहने पर सबको खेद होता है आदि। स्मृति से तर्क तक का वर्णन परिच्छेद ११ से १४ तक है।

अनुमान के भेद–

परिच्छेद १६ से २१ तक अनुमान के छह अवयवों का पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त उपनय तथा निगमन का वर्णन है। हेतु के लक्षण के बारे में विशेष विचार परि० २२ से २५ तक है। इसके अनुसार व्याप्तिमान पक्षधर्म ही हेतु होता है। अन्यथानुपपत्ति को हेतु के लक्षण में आचार्य ने स्थान नहीं दिया है। परि०२६ २८ तक अनुमान के तीन भेद-केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वय-व्यतिरेक बताये हैं तथा परि० २९ में दृष्ट, सामान्यतोदृष्ट एवं अदृष्ट ये तीन भेद बताये हैं। जिसकी व्याप्ति प्रत्यक्ष से जानी जाती हो तथा जिसका साध्य भी प्रत्यक्ष से जाना जा सके वह दृष्ट अनुमान है, जिसकी व्याप्ति सामान्यतः प्रत्यक्ष से जानी जाये किन्तु साध्य अतीन्द्रिय हो वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है, जिसकी व्याप्ति तथा साध्य दोनों अतीन्द्रिय हैं (केवल आगम से जाने जाते हैं) वह अदृष्ट अनुमान है।

अनुमानाभास–

परि० ३० से ४२ तक अनुमान के आभास का वर्णन है। इसमें असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अनध्यवसित, कालात्ययापदिष्ट तथा प्रकरणसम ये छह हेत्वाभास तथा उनके उपभेद समाविष्ट है एवं बारह दृष्टान्ताभास समाविष्ट हैं।

तर्क–

परोक्ष प्रमाण के भेदों में तर्क का समावेश किया है यथा व्याप्ति का ज्ञान यह उसका स्वरूप बताया है। परि० ४३-४४ में इससे भिन्न अर्थ में तर्क शब्द का प्रयोग किया है, व्याप्ति के बल से प्रतिपक्षी को अनिष्ट बात सिद्ध करना यह तर्क का लक्षण बतलाया है। आत्माश्रय, इतरेतराश्रय चक्रकाश्रय, अनवस्था तथा अतिप्रसंग ये तर्क के भेद हैं तथा मूल में शिथिलता, परस्पर विरोध, प्रतिवादी को इष्ट बात मानना तथा उसकी विरुद्ध बात को सिद्ध न करना ये चार तर्क के दोष बतलाये हैं।

छल, जाती व निग्रहस्थान–

परि० ४७ से ४८ तक छल के तीन प्रकारों का—वाक्छल, सामान्य छल तथा उपचारछल का परंपरागत वर्णन है। परि० ४९ से ६९ तक चौबीस जातियों का वर्णन है। आचार्य के मतानुसार जातियों की संख्या बीस होनी चाहिए क्योंकि वर्ण्यसमा, प्रतिदृष्टान्तसमा अर्थापत्तिसमा व उपपत्तिसमा तथा अनित्यसमा ये जातियां क्रमशः साध्यसमा, साधर्म्यसमा, प्रकरणसमा, तथा अविशेषसमा जातियों से अभिन्न हैं, इस प्रकार पांच जातियां कम करके वे असिद्धादिसमा जाति का अधिक समावेश करते हैं। परि० ७० से ८४ तक बाईस निग्रह स्थानों का परंपरागत वर्णन है। परि० ८५ में छल आदि के प्रयोग के बारे में निर्देश दिये हैं।

(शेष पृष्ट ३४ पर)

ऐतिहासिक उपन्यास

दिग्विजय

आनन्द प्रकाश जैन, जम्बूप्रसाद जैन

वैजयंती नरेश अपनी पुत्री को अपने डेरे में ले आए।

वह अपनी बेटी की उद्दंडता से बहुत अधिक कुपित थे। उन्होंने राजनंदिनी की इस स्वेच्छाचारिता की अवहेलना करते हुए कहा, 'हमने तुम्हें बाहुबली के पास जाने की अनुमती दी थी न की चक्रवर्ती के पास जाकर उनका अपमान करने की।'

राजनंदिनी पिता की ताड़ना चुपचाप पी गई। उसका हृदय क्रोध, लज्जा, और प्रतारणा की भावना से अंदर-ही अंदर जल रहा था। वह बहुत देर तक नीचे की ओर देखती रही, कुछ देर बाद उसने कहा। 'मैं जाने की आज्ञा चाहती हूं, पिता जी।'

वैजयंती नरेश ने कहा। 'हमारी बहुत हंसी उड़ चुकी है। अब हम तुम्हें कहीं जाने की आज्ञा नहीं दे सकते।'

राजनंदिनी बिलख उठी। 'मैं उनसे एक भेंट तो अवश्य ही करूंगी, पिता जी।'

वैजयंती नरेश ठक् से खड़े रह गए। 'लेकिन, बेटी, अब तुम कहां जाना चाहती हो?'

'महाराज बाहुबली के पास।' राजनंदिनी का संक्षिप्त सा उत्तर था।

'महाराज बाहुबली के पास जाने से अब क्या होगा? यह रातके समाप्त होते ही युद्ध का आरंभ हो जाएगा। जब तक युद्ध समाप्त न हो, तुम यहां कटक में रहो।'

'नहीं, पिता जी, यह मेरे जीवन की पहली और अंतिम साध है।' राजनंदिनी ने निश्चय के स्वर में कहा। 'यदि यह पूरी न हुई, तो मैं मर जाऊंगी।'

वैजयंती नरेश ने हताश दृष्टि से पुत्री के मुख की ओर देखा, कुछ सोचा, फिर शान्त स्वर में उन्होंने कहा, 'अच्छा अगर तुम जाना ही चाहती हो, और अभी जाना चाहती हो, तो हम प्रबंध कराए देते हैं।' और बिना राजनंदिनी की ओर देखे ही वह शिविर से बाहर निकल गए।

कुछ देर बाद दस अंग रक्षकों के अश्व राजनंदिनी के रथ के पास कसे कसाए अपने सवारों को पीठ पर लिए खड़े थे। राजनंदिनी ने पिता के पांव छुए और एक दीर्घ आशीर्वाद लेकर वह रथ पर चढ़ गई। रथ गतिवान होकर कटक से बाहर निकला, और क्षण भर में ही उसके अश्व हवा से बातें करने लगे।

सुबह हो गई, किन्तु रथ का चलना नहीं रुका, राजनंदिनी ने उनींदी आंखों से सारथी की ओर देखा, उस दृष्टि में अविश्वास और संदेह का पुट था। उसने चिल्ला कर कहा। 'सारथी, अभी बाहुबली का कटक नहीं आया?।'

वायु का तीव्र वेग उसके स्वर का अधिकांश अपने साथ उड़ा ले गया। किन्तु सारथी ने उसका स्वर सुन लिया था। उसने रथ रोक लिया और अत्यन्त विनीत वाणी में बोला। 'देवी, अपराध क्षमा करें, अब महाराज बाहुबली का कटक कभी नहीं आएगा, हमें तो महाराज ने आपको वैजयंती ले जाने का आदेश दिया है।'

राजकुमारी की आंखों में लाल डोरे खिंच गए, क्षोभ और परिताप से वह कांपने लगी। 'वैजयंती···नहीं,नहीं मैं वैजयंती नहीं जा सकती, हा पिता जी···यह आपने क्या किया।'

किन्तु पिता ने वही किया था, जो उन्होंने अपनी पुत्री के लिए शुभ समझा था।

राजनंदिनी रथ से कूद पड़ी, उसने कुपित स्वर में कहा, 'जाओ रथ को लौटा ले जाओ, पिता जी से कहना कि राजकुमारी हमें अकेला छोड़ कर अपने आप भाग्य के भरोसे चली गई है।'

अंगरक्षक घोड़ों से उतर पड़े। सारथी हाथ बांध कर पृथ्वी पर गिर पड़ा, 'महाराज हमें कभी जीता न छोड़ेंगे। राजकुमारी, हम पर दया कीजिए, वैजयंती चलिए।'

राजकुमारी ने दृढ़ स्वर में अपने आंसू पोंछते हुए कहा, 'नहीं, सारथी, इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं माना जाएगा महाराज तुम्हें कुछ नहीं कहेंगे, जो भी हो, मैं वैजयंती नहीं जाऊंगी।'

राजनंदिनी को अपनी जिद पर अटल जान कर सारथी ने उसे फिर वापस कटक में ले चलने का प्रस्ताव किया। राजकुमारी ने यह सोचा कि जंगल में भटक कर भी वह बाहुबली के पास नहीं पहुँच सकती, यदि पिता जी का कहना सही था, तो अगला दिन हो गया है और अब तक भरत और बाहुबली की सेना का संग्राम छिड़ चुका होगा, यदि वह बाहुबली से जीते जी मिलना चाहती है, तो उसके लिए यही शुभ होगा कि वह उन लोगों के साथ वापस चल पड़े, और युद्ध भूमि के पास पहुँचने पर अपना कर्तव्य फिर से निश्चित करे, उसने सारथी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, और रथ तुरन्त ही उसे लेकर वापस लौट चला।

रथ के पहियों के घरड़-घरड़ के साथ राजनंदिनी के विचारों के धौंसे उसके मस्तिष्क में बजने लगे। अब क्या होगा यही संशय उसके मन में बार बार रह रह कर उठने लगा। उसके पिता ने उसे धोखा दिया था, किन्तु पिता का दिया हुआ धोखा कभी धोखा नहीं कहलाता, संसार यही समझता है कि उन्होंने जो कुछ किया अपनी बेटी की भलाई के लिए किया। बाहुबली के प्राण जाएं चाहे रहें, किन्तु राजनंदिनी के प्राण बचाना उनका पहला कर्तव्य था, इस कर्तव्य पालन में उन्होंने राजनंदिनी के मन को कितना दुःख पहुँचाया था इसका लेखा जोखा आसानी से लगने वाला नहीं था।

क्या जब तक रथ युद्ध भूमि में पहुँचेगा बाहुबली अपने नन्हें से बल से चक्रवर्ती का सामना करते रह सकेंगे? यदि रथ रात के समय वहां पहुँचा, तो क्या युद्ध समाप्त न हो चुका होगा? क्या चक्रवर्ती के साथ किया हुआ किसी छोटे मोटे राजा का रण एक दिवस के पश्चात् भी अनिर्णय की दशा में रह सकता है? आह, क्या वह इसी जीवन में इन्हीं आंखों से फिर एक बार बाहुबली को देख सकेगी?

राजनंदिनी के हृदय में ये सब प्रश्न उठ कर भयानक आंदोलन का सूत्रपात कर रहे थे एक ओर से उसे हां में उत्तर मिलता था। किन्तु साथ ही दूसरी ओर से जाने तो कैसा असंतोष उसके मन में शूल की तरह चुभ चुभ जाता था।

कब राजनंदिनी इन्हीं विचारों से थक कर रथ के हिचकोलों में सो गई कुछ पता नहीं चला, किन्तु जब उसकी आंखें खुलीं रात हो चुकी थी और रथ खड़ा था। उस दिन युद्ध भूमि में भी सुबह हुई थी।

दोनों पक्षों की सेनाएं एक दूसरे के आमने सामने आ खड़ी हुई, एक ओर भरत की विशाल वाहिनी थी। दूर तक सजे हुए हाथियों की असंख्य कतारें दिखाई देती थीं। अनगिनत रथों पर बालरवि की चमचमाहट से आंखें चौंधिया जाती थीं। अश्वों पर शस्त्रों से सुसज्जित योद्धागण साक्षात् कालदूत से प्रतीत हो रहे थे, और जहां तक दृष्टि जाती थी पैदल सिपाहियों के व्यवस्थित समूह दृष्टिगोचर हो रहे थे। यह थी भरत की वह चतुरंगिनी, जो कभी अयोध्या से सरिता बन कर निकली थी, और आज सागर हो गई थी।

दूसरी ओर बाहुबली की सेना थी, जो चक्रवर्ती की चतुरंगी के सामने बड़ाई छुटाई का एक अपूर्व दृश्य उपस्थित कर रही थी। सब से आगे अश्वारोही दल की एक लम्बी पंक्ति थी। उसके पीछे एक ही पंक्ति हाथियों की थी। रथ यत्र-तत्र ही नजर आते थे और पैदल सेनाएं हाथियों के दीर्घ शरीरों की ओट से दिखाई ही नहीं दे रही थीं। किंतु चक्रवर्ती की सेनाओं के सामने बाहुबली ने अपनी छोटी सी सेना का अद्भुत व्यूह रचा था।

उसी समय चक्रवर्ती का विशाल और बलिष्ठ हाथी उन्मत्त पगों से भरत को एक ही नजर में अपनी तथा बाहुबली की सारी सेनाओं का निरीक्षण कराता हुआ चतुरंगिनी के आगे आया, बीच में आकर चक्रवर्ती ने रणभेरी बजाने का इशारा किया।

जोरों से रणसिंघे की आवाज चारों दिशाओं में गूँज गई। साथ ही भरत के महारथी उसके चारों ओर आकर एकत्र हो गये, दोनों पार्श्वों से हाथियों के समूह उन्नत शिखर पर्वतों की नाई तेजी से आगे बढ़े। रण कौशल से बाहुबली की अश्व पंक्ति दोनों किनारों की ओर फैल गई और साथ ही आधा आधा भाग दोनों किनारों पर सिमटता दिखाई दिया।

इस दृश्य को ले कर भरत के मन में भीषण उथल-पुथल का सूत्रपात हुआ, बचपन की स्मृतियों ने एक बार फिर उनके मानस पटल पर अंकित हो कर उछल कूद मचाना आरंभ कर दी, कहां वह बाहुबली को खेल खिलाता था, उसका हाथ पकड़ पकड़ कर उद्यान की सैर कराता था। पोदनपुर की विजय के बाद किस प्रकार दोनों भाई गले मिले थे। कैसे उसने बाहुबली को पिता के साथ ही वैराग्य लेने से हठपूर्वक रोका था। स्नेह, स्नेह, स्नेह, इस रक्त प्लावित हो जाने वाली भूमि में इस एक शब्द से बोध होने वाले महान् सांसारिक तत्व का सर्वथा अभाव दिखाई दे रहा था। उसके साथ ही राजनंदिनी के अद्भुत प्रभावकारी शब्दों ने ठीक उसकी आंखों के सामने उसके कृत्यों की कालिमा का नग्न चित्र उपस्थित करना आरम्भ कर दिया, क्या कहा था उसने। 'संसार क्या कहेगा, आने वाली संतति क्या कहेगी ' भरत असंख्य सेना लेकर भाई पर टूट पड़ा ' जो स्वयं मिटने को तैयार है उसका अहंकार मिटता नहीं पूजा जाता है भरत अपने अहंकार से बाहुबली का अहंकार मिटाने चला है ' एक कभी न मिटने वाला धब्बा सम्राट् की कुल कीर्ति पर लग जाएगा।' राजनंदिनी के साथ हुआ समस्त वार्तालाप वातावरण में सजीव ध्वनि बन कर छा गया।

क्षण क्षण में एक दूसरे के रक्त की प्यासी सेनाएं समाप्त होती जा रही थीं और भरत की मानसिक कल्पनाओं में युगों-युगों की संचित स्मृतियां बृहदाकार रूप धर कर तांडव नृत्य का आयोजन कर रही थीं। अद्भुत है मानव का मन जिसमें युग क्षणों के समान लगते हैं और एक क्षण में काल का ओर छोर समा जाता है थोड़ी ही देर में बाहुबली की यह नन्हीं सी सेना अपना सजीव और सज्जित रूप त्याग कर पृथ्वी पर बिछ जाएगी। चारों ओर खून ही खून दिखाई देता होगा, सुन्दर और शांत जीवन कैसा एक घृणास्पद और बीभत्स मृत्यु के रूप में परिवर्तित हो जाएगा, तब भरत किससे कहेगा तू मेरी आज्ञा मान ? भरत किससे कहेगा तू मेरे आधीन हो, तू मुझे नमस्कार कर ? सब कुछ ही तो समाप्त हो जाएगा, हां बच रहेगा भरत के लिए अपयश और पश्चाताप की ज्वाला, भरत के जल मरने को।

सहसा भरत का हाथ ऊंचे उठा।'ठहरो।'

क्षण मात्र में बढ़ती हुई सेनाएं जहां की तहां खड़ी हो गईं। खड्ग जहां उठे थे वहीं रुक गए, चारों ओर आदेश यंत्रों की तरह पालन किया गया। चक्रवर्ती के सामने आ कर महासेनापति ने पूछा। 'आज्ञा, सम्राट् ?।'

चक्रवर्ती ने आज्ञा दी। 'महासेनापति, युद्ध बन्द करो, महावत, हमें बाहुबली के सम्मुख ले चलो।,

कुछ ही समय के भीतर भरत का हाथी रणभूमि के बीचों बीच पहुंच गया। उधर से जब बाहुबली ने भरत को आते देखा, तो उसका हाथी भी सेना की पंक्तियों के बीच में से निकला और दोनों भाई आमने सामने आगए।

बाहुबली ने कहा। 'भैया को प्रणाम।'

भरत ने प्रसन्नता से फूल कर कहा। 'चिरायु हो, बाहुबली, तुमने हमें प्रणाम किया। हमें तुमसे यही आशा थी। आओ, गले मिलें, युद्ध किस बात का ?' भरत ने बांहें फैला दीं।

'यहां भूल गये, भैया। यह छोटे भाई को प्रणाम है, राजा बाहुबली का भरत चक्रवर्ती को नहीं।' बाहुबली ने साभिमान कहा।

'क्यों ?' भरत ने कहा।'क्या तुम्हें हमारे चक्रवर्ती होने की खुशी नहीं है ? क्या भाई को भाई का वैभव नहीं सुहाता ?'

'भैया, तुम्हारे भाई की दृष्टि में वैभव का कोई मूल्य नहीं है मैं वैभव को सिर नहीं झुकाता विनय को सिर झुकाता हूँ।'

'तो क्या तुम चाहते हो कि संसार हमारी हंसी उड़ाए और कहे कि भरत से जगत का मन तो जीता गया, किन्तु भाई का मन नहीं जीता गया ?'

'सेनाओं के मन नहीं जीते जाते, भैया, सिर जीते जाते हैं।'

'क्या तुम पसंद करोगे कि तुम्हारी एक भावना के लिए इतने जीते जागते मनुष्यों के सिर कट जायें ? भरत ने बाहुबलि की सेनाओं को इंगित किया।

'दिग्विजय की दीवार जीते जागते मनुष्यों के रक्त और मांस से ही खड़ी होती है। इतने मनुष्यों की भेंट तो सागर में बूंद के समान होगी। फिर भी अपने भैया जैसे देवता को मैं यह बलि देने के लिए प्रस्तुत हूं।'

किसी तरह भी बाहुबली को मानते न देख कर भरत चिंतामग्न हो गया। अंत में उसने कहा, 'इस सागर में अब और बूंदे नहीं गिरेंगी, बाहुबली। जो गिर चुकी हैं उन्हीं में हम डूब गए हैं। हमने सोचा था कि दिग्विजय से रोज रोज के रक्त पात बन्द हो जाएंगे, किन्तु स्वयं तुम ही हमारा विरोध करोगे इसकी आशा तो स्वप्न में भी न थी।'

बाहुबली अविश्वास के कारण चुप रहा, कुछ क्षण बाद भरत ने विचार पूर्वक प्रस्ताव किया। 'हम चाहते हैं कि इक्ष्वाकु वंश को जो गौरव मिला है वह इक्ष्वांकु वंश में ही रहे और रक्त भी न बहे।'

'इसका अर्थ क्या है, भैया ? मैं नहीं समझा।'

'यह झगड़ा हमारा आपस का है।' भरत ने उन्नत मस्तक हो कर कहा। 'हम आपस में ही लड़ कर उसकी हार जीत का निर्णय कर लें।'

'और उस चतुरंगिनी का क्या होगा ? बाहुबली ने असीम आश्चर्य से पूछा।'

चतुरंगिनी तुम्हारे ऊपर प्रहार नहीं करेगी। वह हम दोनों भाईयों की लड़ाई का तमाशा देखेगी, और हम में से जो जीतेगा वही उसका स्वामी होगा, वही चक्रवर्ती होगा। पराजित भाई विजेता भाई को उसका मान देगा।'

'भैया।' बाहुबली हर्ष और विस्मय से लगभग चीख उठा। मन ही मन उसने भरत की उच्चता की सराहना की।

जब दोनों ओर की सेनाओं ने उपर्युक्त निर्णय सुना, तो वे हर्ष और उल्लास में डूब गईं। चक्रवर्ती भरत की जय, महाराज बाहुबली की जय के नारों से आकाश गूँज उठा।

द्वंद्व युद्ध तीन प्रकार से होना निश्चत हुआ : दृष्टि युद्ध, मल युद्ध, और खड्ग युद्ध। सेनाओं में इसकी घोषणा हो गई। एक छोटे से मैदान को घेर कर दोनों ओर की सेनाओं का जमघट लग गया। सामने ही चक्रवर्ती का सिंहासन था, जिसके दोनों ओर आमंत्रित राजाओं को आसन देकर सम्मानित किया गया था, दूसरी ओर बाहुबली का सिंहासन ठीक चक्रवर्ती के सिंहासन के सामने था, और उसके समीप ही महाराज वज्रबाहु का आसन रखा हुआ था।

जय पराजय का निर्णय करने के लिए तीन बड़े राजाओं की एक मंडली चुनी गई, रणभेरी फिर एक बार बजी, दोनों भाई एक साथ अपने २ सिंहासनों से उठे और बीच मैदान में आ गए। फिर एक बार जयघोष के नारों से आकाश गूँज उठा, दोनों महाबलियों ने अपनी २ तलवारें खींच लीं एक साथ आकाश में दो बिजलियां सी तड़क उठीं, और लोहे पर लोहे का प्रहार हुआ। फिर निरंतर आक्रमणों का एक तांता बंधा, यहां तक तलवारों का आकार तक दिखाई देना बंद हो गया। सूर्य आकाश में और ऊंचे चढ़ता गया ताकि ठीक बीच में आकर वह अपूर्व संघर्ष को देख सके। भरत और बाहुबली पसीने पसीने हो गए कब किसका सिर पृथ्वी पर आ गिरेगा कुछ पता नहीं लगता था, चारों दिशाएं स्तंभित हो गई थीं।

सूर्य ने फिर एक बार झुकना आरम्भ कर दिया था। इतनी देर के युद्ध के बाद भी जब हार जीत का कुछ निर्णय नहीं हुआ, तो पंचों ने एकमत होकर दोनों वीरों को बराबर ठहराया।

युद्ध बंद करने का डंका बजा और दोनों भाईयों ने तलवारें म्यानों में कर लीं, भरत और बाहुबली एक दूसरे से कुछ दूरी पर खड़े हांफने लगे सहसा बाहुबली ने दृष्टि उठाई। भरत उसकी ओर प्रेममयी दृष्टि से देख रहा था। भरत अपने हाथ बढ़ा कर स्वयं दो पग आगे आया और भाई भाई के गले से लिपट गया। दोनों की बाहुओं के यत्र तत्र बिखरे घावों के रक्त से दो पतली सी धाराएं निकलीं और एक दूसरे से मिल कर पृथ्वी पर चू गईं।

कुछ समय बाद दृष्टि युद्ध का आरम्भ हुआ। सूर्य को बाएं रख कर दो बराबर ऊंचाई की स्वर्ण चौकियों पर भरत और बाहुबली आसीन हो गए। धीरे-धीरे दोनों भाइयों की दृष्टियां उठीं और एक दूसरे में उलझ गईं, सूर्य झुकता गया, झुकता गया, किन्तु पलकें जो एक बार उठीं, तो फिर नहीं झुकीं। देखते देखते भरत की आंखों में पानी आगया, दो बूंद आंसू उसकी आंखों से गालों पर ढुलक गये। भरत इस बार हार गया।

पंचों ने इशारा किया, युद्ध समाप्त होने का डंका बजा और भरत पलक झपका कर उठ गया। किन्तु बाहुबली, बाहुबली अब भी दृष्टि सीधी किए ज्यों का त्यों स्थिर बैठा

था, भरत उसके पास तक आया, उसके कंधे पर हाथ रखा और दूसरे हाथ की हथेली उसके मुंह पर फेर उसकी पलकें बन्द कर दीं।

बाहुबली की सेना ने 'महाराज बाहुबली की जै' का घोष किया, किन्तु भरत की चतुरंगिनी चुप थी। भरत ने कहा, 'हमारी सेना चुप क्यों है? कहो ' महाराज बाहुबली की जय' और महाराज बाहुबली की जय के घोष से मानों समस्त वायुमंडल व्याप्त हो गया।

मल्लबल युद्ध का समय आ गया अखाड़ा तैयार था। भरत और बाहुबली लंगोट कसे अखाड़े में खड़े थे, मारू बाजा बजना आरम्भ हुआ और दो मस्त गजों की तरह वे एक दूसरे से भिड़गए दोनों मल्ल युद्ध की कला में पारंगत थे। दाव चल रहे थे, लेकिन लग कोई नही रहा था। शरीरों से स्वेद कण फूटने लगे थे और मिट्टी उन से चिपट गई थी।

अचानक बाहुबली ने पैंतरा बदला, और उसने फुरती से भरत को अपनी हथेलियों पर रख कर ऊँचे आकार में उठा लिया। बस, भरत पृथ्वी पर गिरा और सब कुछ समाप्त हो जाएगा। किन्तु कितनी ही देर तक भरत बाहुबली के हाथों पर रहा, लेकिन बाहुबली ने उसे भूमि पर नहीं पटका। इस बीच में बाहुबली के सामने विचारों की दुनिया बस गई।

जिस भाई ने उसे पकड़ २ कर चलना सिखाया, जिस भाई की गोदी में पल कर वह बड़ा हुआ, जिस भाई ने उसके प्रेम के वश होकर अपनी अजेय और विशाल सेना को एक ओर खड़े होकर तमाशा देखने के लिए छोड़ दिया क्या वह उसी भाई को पृथ्वी पर पटकेगा?

कितनी चंचला है यह लक्ष्मी। भरत ने इसके लिए लाखों का खून बहाया, लाखों को बे घर बार किया, वर्षों गर्मी सर्दी सही, किन्तु अभी उसके उपभोग करने का समय भी नहीं आया था कि वह उसे नगर नारी की तरह छोड़ कर चला जाने के लिए तैयार है। धिक्कार है ऐसी धन सम्पदा पर, एक दिन आएगा, जब न भरत रहेगा न बाहुबली, केवल उनकी अस्थिरता और निःसारता पर हंसती हुई यह दुनिया रह जाएगी और उनके किए हुए कर्मों का एक ऐसा लेखा उनके साथ बंधा चला जाएगा, जिसका सारा आधार और जिनके द्वारा कमाई माल संपदा सब इसी दुनिया में छूट जाएगी।

बाहुबली भरत को लिए अखाड़े से बाहर आया चारों ओर 'महाराज बाहुबली की जै' का स्वर मुखरित हो उठा, किन्तु बाहुबली इस से विचलित नहीं हुआ। उसने चक्रवर्ती के सिंहासन के पास जाकर भरत को उस पर प्रतिबिंबित करते हुए प्रतिष्ठित कर दिया। बाहुबली के जयघोस से फिर वातावरण ध्वनित हो गया।

भरत तुरन्त सिंहासन से उतर आया। 'अब यह सिंहासन हमारा नहीं रहा। बाहुबली, तुम जीते हो इस पर तुम्हारा अधिकार है।'

'बाहुबली तो उसी समय हार गया था, जब भैया ने चतुरंगिनी के बढ़ते हुए कदम रोक दिए थे।' बाहुबली ने शांत वाणी में उत्तर दिया।

भरत ने कहा। 'हार को जीत कहने से हार जीत नहीं हो जाती। अब आओ, बाहुबली, यह राज्यलक्ष्मी तुम्हारी है, इसे सम्भालो।'

'जो तुम्हें छोड़ कर मुझ से लिपटना चाहती है उसे मैं संभालूं, ना भैया, यह वेश्या तुम्हें ही मुबारक हो।' बाहुबली ने दृढ़ स्वर में कहा।

भरत द्रवित हो गया। 'बाहुबली, इससे तो अच्छा था कि तुम मुझे भूमि पर ही पटक देते। तुमने इस सिंहासन पर बैठा कर मुझे भूमि के भी नीचे गाड़ दिया है, अब मुझे उबारो, बाहुबली, आओ, अपनी चीज ले लो।'

'भैया ' बाहुबली ने एक और महत्वपूर्ण और चौंका देने वाली घोषणा की, 'मुझे अब अपना ही राज्य नहीं चाहिए, तुम्हारा ले कर मैं क्या करूंगा? मैंने अपना भूला पथ पकड़ने का निश्चय किया है, भैया, मैंने पिता जी का पथ पकड़ने का निश्चय किया है।

बाहुबली की बात सुन कर भरत चौंक पड़ा, वैराग्य यही वह शब्द था, जिसने उसके प्रत्येक इरादे के साथ, बाहुबली के सम्बन्ध में प्रत्येक विचार के साथ, और उसकी भावनाओं के साथ भीषण द्वंद्व किया था। बाहुबली अपनी भावनाओं में मग्न होते हुए बोल रहा था।

'यह कुटुम्ब एक वृक्ष है। संध्या होते ही इस पर तरह तरह के पक्षी आकर बैठ जाते हैं। रात भर वे एक दूसरे

की भावनाओं में बसे रहते हैं। सवेरा होता है और पक्षी उड़ जाते हैं। अब सवेरा हो गया है, भैया, अब मैं जा रहा हूँ। और मैं तुम्हारी समस्त भावनाओं के लिए, तुम्हारी स्नेहमयी भावनाओं के लिए तुम्हें धन्यवाद देता हूँ।'

भावावेश में भरत चिल्ला उठा। 'बाहुबली, बाहुबली।'

बाहुबली ने शांत स्वर में कहा। 'भरत, भैया, हम और तुम एक ही राह के दो मुसाफिर थे। हम भाई-भाई थे, अब दोराह आ गया है। हमारी मंजिलें एक दूसरे से अलग अलग हैं, दूर है, आओ हम गले मिल कर सम्मान से विदा लें। हमारा साथ यहीं तक था।'

स्वप्नचारी की तरह भरत भावातिरेक से बोला, 'नहीं, बाहुबली, ऐसा न कहो, अभी दोराहा दूर है, तुम नहीं मानते, तो हम तुम साथ एक ही सिंहासन पर बैठेंगे, मिल कर राज्य करेंगे, मिल कर उसका त्याग करेंगे, हम दोनों साथ-साथ तप करेंगे, और एक ही साथ २ संसार बंधन को काट कर वहां जाएंगे, जहां से फिर आने का कष्ट उठाना नहीं पड़ता।'

बाहुबली ने कहा 'भैया, तुम दुखित क्यों होते हो? इस संसार में कब किसी का ऐसा साथ हुआ है? अपना शरीर ही अपना साथ नहीं देता। रोग आता है, तन ढह जाता है, बुढ़ापा आता है झुक जाता है, यह पानी का बुलबुला है, हवा आती है यह फूट जाता है।'

भरत ने बाहुबली के सामने घुटने टेक दिए। 'बाहुबली अब तक मैं तुम्हें एक अभिमानी राजा ही समझता था। तुम कितने महान् हो यह आज ही जाना, तुम मेरे छोटे भाई नहीं हो, मुझसे कहीं बड़े हो, संसार से बड़े हो। मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ।

बाहुबली एक हाथ से अपनी आंखों के अंतिम स्नेहाश्रु पोंछते हुए भरत को उठा रहे थे। सारा रणक्षेत्र बाहुबली की जय के नारों से गुंजायमान हो रहा था। क्षण भर में पासा ऐसा पलट गया था, जिसकी ओर किसी का अनुमान भी न जा सकता था। बाहुबली ने अपने वस्त्र उतार दिए थे।

वज्रबाहु मित्र का अकस्मात् परिवर्तन देख कर विमूढ़ हो गए थे। इसलिए अब तक उनकी जबान से एक भी शब्द नहीं निकला था। किन्तु अब उन से न रहा गया, 'जरा सोचो तो तुम क्या क्या छोड़ कर जा रहे हो, बाहुबली, तुम्हारे पास क्या नहीं है? दुनिया में सब से प्यारा भाई तुम्हारे पास है। संसार के सारे सुख जिस संपदा से खरीदे जाते हैं वह लक्ष्मी आज तुम्हारे चरणों की दासी है। तुम्हारे पसीने पर अपना खून बहा देने वाले मित्र तुम्हारे इशारों की राह देखते हैं। संसार का श्रेष्ठ नारी रत्न तुम्हारे पीछे दीवाना है, और तुम क्या चाहते हो, बाहुबली?'

बाहुबली ने हंस कर कहा, 'वज्रबाहु, मित्र, मैं संतोष चाहता हूँ।'

इस एक उत्तर में क्या क्या निहित था उसे वज्रबाहु ने समझा, भरत ने समझा, किन्तु विशाल कीर्ति का तरुण हृदय उसे न समझ सका, उसने कहा, 'संतोष भी तो इसी संपदा से मिलता है, चाचा जी।'

बाहुबली उसकी ओर देख कर मुस्कराए, 'नहीं, संतोष इन वस्तुओं से नहीं मिलता, पुत्र। भरत ने पृथ्वी जीती, वह अपने दिल पर हाथ रखे और उससे पूछे क्या उसे संतोष मिला है, तुम उसके युवराज हो, बताओ तो, क्या तुम्हारा मन कभी एक क्षण को भी व्याकुल नहीं हुआ है? सच्चा संतोष तो त्याग में है, विशाल, राग में नहीं।'

फिर विशालकीर्ति के कंधे पर एक हाथ रख कर दूसरा हाथ वज्रबाहु के कंधे पर रखते हुए बाहुबली ने वज्रबाहु को लक्ष्य करते हुए कहा, 'महाराज वज्रबाहु, हो सके तो मान का त्याग करना, इस से तुम्हें सुख होगा, सबको सुख होता है।' और उन्होंने वज्रबाहु के हाथ में विशालकीर्ति का हाथ दे दिया।

भरत इस व्यवहार को कुछ भी न समझ सका, बाहुबली ने उसका हाथ पकड़ कर इस बंधे हुए एक जोड़ी हाथों पर रखते हुए कहा, 'भरत, तुम संरक्षक हो, विशाल को बहू मिलेगी और तुम्हें पुत्र वधू मिलेगी, अयोध्या को उसकी युवराज्ञी मिलेगी।

भरत, वज्रबाहु और विशाल कीर्ति के नेत्र हर्ष, विशाद और आकस्मिक चमत्कार से प्रभावित से होकर स्थिर हुए सब कुछ देख रहे थे, किन्तु जो कुछ भी हो रहा था उसका अर्थ किसी की भी समझ में भली प्रकार नहीं आ रहा था, जैसे नियति अपने पास में भविष्य को बांध कर पलायन कर रही हो, इस प्रकार सब ने बाहुबली के सामने सिर

झुकाया और उसके बचनों के जो भी अर्थ निकलते थे उन्हें हृदयंगम करने की चेष्टा करते हुए मन ही मन उन्हें भविष्य में पालन करने की प्रतिज्ञा की।

सांयकाल हो रहा था। सूर्य अपनी किरणें समेट कर कहीं और उदित होने जा रहा था, उसने इस दुनिया का तमाशा देख लिया था, अब वह दूसरी दुनिया का तमाशा देखेगा, किन्तु संभवतः उसे संदेह था कि वह इतना हृदय-ग्राही मनोरंजन कहीं और भी प्राप्त कर सकेगा या नहीं।

सैनिकों की आंखों से आंसुओं की धारें बह कर सूख गई थीं। कुछ लोगों ने बाहुबली के साथ ही वस्त्र त्याग किया था, कुछ लोग भविष्य में करने की प्रतिज्ञा ले रहे थे, पूजा के उपकरण सजाए जा रहे थे। और कुछ लोग महाबली बाहुबली की आरती उतार रहे थे।

एक ओर बाहुबली वन गमन कर रहे थे, दूसरी ओर लाखों मनुष्य एक आंख से हंसते एक आंख से रोते उन्हें अन्तिम विदा दे रहे थे। विशाल की आंखों का पानी थमने में ही नहीं आ रहा था और वज्रबाहु उसके कंधे पर हाथ रखे उसे दिलासा देने का निष्फल प्रयत्न कर रहे थे।

राजनंदिनी जब वापस कटक में पहुंची, आकाश पर चंद्रमा का आधिपत्य हो गया था, और तारागण उसके भाग्य पर एक विशाल सम्मेलन कर रहे थे।

पुत्री को वापस देख कर वैजयंती नरेश ठक से रह गए, राह में कितनी दूर जाकर क्या हुआ होगा यह सहज ही कल्पना कर लेने की बात थी, क्यों राजनंदिनी वैजयंती न पहुंच कर वापस आ गई थी यह भी कोई नितांत छिपी हुई बात नहीं थी, और जो बात इतनी स्पष्ट थी उसका सुखद परिणाम मनुष्य के हाथों से कितनी दूर निकल गया था यह भी साफ ही था, उनके मुंह से केवल इतना निकला : बेटी।

राजनंदिनी को पिता पर क्रोध था, यह क्रोध केवल मान का क्रोध नहीं था, इसमें झल्लाहट और प्रवंचना के शिकार का क्षोभ भरा हुआ था। किन्तु रथ से नीचे उतरते ही बाप ने बेटी को गले लगा लिया और फूट-फूट कर रो पड़े, सारे दिन का संचित संघर्ष इस रुदन में साकार हो कर मिल गया था। राजनंदिनी ने भी अपना भाव व्यक्त कर पाकर उसे आंखों की राह बहा दिया। किन्तु यह उसकी भूल थी, इसके बाद जो समाचार वह सुनने जा रही थी उसके लिए उसके पास और आंसुओं का पानी कहां से आएगा? नहीं आएगा, तो किस प्रकार उसके आने वाले दुःख का निवारण होगा?

अंत में वैजयंती नरेश ने कहा, 'महाराज भरत को चक्रवर्ती पद दे कर विजेता बाहुबली ने वैराग्य ले लिया है, बेटी।'

पिता के ये शब्द सुन कर राजनंदिनी जहां की तहां जड़ हो गई, कुछ समझ में नहीं आया कि वह क्या सुन रही है, कुछ समय तक आंखें फाड़े शून्य में ताकती रही फिर सहसा वह चिल्लाती हुई भागी : 'नहीं नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, मैंने सपने में भी तुम्हारी पूजा की है, मैंने तुम्हें सदा अपने हृदय में संजो कर रखा है···एक क्षण भी मैंने अपने मन को कहीं भटकने नहीं दिया है··· संसार में सबको अपनी अर्चना का फल मिलता है···मुझे भी मिलेगा···हां···तुम इतने निर्मोही नहीं हो सकते···' और उसके साथ २ उसका स्वर भी लोप होने लगा।

राजनंदिनी की दशा जिसने देखी उसने एक बार अपनी आंखों की कोरों को पोंछा, उसके पिता किं कर्तव्य-विमूढ़ हुए अपने दुर्भाग्य का तमाशा फटी आंखों देखते रहे, ज्योतिषी के शब्द उनके कानों में शीशे की तरह पिघलने लगे राजकुमारी के भाग्य में पति सुख नहीं है···राजकुमारी के भाग्य में पति सुख नहीं है···'

राजनंदिनी को इस समय बंधु-बांधव किसी का विचार नहीं रह गया था। उसके अचेतन मन में केवल एक बात घूम रही थी। उसने अपने समस्त मनको एकाग्र करके जिसको चाहा है उस में उसे त्यागने की शक्ति नहीं हो सकती, अभी कुछ देर पहले उसने वैराग्य का महान् स्वरूप देखा था, अब वह राग की प्रचडता देख रहे थे। और सिर झुका रहे थे, क्या इस राग की आग में वैराग्य का तेज झुलस जाएगा? यही प्रश्न सबके मस्तिष्क में चक्कर काट रहा था।

सेना, कटक, बंधु और पिता को छोड़ कर राजनंदिनी पागलों की तरह बनों में भटकती हुई बाहुबली को ढूंढने लगी "तुम अपनी नंदिनी को इतनी सरलता से भूल गए,

सर्वोदय का अर्थ

विनोबा भावे

सर्वोदय एक ऐसा अर्थघन शब्द है कि उसका जितना अधिक चिन्तन और प्रयोग हम करते जाएंगे, उतना ही अधिक अर्थ उसमें से पाते जाएंगे।

लेकिन उसका एक अर्थ स्पष्ट है कि जब भगवान ने इस दुनिया में मानव-समाज का निर्माण किया है तो मानव का एक दूसरे से विरोध हो या एक का हित दूसरे के हित के विरोध हो, यह उसकी मंशा कदापि नहीं हो सकती। कोई बाप यह नहीं चाहता कि एक लडके का हित दूसरे लड़के के विरोध में हो। लड़कों में विचार भेद हो सकता है, हित-विरोध नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न विचार हों तो ऐसे अनेक विचार मिल कर एक पूर्ण विचार बन सकता है। इसलिए विचार-भेदों का होना जरूरी है। उसमें दोष नहीं, बल्कि गुण ही है, पर हित-विरोध नहीं होना चाहिए।

लेकिन हमने अपना जीवन ऐसा बनाया है कि एक के हित में दूसरे के हित का विरोध पैदा होता है। धन आदि जिन चीजों को हम लाभदायी मानते हैं, उनका सामने वाले की परवा किये बगैर और कभी-कभी उससे छीन कर भी संग्रह करते हैं। प्रेम से भी अधिक कीमत धन को यानि सुवर्ण को हमने दे रखी है। ऐसी सुवर्णमाया दुनिया में फैल गई है। उसीका नतीजा है कि जो परस्पर या समन्वय आसान होना चाहिए था, वह मुश्किल हो गया है उस मेल की शोध में कई राजकीय, सामाजिक और आर्थिक शास्त्र बन गए हैं। फिर भी सब का हित नहीं सध रहा है।

पर एक सादी बात समझ लेंगे तो वह सधेगा। हरेक दूसरे की फिक्र रखे और अपनी फिक्र भी ऐसी न रखे कि दूसरे को तकलीफ हो। यही कुटुम्ब में होता है। कुटुम्ब का वह न्याय समाज को लागू करना कठिन नहीं होना चाहिए, बल्कि आसान होना चाहिए। इसी को सर्वोदय कहते हैं।

('सर्वोदय-संदेश से)

मेरे देवता। तुमने नंदिनी के आने की प्रतीक्षा भी नहीं की, कहां हो, नाथ, तुम किधर हो। ठहरो, मैं आ रही हूं, मुझे देख कर तुम अपना सारा वैराग्य भूल जाओगे।'

किसी ने उसके पागलपन को रोकने की चेष्टा नहीं की उसके पैरों के पांवों से रक्त की धारें छूट रही थीं, और राह के पेड पौधों को हिलाहिला कर राज नंदिनी अपने प्रियतम का पता पूछ रही थी, 'बताओ, मेरे नाथ कहां हैं बताओ, नहीं तो मैं तुम्हें जड़ से उखाड़ डालूंगी···नहीं नहीं, तुम भी पिया के त्यागे हुए हो और अपने परिताप की ज्वाला में झुलस कर तुम जड़ हो गए हो, ठहरो, मैं एक तपस्वी के पास जा रही हूं, उसके तप प्रभाव से और उनके प्रति मेरे प्रेम के प्रभाव से तुम फिर हरेभरे हो जाओगे तुम्हें भी तुम्हारे प्रियतम मिलेंगे।'

राह में राजनंदिनीने जातिविरोधी जीवों को एक दूसरे के साथ क्रीडा में मोदमग्न देखा, सांप गरुड के साथ, हिरन सिंह के साथ न्यौले सर्प के साथ खेल रहे थे। चारों ओर वायु में सुगंधि छा रही थी और सभी मोह की इस प्रचंड ज्वाला को मौन नेत्रों से निरख रहे थे।

अंत में राजनंदिनी को बाहुबली मिले, एकाग्र मुद्रा में ध्यानावस्थित, सीधे खडे, आंखें बंद किए, मुनि साधना में रत, उनकी आंखें खुलने की प्रतीक्षा में किंकर्तव्य विमूढ़ राजनंदिनी अपने देवता के चरणों में आसन मार कर बैठ गई और समय के साथसाथ वह भी अचल हो गई।

आंधियां आई, बरसात आई, गरमी से आसपास का घासफूस तक झुलस गया किंतु न हीं बाहुबली की आंखें खुली और नहीं राजनंदिनी में कंपन हुआ समय के प्रभाव ने उसके शरीर को परिवर्तित करके मिट्टी का ढेर बना दिया उस पर घासफूस उग आए, लताओं का निर्माण हुआ और कोई चारा न देख कर वे लताएं बाहुबली के अचल शरीर पर लिपट गई

मैसूर राज्य के श्रवणबेलगोला स्थान पर स्थित बाहुबली गोम्मटेश्वर की ५७ फीट ऊंची वह वैराग्य की साकार पाषाण प्रतिमा आज भी वर्तमान है और उस पर लिपटी, अपने प्रीतम के रंग में रंग गई वे पाषाण लताएं आज भी राग और वैराग्य के अपूर्व समन्वय का इतिहास कह रही हैं।

 (समाप्त)

जैनग्रन्थ प्रशस्ति-संग्रह पर मेरा अभिमत

जैन साहित्य और इतिहास की दिशा में अनेक वर्षो से ठोस एवं शोध-पूर्ण कार्य करने वाली साहित्यिक संस्था वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। हाल में इस संस्था के द्वारा जिस महत्व के ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ वह है 'जैन ग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह का द्वितीय भाग'। इसका सम्पादन और संकलन इसी संस्था के चिरसेवी और समाज के बहु परिचित सुयोग्य विद्वान पण्डित परमानन्द जी शास्त्री ने बड़े परिश्रम, अध्यवसाय एवं योग्यता के साथ किया है।

इस द्वितीय भाग में राष्ट्रभाषा हिन्दी की जननी अपभ्रंश भाषा में जैन लेखकों द्वारा लिखे गए ११४ ग्रन्थों की प्रशस्तियों का संग्रह किया गया है। इन प्रशस्तियों का जहां सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा महत्व है वहां ऐतिहासिक दृष्टि से भी इनका उतना ही महत्व है। प्रत्येक प्रशस्ति में ग्रन्थ-रचयिता, उसके रचने में प्रेरक, जहां वह रचा गया उस स्थान तथा जिस राजा के राज्य काल में वह बना उस का नामोल्लेख स्पष्टतया किया गया है, जिससे तत्कालीन धार्मिक स्थिति, राज्य का प्रसार और सामाजिक वातावरण आदि अनेकों ही बातों का परिचय मिल जाता है। पण्डित परमानन्द जी ने अपनी १४२ पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना में उन सब बातों का बड़ा सूक्ष्म और ऊहापोह पूर्ण विचार प्रस्तुत किया है। ग्रंथ और ग्रन्थ-कर्त्ताओं का तो उन्होंने परिचय कराया ही है। साथ में प्रशस्तियों में निहित उस ऐतिहासिक सामग्री पर से ग्रंथ-कारों के समकालीन राजाओं, धार्मिक श्रावक-श्राविकाओं ग्रंथ-रचना-स्थानों, ग्रन्थ रचना समय और अनेक घटनाओं का भी उन्होंने सन्तुलित ढंग से सुन्दर विश्लेषण किया। वस्तुतः अकेली यह प्रस्तावना ही एक ऐसी ठोस ऐतिहासिक पुस्तक बन गई है जो शोधार्थियों के लिए पथ प्रदर्शन का कार्य करेगी।

इस संग्रह में कुल १२२ अपभ्रंश ग्रंथों की प्रशस्तियों तथा ३ पुष्पिकाओं का चयन किया गया है। भारती महाविद्यालय हिन्दू विश्व विद्यालय काशी के आचार्य डा वासुदेव शरण अग्रवाल का आरम्भ में महत्वपूर्ण प्राक्कथन है। आपने प्राक्कथन में इस कृति का स्वागत करते हुए यह यथार्थ लिखा है कि–'पं० परमानन्द जी ने तिल-तिल सामग्री जोड कर ऐतिहासिक तथ्यों का मानों एक सुमेरु ही बनाय है।' निःसंदेह पं० परमानन्द जी ने इस संग्रह में असाधारण परिश्रम किया है और सारी सामग्री के निष्कर्षों को विधिवत् दिया है। डा० दशरथ शर्मा रीडर इतिहास विभाग दिल्ली यूनिवर्सिटी का अंग्रेजी में लिखा Preface भी ग्रंथ के महत्व पर अच्छा प्रकाश डालता है।

अपभ्रंश भाषा की अनुपलब्ध रचनाओं के उल्लेखों, प्रस्तावना में आये हुए विशेष नामों की सूची और विषय सूची के अनन्तर १३५ पृष्ठों में मूल प्रशस्तियां दी गई हैं। उसके बाद अन्त में विभिन्न परिशिष्ट दिए गये हैं जो बडे ही महत्व के हैं और शोध-कार्य में बडे उपयोगी सिद्ध होंगे।

एक समय था, जब प्राकृत के बाद अपभ्रंश जन-साधारण की भाषा थी और वह देश के विभिन्न भागों में बोली जाती थी। जैन लेखकों ने देखा कि इस समय धर्म का स्वरूप प्राकृत और संस्कृत के अलावा अपभ्रंश भाषा में भी कहा एवं समझाया जाय तो जन साधारण का बड़ा लाभ होगा। यथार्थ में जैन लेखकों का यह आरम्भ से ही प्रयत्न रहा है कि जनता की बोली में जनता को धर्म तत्त्व का स्वरूप समझाया जाय। अतः उस युग में इस भाषा में भी उनके द्वारा संख्या बद्ध प्रचुर ग्रंथ लिखे गये हैं और अपभ्रंश साहित्य को समृद्ध बनाया गया है। आज अपभ्रंश भाषा का साहित्य अपेक्षाकृत जैन लेखकों का ही लिखा हुआ उपलब्ध होता है। इस साहित्य का इसलिये भी महत्व है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का उसी से जन्म हुआ है। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ का प्रकाशन जहां अपभ्रंश भाषा को जन सम्पर्क में लावेगा वहां राष्ट्र भाषा हिन्दी के भण्डारों को भी समृद्ध करेगा अतः वीर सेवा मन्दिर, उसके संचालकों और सम्पादक का प्रस्तुत प्रयत्न निश्चय ही धन्यवादार्ह है। इस अवसर पर वीर सेवा मन्दिर के प्राण बा० छोटे लाल जी जैन कलकत्ता को नहीं भुलाया जा सकता है, जिनकी अद्भुत शक्ति मूक प्रेरणा साहित्य साधना की तीव्र लगन और निरपेक्ष मौन-सेवा उस प्रयत्न के पीछे निहित हैं। मैं तो समझता हूं कि उन्हीं की लगातार प्रेरणा से यह ग्रंथ आज प्रकाश में आ सका है।

३ दिसम्बर १९६३

दरबारीलाल जैन कोठिया
काशी हिन्दू विश्व विद्यालय

(पृष्ठ २४ का शेष)

वाद के भेद तथा अंग–

परि० ८६ से ६८ तक वाद के भेदों तथा अंगों का विचार है। आचार्य ने वाद का वर्गीकरण दो प्रकारों से किया है-पहले वाद के तीन प्रकार बतलाये हैं–व्याख्यावाद (गुरुशिष्यों की चर्चा), गोष्ठीवाद (विद्वानों की मैत्रीपूर्ण चर्चा) तथा विवादवाद (वादी-प्रतिवादी का मात्सर्यपूर्ण वाद) बाद में वाद के चार प्रकार बतलाते हैं-तात्त्विक वाद (तत्त्व-विषयक चर्चा), प्रातिभवाद (कवि-प्रतिभा की परीक्षा की स्पर्धा), नियतार्थवाद (विशिष्ट नियमों पर आधारित वाद) तथा परार्थन वाद (प्रतिपक्षी के अनुरोध पर होनेवाला वाद)। वाद के चार अंग बतलाये हैं-सभापति, सभासद, वादी तथा प्रतिवादी।

पत्र–

परि० ६६ से १०२ तक पत्र का परंपरागत वर्णन है। अपने पक्ष के किसी अनुमान को प्रस्तुत करने वाला किन्तु गूढ शब्दों के कारण जिसे समझना कठिन हो ऐसा कोई श्लोक एक पत्र पर लिख कर प्रतिपक्षियों के सन्मुख प्रस्तुत किया जाता था-इसे पत्र यह विशिष्ट संज्ञा दी जाती थी। प्रतिपक्षी के लिए जरूरी था कि वह पत्र में लिखे श्लोक को समझ कर उस का उत्तर दे, अन्यथा वह पराजित समझा जाता था।

वाद और जल्प–

परि० १०३ से १२२ तक वाद और जल्प के बारे में चर्चा है। न्यायसूत्र में इन दोनों के जो लक्षण हैं उन का लेखक ने शब्दशः खण्डन किया है। न्यायसूत्र के अनुसार जल्प वह है जिसमें छल, जाति आदि का प्रयोग होता है तथा जिस का मुख्य उद्देश विजय प्राप्त करना होता है। आचार्य के कथनानुसार छल, जाति आदि गलत साधनों का प्रयोग निषिद्ध है ? तथा विजय प्राप्त करने का उद्देश वाद में भी होता है, अतः जैन प्रमाणशास्त्र की परम्परा के अनुसार वे वाद और जल्प में कोई भेद नहीं मानते।

आगम–

परि० १२३ तथा १२४ में आगम तथा आगमाभास का वर्णन है। आगम के वर्णन में अंगगत तथा अंगबाह्य आगमों की परम्परागत सूची दी है तथा आगमाभास में वैदिक दर्शनों के ग्रन्थों के कुछ वाक्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किये हैं।

कारण प्रमाण–

प्रत्यक्ष तथा परोक्षप्रमाणों के उपर्युक्त भेदों को आचार्य ने भाव प्रमाण यह संज्ञा दी है। तथा परि० १२४ से १२८ तक करण प्रमाण के भेद बतलाये हैं। इस में द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र प्रमाण तथा कालप्रमाण समाविष्ट हैं। पदार्थों के नाप तौल की विभिन्न रीतियों को द्रव्यप्रमाण कहा है। लम्बाई-चौडाई की गणना की रीतियां क्षेत्रप्रमाण में दी हैं तथा कालप्रमाण में समय-गणना की रीतियां बतलाई है।

उपसंहार–

परि० १२६ में अन्य दर्शनों में वर्णित प्रमाणों का जैन प्रमाणव्यवस्था में अन्तर्भाव करने की रीति संक्षेप से बतलाई है तथा परि० १३० में अन्तिम प्रशस्ति है।

उपर्युक्त सारांश से स्पष्ट होगा कि आचार्य भावसेन का प्रमाणवर्णन परंपरागत जैन दर्शनों से कुछ दृष्टियों से भिन्न है। अतः इसका विशेष अध्ययन होना उचित है। हमें आशा है कि उनकी यह कृति हम हिन्दी अनुवाद के साथ शीघ्र ही विद्वानों के अवलोकनार्थ प्रस्तुत कर सकेंगे।

नन्दिसंघ बलात्कारगण पट्टावली

(परमानन्द जैन शास्त्री)

प्रस्तुत पट्टावली नन्दि संघ की है, जो मूल संघका ही एक भेद माना जाता है। आचार्य अर्हद्बली द्वारा पंच वर्षीय युगप्रतिक्रमण के समय जो संघ स्थापित किए गए थे, उन में गुहा निवासी संघ ही 'नन्दी' नाम से उल्लेखित किया गया है। जिस तरह अशोकवाट कुल देवसंघ से अभिन्न है उसी तरह नन्दिसंघ भी गुहानिवासी कुल से अभिन्न है। इन संघो के अनेक गण-गच्छ है। नंदिसघ भी उत्तर और दक्षिण के भेद से दो भागो में विभक्त मिलता है। शास्त्रियों में भी नंदिसघ का उल्लेख तथा नंदिगण मिलता है। जैन लेख संग्रह भाग ३ में प्रकाशित अनेक लेखों—(२४७,३७३, ३७५, ३७६, ३८०) आदि में द्रमिल संघान्तर्गत नंदिसंघ का उल्लेख किया गया है १।

दक्षिणापथ के नंदिसंघ में 'बलहारि या बलगार' गण के नाम पाये जाते है, किन्तु उत्तरापथ के नंदिसंघ में सरस्वतीगच्छ और बलात्कार गण ये दो ही नाम मिलते है। 'बलगार' शब्द स्थान विशेष का द्योतक है। लगता है बलगार नामक स्थान से निकलने के कारण 'बलगार' नाम ख्यात हुआ होगा। बलगार नाम का एक ग्राम भी दक्षिण भारत में है २ बलात्कार शब्द स्थान वाची नहीं है किन्तु जबर्दस्ती क्रियाओं में अनुरक्त होने या लगाने आदि के कारण इसका नाम बलात्कार हुआ जान पड़ता है। भट्टारक पद्मनंदि ने जो इस गण के नायक थे सरस्वती को बलात्कार से बुलवाया था, इस कारण उसे बलात्कार कहा जाता है, और गच्छ 'सारस्वत' नाम से ख्यात हुआ है ३। परन्तु यह बात भी जी को नही लगती, क्योंकि यह बात अर्वाचीन है। ये पदमनंदि विक्रम की १४-१५ वीं शताब्दी के विद्वान हैं। और बलात्कार गण का उल्लेख विक्रम की ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध (१०८७ में मूलसंघ के साथ सम्बद्ध मिलता है। इससे बलात्कारगण का सम्बन्ध भट्टारक पद्मनंदि की घटना से प्रचलित हुआ नहीं माना जा सकता। किन्तु उस का अर्थ जबर्दस्ती किया कराने से जान पड़ता है। अभी बलात्कार गण का वास्तविक इतिहास प्रकाश में नहीं आ पाया है जिसे लाने की जरूरत है।

पट्टावलियों में परस्पर विभिन्नता दृष्टि गोचर होती है। नंदिसंघ की इस समय दो पट्टावलियां उपलब्ध हैं। एक संस्कृत पट्टावली, दूसरी मारवाड़ी भाषा की संकलित पट्टावली। मारवाड़ी भाषा की पट्टावली में जन्म वर्ष, दीक्षा वर्ष, पट्ट वर्ष और पूर्ण आयु का ब्योरा अंकित है। और उनमें जातियों का नाम भी उल्लिखित है। किन्तु प्रति अशुद्ध है, इसकी शुद्ध प्रति मेरे देखने में नहीं आई।

संस्कृत पट्टावली में माघनंदी को पूर्वपदांशवेदी और नरेंद्र वंद्य बतलाया है। श्रुतावतार के कर्ता इन्द्रनंदी अर्हद्बली के अनन्तर अनगार पुंगव माघनंदी का उल्लेख करते हैं। जो अंगो और पूर्वो का एक देश प्रकाशित कर समाधि द्वारा स्वर्गवासी हुए थे। अजमेर की पट्टावली में 'नंदी वृक्ष-मूले वर्षा योगो धृतः स माघनन्दी' और उन्हीं के द्वारा नंदी संघ की स्थापना हुई ऐसा बतलाया है परन्तु उसमें पट्ट का प्रारम्भ माघनंदी से न कर भद्रबाहु से किया है। यदि प्रस्तुत माघनंदी, प्राकृत पट्टावली में अभिहित माघनंदी सैद्धान्तिक हों, जिनका पट्ट काल २१ वर्ष बतलाया गया है। और हो सकता है कि ये वही माघनंदी सैद्धान्तिक हों, जिनके सम्बंध में कुम्हार की पुत्री से विवाह करने की कथा प्रचलित है, बाद में जो प्रायश्चित लेकर मुनि संघ में सम्मिलित हो गए थे। वर्तमान में माघनंदी की चतुर्विंशति तीर्थंकर जयमाला उपलब्ध है, जो बड़ी सुन्दर है और उसके १४ पद्यो का स्वर संगति सटके पर थाप लगाते हुए गाने में मधुर

---

१ श्री मद् द्रविलसंघे ऽस्मिन् नंदिसंघे ऽस्त्यरुङ्गलः जैन शिला सं० भा० ३

२ देखो मिडियावल जैनिज्म पृ० ३२७

३ पद्मनंदी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणीः।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥
उर्ज्जयंत गिरौ तेन गच्छःसारस्वतो ऽभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्री पद्मनंदिने ॥
नंदिसंघ गुर्वावली

प्रतीत होती है। हो सकता है कि वह उन्हीं की कृति हो अथवा अन्य किसी माघनंदी की। यह बात भी विचारणीय है।

इसी पट्टावली में भद्रबाहु और उनके शिष्य 'गुप्ति गुप्त' का उल्लेख किया गया है। अजमेर की पट्टावली में भद्रबाहु के उक्त शिष्य गुप्तिगुप्त के दो नाम अर्हद्बली और विशाखाचार्य दिये हैं। किन्तु पट्ट का प्रारम्भ करते समय इनका नाम नहीं दिया, किन्तु जिनचन्द्र का नाम दिया है। प्राकृत पट्टावली में अर्हद् बली का समय वि० सं० ९५ बतलाया है किन्तु संस्कृत पट्टावली में जिनचन्द्र का समय वि० सं० २६ दिया है। पंडितप्रवर आशाधर जी ने महर्षि पर्युपासनमें कुन्दकुन्द के पूर्व जिनचन्द्र का नामोल्लेख किया है। श्रुतसागर ने भी उन्हीं का अनुकरण किया है। परन्तु इस सम्बंध में समीचीन प्रमाणों की आवश्यकता है। और गुरुपरम्परा का ज्ञान भी आवश्यक है।

पट्टावली में जिनचंद्र के पश्चात् पद्मनंदी का नामोल्लेख किया है उनके पांचनामों में एक नाम कुन्दकुन्द भी दिया है। परंतु पंचनामों में से वक्रग्रीव, एलाचार्य, और गृध्रपिच्छ ये तीन नाम तो भिन्न भिन्न आचार्यो के हैं कुन्द कुन्द और उनके समयादि के सम्बंध में किसी अन्य लेख में विचार किया जायगा। आचार्य कुन्दकुन्द अपने समय के आध्यात्मिक विद्वान थे। आपकी कृतियां बहुमूल्य और वस्तु तत्त्व की प्रतिपादक हैं। इन का समय अभी सुनिश्चित नहीं हो सका। पद्मनंदी नाम के अनेक विद्वान हुए है। कुन्दकुन्द का प्रथम नाम पद्मनंदी था यह मान्यता कितनी पुरानी है। दशवीं शताब्दी से पूर्व के शिलालेखों और ग्रंथों में पद्मनंदिका उल्लेख किस रूप में हुआ, यह विचारणीय है।

इसके बाद तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति का नाम दिया हुआ है। फिर लोहाचार्य हुए, जो यथाजात रूपधारी और देवों के द्वारा सेवनीय तथा समस्तार्थ के बोध करने में विशारद थे। लोहाचार्य के बाद उक्त नंदिसंघ दो पट्टों में विभक्त हो गया। एक प्राच्यपट्ट (पूर्वीपट्ट) और दूसरा उदीची उत्तर पट्ट। उन यतीश्वरों के नाम इस प्रकार हैं— यश कीर्ति ९ यशोनंदी १० देवनंदी (पूज्यपाद) ११ गुण नंदी १२ वज्रनंदी १३ कुमारनंदी १४ लोकचंद्र १५ प्रभाचंद्र १६ नेमिचंद्र १७ भानुनंदी १८ सिंहनंदी १९ वसुनंदी २० वीरनंदी २१ रत्ननंदी २२ माणिक्यनंदी २३ मेघचंद्र २४ शांतिकीर्ति २५ मेरूकीर्ति २६ महाकीर्ति २७ विश्वनंदी २८ श्री भूषण २९ शीलचंद्र ३० देशभूषण ३१ अनन्तकीर्ति ३२ धर्मनंदी ३३ विद्यानंदी ३४ रामचंद्र ३५ रामकीर्ति ३६ अभयचंद्र ३७ नरचंद्र ३८ नागचंद्र ३९ नयनंदी ४० हरिचंद्र ४१ महीचंद्र ४२ माधवचंद्र ४३ लक्ष्मीचंद्र ४४ गुणकीर्ति ४५ गुणचंद्र ४६ वासवचंद्र ४७ लोकचंद्र ४८ श्रुतकीर्ति ४९ भानुचंद्र ५० महाचंद्र ५१ माघचंद्र ५२ ब्रह्मनंदी ५३ शिवनंदी ५४ विश्वचंद्र ५५ हरिनंदी ५६ भावनंदी ५७ सुरकीर्ति ५८ विद्याचंद्र ५९ सुरचंद्र ६० माघनंदी ६१ ज्ञाननंदी ६२ गंगनंदी ६३ सिंहकीर्ति ६४ नरेन्द्रकीर्ति हेमकीर्ति ६५ चारुनंदी ६६ नेमिनंदी ६७ नाभिकीर्ति ६८ नरेन्द्र कीर्ति ६९ श्रीचंद्र ७० पद्मकीर्ति ७१ वर्धमान ७२ अकलंकचंद्र ७३ ललितकीर्ति ७४ केशवचंद्र ७५ चारुकीर्ति ७६ अभयकीर्ति ७७ वसंतकीर्ति ७८ प्रख्यातकीर्ति ७९ विशालकीर्ति ८० शुभकीर्ति ८१ धर्मचंद्र ८२ रत्नकीर्ति ८३ विख्यातकीर्ति ८४ प्रभाचंद्र ८५ पद्मनंदी ८६ शुभचंद्र ८७ जिनचंद्र ८८ प्रभाचंद्र ८९ चंद्रकीर्ति ९० देवेन्द्रकीर्ति ९१ और नरेन्द्रकीर्ति। अजमेर पट्टावली में देवनंदी और पूज्यपाद के दो पट्ट अलग अलग दिखाए गए हैं। उनमें देवनंदी को पोरवाल, और पूज्यपाद को पद्मावति पोरवाल बतलाया गया है जो विचरणीय है।

इन आचार्यो, विद्वानों या भट्टारकों में से कुछ विद्वान आचार्यो का संक्षिप्त परिचय यहां दिया जा रहा है। देवनंदी, वज्रनंदी, प्रभाचंद्र, माणिक्यनंदी, वीरनंदी मेघचंद्र विद्यानंदी आदि विद्वानों का तो परिचय ज्ञात है। यहां ७८ वें नम्बर से कुछ विचार किया जाता है, अवशेष का फिर कभी अवकाश मिलने पर विचार हो सकेगा।

वसंत कीर्ति—यह अभयकीर्ति के पट्टधर थे, अभयकीर्ति स्वयं वनवासी तपस्वी थे, वनों में व्याघ्रों और सर्पो द्वारा सेवित थे। शील के सागर थे। पट्टावली में इन दोनों का समय सं० १२६४ दिया गया है। इससे यह थोड़े समय पट्ट पर रहे हैं। इनके सम्बंध में अपवाद मार्ग का उल्लेख करते हुए श्रुतसागरसूरि ने षट् प्राभृत की टीका में लिखा है कि मंडपदुर्ग (मांडलगढ़) में बसंतकीर्ति

ने चर्यादि के समय चटाई आदि से शरीर ढके और बाद में उसे छोड़ दे ऐसा उपदेश दिया था। जैसा कि उनके निम्न वाक्यों से प्रकट है—कअपवादवेषः कलौ किं म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वा उपद्रवं यतीनां कुर्वंति तेन मंडपदुर्गे वसंतकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसारादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्त न्मुंचयतीत्युपदेशः कृतः संयमिनां इत्यपवादवेषः कृतः। षट्प्रा. टी. १.२१।' श्रुतसागर सूरि द्वारा उल्लिखित वसंतकीर्ति वही ज्ञात होते हैं जिनका पट्टावली में उल्लेख किया गया है। दूसरे अन्य वसंतकीर्ति का उल्लेख देखने में नहीं आया।

प्रख्यातकीर्ति—उक्त वसंतकीर्ति के पट्टधर थे। यह भी वनवासी थे और त्रिभुवन में ख्यात थे। अनेक गुणों के आलय थे, शम-यम और ध्यान के सागर थे। वादियों में इन्द्र के तुल्य और परवादि रूप हाथियों के मद को चूर करने के लिए सिंह के समान थे त्रैविद्यविद्या के आस्पद थे और प्रसिद्ध मंडपदुर्ग में निवास करते थे। पट्टावली में इनकी आयु २८ वर्ष ३ मास और २३ दिन बतलाई गई है पर वे पट्ट पर २ वर्ष ३ मास २३ दिन ही रहे थे, ११ वर्ष गृहस्थ अवस्था में और १२ वर्ष दीक्षावस्था में व्यतीत हुए थे।

विशालकीर्ति—यह प्रख्यातकीर्ति के पट्टधर थे। यह उत्कृष्ट व्रतों की मूर्ति और तपोमहात्मा थे।

अजमेर पट्टावली और नागौर पट्टावली में प्रख्यातकीर्ति के बाद शांतिकीर्ति का नामोल्लेख किया गया है। और शांतकीर्ति के पश्चात् धर्मकीर्ति का नाम दिया है। किन्तु अजमेर और सूरत की पट्टावलियों में शांतिकीर्ति का कोई उल्लेख नहीं है, शुभकीर्ति के बाद धर्मचंद्र का नाम दिया गया है।

भट्टारक विद्यानन्द ने भी सुदर्शनचरित में विशालकीर्ति का उल्लेख किया है और उन्हें कुन्दकुन्द की संतान परम्परा में शुद्ध ज्ञान के धारक, योगत्रय में निष्णात और मुनियों में प्रशस्ततम बतलाया है जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है—

> योगत्रयेषु निष्णातः विशालकीर्ति शुद्ध धीः।
> श्रीकुंदकुंदसंताने बभूव मुनिसत्तमः ॥१८॥

और दूसरे पद्य में शुभकीर्ति का उल्लेख किया है, इससे पट्टावली वाली परम्परा भी ठीक जान पड़ती है।

शुभकीर्ति—यह विशालकीर्ति के पट्टधर थे। इनकी बुद्धि पंचाचारकेपालन से पवित्र थी, एकान्तर आदि उग्रतपों के करने वाले तथा सन्मार्ग के विधि विधान में ब्रह्मा के तुल्य थे। यह मुनियों में श्रेष्ठ थे और शुभ प्रदाता थे।

शुभकीर्ति नामके अनेक विद्वान हो गये हैं। उनमें से यह शुभकीर्ति कौन थे यह जानना कठिन है। अपभ्रंश शांतिनाथचरित के कर्ता भी एक शुभकीर्ति हैं यह ग्रंथ नागौर भंडार में सुरक्षित है। जो सं० १५५१ का प्रतिलिपि किया हुआ है। ग्रंथ सामने न होने से इनकी गुरूपरम्परा ज्ञात नहीं हो सकी। एक शुभकीर्ति कुंदकुंद वंश में प्रभावशाली रामचन्द्र के शिष्य थे जो बड़े तपस्वी थे इस समय उनके पट्ट को अपनी विद्या के प्रभाव से विशालकीर्ति शोभित कर रहे हैं। जिनके अनेक शिष्य हैं जो एकान्तवादियों को पराजित करने वाले हैं। इनके शिष्य विजयसिंह हैं जिनके कण्ठ में जिन गुणों की मणिमाला सदैव शोभा देती है।

धर्मचंद्र—यह शुभकीर्ति के पट्टधर थे। अच्छे सिद्धान्त वेत्ता, और संयमरूप समुद्र को वृद्धिगत करने में चंद्रमा के तुल्य थे। इन्होंने अपने प्रख्यात माहात्म्य से अपना जन्म कृतार्थ किया था। और हम्मीर भूपाल के द्वारा संमाननीय थे।

पट्टावली में उल्लिखित हम्मीर भूपाल कौन है, यह बात विचारणीय है। जिन्हें धर्मचंद्र का सम्मानकर्ता बतलाया गया है। यदि पट्टावली गत समय ठीक है, तब तो रण-

---

१ तत्पट्टेऽजनि विख्यातः पंचाचारपवित्रधीः।
शुभकीर्तिमुनिश्रेष्ठः शुभकीर्तिः शुभप्रदः ॥१६
—सुदर्शनचरित

२ श्री कुंदकुंदस्य बभूव वंशे श्री रामचंद्रः प्रथितप्रभावः।
शिष्यस्तदीयः शुभकीर्तिनामा तपोंगनावक्षसि हारभूतः ॥७
प्रद्योतते संप्रति तस्यपट्टं विद्याप्रभावेण विशालकीर्तिः।
शिष्यैरनेकै रुपसेव्यमान एकान्तवादादिविनाशवज्रम् ॥८
जयति विजयसिंहः श्रीविशालस्य शिष्यो,
जिनगुण-मणिमाला यस्य कंठे सदैव।
अमितमहिमराशेर्धर्मनाथस्य काव्यं,
निजसुकृतनिमित्तं तेन तस्मै वितीर्णम् ॥१
—धर्मशर्माभ्युदय लिपिप्रशस्ति

थम्भोर के चौहानवंशी राजा हम्मीर वीर नहीं हो सकते। क्योंकि उनका राज्य सन् १२८३ से १३०१ ईस्वी तक रहा है। महोबा के चन्देलवंश में भी हम्मीरवर्मन् नामका एक राजा हुआ है जो वीरवर्मन् का पुत्र था। ग्वालियर के प्रतिहार वंश के राजाओं की सूची में तीसरे नं० पर एक हम्मीरदेव का उल्लेख है जिसका राज्य सं. १२१२ से १२२५ तक बतलाया है और उसी १२२५ में कुवेरदेव का शासन था। (देखो मध्य भारत के प्राचीन जैन स्मारक पृ० ६७) हम्मीर शब्द उपाधि सूचक भी हो सकता है। उसका प्रयोग हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये भी हो सकता है, संस्कृत में हम्मीर शब्द 'मुसलमान' शासक के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतएव 'हम्मीरभूपालसमर्चनीयः' वाक्य विचारणीय है वह उस काल के किसी मुसलमान बादशाह के अतिरिक्त उक्त नाम वाला अन्य कौन सा राजा हम्मीर पदवी का धारक है। 'अणुवयरयणपईव' की प्रशस्ति भी वि० की चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ की है। अतएव उसकाल का ही कोई राजा होना चाहिए। पट्टावली में धर्मचंद्र का पट्टकाल सं १२७१ से १२९६ तक बतलाया है। जो हम्मीर भूपाल के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं करता। हो सकता है कि उक्त प्रशस्ति गत 'हम्मीर' शब्द किसी मुसलमान शासक की ओर इंगित करता हो। अस्तु कुछ भी हो, इस सम्बन्ध में कुछ प्रामाणिक सामग्री का अन्वेषण कर उक्त तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न होना चाहिये।

रत्नकीर्ति—यह धर्मचंद्र के पट्टधर थे। इन्हें पट्टावली में स्याद्वादविद्या के अथाह समुद्र, तथा जिनके चरण नाना देशों में निवास करने वाले शिष्यों के द्वारा पूजित बतलाये गये है। धर्म-अधर्म भेद प्रस्थापक कथाओं के व्याख्यान में अनुरक्त चित्त, पाप विनाशक, और बाल ब्रह्म रूप तप के प्रभाव से माहात्म्य प्रकट किया है। अजमेर पट्टावली में इनका समय सं १२९६ से १३१० तक दिया है यह दिल्ली पट्ट के पट्टधर थे।

इनके पट्टधर प्रभाचंद्र थे, जो अपने समय के प्रभावशाली विद्वान थे। प्रभाचंद्र ने मुहम्मदशाह के मन को अनुरंजित किया था१। मुहम्मदशाह का राज्य वि० सं०१३८१ से १४०८ पाया जाता है। भट्टारक प्रभाचंद्र का भट्टारक रत्न कीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समर्थन सं० १५७० की लिखित भगवती आराधना पंजिका की उस लेखक प्रशस्ति से भी होता है जिसे सं० १४१६ में इन्हीं प्रभाचन्द्र के शिष्य ब्रह्म नाथूराम ने अपने पढ़ने के लिए दिल्ली के बादशाह फिरोजशाह तुगलक के शासन काल में लिखवाया था। उसमें भ. रत्नकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का स्पष्ट उल्लेख है२। फिरोजशाह तुगलक ने सं० १४०८ से १४४५ तक राज्य किया है। इससे स्पष्ट है कि भट्टारक प्रभाचंद्र १४१६ से कुछ समय पूर्व भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। उस समय दिल्ली में एक महोत्सव हुआ था, परंतु हिन्दी की पट्टावली में पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समय सं० १३१० दिया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से विचारणीय है; क्योंकि उसमें १०० वर्ष का अन्तर हो रहा है जयपुर से प्रकाशित होने वाली 'महावीर जयन्ती स्मारिका' के पृष्ठ १२७ पर आमेरगादी के भट्टारकों की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सेवा' नामक लेख में "सं० १३१६ सालि दिल्ली में भट्टारक प्रभाचंद्र जी राघो चेतन स्युं वाद कियो तब जीत्या। तब हुरमां पातिस्याह पेरोजशाही ने कही जु हम वस अतीत का दरसन करें तब खाणा खावेंगे। तब पातिस्याह अरज करि अर गूजर चांदों पिता पापड़ीवाल नखे अरज कराई तब कपड़ा १३१६ के सालि पहरया भट्टारक प्रभाचंद्र जी कलंकी अलावदी के पाछें १२ पाटि सारंग साह वोसवाल के चरवादार पेरों ज्यों सिकरा का बैठिया कीर पारि बैठो २७ लाख घोड़ा को धणी हुवो।" (गुटका नं १५२ पाटौदी मन्दिर जयपुर)

इसी संबंध के कुछ पद्य भी गुटका नं. ६२ से उद्धृत किए हैं। पर इस घटना क्रम पर विचार करने से यह घटना

१ तहिं भव्वहिं सुमहोच्छउ विहियउ, सिरि रयणकित्ति-पट्टे णिहियउ।
महमंद साहि मणु रंजियउ, विज्जहिं वाइय मणु भंजियउ ॥
बाहुबलिचरिउ प्र०

२ संवत् १४१६ वर्षे चैत्र सुदि पंचम्यां सोमवासरे सकलराज्य शिरोमुकुटमाणिक्यमरीचिपिंजरीकृतचरण कमल पादपीठस्य श्री पेरोजसाहेः सकल साम्राज्य धुरी बिभ्राणस्य समये श्री दिल्यां श्री कुंदकुंदाचार्यान्वये सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे भट्टारक श्री रत्नकीर्तिदेव पट्टोदयाद्रि तरुण तरणित्वमुर्वीकुर्वाणः भट्टारक श्री प्रभाचंद्रदेव शिष्याणां ब्रह्म नाथूराम। इत्याराधना पंजिकायां ग्रंथ आत्मपठनार्थं लिखापितम्। (ब्यावर भवन प्रति)

अलाउद्दीन और राघोचेतन के समय घटित हुई है। फीरोज साह तुगलक के समय नहीं। लेखक ने उसे भूल से फीरोज साह तुगलक के साथ जोड़ दी है। क्योंकि राघोचेतन अलाउद्दीन के समय हुए हैं। वे मंत्र तंत्रवादि थे और नास्तिक भी, उन्हें धर्म पर कोई आस्था नहीं थी, अलाउद्दीन भी उन्हीं के विचारों से सहमत था। उस समय माहवसेन से इनका वाद हुआ था ऐसा उल्लेख मिलता है भ० प्रभाचंद्र ने तो मुहम्मद शाह जिसे महमूंदसाह भी कहते हैं उसके राज्य में वाद की घटना घटित हुई थी और प्रभाचंद्र ने उस पर विजय पाई थी। धनपाल के बाहुबली चरित में भी उक्त घटना का उल्लेख निम्न वाक्यों में 'महमंद साहि मणुरंजियउ, विज्जहि वाइय मणु भंजियउ' दिया है प्रभाचंद्र अलाउद्दीन खिलजी के समय नहीं हुए। अतएव प्रभाचंद्र का रत्नकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समय सं० १४०८ के बाद होना चाहिए भ० प्रभाचंद्र फीरोज साह तुगलक के आग्रह से अन्तःपुर में धर्मोपदेशार्थ पधारे थे। तब शरीर को वस्त्र से आच्छादित करना पड़ा था। बाद में उसे अलग कर देने पर भट्टारकों में वस्त्र की परम्परा प्रचलित हो गई थी। इस घटना क्रम पर विचार करने से पट्टावली का समय भी संदिग्ध प्रतीत होता है। इस पर फिर कभी विशेष विचार किया जायगा। अनेक टीका ग्रंथ भी इन्हीं प्रभाचंद्र की रचना है।

पद्मनन्दि—यह भ० प्रभाचंद्र के पट्धर थे, पहले मंडलाचार्य थे। बाद में गुजरात में भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। यह उस समय के योग्य विद्वान और प्रभावशाली थे। इनके अनेक शिष्य थे। इनसे मूलसंघ बलात्कार गण की तीन परम्परा प्रचलित हुई हैं। यह मंत्र तंत्र में निपुण और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। इन की बनाई हुई अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं। पद्मनंदि श्रावकाचार (श्रावकाचार सारोद्धार) वर्द्धमान चरित, कथाएँ वीतरागस्तोत्र, शान्ति जिनस्तोत्र, रावण पार्श्वनाथस्तोत्र, जीरावली पार्श्वनाथ स्तवन और भावना पद्धति। इनके और इनके शिष्यों के द्वारा अनेक प्रतिष्ठित मूर्तियां यत्र-तत्र मिलती हैं। गिरनार पर्वत पर इन्होंने सरस्वति को वाचालित किया था, और आद्य दिगम्बर कहलाया था। इनकी शिष्य परम्परा में भ० सकलकीर्ति ने खूब साहित्यिक कार्य किया। इनके तीन प्रधान शिष्यों से तीन शाखाएँ प्रसूत हुईं जयपुर शाखा, ईडर शाखा और सूरत शाखा।

शुभकीर्ति—पद्मनंदि के पट्टधर थे। वे भी अपने समय के अच्छे विद्वान थे। इनका समय १५ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। आपकी क्या कुछ रचनाएँ हैं। यह अन्वेषण से सम्बन्ध रखता है, अभी हमें इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं हो सकी।

जिनचंद्र—यह भट्टारक शुभचंद्र के पट्टधर थे। इनके पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समय सं० १५०७ पाया जाता है। पट्टावली के अनुसार यह उस पर ६२ वर्ष तक अवस्थित रहे। यह प्राकृत संस्कृत के विद्वान थे और अत्यंत प्रभावशाली थे। आपके द्वारा प्रतिष्ठित सं० १५४८ की तीर्थंकर मूर्तियां भारतीय जैन मन्दिरों में पाई जाती हैं। ऐसा कोई भी प्रांत नहीं, जहां उनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां न हों। इनके द्वारा प्रतिष्ठित एक मूर्ति सं० १५०७ की भी उपलब्ध है। आपके अनेक विद्वान् शिष्य थे। उनमें पंडित मेधावी और कवि दामोदर आदि हैं। इनकी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। जिनचंद्र की इस समय दो कृतियां उपलब्ध हैं, सिद्धान्तसारादि संग्रह, चतुर्विंशति जिनस्तवन। इनके समय में जैन संस्कृति का अच्छा कार्य हुआ है, इनके शिष्यों ने भी उसे पल्लवित किया। उक्त शिष्यों में मेधावी प्रधान थे और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। उनकी सं० १५१८ से १५४१ तक की अनेक पद्यात्मक प्रशस्तियां देखी जाती हैं, जो हिसार में लिखी गई हैं। सं १५४१ में धर्मसंग्रह श्रावकाचार की रचना भी इन्होंने नागौर में पूर्ण की थी इस तरह जिनचंद्र भट्टारक की महत्ता का सहज ही आभास हो जाता है।

प्रभाचंद्र—प्रस्तुत प्रभाचंद्र अपने समय के एक बहुश्रुत विद्वान थे। अपनी तर्कणा से इन्होंने वादियों को विजित किया था। इनका पट्टाभिषेक सं० १५७१ में फाल्गुण कृष्णा २ को सम्मेद शिखर पर सुवर्ण कलशों से हुआ था। इन्होंने सं० १५७३ में फा० कृ० ३ दशलक्षणयंत्र की स्थापना की थी। इनके मंडलाचार्य धर्मचंद का भी अनेक प्रशस्तियों में उल्लेख मिलता है। एक पट्टावली में में भी धर्मचंद्र का नामोल्लेख हुआ है। उसके बाद चंद्रकीर्ति का।

चंद्रकीर्ति—यह भ० प्रभाचंद्र के पट्टधर थे। इनका पट्टाभिषेक भी सम्मेदशिखर पर किया गया था। इनके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तियां राजस्थान में मिलती है। पट्टावली में पट्ट पर आसीन होने का समय सं० १६२२ वैशाख सुदी २ दिया हुआ है।

देवेन्द्रकीर्ति—यह भ० चंद्रकीर्ति के पट्टधर थे। इनके पट्ट पर बैठने का समय सं० १६२२ फाल्गुन वदी १५ दिया है। यह चाटसू में पट्टस्थ हुए थे।

नरेन्द्रकीर्ति—यह भ० देवेन्द्रकीर्ति के पट्धर थे। देवेंद्रकीर्ति नामके अनेक विद्वान हो गए हैं। पट्टावली में नरेंद्रकीर्ति से पहले ललितकीर्ति का नामोल्लेख और मिलता है। इसमें उसका उल्लेख नहीं है। यह खंडेलवाल थे और गोत्र सोगाणा था। यह सांगानेर में पट्टस्थ हुए थे। आमेर के संवत १७१६ के शिलालेख में इन्हें मूलसंघ बलात्कारगण का भट्टारक सूचित किया है। इन्हीं की आम्नाय में जयसिंह राजा के महामंत्री मोहनदास ने अंबावती में विमलनाथ चैत्यालय की प्रतिष्ठा नरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से कराई थी [1]। प्रस्तुत पट्टावली इन्हीं के द्वारा संकलित की गई है।

श्रीमानशेषनरनायकवान्दितांघ्रिः।
श्रीगुप्तिगुप्त इतिविश्रुतनामधेयः॥
यो भद्रबाहुमुनिपुङ्गवपादपद्म,
सूर्यः स वो दिशतु निर्म्मल संघवृद्धिम् ॥१
श्रीमूलसंघेऽजनिनन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
तत्राभवौ पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः ॥२
पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रःस्समभूदतन्द्रः।
ततोऽभवत्पञ्चसुनामधामा, श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती ॥३
आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छः पद्मनन्दीति सन्नुतः ॥४
तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वात् प्रकटीकृतसन्मतः।
उमास्वातिपदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान् ॥५
लोहाचार्यस्ततो जातो जातरूपधरो ऽमरैः।
सेवनीयः समस्तार्थविबोधनविशारदः ॥६
ततः पट्टद्वयी जाता प्राच्युदीच्युपलक्षणा।
तेषां यतीश्वराणां स्युर्नामानीमानि तत्त्वतः ॥७
यशःकीर्तियशोनन्दी देवनन्दी महामतिः।
पूज्यपादापराख्येयो गुणनन्दी गुणाकरः ॥८
वज्रनन्दी वज्रवृत्तिस्तार्किकाणां महेश्वरः।
कुमारनन्दी लोकेन्दुः प्रभाचन्द्रो वचोनिधिः ॥९
नेमिचन्द्रो भानुनन्दी सिंहनन्दी जटाधरः।
वसुनन्दी वीरनन्दी रत्ननन्दी रतीशभित ॥१०
माणिक्यनन्दी मेघेन्दुः शान्तिकीर्तिर्महायशा।
मेरुकीर्तिर्महाकीर्तिविष्णुनन्दी विदांवरः ॥११
श्रीभूषणः शीलचन्द्रः श्रीनन्दी देशभूषणः।
अनन्तकीर्तिर्धर्मादिनन्दी नन्दितशासनः ॥१२
विद्यानन्दी रामचन्द्रो रामकीर्तिरनिंद्यवाक्।
अभयेन्दुर्नराचन्द्रो नागचन्द्रः स्थिरव्रतः ॥१३
नयनन्दी हरिश्चन्द्रो महीचन्द्रो मलोज्झितः।
माघवेन्दुर्लक्ष्मीचन्द्रो गुणकीर्तिर्गुणाश्रयः ॥१४
गणचन्द्रो वासवेन्दुर्लोकचन्द्रः सुतत्त्ववित्।
त्रैविद्यः श्रुतकीर्त्याख्यो वैयाकरणभास्करः ॥१५
भावचन्द्रो महाचन्द्रो माघचन्द्रः क्रियागणी।
ब्रह्मनन्दी शिवनन्दी विश्वचन्द्रस्तपोधनः ॥१६
सैद्धान्तिको हरिनन्दी भावनन्दी मुनीश्वरः।
सुरकीर्तिः विद्याचन्द्रः सूरचंद्रः श्रियांनिधिः ॥१७
माघनन्दी ज्ञाननन्दी गङ्गकीर्ति महातपाः।
सिंहकीर्ति हेमकीर्तिश्चारूनन्दी मनोज्ञधीः ॥१८
नेमिनन्दी नाभिकीर्तिः नरेन्द्रादि यशाः परम।
श्रीचन्द्रः पद्मकीर्तिश्च वर्धमान मुनीश्वरः ॥१९
अकलंक चन्द्रगुरु-ललितकीर्तिरुत्तमः।
त्रैविद्यः केशवाचन्द्रश्चारूकीर्तिसुधर्मणः ॥२०
सैद्धांतिकोऽभयकीर्ति र्वनवासी महातपाः।
वसंतकीर्ति व्याघ्रादि सेवितः शीलसागरः ॥२१
तस्य श्रीवनवासिनस्त्रिभुवनप्रख्यातकीर्तेरभूत—
च्छिष्योनेकगुणालयः शम-यमध्यानापगा सागरः।
वादीन्दुः परवादिवारणगणप्रागल्भ्यविद्रावणे।
सिंहः श्रीमति मंडपेति विदितस्त्रैविद्यविद्यास्पदम् ॥२२

1 See Jain Antiquary Vol.8-Kiran 2 P. 95-97

१ नागकीर्ति महोत्तमः—दिल्ली पंचायती मन्दिर प्रतिपाठः

विशालकीर्ति र्वरवृत्तमूर्तिस्ततो महात्मा शुभकीर्तिदेवः ।
एकांतराद्युग्रतपोविधाता धाता च सन्मार्ग विधेर्विधाने ।।२३

श्रीधर्मचंद्रोऽजनि तस्य पट्टे हम्मीरभूपालसमर्चनीयः ।
सैद्धांतिकः संयमसिंधुचंद्र प्रख्यात माहात्म्यकृतावतारः ।।२४

तत्पट्टेऽजनि रत्नकीर्तिरनघः स्याद्वादविद्याम्बुधि—
र्नानादेशविवर्तिशिष्यनिवह प्राच्यङिघ्र युग्मो गुरुः ।
धर्माधर्मकथानुरक्तधिषणः पापप्रभावाधिका,
बालब्रह्म तपः प्रभावमहितः, कारूण्य पूर्णाशयः ।।२५

पट्टे श्री रत्नकीर्त्तेरनुपमतपसः पूज्यपादीय शास्त्र—
व्याख्या विख्यातकीर्तिर्गुणगुणनिलयः सत्क्रियाचारचंचुः ।
श्रीमानानन्दधामा प्रतिबुधविनुतः मानसंदायवादो,
जीयादाचंद्रतारं नरपति विदितः श्रीप्रभाचंद्रदेवः ।।२६

हंसो ज्ञानमरालिका समसमाश्लेषप्रभूताद्भुतो,
नंदः क्रीडति मानसेति विशदं यस्या निशं सर्व्वतः ।
स्याद्वादामृतसिंधुवर्धनविधोः श्रीमत्प्रभेन्दु प्रभो१:
पट्टे सू रमतल्लिका स जयतात् श्रीपद्मनन्दी मुनिः ।।२७

महाव्रतिपुरन्दरः प्रशमदग्धरोषांकुरः ।
स्फुरत्परमपौरुषस्थितिरशेषशास्त्रार्थ वित् ।
यशोभरमनोहरी कृतसमस्तविश्वंभरः ।
परोपकृतितत्परो जयति पद्मनन्दीश्वरः२ ।।२८

स्याद्वादामृतसिन्धुवर्धनकरः सौम्यैर्गुणै र्वल्लभः,
षट् तर्कागमजैनशासन महालब्धप्रतिष्टोत्सवः ।
पट्टे श्री मुनिपद्मनन्दि विदुषः कल्याणलक्ष्मीकरः
सोऽयं श्री शुभचन्द्रदेवमुनिपो भव्यैर्जनैर्वंदितः ।।२९

पट्टे श्री शुभचन्द्रदेव गणिनः श्री पद्मनन्दीश्वरः ।
तर्कव्याकरणादिग्रन्थकुशलो विख्यातकीर्तिर्गणी ।
श्रीमान् श्रीजिनचन्द्रसूरिरभवद्रत्नत्रयालंकृतो,
हेयादेयविचारमार्गचतुरश्चारित्रचूडामणिः ।।३०

प्रकटितजिनमार्गो ध्वस्तमोहांधकारो,
जिननयपरवादी सप्तभंगेद्धबोधः ।
विधुतविषयसंगः श्रीकृताध्मप्रसंगो ।
जयति सततधामा श्रीजिनेन्दुर्यतीन्द्रः ।।३१

तत्पट्टोदयभूधरेऽजनिमुनिः श्रीमत्प्रभेन्दुर्वशी ।
हेयादेयविचारणैकचतुरो देवागमालंकृतः ।
भव्यांभोजदिवाकरादिविविधे तर्के चचंचुस्त्वणो,
जैनेन्द्रादिकलक्षणप्रणयने दक्षोऽनुयोगेषु च ।।३२

त्यक्त्वा सांसारिकी भूतिं किंपाकफलसन्निभाम् ।
चिन्तारत्ननिभां जैनीं दीक्षां संप्राप तत्त्ववित् ।।३३

शब्दब्रह्मसरित्पतिं स्मृतिबलादुत्तीर्य यो लीलया ।
षट्तर्कावगमार्ककर्कशगिरा जित्वाऽ खिलान् वादिनः ।
प्रांच्यां दिग्विजयीभवन्निभविभु जैंनी प्रतिष्ठाकृते ।
श्री सम्मेदगिरौ सुवर्णकलशैः पट्टाभिषेकः कृतः ।।३४

श्रीमत्प्रभाचन्द्र गणीन्द्र पट्टे भट्टारकश्रीमुनिचन्द्र कीर्तिः ।
संस्नापितो योऽत्रनिनाथवृन्दैःसम्मेदनाम्नीहगिरीन्द्रमूर्ध्नि।।३५

जीयाच्छ्रीविधुकीर्तिपट्टसुधरःप्रोद्यद्महः सन्मणिः
सर्वेजेवरवंशशुध्दजलधौ चन्द्रश्चिरं विभ्रमान् (?)
तर्कव्याकरणादिनीतिनिपुणो देवेन्द्रकीर्तिः कृती,
सद्भट्टारक एष सर्व्वगुणभृद् भूपालब्धाङ्ककः ।। ३६

श्रीचंद्रकीर्तिः पद् संवराधो कंजः कलापी सकलाहरित्सु
देवेन्द्रकीर्ति घ्रतकांतिकीर्ति भट्टारको भट्ट विभूत्तवादः ।।३७

पट्टे श्री दिविजेन्द्रकीर्तिगणिनो निष्कापि कुं भांबुभिः ।
स्नातः सूरिनरेन्द्रकीर्तिरमितस्त्रीगीतकीर्त्यंकितः ।
स्वस्तिव्याप्तसमस्तशास्त्रकुशलोऽर्हद्भक्तिशक्तोऽनिशं,
जीव्याद् ब्रह्मयुगं जगद्गुरुमतांभोराशिशीतांशुकः ।।३८

क्षोणीमण्डलमण्डनाऽमलगुणालङ्कारहीरस्य च ।
चारित्रादियशोहिमांशुकिरणैस्तस्य क्षमा शोभते
शश्वत् सौगतशीर्णवादिदमनं विद्याविनोदं दधत् ।
जीयात्सूरिनरेन्द्रकीर्तिरिह सो नंद्यादिसंघेऽनघः ।।३९

---

१ 'निधौ' इति पाठः पंचायती मंदिर दिल्ली प्रतौ
२ 'तर' इति पाठः उक्त पंचायती मंदिर प्रतौ

२८ वें पद्य के बाद शुभचन्द्र पटावली में दूसरी गुरु-परम्परा का उल्लेख है, २८ पद्यों तक समानता है ।

शान्ति और सौम्यता का तीर्थ-कुण्डलपुर

(श्री नीरज जैन)

उत्तर भारत के जैन तीर्थ क्षेत्रों की कतिपय विशाल और मनोज्ञ मूर्तियों का उल्लेख करते समय कुण्डलपुर के बड़े बाबा का नाम प्रमुख रूप से आता हैं सचमुच इतनी अद्भुत प्रतिमा है यह कि जिसके दर्शन मात्र से—
"मन शान्त भयो मिट सकल द्वन्द चाख्यो स्वातम रस दुख निकन्द ।" रूपमावना की सार्थकता अनुभूत होती है यह क्षेत्र मध्य प्रदेश के दमोह जिले में (बीना-कटनी रेलपथ पर) दमोह स्टेशन से बीस मील दूर है दमोह से मोटर बसें चलती हैं और क्षेत्र पर सुन्दर तालाब एवं अन्य धर्मशालाओं की व्यवस्था होने से यात्रियों की यात्रा सुविधा पूर्ण एवं सुखद होती है ।

इस क्षेत्र की प्राकृतिक सुषमा भी नयनाकर्षक है और वातावरण को तीर्थानुकूल बनाने में सहायक होती है । गोल-कुण्डलाकार पर्वत माला के बीचों बीच निर्मल जल से भरा "वर्धमान सागर" नामका तरंगित सरोवर है । संभवतः पर्वत की कुण्डलाकार गोलाई ने ही क्षेत्र को कुण्डलपुर नाम दिया है । वर्तमान में यहाँ कुल अट्ठावन जिनालय हैं जिनका निर्माण पिछली दो शताब्दियों के भीतर हुआ है परन्तु उनके भीतर पुरातत्व की महत्व पूर्ण प्राचीन सामग्री उपलब्ध है ।

वर्तमान क्षेत्र से लगा हुआ रूक्मिणी मठ नाम का एक प्राचीन मंदिर है जो अब प्रायः रिक्त तथा ध्वस्त प्राय हो चुका है पर्वत के पीछे लगभग दस मील दूर बरंट नामक ग्राम है जहां तालाब पर एवं यत्र-तत्र-सर्वत्र प्राचीनता के चिन्ह पाये जाते हैं तथा विश्वास किया जाता है कि यही प्राचीन प्रतिमएं तथा अन्य ध्वंशावशेष उपलब्ध हैं वे प्रायः सभी इन्हीं दो स्थानों से लाकर यहां लगाए गए हैं यहां तक कि बड़े बाबा की विशाल प्रतिमा को स्वप्न द्वारा खोजकर एक वणिक द्वारा लाये जाने की जो किंवदन्ती इस स्थान के सम्बंध में प्रचलित है, उससे भी इसी बरंट ग्राम की सम्बध्दता सिध्द होती है ।

बड़े बाबा के नाम से ख्यात यही अतिशय युक्त विशाल जिन बिम्ब इस क्षेत्र की मूल-प्रतिमा है । यह मूर्ति पर्वत पर बीचों बीच बने एक विशाल जिन मंदिर में अवस्थित दो हाथ ऊंचे सिंहासन पर विराजमान आठ हाथ ऊँची पद्मासनस्थ भव्य प्रतिमा है । मूर्ति का निर्माण लाल बलुआ पत्थर की स्वतंत्र शिला पर हुआ है तथा उसका सिंहासन दो पत्थरों को जोड़कर अलग से बनाया गया है । इस मूर्ति पर मूर्तिलेख अथवा चिन्ह का अभाव होने से इसका निर्माण आज भी विवादास्पद बना हुआ है कि यह मूर्ति किस तीर्थंकर की है ?

सर्व प्रथम इस मूर्ति को प्रकाश में लाकर तथा इस मंदिर आदिका निर्माता कराकर उसे महत्व प्रदान करने वाले भक्तों द्वारा विक्रमा सं० १७५७ (सन् १७०० ईस्वी) में इस स्थान पर एक शिलालेख लगाया गया जिसमें इसे भगवान महावीर की मूर्ति कहा गया है । संभवतः सिंहासन के दो सिंहों को देखकर उनकी इस मान्यता को बल मिला होगा इस क्षेत्र के अनन्य प्रचारक श्री रूपचंद बजाज, तिलोयपण्णत्ती के आधार से इस मूर्ति को अंतिम केवली श्रीधरस्वामी की मूर्ति मानकर इस क्षेत्र को सिद्ध क्षेत्र मानते हैं । एक अन्य लेखक श्री रूपचन्द "रतन" ने अपने लेख(नव भारत जबलपुर दिनांक ७-७-६३) में उसी महावीर की मान्यता का पोषण किया है । मैंने स्वयं आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व उसे प्रचलित मान्यता के अनुसार सन्मति की छवि मान कर ही लिखा था—

> साधारण पत्थर नहीं,
> यहाँ अशरण की एक शरण है यह,
> इन्द्रादि वंद्य, देवाधिदेव,
> सन्मति का समवशरण, है यह ।

सन १९५५ में अखिल भारतवर्षीय विद्वत्परिषद के कटनी अधिवेशन में इस मतांतर के निर्णय हेतु एक उप समिति गठित की गई थी । इस समिति के विद्वान सदस्य तथा समाज के उद्भट विद्वान आदरणीय पं० दरबारी लाल कोठिया ने इस प्रश्न पर अपना शास्त्र सम्मत मत देते हुए अनेकान्त वर्ष ८ के पृष्ठ ११५ पर एक लेख प्रकाशित कराकर यह सिद्ध किया था कि अन्तिम केवली श्रीधर

स्वामी का निर्वाण स्थल यह क्षेत्र नहीं है। इस प्रकार एक मत का समाधान हो जाता है, परन्तु प्रतिमा के सही परिचय की ओर कोई प्रयास विद्वानों द्वारा नहीं किया गया सिंहासन के सिंह, पार्श्व स्थित पारसनाथ की खड्गासन मूर्तियां एवं शिलालेख में महावीर के नाम से इस मूर्ति का उल्लेख ये सब आधार बड़े बाबा को सन्मति की प्रतिमा मानने वालों को इतने निश्चित लगे कि इस प्रकार के शोध की आवश्यकता ही नहीं समझी गई।

अपनी पिछली कुन्डल पुर यात्रा में मैंने जिज्ञासा वश शोध की दृष्टि से इस अतिशय मनोज्ञ मूर्ति का निरीक्षण किया तब कुछ नवीन तथ्य सामने आए हैं, जिनके आधार पर यह मूर्ति निर्विवाद ही प्रथम तीर्थंकर, युगादि देव, भगवान आदि नाथ की प्रतिमा निर्धारित होती है। इस सम्बन्ध में मेरे आधार इस प्रकार हैं——

३. प्रतिमा केवल चौबीस तीर्थकरों की ही बनाए जानेकी परम्परा रही है। भगवान आदिनाथ के तीर्थ में, उनसे भी पूर्व, कठोर तपश्चरण करके बाहुबली स्वामी ने मुक्ति लाभ लिया था, इस कारण उनकी मूर्ति बनाने की परम्परा भी चली परन्तु यह एक अपवाद रहा। इन पच्चीस के अतिरिक्त किसी भी मोक्षगामी की मूर्ति बनने की परम्परा या विधान का कहीं कोई उल्लेख या प्रमाण प्राप्त नहीं होता इस प्रकार श्रीधर स्वामी का कल्पना निराधार सिद्ध होती है। दूसरे ऋद्धि, सिद्धि और परिकर की उत्कृष्टता के अनुपात से भी मूलनायक की स्थिति में श्रीधरस्वामी को विराजमान करके पार्श्व में पारसनाथ की प्रतिमाएं प्रतिष्ठित कराना संगत नहीं कहा जा सकता।

४ बड़े बाबा के आसन के चिन्ह सिंहासन के प्रतीक है, वे मूर्ति के लांछन नहीं हैं, इसका प्रमाण तो उसी कक्ष में विराजमान अन्य तीर्थंकरों की चिन्ह युक्त मूर्तियों में ऐसे ही सिंहासनों का अस्तित्व है, अतः इस आधार पर इसे सन्मति की मूर्ति मानना भी साकार मान्यता नहीं कही जा सकती।

३. वर्धमान की प्रतिमा के परिकर में उनके शासन देवता *गजारुढ मातङ्ग यक्ष* और *शासन देवी सिद्धायिका* का अस्तित्व अवश्यंभावी है।' पं० प्रवर आशाधरजी के प्रतिष्ठा सारोद्धार' के अनुसार मातङ्ग का स्वरूप इस प्रकार हैः—

> मुद्गप्रभो मूर्धनि धर्मचक्रम्,
> बिभ्रत्फलम् वाम करेथ यच्छन्।
> वरं करिस्थो हरिकेतु भक्तो,
> मातंग यक्षो गतु तुष्टिमिष्टया॥ १५२

इसी ग्रंथ में देवी सिद्धाविनी का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

> सिद्धायिकां सप्त करोच्छ्रितांग,
> जिनाश्रयां पुस्तक दान हस्तम्।
> श्रितां सुभद्रासनमत्र यज्ञे,
> हेमद्युति सिंहगति यजेहम्॥१७८॥

चूंकि इस वर्णन से युक्त शासन यक्ष और यक्षी का अंकन इस प्रतिमा के परिकर में नहीं है इसलिए भी यह मूर्ति भगवान महावीर की नहीं मानी जा सकती। श्री रूप-चंद 'रतन' ने अपने उक्त लेख में एक और आधार इस प्रकार लिया है।

'मंदिर के शीर्ष मुकुट भाल पर अवस्थित पाषाण कृत सिंह अंकित है जो दर्शकों को दूर से ही सूचित करता है है कि यह जिनालय श्रीवर्द्धमान स्वामी का है" इस सम्बन्ध में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि मंदिर के शीर्ष भाग पर शुक नासा बिम्ब की स्थापना नागर और नाग वेपर शैली के मन्दिरों की विशिष्टता रही है तथा उनमें सर्वत्र—न केवल जैनों में—वरन शैवों और वैष्णवों में भी केवल सिंह की मूर्ति स्थापित करने की प्रणाली रही है। शुक नासा बिम्ब से मन्दिर के देवता का कोई संकेत नहीं मिलता। इसी प्रणाली के अंतर्गत इस मन्दिर के निर्माताओं ने वह सिंह यहां स्थापित्त किया होगा। मूर्ति का चिन्ह उसके आसन में होता है। मन्दिर के शीर्ष पर उसके पाये जाने का कोई प्रमाण कहीं प्राप्त नहीं हुवा।

इसी लेख में मातंग यक्ष को बन्दर मुखाकृति लिखा गया है पर ऐसा कोई शास्त्रोक्त प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया। आशन के इस यक्ष को देख कर स्पष्ट ही जाना जा सकता है कि प्रस्तुत अंकन बृषभ मुखाकृति गोमुख यक्ष का है मर्कट मुखाकृति नहीं है।

५. इस प्रतिमा के कांधे पर जटाओं का स्पष्ट अंकन है। भगवान आदिनाथ के दीर्घ कालीन, दुर्द्धर तपश्चरण के कारण उनकी प्रतिमा में जटाएं बनाने की परम्परा मध्य

काल तक प्रचलित रही है। जटाओं के अंकन के इस रहस्य का उल्लेख आदिपुराण में इस प्रकार वर्णित है—

चिरं तपस्यतो यस्य जटा मूर्ध्नि बभुस्तराम्।
ध्यानाग्नि दग्ध कर्मेन्ध निर्मद धूम शिखा इव॥

आदिपुराण पर्व १. श्लोक ६.

बड़े बाबा के नाम से प्रख्यात इस प्रतिमा में जटाओं का अस्तित्व हमें ज्ञात रहा हो चाहे नहीं; परन्तु लोक रीति की परम्परा का पहरुआ, ग्रामीण गीतकार बहुत प्राचीन काल से इस तथ्य से अवगत रहा है क्षेत्र पर छोटे बालकों का मुन्डन संस्कार कराने की प्रथा है और उस अवसर पर यह गीत न जाने कब से कुण्डल पूर में गाया जाता रहा है—

कुण्डलपुर बाबा जटाधारी,
मौड़ा की चुटइया मुड़ा डारी॥

इसके अतिरिक्त स्वयं "बड़े बाबा" "महादेव" 'युगादि देव' आदि नाम भी आदिनाथ के लिए ही प्रयुक्त होते हैं।

५. मेरी इस धारणा का अंतिम और महत्त्वपूर्ण आधार इस मूर्ति के आसन के पार्श्व में आदिनाथ के यक्ष गोमुख और यक्षी चक्रेश्वरी का सहज, सायुध अंकन है। पंडित प्रवर आशाधर जी के अनुसार गोमुख यक्ष का स्वरूप

सव्येतरो र्ध्वकरदीप्र परश्वधाक्ष सूत्रं,
तथाधरकरांकफलेष्ट दानम्।
प्राग्गोमुखं, वृष मुखं वृषगं वृषांक,
भक्तं यजे कनकभं वृषचक शीर्षम्॥१२६

तथा देवी चक्रेश्वरी का स्वरूप—

भर्माभाद्य करद्वयाल कुलिशा, चक्रांक हस्ताष्टका,
सव्या सव्य शयोल्लसत्फलवरा, यन्मूर्तिरास्तेम्बुजे।
तार्क्ष्ये वा सह चक्र युग्म रुचक त्यागैश्चतुर्भिः करैः,
पंचेष्वास शतोन्नत प्रभुनतां, चक्रेश्वरी तां यजे॥१५६

वर्णन किया गया है और इसी वर्णन के अनुरूप इस मूर्ति के आसन में सींग सहित गोमुख यक्ष तथा नर यक्ष पर आसीन चक्र युक्त देवी चक्रेश्वरी की एक हाथ अवगाहना की मूर्तियां अंकित हैं।

गोमुख के दोनों सींग और अपेक्षाकृत लम्बी आंखें तथा कान एवं मुकुट पर धर्मचक्र दृष्टव्य हैं। गले में माला तथा यज्ञोपवीत और दाहिने हाथ में मातु लिंग एवं वाएं में फरस अंकित हैं। इसी प्रकार ललितासनस्थ चक्रेश्वरी की चार भुजाओं में से ऊपर की दो भुजाओं में चक्र तथा नीचे शंख एवं वरद मुद्रा है। शरीर पर वक्षहार, मणि माल, मोहन माला, कंगन, कुण्डल, मुकुट आदि अलंकार यथा स्थान शोभित हैं।

इन्हीं आधारों के बल पर मैं इस अद्भुत जिन बिम्ब को भगवान आदिनाथ के नाम से स्मरण कर रहा हूँ। पार्श्वस्थ चामरधारी सौधर्म एवं ऐशान इन्द्रों एवं पुष्पमाल्य सहित उड़ते हुए विद्याधरों की अंकन शैली एवं प्रतिमा की कला के आधार पर इसका निर्माण काल भी मेरे अनुमान से उत्तर गुप्त और पूर्व मध्य काल (छठवीं से आठवीं शताब्दि) के बीच का ज्ञात होता है। कोई पुराविद् विद्वान यदि इस पर शोध पूर्वक सप्रमाण कोई मत व्यक्त करेंगे तो मैं उनका आभार मानूँगा। ★★★

सम्बोधक-पद

किशन चन्द

यो संसार निहार जिया परलोक सुधारो॥ टेक॥
तू पोषत यह नित छीजै, नाना जतन विचारो।
जो पुद्गल कूं अपणो जाणे, सो तन नाहिं तिहारो॥ जिया० ॥१॥
मात तात सुत भ्रात सुहृद जन, सो सब जाणो न्यारो।
मरती विरियां संग न चालै, पाप पुन्य सग सारो॥ जिया० ॥ २॥
जो चेतै सतसंगति पाई तजि मिथ्यामत खारो।
'चद किशन' बुध इम भाषत है आतम रूप निहारो॥ जिया० ॥ ३॥

आकस्मिक वियोग

बाबू जयभगवान जी एडवोकेट पानीपत, एक उच्चकोटि के तुलनात्मक अध्येता थे, सरल स्वभावी मिष्टभाषी और उदार विद्वान् थे। उनका क्षेत्र सार्वजनिक था, वे इतिहास और साहित्य के मर्मज्ञ थे। यद्यपि वकालत का कार्य करते हुए उन्हें शोध-खोज के कार्यों के लिये बहुत कम अवकाश मिलपाता था, परन्तु साहित्यके प्रति उनकी प्रबल अन्तर्भावना उन्हें बराबर प्रेरित करती रहती थी। अतएव समय निकाल कर वे अध्ययन तथा मनन करते हुए अनेक तथ्यों का उद्भावन करसके थे। उनकी शोध-खोज और तुलनात्मक साहित्यके अध्ययन की दिशा भगवान महावीर से पूर्ववर्ती थी, उनके अनेक महत्त्वपूर्ण लेख अनेकान्त में हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं। और 'वाइस आफ अहिंसा' में अंग्रेजी में वे कला और पुरातत्त्व का अन्वेषण तथा अध्ययन करते रहते थे। और जब उन्हें किसी वस्तु का कुछ संकेत मिलता था तो वे अन्य लेखकों की बातों को जानने के लिए प्रमाण ढूँढते थे और उस पर अपने अनुभव के साथ निर्णय कर स्वीकृत करते थे। वे किसी की कही हुई किसी वस्तु पर से अपना अभिमत नहीं बदलते थे; किन्तु उसका यथार्थ विश्लेषण करते हुए तथा उस पर विशेष प्रकाश डाल कर आगम, युक्ति और अनुभव के आधार पर मान्य करते थे। वेद और उपनिषदादि ग्रन्थों पर से उन्होंने भगवान ऋषभदेव की संस्कृति का अच्छा अध्ययन किया था।

वीर-सेवा-मन्दिर और परिषद् के कार्यों से तो अनुराग रखते ही थे किन्तु अनेक सामाजिक कार्यों में भी अपनी शक्ति लगाते थे। वीर-सेवा-मन्दिर के वे प्रारम्भ से ही प्रधानमंत्री रहे हैं।

देहली के नये मंदिर जी में भी आपने दशलक्षणपर्व में तत्त्वार्थसूत्र पर अच्छा प्रवचन किया था और समाज ने उनका अभिनन्दन भी किया था। उनके तुलनात्मक निष्कर्ष बड़े महत्त्व के होते थे। वे अत्यन्त उदार और भावुक हृदय थे। और दूसरे की करुण कहानी सुनकर द्रवित हो जाते थे। और उसकी यथाशक्ति सहायता भी करते थे। वे सभी का हित चाहते थे और सभी से मिलते जुलते रहते थे।

आज वे संसार में नहीं हैं। उनका भौतिक शरीर पंच भूतों में मिल गया है; परन्तु उनका यशः काय सदा विद्यमान रहेगा। वीरसेवामंदिर और दूसरी संस्थाएं जो उनकी सेवा का क्षेत्र बनी हुई थीं वे उनकी स्मृति की रेखाएं बनाये रखेंगी, उनके विचार सुधारवादी और दृढ़ थे; पर वे अपने विचारों से समाज में कभी कोई संघर्ष पैदा करना नहीं चाहते थे। वे जो कुछ भी कहते थे उसके पुष्ट पोषक प्रमाणों का संकलन और युक्तिबल रखते थे। उनके बहुत से नोट्स पड़े हुए हैं। और कई अधूरे लेख भी। उनका झुकाव दिन पर दिन अध्यात्म की ओर हो रहा था। वे मृत्यु से पहले जब दिल्ली आये थे तब वे कहते थे कि ऋषभदेव की संस्कृति अध्यात्म से ओत-प्रोत थी। भारतीय ग्रन्थों में उनकी संस्कृति के जो बीज पाये जाते हैं। उनका सम्बन्ध आदि ब्रह्मा आदिनाथ से था। क्योंकि वह संसार में सबसे पहले योगी थे।

बाबू जी के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे रोते हुए व्यक्ति को भी हंसा देते थे। उनकी भद्रता विनयशीलता को देखकर आश्चर्य होता है।

खेद है कि बाबू जयभगवान जी आज हमारे मध्य नहीं रहे। परन्तु उनके गुणों की स्मृति उनकी बार बार याद दिलाती है। हमारी हार्दिक भावना है कि बाबू जी परलोक में सुख-शान्ति का अनुभव करें। और कुटुम्बी जनों को धैर्यावलम्बन की क्षमता मिले। —अनेकान्त परिवार

वीर-सेवा-मंदिर के अध्यक्ष का संयुक्त मंत्री (बा० प्रेमचन्दजी) के नाम पत्र

आपके पत्र से बाबू जयभगवानजी के निधन का समाचार जानकर बहुत दुःख हुआ, विश्वास नहीं हो रहा है कि वे चले गये············ ।

वकील साहब जैन समाज के गौरव थे और वीर-सेवा मन्दिरके तो वे प्रारंभ से ही मंत्री रहे । साहित्यिक अनुसंधान में वे बहुत दक्ष थे । वीर सेवा मन्दिर में उनके स्थान की पूर्ति होना कठिन है । मुझे तो उनके वियोग से बहुत ही व्यथा हुई है । मेरा सदा वे बहुत आदर करते थे । उनकी आत्मीयता और स्नेह कभी भुलाये नहीं जा सकते । मैं तो उनसे निवेदन करने वाला था कि अब आप वकालत से retier होकर वीर सेवा मन्दिर में रहें और अपनी सेवा समाज को प्रदान करें । किन्तु मेरे विचार कुछ भी काम न आये । बहुत दुःख है ।

—छोटेलालजैन

डा० प्रेमसागर का अध्यक्ष के नाम पत्र

मैंने बाबू जयभगवानजी को एक बार बड़ौत और तीन बार दिल्ली में देखा था । अभी अनेकान्त के सम्बन्ध में बात चीत होनी थी, न हो सकी । दैव–दुर्विपाक से ही ऐसा हुआ ।

मैंने बाबू जयभगवान जी को एक सही इन्सान के रूप में देखा । उन्होंने जैनधर्म की अहिंसा को समझा ही नहीं अपने जीवन में उतारा भी था । वे विद्वान थे, प्रतिभाशाली थे और अत्यधिक उदार थे ।

वीर सेवा मंदिर के विकास में उनके योगदान से सभी परिचित हैं । सतत अस्वस्थ रहने के कारण अनेक कार्य ऐसे थे जिन्हें दिल होते हुए भी वे न कर सके, इस विषय में मुझ से दो बार चर्चा की । उनकी गहरी वेदना और विवशता मैं समझता था उनके आकस्मिक निधन से वीर सेवा मंदिर को जो क्षति पहुँची है, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती । सन्निकट भविष्य में पूरी हो सकेगी मैं ऐसी आशा नहीं करता । उनके स्वर्गवास से आपके एक सच्चे सहयोगी का बिछोह हुआ है । आशा है आप सन्तोष धारण करेंगे ।

मैं और मेरा परिवार उनकी आत्मा की सद्गति की कामना करते हैं ।

प्रेम सागर जैन

दि० जैन कालेज बड़ौत (मेरठ)

आकस्मिक निधन

श्री बाबू जयभगवानजी एडवोकेट पानीपत का ५ अप्रैल को आकस्मिक निधन जानकर चित्त को बड़ा आघात पहुँचा । आप उस दिन वीरसेवामन्दिर में आने वाले थे । मिलन के स्थान पर वियोग का दुःसह समाचार पाकर किसे कष्ट नहीं होता । आप एक अच्छे अनुसंधानप्रिय योग्य विद्वान थे, सुलेखक थे और साथ ही वक्ता भी थे । समाजके उत्थान—कार्यों में बराबर भाग लेते थे । वीर–सेवामन्दिर-से आप को बड़ा प्रेम था । सन् १९४२ के शुरू में मेरे अनुरोध पर आपने वकालत छोड़कर उसे अपनी सेवाएं अर्पित की थीं । दुर्भाग्य से अपनी कुछ परिस्थितियों के वश वे कुछ महीने बाद फिर से वकालत करने के लिये बाध्य हुए और अन्त को वकालत करते हुए ही उनका निधन हुआ है । सन् १९५१ में मेरे द्वारा वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट की स्थापना हो जाने पर ट्रस्ट ने उन्हें अपना उपमंत्री चुना था, बाद को वे मंत्री चुने गए और सोसाइटी की रजिस्टरी के अवसर पर सोसाइटी के भी मंत्री नियुक्त हुए और अन्त तक उसके मंत्री बने रहे । इस तरह वीर-सेवा-मन्दिर के साथ आपका बहुत वर्षों से गहरा सम्बन्ध रहा है । आपके इस वियोग से जहां वीर-सेवा-मन्दिर को भारी क्षति पहुँची है वहाँ समाज की भी काफी हानि हुई है, जिसकी सहज पूर्ति संभव नहीं । हार्दिक भावना है कि सद्गत आत्मा को परलोक में सुख शान्ति की प्राप्ति होवे और कुटुम्बीजनों को धैर्य मिले ।

—जुगलकिशोर मुख्तार

स्व० श्री जयभगवानजी जैन एडवोकेट पानीपत की अन्तिम भावना—

(जो अपने स्वर्गारोहण समय से एक दिन पूर्व ३ अप्रैल १९६४ को
उनके द्वारा रचित निम्न कविता से अभिव्यक्त होती है।)

समर्पण

—:※:—

पंच भूत भूतों, को अर्पित। वायु वायु को रज रज अर्पित॥
अग्नि अग्नि को जल जल अर्पित। भूमि खण्ड हो भूमि समर्पित॥१॥

निज जन परिजन तन पत्नी सुत। स्वार्थ बुद्धि से है मम कल्पित॥
जरा मृत्यु से ये आवरणित। जरा मृत्यु को हों ये अर्पित॥२॥

इनमें कुछ भी सार 'अह' ना। ये सब पर है पर को अर्पित॥
अहम् अस्मि मै, ब्रह्म अस्मि मै। अहम् अस्मि को होऊ अर्पित॥३॥

काम क्रोध मद लोभ अहकृति। पशु हृदयों की वृत्ति कलुषित॥
मुझे न वाञ्छित अशुचि अधम ये। हो पशुओं को ही ये अर्पित॥४॥

सुरा सुन्दरी सुरपति अर्पित। धन वैभव हो धनपति अर्पित॥
दान दक्षिणा द्विज जन अर्पित। राज साज राजन को अर्पित॥५॥

जहाँ जहां ये तृष्णा तर्पित। वहां वहां सर्वस्व समर्पित॥
शिव सुन्दर प्रिय शान्त 'अह' मै। शिव सुन्दर को हूँ मै अर्पित॥६॥

मित्र वरुण तू सविता यम तू। सब भुवनो का धाम परम तू॥
विश्व-मैत्री उत्सव उत्सुक मै। विश्व-मैत्री को हूँ मै अर्पित॥७॥

परमेष्ठी परमार्थ पुरुष तू। परम परम हो इष्ट मुझे है॥
विनति यही नैवेद्य यही है। परम परम को हूँ मै अर्पित॥८॥

प्रेषक—रूपचन्द गार्गीय जैन पानीपत

साहित्य-समीक्षा

अभिनव प्राकृत व्याकरण

लेखक:—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, आरा, प्रकाशक, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, सन् १९६३ ई०, पृ० ४३३ मूल्य १५ रु० ।

इसके पूर्व और भी अनेक प्राकृत व्याकरण बन चुके हैं । किन्तु यहां 'अभिनव' शब्द कतिपय नवीन विशेषताओं की ओर इशारा करता है । उनमें सबसे पहली विशेषता भाषा वैज्ञानिक दृष्टि का अपनायाजाना है । व्याकरण और उसके शब्दों की ऐतिहासिक व्युत्पत्ति भाषा विज्ञान है । वह व्याकरण का व्याकरण कहलाता है । डा० नेमिचन्द्र ने उसका भी अच्छा अध्ययन किया है । दूसरी विशेषता है सभी प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक विवेचन । ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने अनेक प्राकृत-व्याकरण पढ़े हैं, समझे हैं, तभी वे उनकी तुलना सफलता पूर्वक कर सके हैं । उन्होंने अपने इस अध्ययन को आसान और वैज्ञानिक शैली में अभिव्यक्त किया है । यहां उन उलझनों के दर्शन नहीं होते, जो प्रायः व्याकरण ग्रन्थों में प्राप्त होती है ।

तीसरी विशेषता है : अन्त में १६ परिशिष्टों का निबद्ध किया जाना । इनमें भाषा और विषय-क्रम से शब्द-सूचियां प्रस्तुत की गई हैं । उनके बिना ग्रन्थ व्यर्थ ही था । यह सब कुछ परिश्रम साध्य तो है ही, लेखक की मंजी हुई दृष्टि से भी अपेक्षित है । ग्रन्थ प्राचीन और नवीनके ताने-बाने से बुना गया है । इसमें ग्यारह अध्याय हैं । 'अन्तिम दो' महत्त्वपूर्ण हैं । उनमें अन्य प्राकृत भाषाओं और अपभ्रंश का व्याकरण निबद्ध है । ऐतिहासिक विवेचन उसकी अपनी विशेषता है ।

ग्रन्थ की बाह्य साज-सज्जा सन्तोषप्रद है, किन्तु शब्दानुशासन जैसी नहीं । हमें विश्वास है कि प्राकृत भाषा के जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ पठनीय होगा ।

अमर यशोविजय जी

लेखक: – रंजन परमार, प्रस्तावना—लेखक:—पं सुखलाल जी संघवी, प्रकाशक : राजविराज प्रकाशन, ३११ रविवार पेठ, पूना २, सन् १९५९ ई०, पृ० ५६, मूल्य ७५ न. पै.

श्रीमद् यशोविजय जी महाराज का जन्म गुजरात के कनोडा गांव में आज से ३५० वर्ष पूर्व हुआ था । यह स्थान आज भी महेराणा से पाटण जाने वाली रेलवे-लाइन पर स्थित, दूसरे स्टेशन धीणोज से, पश्चिम में चार मील दूर रूपेण नदी के किनारे पर बसा हुआ है । अब तो उसमें कनौडिया ब्राह्मण ही अधिक रहते हैं, किसी समय बनियां भी बड़ी संख्या में रहते थे ।

यशोविजय जी प्रारम्भ से ही प्रतिभाशाली थे । उन्होंने आठ वर्ष की उम्र में दीक्षा ले ली । पूज्य गुरु नयविजय जी के पास शिक्षा-दीक्षा हुई । उच्च अध्ययन के लिए बनारस गये । वहां से तीन वर्ष उपरान्त ही लौट कर उन्होंने आगरे में किसी जैन विद्वान के पास कर्कश तर्क ग्रन्थों का पारायण किया । गुजरात में उनका विशिष्ट सम्मान था । उन्होंने ३०० ग्रन्थों का निर्माण किया । वे एक महान् विद्वान थे ।

प्रस्तुत पुस्तक में उनके जीवन और कृतित्व का परिचय है । लेखक ने गुरुभक्ति से अनुप्राणित होकर इसका निर्माण किया है । यशोविजय जी अपने युग के अप्रतिम विद्वान थे, यह निर्विवाद है । कतिपय स्थल ऐसे रह गये हैं, जहां लेखक न स्पष्ट है, न प्रामाणिक । आगरे में किस विद्वान के पास यशोविजय जी ने तर्क ग्रन्थ पढ़े ? आज भी अविदित है । दिगम्बर मान्यताओं का खण्डन करते २ वे कड़वे क्यों हो उठे ? समझ में नहीं आया । इसी प्रकार महात्मा आनन्दघन से उनकी मुलाकात का विशद विवेचन नहीं है । यह भी समझ में नहीं आपाता कि एक ओर तो उन्होंने 'अध्यातमियां' लोगों का खण्डन किया और दूसरी ओर महात्मा आनन्दघन से प्रभावित होकर 'अष्टपदा' और 'बावीशी' का निर्माण किया, मेरी दृष्टि में उस समय आनन्दघन से बड़ा कोई 'अध्यातमियां' नहीं था । सदैव आत्मानुभूति में लीन रहने वाले उस महात्मा से यशोविजय जैसे तर्क प्रवण विद्वान का अन्तस्तल हिल उठा था ।

मैं आशा करता हूँ कि श्रीमद् यशोविजय जी पर एक महत्त्वपूर्ण शोध ग्रन्थ प्रकाशित होगा । उन पर लिखे गये अभिनन्दन ग्रन्थ से भी उत्तम और श्रेष्ठ ।

शोक सभा

वीर सेवा मन्दिर भवन २१ दरियागंज में ७।। बजे रात्रि को बाबू जयभगवान जी एडवोकेट पानीपत के आकस्मिक निधन पर शोक सभा की गई, जिसमें वीर सेवा मन्दिर की सेवाओं के साथ सामाजिक सेवाओं का उल्लेख करते हुए उनके उदार स्वभाव की महती प्रशंसा की गई। और उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की गई। सबने खड़े होकर नो बार नमस्कार मंत्र का जाप्य किया। तथा निम्न प्रस्ताव पारित हुआ।

प्रस्ताव

वीर सेवा मन्दिर के सदस्यों की यह सभा बाबू जयभगवान जी एडवोकेट पानीपत के आकस्मिक निधन पर हार्दिक शोक प्रकट करती है। जयभगवान जी वीर सेवा-मन्दिर के सन् १९४२ से अब तक प्रधान मंत्री थे। वीर सेवा मन्दिर के अनुसंधान कार्य से उनकी बहुत रुचि थी उनकी सेवाओं का क्षेत्र केवल वीर सेवा मन्दिर तक सीमित नहीं था बल्कि उन्होंने समूचे जैन समाज की लगन एवं निःस्वार्थ भाव से सेवा की थी। वे एक उच्च कोटि के विद्वान वक्ता और लेखक भी थे।

उनके निधन से वीर सेवामन्दिर की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना संभव नहीं।

प्रभु से प्रार्थना है कि उनके जीवन के आदर्श और उनकी सेवाएँ जैन समाज तथा वीर सेवामन्दिर को सदा अनुप्राणित करती रहेंगी।

यह सभा दिवंगत आत्मा को परलोक में सुख-शान्ति की हार्दिक कामना करती हुई उनके कुटुम्बी जनों के प्रति अपनी समवेदना प्रकट करती है।

प्रेमचन्द जैन
सं० मंत्री, वीर सेवा मन्दिर

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन ट्रस्ट,
श्री साहू शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवनदास जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीर प्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री कस्तूरचन्द जी आनंदीलाल, कलकत्ता
१५०) श्री कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) श्री प० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) श्री मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री प्रतापमलजी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) श्री शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१००) श्री रूपचन्द जी जैन, कलकत्ता
१००) श्री बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१०१) श्री मारवाड़ी दि० जैन समाज, व्यावर
१०१) श्री दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) श्री लाला शान्तिलाल कागजी,
दरियागंज, दिल्ली।

प्रकाशक—प्रेमचन्द, वीर सेवा मन्दिर के लिए नया हिन्दुस्तान प्रेस, दिल्ली में मुद्रित

द्वैमासिक

जून १९६४

अनेकान्त

अहिंसा और विश्व शान्तिके अग्रदूत, लोकप्रिय नेता
स्व० पं० जवाहरलाल नेहरु

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

श्रध्दाञ्जलि

बुद्धवार, दिनांक २७ मई १९६४ को, दिन के २ बज कर २० मिनट पर हृदय की धमनी फट जाने से, भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू का नई दिल्ली में स्वर्ग वास हो गया। वे केवल उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ ही नहीं, अपितु एक महामानव भी थे। कोरी राजनीति विश्व के विनाश पथ पर ले जाती है तो कोरी मानवता एक आदर्श भर है, जिसका मनुष्य जाति की जीवन समस्याओं से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। नेहरू जी के मानवीय पहलू ने समूचे विश्व को छुआ था। उनके निधन का समाचार 'करण्ट की तरह व्याप्त हो गया। और कोई देश ऐसा नहीं जो शोक-सन्तप्त न बना हो उनके दिवंगत होने से भारत के ही नहीं संसार के दिल को एक धक्का लगा है, जिसके सम्भलने में समय लगेगा। विश्व को ऐसा शक्ति-पुत्र शताब्दियों में उपलब्ध हुआ था, और अब शायद फिर शताब्दियां ही लगेगीं।

उनकी शव यात्रा में २० लाख मनुष्य शामिल हुए। राजपथ पर जन समुद्र हिलोरे ले उठा। अपने प्यारे नेता को भरे दिल और गीली आंखों से अन्तिम विदा देने वे आये थे। उनके हृदय वेदना संकुल थे किन्तु उन्होंने अडिग धैर्य और मजबूत कदमों से विदा दी। ऐसा प्रतीत होता था जैसे जवाहरलाल की प्रेरणा प्रसूत मूर्ति अब भी सहस्र वर्षो की दासता से दुर्बल भारतीयों को अदम्य प्रेरणा दे रही हो और इसी कारण उनके कांपते दिलों ने भी जिस दृढता का परिचय दिया वह सर्वत्र प्रशंसनीय है। एक विदेशी का यह कथन कि नेहरू ने एक मजबूत भारत छोड़ा है, मेरे कथन का यह साक्षी है।

नेहरू जी अहिंसा और शान्ति के प्रतीक ही थे। उनके प्रयत्नों से ही यह संसार तीसरे युद्ध से बच सका, इसे सभी देश और उनके कूटनीतिज्ञ स्वीकार करते हैं। उन्होंने एटमबम्ब परीक्षण और शस्त्रास्त्रों की होड़ को नितान्त त्यागने का आग्रह किया तो बड़े देशों की जनता ने प्रसन्नता पूर्वक स्वागत किया। अमेरिका और रूस का भयंकर शीत युद्ध अल्पादपिअल्प हो सका इस पृष्ठभूमि में भी नेहरू जी विद्यमान थे। आज प्रेजीडेण्ट जोन्सन और ख्रुश्चेव दोनों ही शान्ति प्रयत्नों का स्मरण करते हैं। उनके न रहने से एक ओर राजनीति का विशाल स्तम्भ टूट गया तो दूसरी ओर जन जन का हृदय भवन सूना हो गया। जब प्रेमी ही न रहा तो प्रिय के दिल को कहां सहलन प्राप्त हो। विश्व ने एक बारगी जिस वैधव्य का अनुभव किया है, वह झूठा नहीं है। विभिन्न प्रवृत्तियों, रंग-रूप और धर्मो के राष्ट्रों का प्रेम एक नेहरू में समाहित हो सका, यह भारत के लिए गौरव का विषय है। उनमें वह समन्वयात्मक तत्त्व था, जिसकी आधार शिला पर अनेकान्त का चिन्तन चला था और अद्वैत की तह में भी जो सदैव विद्यमान रहता आया है। ऐसे महामानव के चरणों में 'अनेकान्त'-परिवार के सदस्य अपनी भाव भीनी श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं। वह सही तभी होगी जब उनके बनाये पथ पर हमारे कदम अन्तिम सांस तक चलते रहेंगे।

—अनेकान्त परिवार

ओम अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष १७ किरण, २ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१, दरियागंज, देहली-६. वीर निर्वाण स० २४९०, वि० सं० २०२१ | जून सन् १९६४

जिनवर स्तवनम्

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सहलीहूआइं मज्झ णयणाइं ।
चित्तं गत्तं च लहुं अमिएण व सिंचियं जायं ।।
दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिट्ठिहरासेसमोहतिमिरेण ।
तह णट्ठं जह दिट्ठं जहट्ठियं तं मए तच्चं ।।
दिट्ठे तुमम्मि जिणवर परमाणंदेण पूरियं हियं ।
मज्झ तहा जह मण्णे मोक्खं पिव पत्तमप्पाणं ।।

—श्री पद्मनंद्याचार्य

अर्थ :—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर मेरे नेत्र सफल हो गए तथा मन और शरीर शीघ्र ही अमृत से सींचे गए के समान शान्त हो गये हैं ।।१।। हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर दर्शन में बाधा पहुंचाने वाला समस्त मोह (दर्शन मोह) रूप अन्धकार इस प्रकार नष्ट हो गया कि जिससे मैंने यथावस्थित तत्त्व को देख लिया है—सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लिया है ।।२।। हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर मेरा अन्तः करण ऐसे उत्कृष्ट आनन्द से परिपूर्ण हो गया है कि जिससे मैं अपने को मूक्ति को प्राप्त हुआ ही समझता हूं ।।३।।

पं० जवाहरलाल नेहरू क्या थे ?

Gandhi ji : "He is as pure as crystal; he is truthful beyond suspicion. He is knight sans peur, Sans reproche. The nation is safe in his hands."

गांधी जी : वह एक शुद्ध दर्पण की भांति पवित्र हैं। उनकी सत्यनिष्ठा सन्देह से परे हैं, वे निर्भीक हैं और उन का प्रत्येक कार्य गौरवपूर्ण होता है। देश उनके हाथों में सुरक्षित है।

Dr. Rajendra Prasad : "Here is a man the like of whom treads this Earth but rarely and only in a crisis. He has been born and has lived in a critical period in Indian history and has played his part nobly and well"

डा० राजेन्द्रप्रसाद : यहां एक ऐसा व्यक्ति है, जिस-जैसा, इस पृथ्वी पर कभी-कभी ही विकट विपत्ति के समय में चलता हुआ देखा जाता है। वे भारतीय इतिहास के समस्यात्मक युग में उत्पन्न हुए और जीवित रहे तथा उन्होंने अपना भाग शानदार और उत्तम ढंग से पूरा किया।

Dr. S. Radha Krishnan : "He has sought to bridge chasms that separate races, nations and systems That is why his name has such a great international appeal and become a legend in his own lifetime."

डा० एस. राधाकृष्णन : उन्होंने उस खाई को पाटने का सदैव प्रयत्न किया, जो एक जाति, देश और रिवाज को भागों में बांट कर पृथक-पृथक कर देती है। यह ही कारण है कि समूचे विश्व में उनका नाम है और जो उनके जीवन काल में ही एक परम्परागत कहानी की भांति प्रसिद्ध हो गया है।

C. Rajagopalachari : There is no greater religious person in India than Mr. Nehru, only he does not express his religious sentiments."

सी. राजगोपालाचारी : भारतवर्ष में नेहरू जी से बड़ा कोई धार्मिक व्यक्ति नहीं है, केवल इतना है कि वे अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों को प्रकट नहीं करते।

Lal Bahadur Shastri : He has functioned so remarkably and in so many fields and capacities that his position today is unique not only in his own country but in the whole world"

लाल बहादुर शास्त्री : नेहरू जी ने अनेक क्षेत्रों और विविध रूपों में इस उत्तम ढंग से कार्य सम्पन्न किया है कि इस समय उनका स्थान केवल अपने देश में ही नहीं, अपितु समूचे विश्व में सर्वोत्तम है।

Lord Bertrand Russel : "Nehru is known to stand for sanity and peace in this critical moment of human history. Perhaps it will be he who will lead us out of the dark night of fear into a happier day."

लार्ड बर्टरण्ड रसेल : मानवीय इतिहास के इन समस्यात्मक क्षणों में नेहरू जी पवित्रता और शान्ति के प्रतीक माने जाते हैं। शायद यह वे ही होंगे जो हम सब को भय की तमसाच्छन्न रात्रि से प्रसन्नता रूपी दिन के प्रकाश की ओर ले जायगें।

Lord Atlee : 'Nehru today is the doyen of the Prime Ministers of the free world. As leader of a great nation what he says and does is of supreme importance to others. It seems to me that Nehru is a synthesis of the ideas of the East and the West."

लार्ड एटली : आज नेहरू जी स्वतन्त्र विश्व के प्रधान-मन्त्रियों में सब से बड़े हैं एक महान देश के नेता होने के कारण वे जो कुछ कहते और करते हैं, उसकी दूसरों के लिए महत्ता होती है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वे पूर्व और पश्चिम के समन्वयात्मक बिन्दु हैं।

युग पुरुष की भाग्यशालिता

(काका साहब कालेलकर)

सबों के मुह से एक ही बात निकल सकती है कि श्री जवाहरलाल जी के साथ एक युग का अन्त होता है। सब यह भी कहते है कि जवाहरलाल जी ने शुरु से आज तक जो नीति दृढता से चलायी, वही भारत के लिये हितकर है। क्योंकि वह नीति भारत के समूचे इतिहास से फलित हुई है वह नीति भारत की संस्कृति के अनुसार ही है। और सबसे बड़ी बात तो जवाहरलाल जी की नीति हम लोगों के स्वभाव के साथ पूरा-पूरा मेल खाती है।

जब जवाहरलाल जी की नीति इस तरह हितकर और स्थिर है, और वही आगे चलानी है, तो उनके साथ किस चीज का अन्त होकर नये युग का प्रारंभ हो रहा है।

एक बात स्पष्ट है। गांधी जी के दिनों में हालांकि वे हमेशा सब साथियों की राय लेते थे, और सब को संभाल कर वे ही अपना काम चलाते थे, तब भी उनके सब साथी गांधी जी की राय समझकर अपना मन अक्सर उसी के अनुकूल बना देते थे। जवाहरलाल जी का मानस ही हर राष्ट्र का मानस होने के कारण उन्हीं की बात सब को मान्य रहती थी। चन्द बाते बिलकुल नई हों, राष्ट्र को पसंद न हों, तो भी जवाहरलाल जी की ओर से उनकी सूचना आई है, इसीलिये लोग मान जाते थे इस विश्वास से कि उसी में राष्ट्र का हित है।

एक के पीछे एक ओर से दो महापुरुषों का नेतृत्व राष्ट्र को मिला। यह भारत का परम सौभाग्य है। अब जब तक ऐसा ही कोटिका राष्ट्र पुरुष समूचे देश की बाग-डोर अपने हाथ में न ले। तब तक सबको मिलकर सोचना होगा और कसरत राय से बातें तय करनी होंगी। अब किसी एक का नहीं चलेगा। सबका मिलकर चलेगा।

समूचे राष्ट्र की तैयारी के लिये यही साधना अब अच्छी है। इसलिये सब कहते हैं कि एक युग पूरा हुआ।

मैं मानता हूँ कि भारत में जो क्रांति शुरु हुई है, और जो अपने ढंग की है। अब जोरों से चलेगी। उसे संभाल संभालकर आने देने के दिन अब नहीं रहे. क्रान्ति की पूर्ण तय्यारी का काम गांधी जी ने किया। आर्थिक और युगानुकुल नया मोड देने का काम जवाहरलाल जी ने किया। दोनों ने एक तरह से क्रान्ति की रफ्तार बढाई। दूसरी ओर से राष्ट्र का मानस उस रफ्तार को सहन कर सके इसलिये उसे कुछ रोका भी। अब परिस्थिति परिपक्व हुई है। क्रान्ति की रफ्तार में अपना निजी वेग आ गया है। अब राष्ट्र के अधिकारियों का समुदाय उसे रोकने की कोशिश करेगा तो भी उसका चलेगा नहीं। बाहर की दुनियाँ कोशिश करेगी कि भारत की नीति विशिष्ट गुट के लिये अनुकूल हो। उन ग्रहों का प्रभाव हम पर हुए बिना रहेगा नहीं, लेकिन भारत का और दुनिया का भला इसी में है कि सबका प्रभाव मंजूर करते हुए, व्यक्ति किसी एक तत्व के चंगुल में फंस न जाय।

श्री जवाहरलाल जी ने गाँधी जी से शान्ति, विश्वमैत्री और अलिप्तता की दीक्षा ली थी। थोड़े ही दिनों में उन्होंने वह अपनी ही बना ली। और दुनिया की राजनैतिक परिस्थिति से वाकिफ़ होने के कारण उन्होंने वह नीति दुनिया के संदर्भ के लिये अनुकूल बनाई।

बड़े-बड़े राष्ट्रीय महत्व के उद्योग भारत में शुरु किये बिना भारत का आर्थिक सामर्थ्य बढ़ेगा नहीं। दुनिया के साथ चलने के लिये जो आधुनिकता जरूरी है, वह भारत में आयेगी ही। यह देखकर गांधी जी के जीते जी उन्होंने वह नयी नीति चलायी। उसमें उनकी हिम्मत और उनका स्वतंत्र-दर्शन प्रगट हुआ। गांधी जी ने भी देख लिया कि देशको उसी रास्ते जाना है। इसलिये अपना आग्रह छोड़कर जवाहरलाल जी को उन्हीं की पसंद की हुई दिशा में राष्ट्र को ले जाते उन्होंने रोका नहीं, अपने आशीर्वाद ही दिये।

गांधी जी की रचनात्मक नीति को और सर्वोदयी अर्थ नीति को व्यापक बनाने का काम श्री विनोबाभावे ने चलाया। और शुरु में भूदान, ग्रामदान और शान्तिसेना के कार्यक्रम बढ़ा के नई जान डालने का मौलिक-प्रयत्न भी उन्होंने

चलाया है। इन दो गांधी भक्तों ने एक दूसरे का विरोध कहीं भी नहीं किया, तनिक भी होने नहीं दिया। इससे गांधी जी की उदार शिक्षा का माहात्म्य सिद्ध होता है। तर्क दृष्टि से परस्पर विरोध दीख पड़ने वाली नीतियाँ समन्वय वृत्ति से परस्पर पोषक हो सकती हैं, यह बात राष्ट्र और दुनिया देख सके हैं। आगे जाकर इन दो नीतियों में समझौता हो सकेगा। और राष्ट्र के लिये एक सार्वभौम नीति फलित होगी।

दूसरे विचारों में भी काफी तथ्य हो सकता है और उस रास्ते जाते भी देश का थोड़ा बहुत हित ही हो सकता है। ऐसा समझने की उदारता और नम्रता ही आस्तिकता का एक स्वरूप है। यही समन्वय युग अब अपना काम करेगा।

जवाहरलाल जी की तुनुक मिजाजी सब जानते थे। वह क्षण जीवी होती है, यह भी सब जानते थे। और इसीलिये थोड़ा समय उसका बुरा लगा तो भी सब साथी भूल जाते थे। काफी आग्रह करने के बाद अपनी बात छोड़ देना और राष्ट्र को स्वतंत्र विचार करने का मौका देना, यह था जवाहरलाल जी की नीति का एक विशेष रूप। ऐसी नीति वे ही चला सकते हैं, जिनका व्यक्तित्व विशाल है। और जिनका अपने देश पर पूरा पूरा विश्वास है।

जवाहरलाल जी के मन में किसी के प्रति द्वेषभाव भी घर नहीं कर सकता था। यह भी उनकी एक विशेषता थी। महानता का यह भी एक विरला लक्षण है। और जवाहरलाल जी परमभाग्यशाली तो थे ही। मोतीलाल जी जैसे पिता का पुत्र होना, गांधी जी जैसे महात्मा के विश्वास का पात्र बनना और चालीस करोड़ जनता की भक्ति का भाजन बनना मामूली भाग्य नहीं है। अशोक, अकबर और औरंगजेब और लार्ड कर्जन, ये सब भव्यभाग के अधिकारी माने जाते हैं। जवाहरलाल जी का अधिकार और प्रभाव इन लोगों से कम नहीं था, और सारे विश्व के साथ साधे हुए संपर्क की दृष्टि ने तो जवाहरलाल जी का स्थान इनसे कुछ अधिक ऊँचा ही हो गया था। एशिया और अफ्रिका के उदीयमान राष्ट्रों का वे प्रेरणा स्थान बने थे। यूरोप अमरीका के वैभव सम्पन्न देशों के कर्णधारों को जवाहरलाल जी की सलाह की कदर करनी पड़ती थी। पक्षपात रहित विश्व हित की, उनकी कामना, युद्ध टालकर शान्ति की स्थापना करने का उनका आग्रह, छोटे बड़े सब व्यक्ति और राष्ट्रों का स्वातंत्र्य भी रक्षा करने का उनका निश्चय और विश्व मांगल्य के सर्वोच्च आदर्श पर भी उनकी निष्ठा यह सब कुछ भारतीय संस्कृति के जैसा ही भव्य था।

लोग कहते हैं कि जवाहरलाल जी को मनुष्य की परख कम थी। लोगों पर विश्वास रखने में धोखा खा सकते थे। यह बात सही हो तो भी क्या मनुष्य अपने इर्द गिर्द जैसी दुनिया हो, उसी से काम ले सकता है। विश्व में काम करने वाली सर्वशक्तियों का अगर सच्चा परिचय है और अपने पर पूरा पूरा विश्वास है। तो जैसे भी मनुष्य मिले उनसे काम लेने की हिम्मत भाग्यशाली मनुष्यों में आ जाती है। सफलता और विफलता दोनों को मंजूर रख के उनमें से अपना रास्ता निकालने की तैयारी जिनकी है, उन्हीं के लिये यह दुनिया है।

आखिरकार व्यक्ति का पुरुषार्थ और परिस्थिति का जोर इन दोनों के बीच कभी संघर्ष और कभी सहयोग चलता रहता है। यही तो विश्व का नाटक है। ऐसे नाटक में महान् कार्य करके दिखाना और एक महान् संस्कृति समृद्ध राष्ट्र को उन्नति के रास्ते ले जाना यही तो भाग्यशाली व्यक्ति के पुरुषार्थ का लक्षण है।

सचमुच जवाहरलाल जी ने अपने जमाने पर अपने व्यक्तित्व की मुहर लगायी। और इतिहास विधाता की सोची हुए क्रान्ति का रास्ता खुला कर दिया। महात्मा जी ने सत्य और अहिंसा मूलक जो जीवन साधना राष्ट्रीय पैमाने पर शुरु की, उस साधना का व्यापक स्वरूप जवाहरलाल जी ने विश्व के सामने खड़ा किया और एक नास्तिक दुनिया को आस्तिकता की झांकी करवाई। इसी कारण राष्ट्र पुरुष जवाहरलाल जी काफी हद तक विश्व पुरुष हो सके।

जो देता है वही पाता है

(श्री आचार्य तुलसी गणी)

जो देता है वही पाता है। जो देना नहीं जानता वह पा भी नहीं सकता। जो देने को अवसर की तुला पर तोलकर देता है वह व्यवसायी भले ही हो सकता है व्यापक नहीं बन सकता। जवाहरलाल जी व्यापक इसीलिए बने कि उन्होंने मुक्त हृदय से अपनत्व को बांटा और यही कारण था कि उन्होंने इतना पाया जिसकी कल्पना भी बड़ी अगोचर लगती है।

धार्मिक जीवन

उनके बारे में प्रायः कहा जाता है कि वे धार्मिक व्यक्ति नहीं थे, पर उनसे कई बार मिलने के बाद ऐसा लगा कि स्थिति ऐसी नहीं है। यह सच है कि उन्हें क्रिया-कांड पर ज्यादा विश्वास नहीं था। और यह संभव भी नहीं था। राष्ट्र के जिस सर्वोच्च स्थान पर थे वहां से किसी धर्म विशेष की ध्वनि आए यह जनतन्त्र के लिए बड़ी कठिन बात होती है। और सच तो यह है कि धर्म का क्रिया-कांडों से उतना सम्बन्ध ही नहीं जितना कि जीवन की पवित्रता से है।

धर्म-निरपेक्ष

उनके धर्म-निरपेक्ष राज्य (Secular State) को भी ठीक तरह से नहीं समझा गया। उसका धर्महीन राज्य कहकर मजाक उड़ाया गया। पर वास्तव में उसका यह अर्थ ही नहीं। धर्म निरपेक्ष का अर्थ है—किसी धर्म विशेष का नहीं। इसीलिए वह सब धर्मों का हो जाता है। अणुव्रत आन्दोलन के प्रति उनका झुकाव इसीलिए था कि यह सर्व धर्म समन्वय या दूसरे शब्दों में धर्म निरपेक्षता को मानकर चलता है।

चरित्र के समर्थक

देश में चरित्र को वे बड़ा ऊंचा स्थान देते थे। अणुव्रत-आन्दोलन का भी यही लक्ष्य था। इसीलिए उन्होंने कहा था—'हमें अपने देश का मकान बनाना है। उसकी बुनियाद गहरी होनी चाहिए। रेत की होगी तो ज्यों ही रेत ढह जाएगी, मकान भी ढह जाएगा। गहरी बुनियाद चरित्र की होती है। देश में जो काम हमें करने हैं वे बहुत लम्बे चौड़े हैं। इन सबकी बुनियाद चरित्र है। इसे लेकर बहुत अच्छा काम अणुव्रत-आन्दोलन में हो रहा है। मैं मानता हूं—इस काम की जितनी तरक्की हो उतना ही अच्छा है। इसलिए मैं अणुव्रत-आन्दोलन की पूरी तरक्की चाहता हूं।'

वे एक अत्यन्त विनम्र व्यक्ति थे। इसीलिए प्रत्येक के विचारों का सम्मान करते थे। प्रथम बार जब उनसे मिलना हुआ तो एक कमरे में हमारे बैठने की व्यवस्था की गई थी। पर अपनी आचार परम्परा के कारण हम उसमें नहीं बैठ सकते थे। मैंने उनसे कहा—हम तो बाहर बैठेंगे। उन्होंने बिना किसी ननुनच के स्वयं अपने हाथ में एक गद्दी ली और बाहर बरामदे में आ गए, बरामदे में एक स्थान पर जहां वे बैठने को हुए वहां कुछ चीटियां थीं। मैंने कहा—"हम थोड़े हटकर बैठेंगे तो अच्छा रहेगा। तत्क्षण वे दूसरे स्थान पर चले आए। फिर हमारी लगभग घंटे भर तक बातचीत हुई। उन्होंने बड़े ध्यान से हमारी बातों को सुना। उसके बाद यों कई बार अपने कार्यक्रमों में आए। शिष्य संतो से भी मिले। शुरू से लेकर आखिर तक उन्होंने अणुव्रत-आन्दोलन को काफी महत्त्व दिया।

इस बार जब कि वे अस्वस्थ थे तो मैंने तकलीफ देना अच्छा नहीं समझा, तो मैं उनके निवास स्थान पर गया, इस अवस्था में भी उन्होंने लगभग ४५ मिनट तक बड़े ध्यान से मेरी बात सुनी। मैंने उन्हें काफी स्पष्टता से देश की परिस्थितियों से परिचित कराया। कुछ बातें उनके मानस के प्रतिकूल भी, पर उन्होंने बड़े धैर्यपूर्वक उन्हें सुना। जब मैंने उन्हें उनके भावी उत्तराधिकारी की बात कही तो उन्होंने कहा—"मैं सोचता तो हूं, पर इसमें कठिनाइयां बहुत हैं?" मैंने कहा—"अब जो कठिनाइयां है, उन्हें तो आप सुलझा भी देंगे, पर आगे वे भारी पड़ जाएंगी।" इसी सिलसिले में उन्होंने कहा था कि मैं श्री लालबहादुर शास्त्री को उप-प्रधान बनाना चाहता हूं। कांग्रेस संगठन ने भी उनकी इच्छा को बड़े सुन्दर और जनतान्त्रिक ढंग से पूरा कर दिया है। जो काम वे स्वयं करने में कठिनाई अनुभव करते थे उसे कांग्रेस ने कर दिखाया। पर अभी तो कांग्रेस को उनके बहुत सारे अधूरे कामों को करना है। इसके लिए उन्हें हर बड़े से बड़े त्याग के लिए तैयार रहना होगा और इस बात को ध्यान में रखना होगा कि जो देता है वही पाता है।

दिल्ली पट्ट के मूलसंघी भट्टारकों का समय क्रम

(डा० ज्योति प्रसाद जैन एम० ए० एल एल० बी०, पी० एच० डी०, लखनऊ)

मूलसंघान्तर्गत नन्दिसंघ-सरस्वतीगच्छ-बलात्कारगण-कुन्द कुन्दान्वय की उत्तर भारतीय शाखा के दिल्ली पट्ट की स्थापना का श्रेय भट्टारक प्रभाचन्द्र को है। इस परम्परा की पट्टावली के यह ८४ वें गुरु थे। इनके उपरान्त क्रमशः पद्मनन्दि, शुभचन्द्र एवं जिनचन्द्र इस पट्ट पर बैठे। प्रभाचन्द्र के समय तक उत्तर भारत में इस संघ का एक ही अखंड पट्ट था। सर्व प्रथम उनके समय से ही शाखा पट्ट स्थापित होने प्रारम्भ हुए, किन्तु उनके पट्टधर पद्मनन्दि के पट्टकाल के अन्त तक जो भी शाखापट्ट बने, वे प्रधान या केन्द्रीय पट्ट के ही अधीन रहे। पद्मनन्दि के उपरान्त सागवाड़ा, सूरत, ईडर मालवा आदि के जो कई शाखापट्ट स्थापित हुए वे केन्द्रीय पट्ट से प्रायः स्वतन्त्र हो चले। पद्मनन्दि के प्रपट्टधर जिनचन्द्र के उपरान्त तो स्वयं दिल्ली पट्ट भी चित्तौड़ एवं नागौर नामके दो शाखा पट्टों में विभक्त होकर दिल्ली से स्थानांतरित हो गया—दिल्ली में संभवतया एक छोटा सा उपपट्ट कुछ काल तक बना रहा।

इस मूलसंघ की जितनी भी पट्टावलियां एवं गुर्वावलियां उपलब्ध हैं वे सब अनेकों शाखापट्टों में से ही किसी न किसी पट्टपरंपरा की हैं और अधिकांशतः १६ वीं से १९ वीं शताब्दी ईस्वी के बीच निर्मित हुई हैं। अतएव उनमें प्राप्त उक्त शाखा पट्टों के पट्टक्रम, गुरुनाम आदि तथा जहाँ कहीं पट्टकाल भी सूचित करदिये गये हैं वे भी प्रायः विश्वसनीय प्रतीत होते हैं। किन्तु जितना जितना पीछे की ओर चलते हैं वे सन्दिग्ध होते जाते हैं।

मूल पट्टावली के अनुसार[1] भद्रबाहु द्वि० से लेकर अभयकीर्ति पर्यन्त ७७ गुरुओं का काल १२६४ वर्ष है जिसके अनुसार औसत पट्टकाल लगभग १३ वर्ष आता है इन गुरुओं में से अधिकांश की ऐतिहासिकता, पूर्वापर एवं समयादि के सम्बंध में पट्टावलियों को छोड़कर प्रायः कोई अन्य आधार नहीं है। किन्तु ७८ वें गुरु—अजमेर पट्ट स्थापक वसन्तकीर्ति से लेकर ८७ वें गुरु जिनचन्द्र पर्यन्त उत्तरोत्तर ऐसे ऐतिहासिक निर्देश तथा साहित्यिक एवं शिला लेखीय प्रमाण अधिकाधिक प्राप्त होने लगते हैं जिनके आधार पर उक्त गुरुओं के पट्टावली प्रतिपादित समयादिक की जाँच की जा सकती है।

पट्टावली में अभयकीर्ति से जिनचन्द्र पर्यन्त प्रत्येक भट्टारक का पट्टारोहण वर्ष विक्रम संवत् में निम्नोक्त दिया गया है:—

अभयकीर्ति —१२६४
वसन्तकीर्ति —१२६४
प्रख्यातकीर्ति —१२६६
विशालकीर्ति[2]—
शुभकीर्ति —१२६८
धर्मचन्द्र —१२७१
रत्नकीर्ति —१२९६
प्रभाचन्द्र —१३१०
पद्मनन्दि —१३८५
शुभचन्द्र —१४५०
जिनचन्द्र—१५०७ इनका पूर्ण पट्टकाल १५०७ से १५७१ तक।

यह आश्चर्य की बात है कि इनमें से प्रथम पांच भट्टारक केवल छः वर्ष में ही समाप्त हो जाते हैं जबकि उनसे आगे के छः भट्टारकों का काल पूरे ३०० वर्ष है। ऐसा होना नितान्त असंभव तो नहीं है, तथापि ये तिथियां कुछ सन्दिग्ध प्रतीत होती हैं। इन गुरुओं का समय निर्णय उत्तरभारत के मध्यकालीन इतिहास के लिये परमावश्यक है। अतएव इनमें से प्रत्येक के समय को उनके स्वयं के सम्बन्ध में उपलब्ध साहित्यिक एवं शिलालेखीय निर्देशों एवं ऐतिहासिक अनुश्रुतियों आदि के संदर्भ में जांच करके निर्णीत करना उचित होगा और इसके लिये यह सुविधाजनक होगा कि अन्तिम गुरु, जिनचन्द्र, से प्रारंभ करके पीछे की ओर चला जाय।

भट्टारक जिनचन्द्र अपने समय के ही नहीं वरन् सम्पूर्ण इतिहास काल के संभवतया सबसे बड़े जिनबिंब

१. देखिये जैनसिद्धान्त भास्कर, भा० १, कि० ४ पृ० ७१-७४-७८-८०

२. इनका नाम उपरोक्त पट्टावली में नहीं है किंतु इस संघ की प्रायः अन्य सब पट्टावलियों में पाया जाता है। देखिए वही, पृ० ८१ ८४

प्रतिष्ठाकार हैं। जितनी बिंबप्रतिष्ठाएँ और किसी किसी प्रतिष्ठा में जितनी अनगिनत जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा इन के द्वारा सम्पन्न हुई उतनी शायद इनके पहिले या पीछे अन्य किसी एक प्रतिष्ठाचार्य द्वारा नहीं हुई। पट्टावली में उनका स्मरण 'तर्क-व्याकरणादि-ग्रन्थ-कुशलों' 'चारित्र चूडामणि', 'मार्गप्रभावक' आदि विशेषणों के साथ किया गया है। इससे विदित होता है कि यह श्रेष्ठ विद्वान एवं चारित्रवान सन्त थे, इनके द्वारा की गई महती मार्गप्रभावना तो इसी तथ्य से प्रमाणित है कि इनके द्वारा प्रतिष्ठित जैन प्रतिमाएँ सम्पूर्ण उत्तरभारत के प्रायः प्रत्येक जैन मन्दिर में आज भी विद्यमान है। अनेक मुनि, ब्रह्मचारी एवं गृहस्थ विद्वान इनके शिष्य थे। बीकानेर प्रदेश में वि०सं० १५०२ में प्रतिष्ठित एक तीर्थंकर प्रतिमा पर प्रतिष्ठाता के रूप में जिन भ० जिनचन्द्र का नाम अंकित है[3] वह यही प्रतीत होते हैं, और इसी वर्ष प्रतिष्ठित एक धातुमयी पार्श्वप्रतिमा भी जो मैनपुरी (उत्तरप्रदेश) में विद्यमान है[4] इन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठित हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार भ. जिनचन्द्र की सर्व प्रथम ज्ञात तिथि वि. सं०१५०२ है। वि. सं० १५०५ में इनकी आम्नाय के पं० देवपाल खंडेलवाल ने अजितनाथ चारित्र (अपभ्रंश) की प्रति लिखाई थी[5]। सं० १५०६, १५१५, १५२०, १५२५ और १५२८ की इनके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक धातु प्रतिमाएँ यन्त्र आदि मैनपुरी एटा आदि के मन्दिरों में प्राप्त हैं[6], तथा सं० १५०६, १५१०,१५३१,१५४०,१५४८और १५४६ की अनेक मूर्तियाँ बीकानेर प्रदेश मे प्राप्त हुई हैं[7]। सं० १५१० में तोमर नरेश डूंगरसिंह के राज्य के अन्तर्गत टोंकनगर में भ० जिनचन्द्र ने अनेक जिनप्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की थीं[8]।

३. बीकानेर जैन लेख संग्रह (सं. अगरचन्द नाहटा), नं० ८५८

४. कामताप्रसाद-जैन प्रतिमा लेख संग्रह

५. जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० २२, कि० २, पृ० ७

६. कामता प्रसाद-वही

७. देखिए बीकानेर जैन लेख संग्रह

८. जैन शिला लेख संग्रह, भा०३, नं०६३६-इन लेखों में राजा का नाम लूङ्करदेव पढ़ा या लिखा गया है जिसके कारण इस संग्रह के विद्वान संपादक इस नरेश को चीन्ह नहीं सके।

वि० सं० १५४८ में मुड़ासा नगर में राजा शिवसिंह के शासनकाल में इन भ० जिनचन्द्र ने शाहजीवराज पापड़ीवाल के लिए एक अभूतपूर्व बिंब प्रतिष्ठा की थी। उसके एक वर्ष पूर्व (सं०१५४७ में) तथा एक वर्ष पश्चात् (सं० १५४६ में) भी संभवतया उसी नगर उसी श्रावक श्रेष्ठ के इन्होंने दो अन्य प्रतिष्ठायें की थीं उत्तरभारत के कोने कोने में प्राप्त इनके द्वारा प्रतिष्ठित अनगिनत पाषाण प्रतिमाओं पर अधिकतर सं०१५४८ या फिर १५४७ अथवा १५४६ के वर्ष ही बहुधा अंकित पाये जाते हैं। अमरावती नगर में विद्यमान कई प्रतिमाओं पर प्रतिष्ठाचार्य के रूप में जिनचन्द्र का नाम तथा तत्कालीन शासक के रूप में शिव सिंह (स्योसिंह, सवसिंह) का नाम प्राप्त होते हैं, किंतु उन पर अंकित प्रतिष्ठा वर्ष ११६३ है तथा कुछ पर ११८३ है[9] ऐसा लगता है कि ये वर्ष गुप्त (अथवा वल्लभी) संवत के हैं जिसके अनुसार ये प्रतिष्ठाएँ वि० सं० १५४० और १५७० में हुई होनी चाहिए। अब यदि किसी भूल से इन संख्याओं में ११६३ और ११८३ नहीं हो गया है तो इन भ० जिनचन्द्र की अन्तिम ज्ञात तिथि वि. सं० १५७०प्राप्त होती है। प्रतिमा लेखों के अतिरिक्त, वि०सं० १५१२ की श्रीपालचरित्र की लिपि प्रशस्ति में, १५१६ की अपने विद्वान शिष्य पं. मेधावी की ग्रन्थ प्रशस्ति में तथा सं० १५१८ एवं १५४५ की दो अन्य ग्रन्थ प्रशस्तियों में भी इनके समकालीन उल्लेख पाये जाते हैं। इनके जीवन काल में इनके अनेक मुनि शिष्यों, प्रशिष्यों ने भी जो प्रतिष्ठाएँ कराई उनके मूर्तिलेखों में भी इनका अपना नाम प्राप्त होता है। सं० १५७५ से आगे जितनी प्रशस्तियाँ, लेखादि मिलते हैं उनमें जिनचन्द्र का उल्लेख पूर्व पुरुष के रूप में ही हुआ है-उनसे उनके समय में इनकी विद्यमानता सूचित नहीं होती। इनके एक शिष्य-नागौर पट्ट के प्रथम भट्टारक, रत्नकीर्ति, का पट्टकाल सं० १५८१-१५८६ है, किन्तु इनके प्रधान शिष्य एवं पट्टधर, अभिनव प्रभाचन्द्र (जो कि चित्तौड़-अजमेर पट्ट के प्रथम भट्टारक थे) का पट्टकाल वि० सं० १५७१-१५८१ है। संभव है कि रत्न कीर्ति ने अपने ज्येष्ठ गुरुभाई प्रभाचन्द्र के अवसान के बाद ही अपने (नागौर) पट्ट का स्वतन्त्र स्थापित किया हो।

९. जैन सिद्धान्त भास्कर, भा. २१, कि. २ पृ.४७-५५

इस प्रकार उपरोक्त शिलालेखीय, साहित्यिक एवं अनुश्रुत सभी आधारों से दिल्लीपट्टाधीश भ० जिनचन्द्र की अन्तिम तिथि वि. सं. १५७०-७१ ही निर्णीत होती है, किन्तु जबकि पट्टावली के अनुसार उनका पट्टारोहण वि सं १५०७ में हुआ, अन्य आधारों से मुनिरूप में उनका अस्तित्व वि. सं. १५०२ से पाया जाता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उनका मुनिजीवन वि. सं. १५०१-१५७१, लगभग ७० वर्ष रहा और पट्टकाल संभवतया वि. सं. १५०७-१५७१ (सन् १४५०-१५१४ ई०) लगभग ६४ वर्ष का था।

उनके गुरु एवं पूर्व पट्टधर भ० शुभचन्द्र के अपने समकालीन उल्लेख अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। वि० सं० १४६४ में काष्ठासंघ माथुर गच्छ के मुनि देवकीर्ति ने राव अमराजी के लिये, संभवतया आगरा प्रदेश में, धातुमयी अर्हत् प्रतिमा की प्रतिष्ठा जिन मूलसंघी भ० शुभचन्द्र के उपदेश से की थी१० वह यही शुभचन्द्र प्रतीत होते है। सं० १४६२ में बीकानेर राज्य के मूडली ग्राम निवासी हूमड़ श्रावकों के लिये अपने द्वारा प्रतिष्ठित पार्श्वनाथ प्रतिमा पर अंकित लेख में भ० सकलकीर्ति ने अपना परिचय—'मूलसंघ-सरस्वती गच्छ-बलात्कारगण के भट्टारक श्री पद्मनन्दि देव के भ्राता (सधर्मा ?) के रूप में दिया है।११ शुभचन्द्र की भांति सकलकीर्ति भी भ० पद्मनन्दि के ही शिष्य थे और स० १४८१ मे उन्होंने सागवाड़ा (बागड़) पट्ट की स्थापना की थी। ईडर पट्ट के भी प्रथम भट्टारक वही माने जाते हैं। क्योंकि शुभचन्द्र प्रधान पट्ट पर आसीन थे और इसीलिये संभवतया उनके ज्येष्ठ गुरु भ्राता भी थे, सकलकीर्ति ने उनका उल्लेख अपने लेख में इस प्रकार सम्मान पूर्वक किया। सं० १४८० में भ० शुभचन्द्र की गुरु भगिनी आर्या रत्न श्री की शिष्या आर्या मलयश्री ने अष्टसहस्री की एक प्रति गजराज नामक व्यक्ति से लिखाकर 'भावि भट्टारक वर्द्धमान (?) को भेंट की थी। इस प्रशस्ति में शुभचन्द्र का विशेषण 'राजाधिराज कृतपादपयोजसेवः' दिया है। १२ 'भावि-भट्टारक वर्द्धमान' से आशय शुभचन्द्र के पट्टधर जिनचन्द्र का ही है अथवा शुभचन्द्र के तत्कालीन उस पट्टशिष्य का है जिसकी मृत्यु संभवतया उनके जीवन काल में ही हो गई थी और फलस्वरुप द्वितीय शिष्य जिनचन्द्र को पट्टाधिकार मिला—यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। यह अवश्य है कि पहली सूरत में जिनचन्द्र के मुनि जीवन के ७० वर्षों में कम से कम १२ वर्ष की और वृद्धि करनी पड़ेगी। यह भी निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि कौन सा 'राजा धिराज' उनका भक्त था। उनकी गद्दी दिल्ली में ही थी और दिल्ली के राज्य सिंहासन पर उस समय सैयद मुबारकशाह आसीन था। संभव है इस सुलतान ने गुरु शुभचन्द्र का कुछ सम्मान किया हो, अथवा उनका भक्त नरेश राजस्थान आदि का कोई बड़ा राजपूत राजा हो। वि० सं० १४८१ (शाके १३४५) में भ० शुभचन्द्र ने संघपति होलिचन्द्र आदि अपने भक्त श्रावकों से देवगढ (जिला झांसी) में वर्द्धमान जिनेन्द्र की अपने गुरु भ० पद्मनन्दि की तथा परम्परा गुरु बसन्त कीर्ति की प्रतिमाएं प्रतिष्ठापित कराई थीं। उस समय वहां मालवा के सुल्तान शाह आलम्भक (अलप खां उर्फ हुशंगशाह गोरी) का शासन था १३। इस लेख में जो गुरु परम्परा (धर्मचन्द्र-रत्नकीर्ति-प्रभाचन्द्र-पद्मनन्दि-शुभचन्द्र) दी है वह पट्टावलियों से भी समर्थित है। वि० सं० १४७६ में इन्हीं शुभचन्द्र के पट्टकाल में बुध असवाल ने कुशार्त देशस्थ करहल (जिला इटावा) में चौहान नरेश भोजराज के मन्त्री अमरसिंह के पुत्र लोणासाहु की प्रेरणा से पार्श्वनाथ चरित (अपभ्रंश) की रचना की थी। आद्य प्रशस्ति में पद्माचार्य (पद्मनन्दि) का स्मरण करते हुए, जो संभवतया कवि के गुरु रहे थे, उन्हें उन प्रभाचन्द्र का पट्टधर बताया है जो स्वयं धर्म रूपीचन्द्रमा थे, अथवा, धर्मचन्द्र के शिष्य रत्नकीर्ति के पट्टधर (आयरिय रयणजस पट्टधरिओ) थे। और यह कि पद्मनन्दि के पट्टरूपी अंबर

१०. जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० १८, कि० १, पृ० ६१—६३

११. बीकानेर जैन लेख संग्रह, नं० १८७५

१२. अनेकान्त, वर्ष १३, कि० २, पृ० ४६

१३. जैन शिला लेख संग्रह, भा० ३, न० ६१७

(शेष पृष्ठ ७४ पर)

पल्लू ग्राम की प्रतिमा व अन्य जैन सरस्वती प्रतिमाएँ

(श्री धीरेन्द्र जैन)

सरस्वती का अनेकों नामो से स्मरण

भारतवर्ष की प्राचीन एवं अर्वाचीन विचारधाराओं के अनुसार भगवती सरस्वती सांगोपांग विज्ञान एवं समस्त कलाओं की देवी मानी गई है, जिसे कुछ विद्वान शक्ति नाम से भी व्यवहृत करते हैं। हिन्दूधर्म में सरस्वती देवी का तो यद्यपि पूर्ण स्थान है ही, परन्तु वह बौद्ध तथा जैनधर्म की भी उपास्य देवी रही है। यद्यपि जैन तथा बौद्ध धर्म के अनुसार इसे विभिन्न नामों से सुशोभित किया गया तथापि इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। बौद्ध साहित्य में महासरस्वती, आर्य वज्र सरस्वती वज्र शारदा, वज्रवाणी आदि भगवती सरस्वती के प्रमुख नाम हैं। हिन्दू धर्म में भी इसे शारदा वाग्देवी वीणावादिनी आदि अनेकों नामों से स्मरण किया गया है।

जन्म के बारे में मान्यताएं

पौराणिक गाथाओं के अनुसार सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा के मस्तिष्क (बुद्धि विचार जन्य कल्पना) से उत्पन्न मानस, कन्या के रूप में सरस्वती का जन्म हुआ था। कुछ पौराणिक इसे उनकी पत्नी बतलाते हैं, पर वास्तव में यह उन की शक्ति है। सरस्वती का वर्ण श्वेत है, सदा श्वेत वस्त्र ही पहनती है, वाहन हंस भी श्वेत माना गया है। श्वेत कमल पर आसन लगाये हुये शुभ्रयश का प्रसार करती हुई श्वेत गंध का अनुलेपन एवं श्वेत ही वस्तुओं को कार्य में ग्रहण करती है। इनकी वेशभूषा, रूप सौन्दर्य शरीर की आकृति आदि सभी विभिन्न नाम आदि से संबंधित हैं, जैसे जब भगवती सरस्वती का शारदा रूप में चित्रण किया जाता है तो वहां उसे श्वेत वर्ण युक्त दिखलाना आवश्यक नहीं। वहां विशेषता इस बात की हो जाती है कि उसकी प्रमुख दस भुजायें चित्रित होती हैं। यही रूप चतुर्षष्टि-कलाओं की अध्यक्षा शारदा देवी का माना गया है।
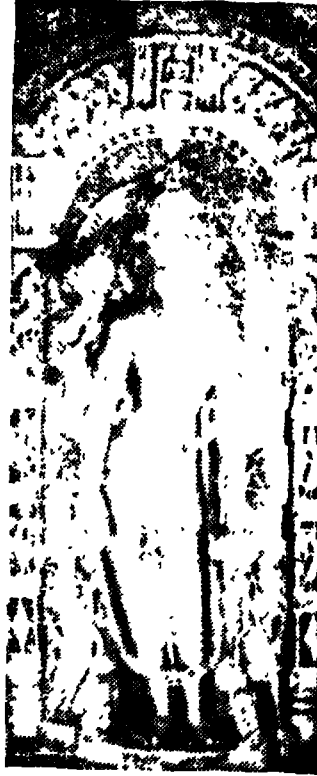
प्रतिमा का प्रादुर्भाव

लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में सरस्वती की सबसे प्राचीन पाषाण निर्मित खण्डित प्रतिमा सुरक्षित है। इस प्रतिमा के घुटने ऊपर को हैं, बांये हाथ में धागे से बंधी ताड़पत्रीय पुस्तक है तथा दाहिने हाथ में अक्षमाला है। दोनों सेवक उपस्थित हैं। चरण चौकी पर ६ पंक्तियों का कुषाण कालीन एक लेख अंकित है। इस द्वितीय शताब्दी की प्रतिमा को विद्वानों ने जैन सरस्वती की प्रतिमा माना है। इससे ज्ञात होता है कि ईसा की द्वितीय शताब्दी में ही जैन सरस्वती प्रतिमा का प्रादुर्भाव हो चुका था।

सुन्दर वन में प्राप्त प्रतिमा

सरस्वती की एक प्रतिमा सुन्दर वन से प्राप्त हुई है जो अब कलकत्ते के आशुतोष संग्रहालय में है। इसकी तिथि १२ वीं शताब्दी मानी गई है। यह पाषाण पट पर उभरी हुई अंकित है तथा वीणावादिनी की मुद्रा में देवी खड़ी है। देवी ने अन्य वस्त्राभूषणों के साथ कटिसूत्र तथा

भुजबन्द आदि पहन रखें हैं। इस प्रतिमा के पैर के नीचे का भाग खण्डित है।

राजा भोज द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तियां

उत्तरी भारत की भांति दक्षिणी भारत में भी सरस्वती प्रतिमा निर्मित की जाती थी, जो आज भी वहां के मन्दिरों के अन्दर बाहर तथा विभिन्न संग्रहालयों में पायी जाती है। बम्बई के प्रिन्स आफ वेल्स म्यूजियम में रखी कुछ मध्य-कालीन सरस्वती प्रतिमाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। नालन्दा से एक कांस्य निर्मित सरस्वती प्रतिमा प्राप्त हुई है जो वीणा बजा रही है। लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में भी सरस्वती की प्रतिमा सुरक्षित है। ये प्रतिमाएँ संगमरमर, भूरे बलुआ पत्थर आदि से निर्मित हैं। इनके आधार पर एक लेख से ज्ञात होता है कि ई० १०३४ में परमार राजा भोज ने प्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना की थी।

पल्लू ग्राम की प्रतिमा

सन् १९१६ में प्रसिद्ध पुरातत्व-वेत्ता डा० एल० पी० टेरिस्टोरी को बीकानेर के दक्षिण पश्चिम में पल्लू नामक ग्राम में दो अत्यन्त सुन्दर जैन सरस्वती प्रतिमाएं प्राप्त हुई थी। ये दोनों प्रतिमाएं सफेद संगमरमर पत्थर से निर्मित हैं। इन दोनों में से एक प्रतिमा बीकानेर के राजकीय संग्रहालय में तथा दूसरी नई दिल्ली के संग्रहालय में है।

प्रतिमाओं का आकार-प्रकार

ये दोनों प्रतिमाएं लगभग १२वीं शताब्दी की हैं। इनमें से प्रथम प्रतिमा की ऊंचाई ३ फुट ५ इंच है। और सपरिकर ४फुट ३इंच है। भगवती सरस्वती की इस सर्वांग सुन्दर मूर्ति के लावण्य भरे मुख मण्डल पर गंभीर शान्त एवं स्थिर भाव है। देवी के नेत्र विशाल हैं, जिनमें नेत्र-बिन्दु स्पष्ट है। कानों में मणिमुक्ता की ४ लडी का कर्णफूल शोभित हो रहा है। केश संवार के तथा मस्तक पर जटाजूट सा दिखला कर उस पर सुन्दर किरीट सुशोभित है। फुन्दनों से युक्त चोटी पीछे बांई ओर चली गई हैं। देवी की नासिका आभूषण विहीन हैं। गले में पड़ी सलवटें अत्यन्त सुहावनी प्रतीत होती है। गले में हंसली धारण किये है, जिनके नीचे झालरा पहिने है जो कि दोनों कन्धों तक गयी है। इसके बाद ३ लड़ियों वाला हार पहना हुआ है जो नाभि तक आ रहा है। उदर, नाभि और कमर का लचीला और सुन्दर विन्यास प्रशंसनीय है। यह प्रतिमा चतुर्भुज है। सामने वाले हाथ की कलाइयों में गोल, बड़े बड़े मणियुक्त, लटकते हुए तिलड़े, एवं मध्य में त्रिकोण भुजबन्ध पहना हुआ है। हाथों में सांकल से लटकता हुआ गुंघरु दिखाई दे रहा है। कलाई में चूड़ियां पहने है, उसके आगे गुजरी और तीखी बंगड़ी जैसे कंकन पहिने है। हाथों में हथसांकला उस समय की प्रथा को द्योतित करते हैं। इनका प्रचलन आज कल नहीं है। हाथ के अंगूठे एवं सभी अंगुलियों में अंगूठियाँ स्पष्ट है। अंगुलियां लम्बी व पतली है, जिनके नाखून बढे हुए हैं। इन्हें देखने से लगता है उस समय नाखून बढाना सुन्दरता में शामिल था। हथेली पर श. चिन्ह व अन्य सामुद्रिक चिन्ह स्पष्ट दिखाई देते हैं। दायें हाथ में माला व बायें हाथ में कमण्डलु है। दूसरे दोनों हाथ पीछे से ऊपर की ओर गये है, जिनमें चूडे के अतिरिक्त अन्य आभूषण भी है। दाहिने हाथ में अत्यन्त सुन्दर कमल-नाल है जिस पर षोडश दल कमल है। बाएं हाथ में ६इंच लम्बी ताडपत्रीय पुस्तक है। तीन जगह काष्ट फल लगा कर डोरी से ग्रंथ को बांधा है। कमर में कटिसूत्र है जो खूब भारी है इसमें झालर लटकते हुवे हैं। कमर एवं नीचे की ओर वस्त्र परिधान स्पष्ट है। नीचे घाघरे की कामदार सगजी भी है। वस्त्र को मध्य में एकत्र कर दिया है। पैरों में केवल पाजेब है। पैर अत्यन्त सुन्दर हैं। इनकी अंगु-लियां कुछ लम्बी व छरहरी है। यह प्रतिमा कमलासन पर खड़ी है। प्रतिमा के पृष्ठ भाग में प्रभा मण्डल बना हुआ है। इसके ऊपर के भाग में जिनेश्वर भगवान की पद्मास-नस्थ प्रतिमा विराजमान है। सरस्वती के स्कन्ध प्रदेश के पास दो पुष्पाधारी देव अभिवादन कर रहे है। ये भी हार कंकड़ भुजबन्ध आदि आभूषणों से युक्त है। मूर्ति के उभय पक्ष में वीणाधारिणी देवियां है जिनका अंग विन्यास सुन्दर व भावपूर्ण है तथा ये भी समस्त आभूषणों से अलं-कृत है।

विभिन्न प्रतिमाओं में अन्तर

इस सौन्दर्यमय सरस्वती प्रतिमा के लिए निर्मित प्रभा तोरण अत्यन्त सुन्दर है। ये दो स्तम्भ तथा उस पर स्थित एक उलटे अर्धचन्द्र के योग से बने हैं। सम्पूर्ण तोरण देवी

मानवों, शार्दूलसिंहों, मकरों, पूर्ण कलश तथा त्रिरत्न की कलापूर्ण आकृतियों से अलंकृत है। तोरण के प्रत्येक स्तम्भ में तीन श्रेणियों में विभाजित है। मध्यवर्ती स्तम्भ में चार चार देवियाँ विराजमान हैं। इन सबके दो हाथ हैं। मुद्रा समान हैं। इनके वाहन व आयुध भिन्न भिन्न हैं। बांया पैर बांये पैर की पिण्डली पर रखे हुए से अपने वाहन पर बैठी है। केशपाश संवारे हुए है तथा बायीं ओर जुड़ा है। दाहिने से प्रथम मूर्ति का वाहन सूर्य है, बायें हाथ में छुरी व दायें हाथ में सर्प है। दूसरी मूर्ति दाहिने हाथ में अस्पष्ट वाद्य तथा बायें हाथ में गोल ढाल सदृश्य कुछ लिये है। तीसरी मूर्ति का वाहन वृषभ है, उसने दाहिने हाथ में गदा, बाएं हाथ में अस्पष्ट ढक्कनदार पात्र धारण किये है। चतुर्थ मूर्ति का वाहन भैंसा है और हाथ में वज्र धारण किये है। इन प्रतिमाओं के दोनों ओर बैठी स्त्री प्रतिमाओं के दाएं हाथ में नाल युक्त कमल है। इसी तोरण के बांईं ओर के मध्य भाग में सुखासन पर बैठी प्रथम देवी के दायें हाथ में त्रिशूल तथा घट है। इसका वाहन मृग है। द्वितीय प्रतिमा के दाये हाथ में खड्ग व बाएं हाथ में घट है। इसका वाहन सिंह है। तृतीय प्रतिमा के दाएं हाथ में अंकुश व बाएं हाथ में चकले जैसा गोल पदार्थ लिए है। इनका वाहन अस्पष्ट है। चतुर्थ प्रतिमा का वाहन सर्प है। दाहिने हाथ में नाल युक्त कमल पुष्प व बांए हाथ में घट धारण किये है।

इन दोनों स्तम्भों के ऊपर मुख्य वृत्त खण्ड पर मन्दिर जैसे तीन छोटे छोटे देवालय बने हैं। जिनमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित ध्यानस्थ अर्हन्तबिंब खड़े हैं। जिन की पहनी हुई धोती अत्यन्त स्पष्ट है। कक्षाणी के ऊपर दोनों तरफ चार चार पुरुष खड़े हैं तथा एक एक स्त्री खड़ी है। इनका एक पैर स्पष्ट दिखाई देता है, दूसरा पैर जंघा तक है, बाकी कक्षाणी के पीछे की ओर है। पहला पुरुष दाएं की दो अंगुलियां दिखा रहा है, बाकी कक्षाणी के पीछे ओर हो पहला पुरुष दांये हाथ की दो अंगुलियों दिखा रहा है, बांया हाथ ऊंचा किये है। दूसरा व्यक्ति हाथ की अंगुलियां जमीन से स्पर्श कर रहा है, तीसरे के हाथ में प्याले जैसा पात्र है। चौथी स्त्री के हाथ में लम्बा दण्ड है। पांचवा पुरुष दोनों हाथों में पुष्पमाला लिये है। बाकी के हाथ मस्तक के पास हैं। कक्षाणी के बांयी ओर भी इसी प्रकार की मूर्तियां हैं। उनमें पहला पुरुष लम्बी दाढी धारण किये है।

दूसरी सरस्वती प्रतिमा भी इससे मिलती जुलती है। यह भी संगमरमर की बनी है। राजस्थान के जिस वास्तु शिल्पी ने अपनी यह आदर्श साधना जनता को दी वह अपना अज्ञात नाम सदा के लिए अमर कर गया।

सम्यग्दृष्टि का विवेक

सती सीता को रामचन्द्र ने जब लोकापवाद के भय से कृतांतवक्र सेनापति के साथ तीर्थ यात्रा के बहाने भीषण बनमें छुड़वा दिया। कृतान्तवक्र जब उस भीषण वनमें पहुँचा तो रथ रोक दिया। सीता ने रथ रोकने का कारण पूछा—तब सेनापति ने अत्यन्त दुखित होकर सारा हाल सुना दिया। और सीता को अकेली वहां छोड़ कर जब वापिस अयोध्या जाने लगा। तब सीता से कहने लगा माता जी कुछ सन्देश तो नहीं कहना है। सीता ने कहा, तुम क्यों दुखी होते हो। मेरा अशुभ कर्म उदय में आया है उसका फल मुझे भोगना ही पड़ेगा। तुम रामचन्द्र से मेरा एक सन्देश कह देना कि जिस लोकापवाद के भय से आपने मुझे जंगल में निर्वासित किया है। उस तरह भ्रमवश बहकावे में आकर अपने धर्म का परित्याग न कर देना। देखा सती सीता का विवेक, साहस और दृढता। सम्यग्दृष्टि जीव विपत्ति में भी अपने सन्तुलन को नहीं खोते, प्रत्युत अपने स्वरूप में सदा सावधान होने का प्रयत्न करते हैं।

भट्टारक विजयकीर्ति

(डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल)

विजयकीर्ति भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे। इन की अलौकिक प्रतिभा एवं पांडित्य को देखकर ज्ञानभूषण इन पर मुग्ध हो गये और अपने जीवन काल में ही सवत् १५६० के पूर्व इन्हें भट्टारक पद पर बिठा दिया। विजयकीर्ति पहिले गृहस्थ थे। कुछ ही वर्ष पूर्व इनका विवाह हुआ था कि ज्ञानभूषण से इनकी भेंट हो गयी। ज्ञानभूषण उस समय भट्टारक थे और धर्म एवं साहित्य प्रचार के लिये स्थान स्थान पर भ्रमण करते रहते थे। एक दिन इन्हें विजयकीर्ति मिले। आपस में बातचीत होने के पश्चात् ज्ञानभूषण ने उन्हें अपना शिष्य बनाना चाहा। इसके लिये इनकी स्त्री को समझाया गया। संसार की असारता को कितनी ही तरह पति-पत्नी के सामने रखा गया और अन्त में ज्ञानभूषण को सफलता मिल गयी। भ० शुभचन्द्र ने एक रचना में इसी प्रसंग का अच्छा वर्णन किया है उसी के दो छन्द देखिये:—

वयण सुनि नव कामणी दुख धरिइ महत।
कही वि मासण मझ हवी नवि वारयो रहि कंत ॥
रे रे कामणि म करि तूं दुखह इन्द्र नरेन्द्र मगाव्या भिखह।
हरि हर बंभमि कीया रंकह लोय सव्व मम वसी हुँ निसंकह ॥

विजयकीर्ति शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता थे। लब्धिसार, गोम्मटसार, त्रैलोक्यसार के मर्मज्ञ विद्वान थे। न्यायशास्त्र पर उनका पूरा अधिकार था एवं कठिन काव्यों को वह सहज ही समझ लिया करते थे भ० शुभचन्द्र ने इनके पांडित्य का 'विजयकीर्ति छन्द' में निम्न प्रकार उल्लेख किया है.—

लब्धि सु गुम्मटसार सार त्रैलोक्य मनोहर।
कर्कश तर्क वितर्क काव्य कमलाकर दिणयर।,

एक अन्य गुरू छन्द में भट्टारक शुभचन्द्र ने अपने गुरु का स्तवन करते हुये लिखा है:—

ध्यानामृत पानं वसइरानं विहित सुहं।
परवादीय मर्द्दन विहित सुवर्द्दन निहित कुहं ॥
वदिन सुर चरणं भव्यह शरणं पट्टधरं।
विजयादिहि कीर्ति सो महमुनि धमरधुर ॥
धरि संग्रह भारं मोह विदारं मुहय तट।
परवादी छिंद जागइ छंदं कम्मतट ॥
संगार सुपंथं लोह विगथ छाय वद।
जिणिमत एह चग गुण उत्त गं दलिन भट ॥
उन्मूलित प प निहित विनाप उधरइ शठ।
उद्धरइ जिन गेह यात्र समूह वपइ मठं ॥
वदित सुर चरण भव्यह शरण पट्ट धर।
विजयादिहि कीर्ति सो मह मुनि धम्म धुरं ॥

विजयकीर्ति उत्कृष्ट तपस्वी थे। बाईस परीषहों के विजेता एवं चौबीस प्रकार के परिग्रहों के त्यागी थे। अपने चारित्र एवं तपोबल से वे सबके जनमानस को अपने वश कर लेते थे। वे साधुओं के शिरोमणि एवं दुःखानल के लिये मेघ के समान थे। अन्य छन्द में शुभचन्द्र ने ही इनकी निम्न शब्दों से प्रशंसा की है:—

अमल सकल पद कमल विमल लपि नेहु सु मंडित।
निर्मल कोमल काय···वरणांगु सु पंडित ॥
लोचन कमल दल लाभ, लाभ कलिकाल सु कारण।
अचला बलिका लुब्ध, सुजन समार वितारण।
सु ज्ञानभूपण पट्टाभरण, विजय कीर्ति शासन प्रबल।
कुंडलि खेल सूरि शुभचद सेवित पद कमल ॥

शास्त्रार्थ करने में वे निपुण थे। जहां भी जाते अपने वादियों से भिड जाते। वे स्वच्छन्द घूमते और ललकारने पर भी उन्हें कोई शास्त्रार्थ करने वाला नहीं मिलता। वे वादियों के गर्व को सहज में चूर कर देते और अपने अमृत मय वचनों से सबकी ज्ञान पिपासा को शान्त कर देते। जनता उन्हें वादीन्द्र के रूप में जानती थी भट्टारक शुभचन्द्र ने अपने एक छन्द में इनके शास्त्रार्थ की निम्न शब्दों में प्रशंसा की है:—

वादीयवाद विटंब वादि सिग्गल मद गंजन।

दिगम्बर कवियों के रचित वेलि साहित्य

'श्री अगरचन्द नाहटा'

कुछ वर्षो पहले जब श्री नाथूराम जी प्रेमी के प्रकाशित दिगम्बर जैन साहित्य की सूचियां ही देखी थी तब तक ऐसी ही धारणा थी कि श्वेताम्बर कवियों की तरह दिगम्बर कवियों ने विविध प्रकार की फुटकर रचनायें नहीं बनाई है। पर जब दिल्ली नागौर और जयपुर के दि० शास्त्र भण्डारों की सूचियें बनी तथा उन भण्डारों के महत्वपूर्ण गुटकों को देखने का अवसर मिला तो वह पूर्व धारना गलत सिद्ध हुई। यद्यपि श्वेताम्बर कवियों की तरह विविध प्रकार की फुटकर रचनाओं की इतनी प्रचुरता दि० कवियों की रचनाओं में नहीं पाई जाती, उदाहरणार्थ तीर्थों की यात्राओं और इतिवृत्त के संबंध में जितना प्रचुर साहित्य श्वेताम्बर कवियों का मिलता है, उतना दि० कवियों का नहीं मिलता, फिर भी परिमाण में चाहे कम हो पर अनेक प्रकार की फुटकर रचनायें दिग० कवियों की रचित भी प्राप्त हो गई हैं। और भविष्य में उनकी जानकारी और भी अधिक प्रकाश में आना सम्भव है। नागौर के भट्टारकीय भण्डार आदि में जो सैकड़ों गुटके हैं उनकी अभी तक पूरी सूची ही नहीं बन पाई है इसी तरह अनेक शास्त्र भण्डार होंगे।

वादिय कुंद कुदाल वादि श्रवय मन रंजन ॥
वादि तिमिर हर सूरि वादि नीरमहसुधाकर।
वादिविटवन वीर वदि निगरण गुणसागर ॥
वादीद्र विबुध सरसति गछि मूल सघि दिगवरह।
कहि ज्ञानभूषण सो पट्टि श्री विजयकीर्ति, जगपति वरह। ५।

विजयकीर्ति केवल मानवों द्वारा ही पूजित नहीं थे किंतु देवता और पशु पक्षी भी उनसे शिक्षा प्राप्त करते थे। वे आत्म-ध्यान में लीन रहते और अपने ज्ञान को सभी मानवों में समान रूप से वितरण किया करते। वे शरीर से कमनीय एवं वाणी से कल्याणकारी थे। प्रकृति से शान्त थे तथा तत्व चिंतन में लगे रहते। इसी को शुभचन्द्र ने निम्न रूप से कहा है:—

सुरनर खगचर चारुचद्र चर्चित चरण द्वय।
समयसार कासार हंसचर चिंतित चिन्मय॥
दक्ष पक्ष शुभ सूक्ष्म लक्ष्य लक्षण यतिनायक।
ज्ञान दान जिन गान भव्य चातक जलदायक॥
कमनीय मूर्ति सुन्दर सुकर धर्म्म शर्म कल्याणकर।
जय विजयकीर्ति सूरीश वर श्री श्रीवर्द्ध नमौस्य व०
॥७॥

विजयकीर्ति की अभी तक कोई रचना हमें प्राप्त नहीं पूर्वाचार्यो की रचनाओं की प्रतिलिपि करवा कर शास्त्र-भण्डारों में विराजमान करने एवं उनके स्वाध्याय का प्रचार करने में अधिक रुचि दिखलाई थी। वैसे वे अपने योग्य गुरु के योग्य शिष्य थे और इनके शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र कितने ही ग्रन्थों के रचनाकार थे।

विजयकीर्ति शास्त्रार्थ करने एवं साहित्य का प्रचार करने के साथ साथ नव मन्दिर निर्माण एवं प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार भी करवाते थे। इन्होंने संवत् १५६० की माघ कृष्णा:१५ को तथा संवत १५६० की वैशाख शुक्ला २ की शान्तिनाथ स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई। संवत् १५६१ चैत्र३ बुदि: ८ को नेमिनाथ की मूर्ति की तथा इसी वर्ष के वैशाख शुक्ला ४ को रत्नत्रय की मूर्ति की स्थापना करायी। संवत् १५६८ की फाल्गुण शुक्ला:५ को श्री संघ ने आपकी बहिन आर्यिका देवश्री के लिये पद्म-नंदि पंचविंशतिका की प्रति लिखवायी थी

विजयकीर्ति संवत १५५७ से १५६८ तक भट्टारक रहे इन्होंने अपने जीवन में जो साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्य किये वे चिरस्मरणीय रहेंगे।

१.२.३.४.५- देखिये भट्टारक सम्प्रदाय पृष्ठ १५४ १५५

★★★

अबसे १५-२० वर्ष पहले जैन सत्यप्रकाश में फागु, विवाहला, त्रिलोका, संवाद, आदि कई प्रकार रचनाओं संबंधी लेख प्रो० हीरालाल कापड़िया आदि के प्रकाशित होने लगे तो मैंने भी उनकी अधूरी जानकारी को कुछ अंश में पूरी करने का यत्न किया और एक-एक रचना प्रकार सम्बन्धी जितनी भी जैन, जैनेतर राजस्थान, गुजराती, हिन्दी रचनाओं की जानकारी मुझे प्राप्त हो सकी उनकी सूची को अपने लेखों में देता रहा।

वेलि संज्ञक ज्ञात रचनाओं का संक्षिप्त परिचय प्रो० हीरालाल कापड़िया ने यथा स्मरण "जैन धर्म प्रकाश" नामक पत्रिका में प्रकाशित किया तो मैंने कल्पना में बहुत सी नवीन जानकारी के साथ वेलि संज्ञक रचनाओं की विस्तृत सूची प्रकाशित की। राजस्थानी साहित्य में 'राठौड़ पृथ्वीराज रचित कृष्ण रुकमणि री वेलि' बहुत ही प्रसिद्ध है और कुछ चारण कवियों की अन्य भी कई वेलियां अनूप संस्कृत लायब्रेरी आदि में प्राप्त थी। अतः मेरा लेख प्रकाशित होने पर राजस्थानी साहित्य के महान विद्वान श्री नरोत्तम दासजी स्वामी ने श्री नरेन्द्र भनावत को वेलियों संबंधी शोध-प्रबन्ध लिखने की प्रेरणा दी तब तक दिग० कवियों की वेलि संज्ञक रचनाओं की जानकारी बहुत कम प्रकाश में आ पाई थी पर उसके बाद जयपुर के शास्त्र-भण्डारों की सूचियों ज्यों ज्यों छपती गई, नई नई जानकारी प्रकाशित होती रही, फलतः अब तक करीब २० दिग० कवियों के रचित वेलियों का पता लग चुका है। प्रो० नरेन्द्र भनावत को राजस्थानी वेलि साहित्य नामक अपने शोध प्रबन्ध पर डाक्टरेट मिल चुकी है। उनके इस शोध प्रबन्ध में करीब ८० वेलियों की रचना की गई है जिनमें से दिग० कवियों की १८ वेलियों का उपलब्ध होना अवश्य ही उल्लेखनीय है। मैंने उनसे दिग० वेलियों की सूची मांगी थी तो उन्होंने दिनांक २-१२-६३ के पत्र में निम्नोक्त १५ वेलियों की सूची लिख भेजी है।

	नाम	कर्त्ता	समय
१)	कर्मचूर व्रत कथा वेलि,	सकलकीर्ति,	१६ वीं शताब्दी
२)	पंचेन्द्रिय वेलि	, ठकुरसी .	संवत् १५५०
३)	नेमिश्वर वेलि	, ठकुरसी ,	संवत् १५५०
४)	वेलि	, छीहल ,	संवत् १५७५-८४
५)	क्रोध वेलि	. मल्लिदास.	संवत १५८८
६)	सुदर्शन वेलि	, वीरचन्द्र .	१६वीं शताब्दी
७)	जम्बू स्वामीनी वेलि	,,	,,
८)	बाहुबलिनी वेलि	,,	,,
९)	भरत वेलि	देवानंद	,,
१०)	गुणठाणा वेलि	जीवंधर	सं० १६१६
११)	लघु बाहुबलि वेलि	शांतिदास	सं० १६२५
१२)	गुरु वेलि	धर्मदास	सं० १६३८ से पूर्व
१३)	पंचगति वेलि	हर्षकीर्ति	
१४)	मल्लिदासनी वेलि	ब्रह्म जयसागर	१७वीं शताब्दी
१५)	षड लेस्या वेलि	साहलोहट	सं० १७३०

श्री भनावत ने इससे पहले जो उन्हें ज्ञात ८० वेलियों की पूरी सूची भेजी थी उसमें उपरोक्त १५ नामों के अतिरिक्त ३ और वेलियों के नाम है।

१६) आदित्यवारनी वेलि कथा

१७) आदिनाथ वेलि, भट्टारक धर्मचन्द्र,

१८) जीव वेलड़ी , देवीदास ,

जयपुर के दिगम्बर शास्त्र भण्डारों की सूचियों में कुछ ऐसी वेलियों के नाम हैं जो कि १८ नामों में ही नहीं है। कुछ नाम उपरोक्त नामावली में होने पर भी उनके रचियताओं के नाम सूचियों में नहीं होने से वे वेलियां वे ही हैं या भिन्न हैं नहीं कहा जा सकता।

१ आमेर शास्त्र भण्डार सूची में गुटके नं० १५ में कलि कुण्ड पार्श्वनाथ वेल का नाम छपा है और गुटका नं० ५४ में वेलि गीत नामक रचना है। इन दोनों के रचियताओं का नाम सूचि में नहीं दिया गया है।

२ ग्रन्थ सूची भाग २ पृष्ट ८८ में गुण वेलि, ठकुरसी रचित का नाम है सम्भव है वह पंचेन्द्रि या नेमिश्वर वेलि ही हो पृ० ३६५ में पंचेन्द्रि वेलि, पृष्ट ३६६ नेमनाथ वेलि पृष्ट ३७१ भरत की वेल के रचियताओं के नाम भी नही छपे हैं।

३ ग्रन्थ सूची भाग ३ के पृष्ट १६७ में ऋषभनाथ वेलि का नाम है वह आदिश्वर वेलि से भिन्न है या अभिन्न निर्णय करना आवश्यक है।

४ ग्रन्थ सूची भाग ४ के पृष्ट ६३८ में पंचेन्द्रिय वेल छीहल, पृष्ट ६२३ में गुण वेल (चन्दनबालागीत) पृष्ट ६४३ गुण वेलि, पृ० ७७५ में षड लेस्या वेलि हर्षकीर्ति

बघेरवाल जाति

(डा० विद्याधर जोहरापुरकर, जावरा)

प्रस्ताविक—

दिगम्बर जैन समाज की जातियों में बघेरवाल जाति का भी विशिष्ट स्थान है। इस जाति के लोग राजस्थान तथा मध्यप्रदेश में और महाराष्ट्र में भी निवास करते हैं। इन की संख्या ५ हजार के आसपास है। इस जाति का नाम राजस्थान में कोटा के निकट स्थित बघेरा नामक ग्राम से लिया गया है। इस ग्राम में इस समय खंडेलवाल तथा अग्रवालों के घर हैं जिनमें बारहवीं-तेरहवीं सदी की कई मूर्तियां है (जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३४४)।

भाटों की अनुश्रुति—

बघेरवाल जाति के प्रत्येक परिवार के सदस्यों के नामों की सूची तैयार करने का काम भाटों के कुछ परिवार वंश परम्परा से करते आये हैं। वि० सं० १८७३ में भाट हीरानन्द और कालूराम कारंजा में थे उस वक्त उन्होंने बघेरवाल जाति की स्थापना के बारे में इन शब्दों में वर्णन किया था—'प्रथम ढुंढाड देश में राजा विक्रम के समय से और कुन्दकुन्दाचार्य जी के अम्नाय में जस्थापना हुआ। ये बघेरा गांव में आये। उस गाँव का राजा बलिभद्र, उसका बेटा वरणकुवर और इक्यावन गांव के इक्यावन ठाकुर को उपदेश देकर बघेरवाल जाति ५२ गोत्र की स्थापना करी। संवत १११ माह वदी ११ रविवार को। कुछ कारन कर कुछ घर केलागढ देश तरफ आया सो उनका धरम छूट गया। वहाँ विहार करते करते लोहाचार्य जी काष्ठासंघ वाले आये सो उनने उपदेश देकर धर्म में स्थापना करी, सो सत्ताईस गोत्र काष्ठासंघी हुये संवत १४२ आसोज सुदि १४ मंगलवार को। संवत १२४१ अलिवर्दन पातस्याह के समय में चित्तौड़ में राणा रतनसिंह चौहान का कामदार पुनाजी खटोड था उसने ३५० घर लेकर दक्षिण में आया।' (इस वर्णन का हस्तलिखित हमारे संग्रह में है)। वि० सं० १९८७ में भाट रूपचंदास नागपुर आये थे, उन्होंने इस बारे में थोड़ा भिन्न वर्णन किया था—बलिभद्र राजा का पिता बाग नामक था तथा बलिभद्र के पुत्र वरुणकुवर के ५२ पुत्रों से ५२ गोत्र स्थापित हुये, बघेरा गांव के पास इनकी सेना में मरी का प्रकोप हुआ, तब रामदास भाट की सलाह से

शेषांश

सं० १९८३ के नाम छपे हैं यदि रचनाओं और रचयिता के नाम गलत नहीं छपे हों तो तो षट् लेस्या वेलि-हर्ष कीर्ति और पंचेन्द्रिय वेलि छीहल ये २ नाम उपरोक्त १८ नामों में और बढ जायेंगे। जिन वेलियों के रचयिताओं के नाम सूचियों में नहीं है उनकी अच्छी तरह जांच कर लेना चाहिए। यदि उनमें कोई अज्ञात मिले तो ठीक।

कुछ महीने पहले मैंने छापर के स्व० मोहनलाल दुधेड़िया के पास एक महत्त्वपूर्ण दिग० गुटका देखा था उसमें गुणठाणा वेलि से भिन्न होना ही सम्भव हैं। वैसे दिगम्बर शास्त्र भण्डारों में कई श्वेताम्बर रचनायें भी मिलती हैं अतः नैणवे के गुटके से जिस नेमि राजिमती वेल की नकल मैंने प्राप्त की है वह श्वे० सीहा कवि की रचना लगती है। इसकी २ प्रतियां १५ वीं और १६ वीं शताब्दी की श्वे० भण्डारों में मुझे प्राप्त हुई है। सम्भवतः वेलि-संज्ञक रचनाओं में यह सबसे प्राचीन है।

और भी कोई दिग० वेलि डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल परमानन्दजैन, कुन्दनलाल जैन आदि को ज्ञात हो तो उस की जानकारी शीघ्र ही प्रकाश में लाने का अनुरोध है।

★★

वे लोग समीप ही निवास करते हुए मुनि उमास्वामी, लोहाचार्य, विद्यानन्द, रामसेन व नेमसेन की शरण में पहुचे, उनके मन्त्रजल से रोग शान्त हुआ, तब वे सब लोग जैनधर्म में दीक्षित हुए तथा रामदास के वंशजों को उनका कुल वृत्तान्त संग्रहीत करने का काम सोंपा गया।

कुछ और अनुश्रुतियां

काष्ठासंघ के विभिन्न भट्टारकों की प्रशंसा में समय समय पर लिखे गये कई छप्पयों का संग्रह हमारे संग्रह के एक हस्तलिखित गुटके में है। इसमें बघेरवालों के सम्बन्ध में भी पाँच पद्य हैं जो इस प्रकार हैं—

१ काष्ठासंघ तप तेज नयर बडेली माहे।
बघेरवाल बर न्यात गोत बागडिया त्याहे॥
साह सदाफल सरस नारि कनकादे सुन्दर।
करे धर्म आलोच जिनेश्वर पूज पुरंदर॥
संवत बार इक्कावने बिंब प्रतिष्ठा यस तिलक।
पार्श्वनाथजी थापया जय जय जय बोलइ खलक॥

काष्ठासंघ विशाल लाडबागड गच्छ जाणो।
बघेरबाल वर न्यात गोत बोरखंडया बखाणो॥
पाससाह कुलतिलक नाम मोहन वर मंडन।
संवत त्रण पचवीस धर्मध्वज रची अखंडन॥
वेई पुर पाटन सरस पार्श्वनाथ जिन थप्पयन।
वृषभदास कवियण कहै सों जय जय जस अप्पयन॥

३ काष्ठासंघ सुजाण न्यात बघेरबाल बिराजित।
खटबड गोत गयंद पुरणमल साह सुसोभित॥
नयर बघेरा माँह सरस अति कीधी प्रतिष्ठा।
शान्तिदेव पधराय भोजन बहु दिया मिष्ठा॥
संबत त्रण इक्कावने माघ मास दशमी शुकल।
वृषभदास कवियण कही धरणायुत गुण तो अकल॥

४ काष्ठासंघ उदार लाडबागड गच्छ सोहे।
बघेरवाल वर न्यात गोत बोरखंडया मोहे॥
उग्रसेन वड वीर पासमुत देश विख्यातह।
पट् दर्शन माहि कीर्ति कनकदे सुन्दर मातह॥
संबत त्रण पंचावने पाटन माहि झलमल कियो।
सुमतिदेव इम उच्चरे मुनि सुव्रत जिन थप्पयो॥

५ काष्ठासंघ गच्छ सफल नाम माथुर मनमोहन।
न्यात बघेरवाल गोत पितलिया सोहन॥
साह नाम श्रीपाल नगर उजेणी माही।
कियो प्रतिष्ठारम्भ देखता विक्रम साही॥
संवत त्रण पैंतीस मे सुरनरखेचरनुतचरण।
जयउ अवन्ती पास लोहसूरिमंगलकरण॥

अनुश्रुतियों का विचार

भाटों की अनुश्रुतियों में तथा ऊपर के पद्यों में इस जाति के व्यक्तियों की जो प्रचीन तिथियां दी हैं वे कल्पित ही मालूम पड़ती हैं; क्योंकि अन्य साधनों से उनका कोई समर्थन नहीं होता। सं० १४२ में काष्ठासंघ का अस्तित्व इस में बतलाया है वह तो स्पष्ट रूप से इतिहास के विरुद्ध है; क्योंकि काष्ठासंघ की स्थापना सं० ७५३ में हुई ऐसा दर्शनसार में वर्णन है तथा इसके शिलालेखीय उल्लेख तो बारहवीं शदी से ही मिलते हैं। किन्तु इन अनुश्रुतियों में कुछ बातें वास्तविक भी हैं। बघेरवाल जाति के ५२ गोत्रों में २५ मूलसंघ के तथा २७ काष्ठासंघ के अनुयायी थे इस बात का समर्थन विक्रम की अठारहवी सदी के लेखक नरेन्द्रकीर्ति के एक पद्य से होता है (भट्टारक सम्प्रदाय पृ० २८४)—

श्री काष्ठासंघ नाम प्रथम गोत्र पंचबीस।
मूलसंघ उपदेश गोत्र अंते सत्ताबीस॥
बघेरवाल बड ज्ञाति गोत्र बावणगुण पूरा।
धर्म धुरंधर धीर परम जिन मारग सूरा॥
महाव्रतधारक भट्टारक श्री लक्ष्मीसेनय जानिये।
गुरु इन्द्रभूषण गंगसम सुगुण नरेन्द्रकीर्ति बखाणिये॥

इस जाति के लोग मूलतः राजपूत क्षत्रिय थे तथा बाद में जैनधर्म में दीक्षित हुये थे इसका भी एक समर्थक प्रमाण है। इस जाति में प्रतिवर्ष चैत्र शु० ८ तथा आश्विन शु० ८ को कुलदेवी का पूजन किया जाता है (उत्तरी प्रदेशों में तेरापंथ के प्रभाव से यह रीति लुप्त हुई है किन्तु दक्षिण में अभी रूढ़ है) जिसे दिन्हाडी पुजन कहते हैं। इस समय यद्यपि साधारण बघेरवाल अपने कुलदेवता को पद्मावती, चक्रेश्वरी या अम्बिका यह नाम देता है तथापि भाटों के कथनानुसार इन देवियों के नाम अलग अलग हैं—

उनके कथनानुसार चवरिया गोत्र की देवी चंद्रसेन है, ठोल्या गोत्र की देवी खंडवा है, पितलिया गोत्र की देवी रूखमा है, बागडिया गोत्र की देवी चामुण्डा है तथा भुरिया गोत्र की देवी मद्दिकावती है। ये नाम जैनधर्म के स्वीकार के पहले के होने चाहिये यह स्पष्ट ही है; क्यों कि जैन शासन देवियों में ये नाम नहीं पाये जाते।

दक्षिण प्रवास—

उपर्युक्त अनुश्रुति में बघेरवालों के दक्षिण-प्रवास का समय सं० १२४१ बताया है तथा इसके नेता पूनाजी खटोड बताये हैं। किन्तु पूनाजी का समय विक्रम की सोलहवीं शती में निश्चित है क्यों कि वे कारंजा के भट्टारक सोमसेन के शिष्य थे। इनके साथ बघेरवालों के १७ गोत्रों के लोग दक्षिण आए थे। इस समय इनमें दो गोत्र नष्ट हो चुके हैं—१५ गोत्र अभी भी दक्षिण में हैं, इन की जनसंख्या १२०० है। महाराष्ट्र की रीति के अनुसार इन लोगों ने स्थान या व्यवसाय बतलाने वाले उपनाम धारण कर लिये हैं तथा गोत्र नामों का व्यवहार प्रायः छोड़ दिया है। प्रत्येक गोत्र के जो अलग अलग उपनाम इस प्रकार हुये हैं उनकी सूची इस प्रकार है—

	गोत्रनाम	उपनाम
१	खटोड	जोहरापुरकर, महाजन(कारंजा)
२	खंडरिया	आग्रेकर, कलमकर (जिंतूर) खंडारे, खोरणे, खोलापुरे भीसीकर, रुईवाले।
३	गोवाल	संगई (अंजनगाँव)।
४	चवरिया	खेडकर, चवरे, डोणगांवकर, जिंतूरकर, देऊलगाँवकर, देवलसी, रायबागकर।
५	जुगिया	जोगी, किल्लेदार।
६	ठोल्या	कलमकर (कारंजा), ठवली, सवाईसंगई।
७	नंगोल्या	गरिबे।
८	पितलिया	नांदगांवकर, दर्यापूरकर।
९	बागडिया	मिश्रीकोटकर।
१०	बोरखंडया	नगरनाईक (कारंजा), महाजन (नागपुर), मालधी।
११	भुरिया	भोरे।
१२	मडया	पेंढारी।
१३	सावला	गहाणकरी, भोंगाडे।
१४	सेठया	मुधोलकर।
१५	हरसोरा	कस्तूरीवाले, नगरनाईक(चाँदूर), हरसुले (संगई)।

कुछ स्मरणीय व्यक्ति—

अब हम बघेरवाल जाति के उन स्मरणीय व्यक्तियों का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे जिन्होंने ग्रन्थलेखन, मूर्ति-मन्दिर निर्माण आदि कार्यो से ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त किया था।

(क) **पंडित आशाधर**—बघेरवाल जाति का सर्व-प्रथम उल्लेख पंडित आशाधर जी ने किया है। उन्होंने अपनी जाति के इस नाम का संस्कृतीकरण 'व्याघ्रेरवालान्वय' इस रूप में किया है। सागार धर्मामृत, अनगार धर्मामृत, जिनयज्ञकल्प, त्रिषष्ठिस्मृति शास्त्र इत्यादि १० संस्कृत ग्रंथों के रचयिता पंडित आशाधर का विस्तृत परिचय पं० नाथूरामजी प्रेमी ने दिया है (जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३४२—३५८)। उनके ग्रंथों का रचनात्मक सं० १२८५ से सं० १३०० तक का है।

(ख) **पंडित सोमदेव**—श्रुतमुनि कृत त्रिभंगीसार की संस्कृत टीका के कर्ता पंडित सोमदेव भी बघेरवाल जाति के थे। ये अभिदेव तथा विजैणी के पुत्र थे। श्रुतमुनि का समय सं० १३६८ में ज्ञात है अतः सोमदेव उस समय के बाद के लेखक हैं (जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४१६—४१७)।

(ग) **जीजासाह**—ये चित्तौड के प्रसिद्ध कीर्तिस्तम्भ के निर्माता थे। इन के विषय में एक विस्तृत शिलालेख मुनि कान्तिसागर जी ने प्रकाशित किया था अनेकान्त वर्ष ८ पृ० १४२)। दुर्भाग्य से उस का समय निर्देश ठीक नहीं है। एन्युअल रिपोर्ट आफ इन्डियन एपिग्राफी सन १९५४-५५ में उदयपुर म्युजियम से प्राप्त एक लेख का सार इस प्रकार दिया है—इस लेख में बघेरवाल जाति के जीजाक द्वारा एक स्तम्भ की स्थापना का उल्लेख है। इस लेख की मूल प्रति देखने पर हमें यह वाक्य इस प्रकार मिला—बघेरवाल साह जीजाकेन कारितः स्तंभः। चित्तोड के कीर्तिस्तम्भ का शिखर पिछली शताब्दी में राणा-

फतेहसिंह के समय में टूट कर गिर पड़ा था। हमारा अनुमान है कि वह शिलालेख तभी वहाँ से उदयपुर लाया गया होगा।

(घ) पूनासाह—दक्षिण में जाने वाले बघेरवाल परिवारों के ये प्रमुख थे। कारंजा में भट्टारक सोमसेन के ये शिष्य हुए। अतः उनका समय विक्रम की सोलहवीं सदी में निश्चित है। ये उपर्युक्त जीजासाह के पुत्र थे।

(ङ) वीरसंघवी—जिन्तूर (जिला परभणी) के समीप नेमगिरि पहाड़ी पर भौंरों में तीन मन्दिर हैं जिन में नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा शान्तिनाथ की विशाल मूर्तियाँ हैं। नेमिनाथ मूर्ति के पादपीठ पर इन मन्दिरों के संस्थापक वीर संघवी, उनके तीन पुत्र तथा इन चारों की पत्नियों की मूर्तियाँ भी अंकित हैं। ये मन्दिर कारंजा के भट्टारक कुमुदचन्द्र के उपदेश से शक १५३४ = वि० सं० १६७० में निर्मित हुए थे। इस आशय का लेख भी वहाँ है। वीरसंघवी के कुल का इस समय कलमकर उपनाम है।

(च) बापूसंघवी—काष्ठासंघ-नन्दीतटगच्छ के भट्टारक श्रीभूषण के शिष्य ब्रह्मज्ञानसागर ने अपनी रचना अक्षर बावनी में बघेरवाल संघपति बापू का उल्लेख किया है तथा उन्हें लघुत्रय-बहुगुणधारी ऐसे विशेषण दिये हैं। इनका समय विक्रम की सत्रहवीं सदी का मध्य है (भट्टारक सम्प्रदाय पृ० २७६)।

(छ) भोजसंघवी—ये बापूसंघवी के पुत्र थे। कारंजा में इनका बड़ा व्यापार चलता था। शीलविजय की तीर्थमाला में इनकी समृद्धि का विस्तृत वर्णन है। इन्होंने गिरनार की यात्रा के लिये संघ निकाला था, तथा इस कार्य में एक लाख रुपये खर्च किए थे। इनके लिये पामो कवि ने शक १६१४ वि० सं० १७५० में भरतभुजबलि-चरित्रनामक काव्य की रचना की थी। इनके द्वारा स्थापित रत्नत्रय यन्त्र (सं० १७४७) नागपुर के सेनगण मन्दिर में है (भट्टारक सम्प्रदाय पृ० २८६)।

(ज) पूजासंघवी—ये कारंजा के प्रतिष्ठित सज्जन थे। इनकी प्रेरणा से काष्ठासंघ-नन्दीतटगच्छ के भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के शिष्य धनसागर ने सं० १७५६ में 'पार्श्व-पुराण' की रचना की। यह काव्य हिन्दी छप्पयों में है (भ० सं० पृ० २८८)।

(झ) वर्धासावजी—जोगी गोत्र के वर्धासाव जी नागपुर निवासी थे। भोंसला राजा रघोजी (द्वितीय) के दरबार में इन्हें अच्छी मान्यता प्राप्त थी। इन्होंने सं० १८४५ में नागपुर में एक मन्दिर बनवाया जो इस समय सेनगढ़ मन्दिर कहलाता है। इस मन्दिर के निर्माण के समय रघु नामक कवि द्वारा लिखी गई विस्तृत मराठी कविता हमने 'सन्मति' में प्रकाशित की है। नागपुर से ३० मील दूर रामटेक अतिशयक्षेत्र है वहाँ भी वर्धासावजी ने कुछ निर्माण कार्य कराया था। नागपुर में प्रतिवर्ष चैत्र व० १ को पद्मावती का रथयात्रा उत्सव होता है उस का प्रारम्भ वर्धासावजी ने किया था।

(ञ) लेंकुरसंघवी—ये कारंजा के लक्षाधीश सेठ थे। एक बार एक सौदागर साठ ऊँटों पर कस्तूरी लाद कर बेचने जा रहा था। कारंजा में यह कस्तूरी कोई नहीं खरीद सकता ऐसा उसका वाक्य सुन कर लेंकुरसंघवी क्रोधित हुए तथा वह सब कस्तूरी खरीद कर उन्होंने अपने नए बन रहे घर की जुड़ाई के लिये तैयार किए गये चूने में मिला दी। उनके इस विशाल निवास स्थान के खंडहर अभी कारंजा में हैं तथा कस्तूरी की हवेली इस नाम से प्रसिद्ध है। लेंगुरसंघवी का समय विक्रम की अठारहवीं सदी का अन्तिम भाग है। इन्होंने भी रामटेक क्षेत्र पर कुछ निर्माण कार्य कराया था।

(ट) रतनसाह—कारंजा निवासी रतनसाह भट्टारक शांतिसेन के शिष्य थे। सं० १८२५ में रामटेक यात्रा के अवसर पर इन्होंने हिन्दी शान्तिनाथ विनती की रचना की थी। सं० १८२६ में शान्तिसेन के पद पर सिद्धसेन का पट्टाभिषेक हुआ उनकी आरती भी रतनसाह ने लिखी थी। 'अघहर श्री जिन बिंब मनोहर' इस पंक्ति से प्रारम्भ होने वाली चौबीस तीर्थंकरों की आरती विदर्भ में सुप्रचलित है (भट्टारक संप्रदाय पृ० २२-२३)।

उपसंहार—

उपर्युक्त वर्णन मुख्यतः दक्षिण प्रदेश के प्रमुख बघेरवालों के विषय में है। राजस्थान तथा मध्यप्रदेश के बघेरवालों के विषय में लेखक को उतनी जानकारी नहीं है। इस प्रदेश के कोई विद्वान इस विषय पर प्रकाश डालें तो बहुत ही अच्छा होगा।

महापंडित आशाधर – व्यक्तित्व एवं कृतित्व

(पं० अनूपचंद न्याय तीर्थ 'साहित्य रत्न' जयपुर)

राजस्थान की वीर भूमि को जिस प्रकार युद्ध भूमि में अंतिम दम तक डटे रहने वाले बलवान योद्धाओं को जन्म देने का गौरव प्राप्त है उसी प्रकार जन्म भर अथक परिश्रम करने वाले सच्चे साहित्य सेवियों को जन्म देने का भी सौभाग्य प्राप्त है। प्राकृत संस्कृत अपभ्रंश हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा के अनेक विद्वानों ने इस प्रदेश की धरा पर जन्म लेकर तन मन धन से मां भारती की अमूल्य सेवा की है तथा अपनी मौलिक रचनाओं, भाषान्तर किये हुए ग्रन्थों तथा अन्य अन्य प्रकार से यहां के ज्ञान भण्डारों को समृद्ध बनाया है राजस्थान में ये ज्ञान भण्डार इतने अधिक महत्त्वपूर्ण हैं कि आज भी इनमें सब मिलाकर लक्षाधिक हस्तलिखित ग्रंथ संग्रहीत हैं। राजस्थानी साहित्य कारों ने पुराण, चरित्र, काव्य व्याकरण कोष, नाटक, आयुर्वेद आदि सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर अनेक भाषाओं में रचनायें की हैं जिस से भारतीय संस्कृति को जीवित रखने में पूर्ण योग मिला है। इन्हीं साहित्य सेवियों में १३ वीं शताब्दी के महा पं० आशाधर जी थे जिनकी साहित्यिक सेवाओं का सभी भारतीयों को गर्व होना चाहिए।

पं० आशाधर जी संस्कृत साहित्य के अपार दर्शी विद्वान थे। ये माण्डल गढ़ (मेवाड़) के मूल निवास थे किंतु मेवाड़ पर मुसलमान बादशाह शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमणों से त्रस्त होकर मालवा की राजधानी धारानगरी में अपने स्वयं एवं परिवार की रक्षा के निमित्त अन्य लोगों के साथ आकर बस गये थे। पं० आशाधर बघेरवाल जाति के श्रावक थे। इन के पिता का नाम सल्लक्षण एवं माता का नाम श्री रत्नी था। सरस्वती इनकी पत्नी थी जो बहुत सुशील एवं सुशिक्षिता थी। इनके एक पुत्र भी था जिसका नाम छाहड़ था। इनका जन्म किस संवत् में हुआ यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता किंतु ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर उनका जन्म वि० सं० १२३४-३५ के लगभग अनुमानित किया जाता है। शहाबुद्दीन गौरी ने वि० सं० १२४९ के आस पास जब दिल्ली पर आक्रमण किया और महाराजा पृथ्वीराज चौहान पर विजय प्राप्त की उसी समय अजमेर पर भी गौरी ने अधिकार किया था। इस आक्रमण के फलस्वरूप देहली और अजमेर में तथा राजस्थान में चारों ओर अराजकता मच गयी। आये दिन मुसलमानों के आक्रमण होते थे और जानमाल की सुरक्षा का कोई प्रबंध नहीं था। आशाधर ने जब यहां चारों ओर अशान्ति देखी तो वे परिवार सहित धारानगरी चले गये। इन की प्रारंभिक शिक्षा पहिले माण्डलगढ़ तथा पीछे धारा में ही हुई। धारानगरी उस समय साहित्य एवं संस्कृतिका केन्द्र थी। और इसीलिए इन्होंने भी वहीं व्याकरण एवं न्याय शास्त्र का गंभीर अध्ययन किया।

धारा नगरी से साहित्य एवं संस्कृतिका परिज्ञान एवं नलकच्छपुर (नालछा) से साधु जीवन प्राप्त हुआ था। उनके हृदय में धारा नगरी में ही जैन धर्म एवं साहित्य सेवा का उत्कृष्ट भाव पैदा हो गया था किंतु वहां का वातावरण उसके अनुपयुक्त देख वे वहाँ नहीं रह सके और उन्हें विवश होकर नलकच्छपुर आना पड़ा। वहां का नेमिनाथ चैत्यालय उनकी साहित्यिक गति विधियों का केन्द्र बन गया वे लगभग ३५ वर्ष तक नालछा में ही रहे और वहीं एकनिष्ठा से साहित्य सर्जना में लग गये। वे निर्भीक विद्वान् थे तथा किसी की कभी परवाह नहीं करते थे। और जैसा भी आगम साहित्य में लिखा है उसके अनुसार अपने इष्टमित्रों को चलने का आग्रह करते थे। यदि उन्होंने गृहस्थों के लिये सागार धर्मामृत लिखा तो मुनियों के लिये भी आचार व्यवस्था उन्हें करनी पड़ी और उनके लिये अनगार धर्मामृत लिखकर इस क्षेत्र में आगे होने वाले आचार्यों मुनियों एवं श्रावकों को एक नयी दिशा दी। व्याकरण और न्याय शास्त्र के वे असाधारण विद्वान् थे तथा आयुर्वेद एवं ज्योतिष जैसे विषयों पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। काव्य रचना में तो वे अत्यधिक पारंगत थे। उन्हें जिस किसी विषय पर भी कोई रचना लिखनी होती वे लिख डालते और वह भी अद्वितीय रचना होती। वास्तव में आशाधर जैसा गंभीर

एवं उद्भट विद्वान गत ५००-७०० वर्षों में नहीं हुआ। वे अपनी धुन के पक्के थे, एक बार जिस कार्य को अपने हाथ में ले लिया उसे पूरा करके ही छोड़ते थे। आगम साहित्य के अधिकारी विद्वान् होने के साथ वे सुधार वादी निष्पक्ष विचारक थे पंथ व्यामोह उन्हें छु तक नहीं गया था। मुनिनाम धारी लोगों में उन्हें कोई श्रद्धान नहीं था बल्कि शिथिलाचार देखकर उन्हें दुःख होता था। तथा वे उन्हें जिन शासन को मलिन करने वाले कहते थे।

'अष्टांगहृदय' जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ की टीका लिख कर उन्होंने अपने आयुर्वेद-ज्ञान की दुंदुभी चारों ओर बजा दी एवं 'काव्यालंकार' तथा 'अमरकोष' जैसे ग्रंथों की टीका लिखकर तत्कालीन भारतीय विद्वानों में अपना सर्वोच्च स्थान बनाया। वे दार्शनिक थे और अपने दार्शनिक ज्ञान को प्रकाशित करने के लिये 'प्रमेय रत्नाकर' नामक ग्रंथ की रचना की। उनका 'भरतेश्वराभ्युदय' एव 'राजीमती विप्रलंभ' काव्य शास्त्र की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। आशाधर आगम साहित्य की तरह विधि विधान के भी पूरे जानकार थे। 'जिनयज्ञकल्प' अपर नामा 'प्रतिष्ठा-सारोद्धार' उनकी प्रतिष्ठा संबन्धी उत्कृष्ट रचना है। इस प्रकार यह कहना चाहिये कि आशाधर ने ऐसा कोई विषय नहीं छोड़ा जिस पर उनकी लेखनी न चली हो। वे सिद्धहस्त विद्वान थे। और इसीलिये वे तत्कालीन युग में पंडित से बढ़ कर महा पंडित कहलाए। आशाधर द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या २१ होगी लेकिन दुःख है कि उन में से कुछ प्रमुख ग्रंथ अप्राप्य हैं।

आशाधर श्रद्धालु भक्त थे। भूपाल चतुर्विंशांति पर उन्होंने संस्कृत में टीका लिखी है। उसमें विद्वत्ता के साथ २ उनका भक्ति भाव से सराबोर हृदय प्रदर्शित होता है। उन का जिनसहस्रनाम एक दृष्टि से और भी उल्लेखनीय ग्रंथ है जिसमें श्रीवीतराग प्रभु का एक हजार नामों से स्तवन किया गया है। इस पर तथा अन्य ग्रंथों पर स्वयं उनकी लिखी हुई स्वोपज्ञ टीकायें भी हैं। नलकच्छपुर उनकी साहित्यिक रचनाओं का केन्द्र था। यहीं से वे सारे जगत को अपना साहित्यिक सन्देश सुनाते थे। वे प्रतिभाशाली विद्वान थे उनके सान्निध्य में बड़े २ विद्वान एवं साधु भी अध्ययन कर अपने को गौरवान्वित समझते थे। व जहाँ कहीं भी जाते अपनी रचनाओं का प्रचार किया करते थे और इसी का फल है कि प्रायः सभी ज्ञान भंडारों में उनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं।

आशाधर के अनेक मित्र एवं प्रशंसक थे। उनकी प्रेरणा से वे ग्रंथ रचना किया करते थे। पंडित 'जजाक' ने उन्हें 'त्रिषष्टिस्मृति' शास्त्र रचने को प्रेरित किया तथा महीचन्द साहु ने उनसे 'सागर धमम्मृत की टीका' लिखने का अनुरोध किया। अनगार धर्मामृत की टीका हरदेव शास्त्री की कृपा से हो सकी थी। पंडित जी लोक प्रिय विद्वान थे। वे अनेक उपाधियों से विभूषित थे। उनकी रचनायें उस समय इतनी अधिक लोकप्रिय बन गई थी कि जनता उन्हें 'आचार्य कल्प' कहने लगी थी। उनकी काव्य शास्त्र की विद्वत्ता से मुग्ध होकर उन्हें 'कलि-कालिदास' के नाम से पुकारने लगे थे। दर्शनशास्त्र के पूर्ण अधिकारी होने से उन्हें 'नय विश्वचक्षु' की उपाधि से सम्मानित किया गया था। वे अथाह ज्ञान के धारक थे। ज्ञान की कोई सीमा उनके पास नहीं थी अपरमित ज्ञान के भण्डार थे और इसी लिये उन्हें प्रज्ञा-पुंज भी कहा जाता था। उनकी विद्वत्ता का लोहा जैनेतर विद्वानों ने भी माना है। मालवाधिराज अर्जुन वर्मा के गुरु बालसरस्वती महाकवि मदन उनके निकट अध्ययन करते एवं विंध्यवर्मा के मंत्री कवीश विल्हण सदा उनकी प्रशंसा किया करते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महा पं० आशाधर अपने समय के ही नहीं किंतु आज भी साहित्य क्षितिज के जगमगाते नक्षत्र हैं और आशा है आगे भी सैकड़ों वर्षों तक इनका नाम गौरव के साथ लिया जायगा।

"अपने मानव जीवन का मूल्य आंकना प्रत्येक नर-नारी का कर्तव्य है। जीवन के अमूल्य क्षणों को सांसारिक भोगों में गमा देना बुद्धिमत्ता नहीं है। किन्तु आत्म-साधना के साथ देश धर्म और जाति के हित में लगादेना कहीं अच्छा है"

दूसरे जीवों के साथ अच्छा व्यवहार कीजिए

(शिवनारायण सक्सेना, एम० ए०)

व्यक्ति समाज में रहता है, बिना समाज के उसका काम नहीं चल सकता, साधु सन्यासियों तक को किसी न किसी प्रकार समाज पर निर्भर रहना पड़ता है। इसलिए मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा जाता है। समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार है जो राज्य का ही एक बदला हुआ रूप है, इसमें सभी एक दूसरे के दुःख सुख में सम्मिलत होते हुए अपने कर्तव्यों को समझने, सेवा करना तथा सभी प्रकार की सहायता करना ही प्रत्येक सदस्य का लक्ष्य होता है। यदि छोटे होने पर माता-पिता-भाई बहिन की सेवाएँ, धन, और सहायता प्राप्त करते हैं तो उनकी सेवा करने का भार भी हम पर आता है इसलिए एक हाथ आदि लेने के लिये खुला रहता है तो दूसरे हाथ से देते भी हैं। आनन्द जो देने में है वह लेने में नहीं, बालक जब जन्म लेता है तो माता-पिता सुभाव ग्रस्त रहकर भी उसका पालन पोषण कर प्रसन्नता और आनन्द का अनुभव करते है यदि माता-पिता जन्म देकर ही उसे छोड़ देते तो उसकी क्या स्थिति होती, इस कल्पना मात्र से ही हमारे हृदय में भय उत्पन्न हो जाता है। कहने का मतलब यह है कि परिवार के सम्बन्धियों के और पड़ोसियों के सहयोग, सेवा, और सहायता पर ही बड़े होते है। सम्बन्धों की आत्मीयता, तथा ममत्व की अधिकता ही माता को अपने पुत्र की पीड़ा अपनी पीड़ा अनुभव होती है। पर हमारा यह प्रेम, यह ममत्व संकुचित दायरे में बन्धा हुआ है, ठीक है यहीं तो हमारे प्रेम का पौधा बड़ा होता है, इसे खाद, जल, और प्रकाश देकर आगे भी बढ़ाना है, अपना दृष्टि कोण बदलना है, परिवार का जो प्रेम है उसे पड़ोसियों, गाँव, नगर, जिला, प्रान्त और राष्ट्र के स्तर तक बढ़ाना है, महापुरुषों के जीवन को गहराई से जब हम देखते है तो उन्हें भूतल अपना परिवार जान पड़ता है, आत्मीयता को राष्ट्र तक लाकर भी हमें चुप नहीं बैठना है फिर तो 'जय जगत' या 'विश्व-बंधुत्व' की भावनों को अपनाना होगा।

परिवार में जैसे एक व्यक्ति को दूसरे के दुःख में दुखी और सुख में प्रसन्न होते देखते हैं वैसे तत्वदर्शी और समाज सुधारक राष्ट्र की चिन्ता में व्याकुल रहते हैं वह किसी को भूखा, नंगा, अशिक्षित और बीमार देखना नहीं चाहते। कहाँ तक इस देश के इतिहास की गौरव मयी गाथाएं बताएं, यहां के लोगों ने शत्रुओं की सेना तक को सहायता पहुँचाकर आदर्श उपस्थित किया है। सन् १८२८ की बात है गोदावरी नदी के किनारे बाजीराव पेशवा और निजामुल्मुल्क के बीच घमासान युद्ध चल रहा था, मुसलमानों की बुरी तरह हार हुई, खाने पीने तक का सामान समाप्त होने लगा जिससे अनेक सैनिक मौत के मुँह में जाने लगे, इसी बीच मुसलमानों का पर्व भी निकट आ गया, अन्न के अभाव से मुसलमानों की बुरी स्थिति होने लगी। निजाम ने पेशवा से अन्न समाप्त हो जाने और भूखे, मरने की खबर दूतों के हाथ भेजी। इस सूचना को पा पेशवा ने मंत्रियों से सलाह ली मंत्री बोले 'अच्छा अवसर आया है, इस समय आक्रमण करके शत्रुओं के दांत खट्टे किये जा सकते है, योग्य व्यक्ति तो ऐसे अवसरों में मोकों में रहते हैं। अतः श्रीमन, इस पुण्य अवसर का लाभ हम लोगों को भी उठाना चाहिए। अन्न न भेजकर उनपर हमला करना चाहिए, पेशवा ने सुनने को तो बात मंत्रियों की सुनली, पर लगी बड़ी बुरी क्योंकि मंत्रियों की सलाह में स्वार्थ परता की गन्ध आरही थी, पेशवा ने यही कहा" हमारी सबसे बड़ी कायरता होगी यदि भूख से मरती सेना को हम किसी प्रकार की सहायता न दें, इसलिए मंत्रियों ने नौकरों को बुलाकर शीघ्र ही अन्न भण्डार से अन्न निकाल कर मुसलमान सैनिकों की रक्षा करो "इसका परिणाम जगतविदित है, निजाम ने कृतज्ञता प्रकट की और अन्त में पेशवा से सन्धि करली।

सभी को अपने समान मानने की भावना सब लड़ाई झगड़े, हिंसा, क्रोध, द्वेश और प्रतिशोध का अन्त कर देगी, अपने गोरख धन्धे में लगे रहने वाले व्यक्ति समाज में कभी श्रद्धा नहीं पाते, जो अपने लिये ही खाते, कमाते और जीवित रहते हैं वे तो निम्न कोटि के प्राणी हैं फिर उनमें पशुओं में अन्तर ही क्या रहता है? दूसरों को भूखा देखकर अपने सामने से जो भोजन की थाली हटा देता है वही तो सच्चा प्रेमी और दयालु कहलाता है, राजा रन्तिदेव स्वयं भूखे रहकर भी दूसरों को दान देते और सहायता करते थे, ४८ दिन तक जल पीकर रहने वाले रन्तिदेव

कितने दुर्बल हो गये होंगे इसका आसानी से हम अनुमान लगा सकते हैं बाद को कोई सज्जन पकवान की थाली लेकर उसके सम्मुख आये, उसे भी ईश्वर की कृपा समझकर ४८ दिन के भूखे परिवार ने ईश्वर को भोग लगाकर प्रसाद समझकर पाने की तैयारी ही की थी, कि अचानक कोई ब्राह्मण देवता आ पहुँचे। उन्हें अतिथि समझकर उन्हें भोजन कराया और अपना सौभाग्य माना कि आज भी अतिथि को बिना खिलाये हमें न खाना पड़ा। अतिथि को विदा ही किया था, कि एक शूद्र आया, उसने भोजन की इच्छा प्रकट की, और तब तक एक चांडाल कुत्तों को लेकर आ पहुँचा थोड़ा सा भोजन तो था ही वह भी उन सब में वितरित कर दिया। अब यही सोचा कि थोड़ा सा जल जो शेष है इसी को सब थोड़ा-थोड़ा बाँट कर पीलें पर वह भी उनके लिये न था एक चाण्डाल जिसका गला प्यास से सूखा जा रहा था, दौड़ा-दौड़ा उधर आया और पानी की याचना करने लगा, धन्य है रन्तिदेव की उदारता और दयालुता जो बचा हुआ जल भी चाण्डाल को देकर प्यास बुझाई, और स्वयं परिवार के सभी सदस्य उस दिन भूखे और प्यासे ही रहे।

जिस व्यक्ति में हमारा ममत्व होता है उसके दुःख को हम देख नहीं सकते उसे कोई परेशान करे, धमकी दे, तो हम बदला लेने के लिये अथवा रक्षा करने के लिए दौड़ पड़ते हैं जो व्यक्ति अपने हैं उनके दुख, दरिद्रता तथा परेशानियों को दूर करना हमारा कर्त्तव्य हो ही जाता है जिन्हें पराया समझते है, उनके दुःख को हम देखते रहते हैं और कष्ट देने में भी कोई संकोच नहीं होता, इस तरह से अब यह बात सिद्ध हो गई कि समस्त बुराइयों की जड़ो अपने और पराये के भेदभाव में है। यदि सबको अपना समझें, सबके साथ अपने प्रिय जनों जैसा व्यवहार करें तो समाज में सुखी जीवन सभी व्यतीत कर सकते हैं। महात्मा गान्धी ने कहा भी है 'तुम्हारे कार्य से किसी को दुःख न पहुँचे. इसका ध्यान रखना, एवं इसके अनुसार कार्य करना तुम्हारा कर्त्तव्य है।' पर आज के व्यक्ति में इतनी स्वार्थ परता आ गई है कि उसका कुछ कहना ही नहीं व्यवहार में थोड़ी सी कमी आ जाने पर भी माता, पिता, भाई, बहिन और चाचा ताऊ इत्यादि से भी अथवा सम्बन्ध विच्छेद कर लेते है. खेती. मकान या अन्य किसी भी सम्पत्ति के मामले को मार पीट, हत्या और मुकदमें बाजी तक हो जाती है, इसका तात्पर्य यही कि अपने भी अब पराये हो गये, पर यदि पराये व्यक्तियों को अपना बनाने की कला हममें आजाये तो अनेक समस्याएँ सुलझ सकती हैं। महाभारत में दूसरे प्राणियों के साथ भी अच्छा व्यवहार करने की बात कही गई है :—

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत्-कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥

अर्थात—जो स्वयं जीवित रहना चाहता है वह दूसरों की हिंसा कैसे करे? मनुष्य अपने लिये जिन बातों की इच्छा करता है—वही दूसरों को भी प्राप्त हों—यही सोचना चाहिए।

दूसरों की सेवा और सहायता को तो अलग कीजिए, जान बूझकर दूसरे प्राणियों को सताना, कत्ल करना, और मारना कितना बड़ा पाप है? इस तरह की कुत्सित भावना जैसे-जैसे मन में बढती जाती है हमारा जीवन संकट में पड़ता जाता है, फिर उस संकट से बचना बड़ा कठिन होता है, इस हिंसक शक्ति से बचने का एक ही माध्यम है और वह है अहिंसा, प्रत्येक प्राणी से प्रेम रखने की भावना ही अहिंसा में छुपी है। देवर्षि नारद ने आठ पुष्पों की अर्चना से ईश्वर के प्रसन्न होने का संकेत किया है उनमें पहला पुष्प अहिंसा (अहिंसा प्रथम पुष्प) ही बताया है। यह पुष्प जहाँ भी चढ़ाया जाता है सफलता प्राप्त की जा सकती हैं। आज युद्ध की विभीषिकाओं, तथा सेना पर होने वाले व्यय से सभी राष्ट्र परेशान हैं फिर भी युद्ध की तैयारियों से अपना पिण्ड छुड़ाना नहीं चाहते, इमर्सन ने चेतावनी दी थी "पता नहीं युद्ध मनुष्यों को इतना प्रिय क्यों है जबकि उसे मनुष्य एक दम प्रिय नहीं हैं।" इसी सम्बन्ध में टालस्टाय का कथन भी स्मरण हो आता है "सेना हत्या करने का साधन है। सेना को बनाना या रखना हत्या करने की तैयारी करना है 'हिंसा' मारकाट से शान्ति नहीं मिल, सकती क्या खून से खूनधुल सकता है।"

संसार में अधिक से अधिक व्यक्ति तक अहिंसा की बात पहुँचे, और अहिंसा के साम्राज्य की स्थापना हो तो हिंसा की भयकरता से बचा जा सकता है, क्योंकि विनाश की इस प्रकृति के सम्बन्ध में जार्ज बर्नार्डशा ने बड़े जोर

उदार शब्दों में कहा था हिंसा का अर्थ है अन्त में मानवता का समूल नाश। यही कारण है कि आत्मा उसे स्वरक्षणीय वस्तुओं को विनाशक समझती है। महावीर महात्मा बुद्ध, ईसा, टालस्टाय और गान्धी इसी आत्मा की पुकार है।" क्रोध, लोभ और मोह ही हिंसा की जड़ हैं, क्योंकि दूसरे के द्वारा अपमानित होने, बुरा भला कहने अथवा किसी प्रकार अहं पर चोट पहुंचने पर हम बदला लेने पर उतारू हो जाते हैं, स्वयं मारते हैं, पुलिस में रिपोर्ट कर देते हैं अथवा थोड़े बहुत रुपये खर्च करवा कर दूसरों से उसकी हत्या ही करवा देते हैं, दूसरे के द्वारा छोटी सी की गई बुराई प्राण घातक बन जाती है। क्रोध पर सिवाय क्षमा के और कोई काबू पाई नहीं सकता, जयशंकर प्रसाद के अनुसार 'क्षमा से बढ़कर किसी बात में पाप को पुण्य बनाने की शक्ति नहीं है।'

अनेक व्यक्तियों ने हिंसा को अपनी जीविकोपार्जन का साधन बनालिया है, कसाई का कार्य ठीक ऐसा ही है। मांस बेचकर पैसे प्राप्त करना और अपनी उदर पूर्ति करना कितना निम्न कोटि का कार्य है, चमड़े, हड्डी, मांस आदि के लिए ही पशुओं की हिंसा की जाती है, बहुत से तो दूसरों से हजार पांचसों रुपया लेकर व्यक्तियों तक को मार देते है, जरा विचार करिये। यह कितना घृणित कार्य है? मोह के फन्दे में फंसे अनेक मानव अपने धर्म कार्य को ठीक चलाने या सन्तान प्राप्त करने, मुकदमा जीतने और विवाह सूत्र में बन्धने की इच्छा से पूर्व में ही देवी देवताओं व मन्दिर में पशु बलि की मनौतियां करते हैं, एक ओर सन्तान प्राप्त करने की इच्छा तो दूसरी ओर ईश्वर की एक सन्तान जो बकरी, भेड़, गाय, या भेंस है उसकी बलि चढाने की किसी मन्दिर में तैयारी। यह स्वार्थपरता की पराकाष्ठा है। फिर आजकल फैशन के नाम कितनी हिंसा हो रही है इसको कल्पना करते ही विवेकशील व्यक्ति का तो माथा ठनकने लगता है। रेशमी कपड़ों का बढ़ता हुआ फैशन घर-घर में घुस चुका है, चमडे के प्रयोग को ही लीजिए हाथ में बेगके रूप में, कलाई में घड़ी के फीते के रूप में, कमर में पेटी के रूप में जेब में मनी बेग के रूप में और पैर में जूतों के रूप में चर्म का प्रयोग किया जा रहा है, आजकल जो चमडा मिलता है उसमें ६५ प्रतिशत चमडा जीवित पशुओं को मारकाट कर तैयार किया गया होता है, गांवों में दीन, हीन, दुर्बल खूँटे पर बंधे अपनी मौत मरने वाले पशु बहुत कम होते हैं, हम तो थोड़े रुपयों के लिये कसाई या दलाल को अपने पशु दे देते हैं और क्षणिक लाभ उठालेते हैं, पर वह दलाल उस बूढ़े या जवान पशु को कसाई के घर तक पहुंचा देता है, जहाँ उसकी हत्या की जाती, खराब चमड़े से फैशन की वस्तुएँ नहीं बन सकतीं, उस से ग्रामीण प्रयोग की भद्दी तथा काम की उपयोगी वस्तुएँ बनाली जाती हैं, सुन्दर तथा फैशन की वस्तुएँ जीवित पशु को मारकर ही बनाई, जाती हैं।

इस लिए भाइयो ! हिंसा को पूरी तरह से हटाना ही होगा। अज्ञान का काला पर्दा तो अब तो हटा ही देना चाहिए, किसी भी जीव का अस्तित्व समाप्त करना, मार पीट कर या हत्या करके उसे तड़फाना, और दुःख देना जैसी अनेक बुराइयां हिंसा के पीछे काम करती हैं फिर हिंसक क्या सुख की नींद सो सकता है? उसकी शक्ति का ह्रास होता है, नरक दुख भोगता है और पापी कहलाता है। सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा है "अपने पराये का भेद मिटाना ही सबसे ऊँचा धर्म है।" इस भेद भाव के मिटते ही अहिंसा की ज्योति हमारे मन में जलने लगती है जिससे हिंसा रूपी अन्धकार को पलायन करना पड़ता है, सभी दृष्टि कोणों से अपना कल्याण चाहने तथा मानव कल्याण की भावना को बढ़ाने के लिये हिंसा को पूरी तरह से छोड़ ही देना चाहिए। मूर्ख जीव जन्तुओं ने तो हमारा कुछ बिगाड़ा भी नहीं है फिर हम इनके साथ इतना बुरा व्यवहार क्यों करते हैं? इनके साथ तो प्रति शोध का प्रश्न ही नहीं उठता, हम तो बुद्धि जीवी तथा विवेक शील प्राणी हैं, अच्छा और बुरा सब कुछ सोचने की योग्यता सबसे अधिक है। अतः हमें जैनाचार्य श्री अमितिगति के उपदेश को गाँठ में बांधकर अपने आचरणों में अहिंसा अणुव्रत का समन्वय कर आगे बढ़ना चाहिये :—

निघ्नानेनाहिंसा मात्मा धारां निपात्यते नरके।
स्वधारां नहि शाखां, छिन्दानः किं पतति भूमौ ॥

अर्थात :—अहिंसा, आत्मा का आधार है जो पुरुष इसका विनाश करते हैं वे नर्क में जाते हैं, जो पुरुष जिस डाली पर बैठा है यदि उसे ही काटता है तो भूमि पर ही आकर गिरता है।

★★★

भगवान महावीर

(बसन्त कुमार जैन, कोल्हापुर)

—:०:—

हे वीतरागमय वीर प्रभो ! मैं भी तुम जैसा बन जाऊँ ॥

अति मृदुल दया के सागर तुम, सब से ही प्यार किया तुमने ।
कुल, जाति, धर्म, तनुके अतीत सबकोही स्नेह दिया तुमने ॥
ना वैर किसी भी प्राणी से समता यह दिखलायी तुमने ।
हर आत्माका कल्याण-मार्ग सच-सच ही बतलाया तुमने ॥

हे समता के सुविशाल दीप ! मैं भी वह दीपक बन पाऊँ ॥१॥

था तेज अहिंसा-रविका जब हिंसा-मेघों से आच्छादित ।
तुम दया-पवन बन मेघों को कर दूर अहिंसा की प्रगटित ॥
ना कलह किसीका किससे भी ऐसा ही तत्व किया द्योतित ।
जिस रत्न-अहिंसा की छविसे फिर विश्व-शांति होगीनिश्चित ॥

हे महा अहिंसा के सागर ! तुम भांति दयामय हो जाऊँ ॥२॥

वह समवशरण सम-समताका सबही लेते थे जहाँ शरण ।
सब भेद, वैर को तजकरही आते थे तुम्हरे निकट चरण ॥
सबकाही हित है स्थित जिसमें करने उस ध्वनिका आस्वादन ।
शत्रुत्व भूलकर सब प्राणी थे आत्मधर्म में लीन-मगन ॥

यों दिव्य प्रभाव तुम्हारा था ! मैं भी विशाल त्यों बन पाऊँ ॥३॥

तुममें न राग था किससे भी, तुममें न द्वेषभी था किससे ।
तुममें न मोह था रंचकभी, तुमको न चाहभी कुछ किससे ॥
जो सही-सही जाना तुमने वह बतलाया निर्हेतुकसे ।
सर्वोदयका पथ प्रशस्तसा दिखलाया केवल करूणासे ॥

हे जगतबन्धु ! समदर्शी हे ! मैं भी समदर्शी बन जाऊँ ॥४॥

कितना-क्या है हर आत्मामें यह यथार्थ तुमने दिखलाया ।
परमोन्नति हो जब आत्माकी, परमात्म वही यह सिद्ध किया,
'निज उन्नतिका हक सबको है' यह सत्य तत्त्वभी प्रकट किया ।
मिथ्या का तम-पट हटवाकर सत्यत्व-प्रभाको स्पष्ट किया ॥

हे केवलज्ञानी ! परमात्मा ! सद्‌गुण मैं तुम्हरे सब पाऊँ ॥५॥

तुमने जो धर्म दिया जग को है नाम उसीका आत्मधर्म ।
जो आत्मा इसे स्वीकार करें उन सबका है यह सार्वधर्म ॥
यह नहीं किसी कुलही जनका, यह सकल विश्वका विश्वधर्म ।
सर्वोदय इसमें रहा खुला, जग-हितकारी यह जगतद्धर्म ॥

हे त्रिभुवनके देवाधिदेव ! तुम जैसा मंगल बन जाऊँ ॥६॥

बाबू कामता प्रसाद जी

बाबू कामता प्रसाद जी जैन समाज के अच्छे सेवक उत्साही कार्य कर्ता और साहित्य तथा इतिहास के विद्वान थे। आपने मैट्रिक के बाद कोई उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाई थी। किन्तु विद्याभिरुचि और अध्यवसाय से ही अपने ज्ञान की वृद्धि की थी। जैन सिद्धान्त के ग्रन्थों के अध्ययन के साथ साथ आपने भारतीय वाङ्-मयके अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। आपकी रुचि स्वभावतः इतिहास की ओर भी गई, और अनेक ऐतिहासिक अंग्रेजी ग्रन्थों का अध्ययन भी किया। और शोध—खोज के कार्यों में भी अपना समय लगाया। भा० दि० जैन परिषद् के मुख पत्र 'वीर' का आपने वर्षों तक सम्पादन कार्य किया। जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार) की पत्रिका के भी आप सम्पादक थे। अनेक ग्रन्थों के लेखक अनुवादक तथा अखिल जैन विश्व मिशन के संचालक थे। अहिंसा वाणी और वाईस आफ अहिंसा जैसे मासिक पत्रों के सम्पादक थे।

बा. कामता प्रसाद जी कहा करते थे कि मेरे हृदय पर स्वर्गीय बेरिस्टर चम्पतराय जी की छाप पड़ी है, उन्होंने अपने जीवन में महत्वपूर्ण कार्य किया है। उसी तरह मेरी भी इच्छा विदेशों में जैनधर्म के प्रचार की है। आपने इस दिशा में उचित परिश्रम भी किया। उनका यह कार्य अद्वितीय है। वे पत्र व्यवहार में निपुण थे। कोई भी पत्र दे उसका उत्तर तत्काल देते थे। वे समाज के कर्मठ कार्य कर्त्ता थे, वे स्वयं मिशन थे और उसके प्रचार में लगे रहते थे, वे अपनी धुन के पक्के थे। और विश्व में अहिंसा का प्रचार करना चाहते थे। यद्यपि यह बहुत कठिन तथा परिश्रम साध्य कार्य है, फिर भी वे उस में अपनी शक्ति लगा कर लोक में जैनधर्म का प्रचार कर उसे विश्व धर्म बना देना चाहते थे। जो कुछ कार्य उन्होंने किया है, समाज को चाहिये कि उस कार्य को आगे बढ़ाने का यत्न करें यही उनकी श्रद्धांजलि है।

आपकी रचनाओं में संक्षिप्त जैन इतिहास, भगवान पार्श्वनाथ, भगवान महावीर, दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि आदि अनेक पुस्तकें आपकी लेखनी से प्रसूत हुई हैं। लेखन कार्य करते हुए आपका समग्र जीवन ही व्यतीत हुआ है। अखिल जैन विश्वमिशन द्वारा जैनधर्म का प्रचार करने के लिये अनेक ट्रैक्टों का निर्माण और प्रकाशन कार्य किया। जैन धर्म प्रचार की आपकी उत्कट भावना थी। और उसी लगन का ही परिणाम था कि आप विदेशों में जैनधर्म का प्रचार कर सके, और विदेशीय विद्वानों से जैनधर्म और अहिंसा पर साहित्य भी लिखवा सके। आप अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में लिखते थे। यद्यपि आपका भौतिक शरीर अब यहां नहीं रहा, किन्तु आपका यशः शरीर सदा विद्यमान रहेगा। साथ ही आपकी कृतियां आपके जीवन को अमर बनाती रहेंगी। आपकी भद्र परिणति, और मिलन सारता जन साधारण को अपनी ओर आकृष्ट किये हुए है। आपने जैन धर्म और जैन समाज की अच्छी सेवा की है। आपके आकस्मिक निधन से जैन समाज की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना कठिन है। अनेकान्त परिवार दिवंगत आत्मा की परलोक में सुख-शान्ति की कामना करता हुआ कुटुम्बीजनों के प्रति हार्दिक समवेदना व्यक्त करता है।
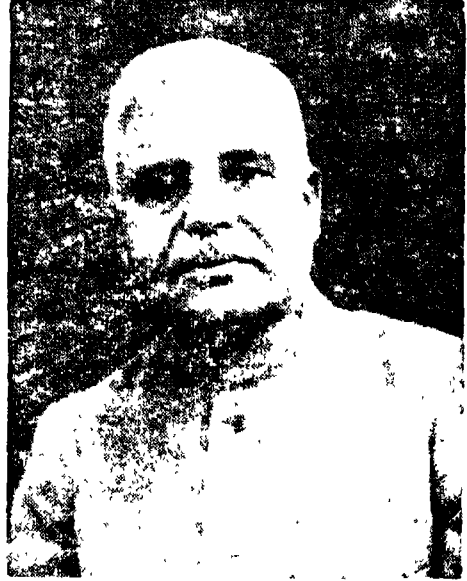
जैनसाहित्यमें आर्य शब्दका व्यवहार

(साध्वी श्री मंजुलाजी)

मनुष्य की भांति शब्दों का भी अपना इतिहास होता है और उसे जानने के लिए शायद साहित्य से बढ़कर कोई पर्याप्त माध्यम नहीं होता। क्योंकि साहित्य में जो तथ्य अनायास और निरुद्देश्य उल्लिखित होता है वह अति रंजन और अरंजन दोनों से अनाविल रहकर अवतरित होता है। अतः सच्चाई के बहुत निकट होता है।

शब्द भावाभिव्यक्ति का साधन मात्र है, इसलिए शब्द का स्वयं में कोई अधिक मूल्य नहीं है। लेकिन एक दूसरे के भाव शब्दों के सुकोमल यान पर पर्यारूढ़ होकर एक दूसरे की आत्मा का स्पर्श करते हैं, अतः शब्दों का कम मूल्य भी नहीं है।

यों तो मनुष्य की भांति शब्द भी अनादि कालीन ही है लेकिन व्यक्तिशः हर शब्द की क्षेत्रीय सीमा व काल-मान पृथक्-पृथक् होता है। तथा यह भी होता है कि एक शब्द उद्भव के समय चरम उत्कर्ष की स्थिति में होता है और कालान्तर में वही अपकर्ष की स्थिति में पहुँच जाता

(पृष्ठ ४६ का शेष)

के चन्द्रमा (पट्टधर) सुहससि (शुभचन्द्र) थे।१४ इसके आगे भोजराज का वंश आदि परिचय देते हुए उसके या उसके पुत्र संसारचन्द के राज्यकाल में सं० १४७१ में घटित एक धर्म प्रभावक घटना का उल्लेख हुआ है।१५ तदुपरान्त घत्ता-२ में संघाधिप ब्रह्मदेव (अमरसिंह मन्त्री के पिता) ने जिस गुरु के उपदेश से वह धर्मकार्य किया था उनका नाम दिया है—मुद्रित प्रशस्ति में यह नाम 'पहचन्द गुरु' प्राप्त होता है।१६ किन्तु ऐसा लगता है कि प्रतिलिपिक या मुद्रक के दोष से 'सु' का 'प', अर्थात् 'सुहचन्द' का 'पहचन्द' बन गया। यहां निश्चय ही इन्हीं भ० शुभचन्द्र से आशय रहा प्रतीत होता है, किन्हीं प्रभाचन्द्र से नहीं।१७ बीकानेर से प्राप्त एक प्रतिमा लेख में भ० शुभचन्द्र की शिष्या डाहीबाई का तथा एक अन्य में केवल उनका अपना नामोल्लेख पाया जाता है, किन्तु इन अभिलेखों में समय निर्देश कोई नहीं है।१८

इस प्रकार भ. शुभचन्द्र का सुनिश्चित ज्ञात समय वि. सं. १४७१-१४६४ है। इनके पट्टधर भ. जिनचन्द्र की सर्व प्रथम ज्ञात तिथि वि. सं. १५०२ है। अतएव शुभचन्द्र का निधन सं. १४६४ और १५०२ के मध्य किसी समय हुआ हो सकता है। किंतु यदि जिनचन्द्र की पट्टारोहण तिथि १५०७ ही हो और उससे पूर्वका उनका सामान्य मुनिजीवन गुरु के जीवन काल में ही बीता हो तो शुभचन्द्र की मृत्यु वि. सं. १५०६-७ में हुई होनी चाहिए भ. शुभचन्द्र के पट्टकाल का प्रारंभ वि. सं. १४७१ के पूर्व तो अवश्य ही हुआ किन्तु कितना पूर्व या कब हुआ यह उनके स्वयं के पूर्व पट्टधर भ. पद्मनन्दि की अन्तिम तिथि के निर्णयपर निर्भर है। क्रमशः

---

१४. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भा०२ पृ० न०१०१, पृ० १२८ इस पुस्तक के विद्वान सम्पादक पं० परमानन्द जी ने प्रशस्ति के इस अंश के जो अर्थ लगाये हैं वे ठीक मालूम नहीं होते देखिये उसी की भूमिका पृ० १७, ८६, १२६, १३०

१५. वही—१६. वही

१७. संभवतया 'सु' का 'प' हो जाने की भूल के कारण ही 'पं' परमानन्द जी ने भूमिका (पृ० ८६) में यह लिख दिया कि 'उस समय पद्मनन्दि के शिष्य भ० प्रभाचन्द्र पट्टधर थे'। वस्तुत प्रभाचन्द तो पद्मनन्दि के गुरु थे। शिष्य नहीं। इस नाम के उनके किसी शिष्य का पता नहीं चलता।

१८. बीकानेर जैनलेखसंग्रह, न० १८६२ और २८३८

है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शब्द आता तो है अतिशय व्यापकता लिए और बाद में धीरे-धीरे संकीर्ण होता चला जाता है।

भारतीय संस्कृति के प्रतीक आर्य शब्द के साथ यही हुआ है। वह एक विराट अर्थ लेकर आज भारतेतर देशों से आई हुई एक जाति विशेष के अर्थ में ही रूढ़ हो गया है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने आर्य जाति के बारे में जो लिखा है वह यों है—"भारतीय जातियों व संस्कृति की मूलाधार ये ही चार जातियां थी - निषाद, द्रविड़, किरात व आर्य। इनमें आर्यों का स्थान सर्वोपरि रहा है, इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"भारतवर्ष में अनेक जातियों के लोग समय-समय पर आकर बसते रहे हैं, और उन्होंने अपने ढंग से जीवन व्यतीत करने की प्रणालियां एवं विचार विकसित किए हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में समस्त सामग्री उपलब्ध नहीं है। जहां कहीं भी सुसभ्य जाति को मानवों से सुदूर स्थानों में रखा, वहां वह बची रह गई है, उनकी भाषाओं द्वारा ही उसका अध्ययन सम्भव है। लेकिन निष्कर्ष के रूप में भारतीय जन समुदाय की ऐतिहासिक-धार्मिक और विचारगत विशेषताओं को लेकर बनी हुई संस्कृति के निर्माण में सबसे बड़ा हाथ आर्यों की भाषा का रहा। आस्ट्रिक और द्राविड़ों द्वारा भारतीय संस्कृति का शिलान्यास हुआ था और आर्यों ने उस आधार शिला पर जिस मिश्रित संस्कृति का निर्माण किया है, उस संस्कृति, का माध्यम, उसकी प्रकाशभूमि एवं उसका प्रतीक यही आर्य भाषा बनी। प्रारम्भ में संस्कृत, पाली, पश्चिमोत्तरीय प्राकृत (गांधारी), अर्ध मागधी अपभ्रंश आदि आदि रूपों में तथा बाद में हिन्दी, गुजराती, मराठी, उड़िया, बंगला और नेपाली आदि विभिन्न अर्वाचीन भारतीय भाषाओं के रूप में भिन्न-भिन्न समयों एवं प्रदेशों में भारतीय संस्कृति के साथ इस भाषा का अविछेय सम्बध बन्धता गया।[1]

इसी पुस्तक में आगे यह भी बताया गया है कि केवल भारत में ही ३५०० वर्ष पुराना आर्य भाषा का अविच्छिन्न इतिहास उपलब्ध होता है तथा भारत में आर्यों का आगमन प्राचीनकाल के विश्व इतिहास में अपेक्षाकृत अर्वाचीन या आधुनिक घटना है। इस विषय में अपना मत प्रदर्शित करना दुस्साहस सा दिखाई देता। फिर भी यह समय ई० पू० दूसरी शताब्दी के मध्य से अधिक प्राचीनतर तो नहीं हो सकता[2]। आगे चलकर इसी काल को आर्य भाषा व साहित्य मात्र का आदि काल माना है। उपरोक्त तथ्य परस्पर बहुत विसंवाद लिए हुए हैं। आर्यों के आगमन व साहित्य मात्र का काल एक ओर ई० पू० १५०० वर्ष माना है तथा वेदों को आर्यों का ही निजी साहित्य माना है जबकि वेदों की प्राचीनता ई० पू० ३००० वर्ष प्रमाणित हो चुकी है। फिर आर्यों को भी इतने लम्बे काल तक लेजाना चाहिए था। इस पर लेखक ने यह तर्क दिया है कि वेद आर्यों के आगमन के पहले भी थे। बाद में वेदों व पौराणिक परम्पराओं का संस्कृत व प्राकृत में आर्यीकरण हो गया। यह भी नहीं जचता, क्योंकि आर्यों की प्राचीनतम भाषा संकृत मानी जाती रही है और वेद भी संस्कृत में थे व हैं। अगर वेदों का बाद में संस्कृतीकरण हुआ है तो उसका पहला रूप भी उपलब्ध होना चाहिए। दूसरे में आर्यों का यहां स्वयंभूत होना रूढ़िवादी हिन्दुओं की मान्यता कही जाती है, लेकिन आर्यों के आगमन की बहुमत तिथि २०० वर्ष ई० पू० मानी गई है, जबकि आर्य शब्द का उल्लेख इस पूर्ववर्ती जैन, बौद्ध और वैदिक वाङ्‌मय में प्रचार मात्रा में मिलता है। अतः बहुत सम्भव है आर्य यहां की स्वयंभूत जाति रही हो। खैर, यहां आर्य शब्द मात्र जाति विशेष को लेकर आया है। ये सारे मतभेद आर्य जाति की उत्पत्ति व आगमन को लेकर हैं, लेकिन यहां का विश्लेषणीय आर्य शब्द व्यापक अर्थ में होगा, अतः यहां इन सारे तर्कों का कोई प्रयोजन नहीं है। यहां तो केवल स्पष्टीकरण किया गया है कि प्रस्तुत लेख के आर्य शब्द को समागत जाति के रूप में न देखा जाए।

"सन् १६३५ में फारस ने अपना नाम बदलकर ईरान रखा। जिसका आर्यन शब्द से सम्बन्ध है। यह यहूदी लोगों के साथ जातिभेद को स्पष्ट करने के लिए किया गया था।" यहां की आर्यन शब्द जाति विशेष का ही प्रतीक बनकर आया है, लेकिन प्राचीन भारतीय साहित्य में आर्य शब्द का प्रयोग श्रेष्ठता व कुलीनता के अर्थ में हुआ है।

१—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ १४-१५

२—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ ३०

अभिज्ञानशाकुन्तल में राजा, विदूषक, ऋषिकुमारों आदि सभी के लिए आर्य शब्द व्यवहृत हुआ है, जबकि जाति सबकी भिन्न-भिन्न थी। जैन साहित्य और भी व्यापकता लिए हुए है। वहां आर्य शब्द किसी एक ही अर्थ की सीमा में बंधा हुआ नहीं रहा।

जैन आगम व आगमेतर दोनों ही प्रकार के साहित्य में आर्य शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। आगमों में शायद ही ऐसा आगम हो जहां किसी न किसी अर्थ में आर्य शब्द का उल्लेख न हुआ हो। बहुत सारे स्थलों पर एक ही अर्थ में आर्य शब्द को दोहराया गया है तथा नवीन अर्थों की स्फुरणा भी काफी जगह हुई है। प्रस्तुत लेख में कुछ एक आगमों तथा आगमेतर ग्रन्थों में व्यवहृत आर्य शब्द का विश्लेषण किया जा रहा है।

प्रज्ञापना के प्रथम पद में आर्य शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, क्षेत्रार्य आदि-आदि। यहां आर्य शब्द अनेक अर्थों में तो प्रयुक्त हुआ है पर सर्वांगीण व्यापकता फिर भी नहीं आई। यहां बताया गया है कि आर्य वह है, जिसकी जाति आर्य है, कुल आर्य हैं। कर्म आर्य का मतलब है, जिसकी क्रियाएँ सम्यक् हों। यह फिर भी थोड़ा व्यापक है, लेकिन उन कार्यों में वह कर्म आर्य कर्म हैं जो लोक में अनिन्दनीय हैं, फिर चाहे वे कितना ही क्रूर क्यों न हों वे श्रेष्ठ कर्म भी आर्य नहीं गिने जाते जो लोक में गर्हणीय हों। यही बात क्षेत्रार्य के बारे में है। जैन आगमों में साढ़े पच्चीस आर्य देशों का उल्लेख आता है। उस समय जो देश आर्य गिने जाते थे उनमें से कइयों में आज आर्यता का लेश भी नहीं है। कई देशों के नाम बदल गए हैं तो कई नए देशों में शिष्टता व आर्यता का बहुत अच्छा विकास हुआ है। ऐसी स्थिति में आर्य शब्द की उपरोक्त परिभाषाएं शाश्वतिक न होकर सामयिक हैं, यह अनुमान सहजता से हो जाता है।

उमास्वाति ने मनुष्य को दो भागों में बांटा है, १आर्य और म्लेच्छ। जैन सिद्धान्त दीपिका में इसी का विश्लेषण करते हुए बताया गया है--मनुष्य मात्र के जो दो भेद हैं२, आर्य और म्लेच्छ, उनमें आर्यों को अनेक भागों में विभक्त किया गया है३। जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, क्षेत्रार्य आदि। यह सारे अर्थ प्रज्ञापना में प्ररूपित अर्थ के ही संवादक हैं। तत्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य में एक जगह आर्य शब्द का दूसरा अर्थ भी किया गया है। वहां अनेक प्रकार के आर्य बतलाए गए हैं। उनमें एक शिल्पार्य भी बताया गया है और शिल्पार्य४ में तन्तुवाय, कुलाल, नापित, तुन्नवाय आदि को गिनाया गया है। इनको आर्य इसलिए कहा है कि ये अल्प सावद्य और अगर्हित आजीविका करने वाले होते हैं।

पृथ्वीचन्द्र चरित्र में आर्य और अनार्य की एक अन्य परिभाषा दी गई है। साधु जहां विहार५ करते हैं, वहां के लोग आर्य और साधुओं का जहां विरह हो, वहां के लोग अनार्य हो जाते हैं। इसलिए आज वे भी देश अनार्य हो गए जो पहले आर्य थे। यहां त्याग के संस्कार विशेष रूप से आर्य बनते थे, ऐसा सूचित होता है।

औपपातिक सूत्र में भगवान की देशना का वर्णन है। वहां बताया गया है कि आर्य६ और अनार्य सभी अपनी भाषा में उस प्रवचन को सुनते हैं और परिणत करते हैं। यहां आर्य और अनार्य में विभिन्न भाषा भाषी देशों के लोगों के लिए व्यवहृत हुआ है। सूत्रकृतांग में एक स्थान पर अनारम्भी७ के अर्थ आर्य शब्द आया है। वहां दूसरी जगह भगवान के विशेषण के रूप में८ आया है जो श्रेष्ठत्व

१--आर्या म्लेच्छाश्च क (तत्वार्थ अ० ३ सू० १५)

२--आर्या म्लेच्छाश्च (जैनसिद्धान्तदीपिका प्र० ३ सू० २३)

३--तत्राद्या जातिकुलकर्मादिभेदभिन्नाः (जैन सिद्धान्त दीपिका प्र० ३ सू० २४)

४--शिल्पार्या :--तन्तुवाय, कुलाल नापित तुन्नवाया अल्प-सावद्य अगर्हित जीवाः (तत्वा० स्वोपज्ञ भाष्य)

५--विहारात् विरहात साधो, रार्याभूता अनार्यिका, अनार्या अभवद्देशा कृत्यार्या अपि सम्प्रति (पृथ्वीचन्द्चरित्र)

६--तेसिं सव्वेसिं आरिय मणारियाणं अप्पणो समासाए परि-णामेण परिणमइ। आरिय मणारियाणं आर्य देशोत्पन्न तदितरन्नाराणां (सू० ३४ उ० धर्मकाथा अधिकार)

७--आरिए जाव सव्व दुक्खपहीण मग्गे (सू० १ श्रु० २ अ० १ धर्म अधर्म पदा) ५--आरिएहि पवेइए (आ० अ० ७ आयं स्तीथी कृद भी (उ० ३ सू० २०४)

८--अज्जेति समणे भगवं महावीरे (सू० श्रु० २ अ० १ पंडुरिक)

का सूचक है। आचारांग में समागत आर्य शब्द का अर्थ[१] टीकाकार ने तीर्थंकर किया है। दूसरी जगह आर्य शब्द का जो अर्थ किया गया है, वह अत्यन्त व्यापक है। उसके अनुसार कोई भी कभी भी और कहीं भी आर्य कहला सकता है। वहां तीन चार विशेषण आए हैं—आर्य[२], आर्यप्रज्ञ, आर्यदर्शी आदि। टीकाकार ने यहां आर्य का अर्थ किया है—[३] समस्त हेय धर्मों से दूर चला गया अर्थात् जो चरित्र के योग्य है, वह आर्य है। जो आर्य-प्रज्ञावान है, वह आर्यप्रज्ञ तथा जो न्यायोपपन्नता से देखता है, वह आर्यदर्शी है। आगे चलकर हिंसक को अनार्य और अहिंसक को आर्य की संज्ञा दी है। वहां जो ऐसा करने वाले हैं कि सब जीवों को मारना[४] चाहिए, छेदना चाहिये वे तो अनार्य हैं और जो आर्य हैं, वे उनके प्रलाप को दुष्ट और दुःश्रुत कहते हुए समग्र जीवों को अघात्य और अवध्य बतलाते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में आर्य शब्द का कई अर्थों में प्रयोग हुआ है। वहां आया है, निर्जरार्थी आर्य धर्म को स्वीकार करे। यहां 'आर्य धर्म' शब्द जैन धर्म के लिए नहीं, श्रेष्ठ धर्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। १० वें अध्ययन में दुर्लभता बताते हुए आर्यत्व को अति दुर्लभ बताया है। यहां भी आर्यत्व गुण का वाचक है। जहां आर्य की समता[५] की श्लाघा की गई है, वहां आर्य शब्द समताशील के अर्थ में प्रयुक्त हुआ लगता है।

आर्य की भांति अनार्य शब्द का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ है जिस से आर्य शब्द का और भी सर्वांगीण विश्लेषण होता है। हरिकेशी मुनि के कृश शरीर व स्वल्प सामग्री को देखकर यज्ञ स्थल में ठहरे हुए सारे कुमार आदि हंसने लगे। उन्हें अनार्य[६] कहकर पुकारा गया। यहां अनार्य शब्द असभ्यता व अज्ञानता का द्योतक है। इसी तरह मिथ्या[७] दृष्टियों व पार्श्वस्थों[८] को भी अनार्यों की श्रेणी में गिनाया गया है।

दशवैकालिक में भोग लिप्सु[९] के लिए अनार्य शब्द का प्रयोग दिया गया है। जब मुनि परिस्थितियों से घबराकर पुनः गृहवास की इच्छा करता है, तब आचार्य उसे ललकारते हुए अनार्य शब्द का प्रयोग करता है। आर्य शब्द का व्यवहार अधिकांश तथा संयतभाव के लिए हुआ करता था। वहीं पर एक जगह धर्मपद के लिए आर्यपद[१०] शब्द दिया है।

कहीं-कहीं नाना और दादा, नानी और दादी के लिए भी आर्यक[११] व आर्यिका शब्द आए हैं जो अवश्य अवस्था व अनुभवों की प्रौढ़ता तथा परिपक्वता के द्योतक हैं।

जैनागमों व आगमेतर ग्रन्थों में बहुत सारे स्थलों पर आर्य शब्द का प्रयोग हुआ है जो लगभग इन्हीं अर्थों का प्रतिनिधित्व करता है। इससे स्पष्ट है कि आर्य शब्द जो बाहर से आकर भारत में बसी हुई एक जाति विशेष के लिए प्रयुक्त होता रहा है, वह अतीत में बहुत ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था। इस शब्द को जहां तक खोजा गया है उससे भी पुराना है। इसका आदि इतिहास गहरी शोध के बाद ही जाना जा सकता है।

१—आरिए अरियपन्ने, आरियदंसी (आ० ज० ५ उ० ५ पा० ८८)

२—आरात्यात्-सर्व हेय धर्मम्य इत्यार्थ चरित्राहः, आर्या प्रज्ञा यस्यासावार्य प्रज्ञः आर्य प्रगुदृश न्यायोपपन्नं पश्यति तच्छीलाश्चेत्यार्यदर्शी।

३—अणारिय वयणमेव तत्थ जे आरिआ त एवं—सव्वे पाणा न हन्तव्वा (आ० उ० ४ उ० २ सू० १३४)

४—अरियत्त पुणरवि दुल्लहं (उ० अ० १० श्लोक १५)

५—अहो अज्जस्स सामया (उ० अ० २० श्लोक ८)

६ पस्सो वहि उवगरणं उवहसन्ति अणारिया। उ० अ० १२ श्लोक ३२)

७—ए व तु समणा एगं मिच्छादिट्ठि अणारिया (सू० सु० प्र० अ० १२३, श्लो० १०)

८—एवं मेगे उपासत्था पन्नवन्ति अणारिया (सू० श्र० प्र० अ० ३ उ० ४ श्लोक ५)

९—अणज्जो भोग कारणा (द० चू० १ श्लोक १ च० २)

१०—पवेयए अज्जपयं महामुणी (द० अ० १० श्लोक १८)

११—अज्जए पज्जए वावि (द० अ० ७ श्लोक १८)

अज्जिए पज्जिए वावि द० अ० ७ श्लोक १५)

अयोध्या एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर

(परमानन्द शास्त्री)

अयोध्या एक प्राचीन ऐतिहासिक नगरी है, जो वर्तमान में उत्तरप्रदेश राज्य के अवध नामक इलाके में फैजाबाद जिले के अन्तर्गत सरयू नदी के किनारे पर अवस्थित है। और जिसकी गणना भारत की प्राचीनतम महा नगरियों में की जाती है। जैन संस्कृति के अनुसार अयोध्या सभ्य-संसार की सबसे पहली नगरी है। श्रमण संस्कृति के प्रवर्तक आद्यतीर्थंकर आदि ब्रह्मा ऋषभदेव की और अन्य चार तीर्थंकरों की जन्म भूमि होने के कारण उसकी महत्ता स्पष्ट है। इतना ही नहीं; किंतु अन्य अनेक महापुरुषों की जनक रही है। इस कारण जैन संस्कृति में तो उसकी महत्ता है ही। किन्तु भारतीय संस्कृति में भी उसकी महत्ता आंकने योग्य है।

जैनों, हिन्दुओं, बौद्धों में ही नहीं किन्तु मुसलमानों में भी इसे तीर्थ रूप में माना जाता है। और यहां प्रायः सभी धर्मों की अनुश्रुतियों का उनके साहित्य में उल्लेख मिलता है। इतनाही नहीं किन्तु उक्त धर्मों के धर्मायतन भी बहु संख्या में पाये जाते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह नगरी बाद में विविध धर्म संस्थापकों का केन्द्र बनती रही है। बुद्ध और महावीर के युग में उनके अनुयायियों की महत्ता रही है। पश्चात विविध धार्मिक सन्तों के समय समय होने पर उनका अभ्युदय होता रहा है। इक्ष्वाकु या सूर्यवंशियों के समय जैनियों और हिन्दुओं का प्रभुत्व रहा है।

प्राचीन काल से इसे बहुत अर्से तक राजधानी बनने का भी गौरव प्राप्त रहा है। नाभिराजाके प्रपुत्र और ऋषभदेव के पुत्र भरत सम्राट जिनके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा, अयोध्या के शासक थे। इक्ष्वाकु वंशियों और सूर्य वंशी राजाओं ने यहां दीर्घ काल तक राज्य किया है। और उसके बाद अन्य अनेक वंशों के राजाओं ने शासन किया है। उस समय अयोध्या की समृद्धि अकल्पनीय थी। अयोध्या का जितना महत्व जैनियों को प्राप्त है उतना ही महत्त्व सनातन धर्मियों और बौद्धों आदि को भी प्राप्त है।

अयोध्या में जैनियों के पांच तीर्थंकरों और दो चक्रवर्तियों के जन्म लेने का उल्लेख जैन साहित्य में पाया जाता है। और यहां उनके अलग अलग पांच मन्दिर भी बने थे। यद्यपि इस समय जैनियों के प्राचीन मंदिर वहां नहीं हैं, और जो हैं वे १७ वीं १८ वीं शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं जान पड़ते। प्राचीन मन्दिर कालदोष या साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण विनष्ट कर दिये गये हैं। जैसा कि आगे के इतिवृत्त से ज्ञात होगा।

जैन साहित्य में इस नगरी का अयोध्या, अउज्झाउरि, अवधा, सुकोशला, कोशलपुरी, साकेत, विनीता, इक्ष्वाकु भूमि और रामपुरी आदि अनेक नामों से उल्लेख किया गया है१। आदि पुराण में जिनसेन ने लिखा है कि-अयोध्या नगरी की रचना देवों ने की थी, और उसे वप्र प्राकार और परिखा आदि से अलंकृत बनाई थी, कोई भी शत्रु उसमें युद्ध नहीं कर सकते थे२। वह प्रशंसनीय सुन्दर मकानों और ध्वजाओं से अलंकृत होने के कारण साकेत कहलाती थी३। मानों वे पताकाएं भी अपनी भुजाओं से संकेत ही कर रही हैं। कोशलदेश में होने के कारण सुकोशला और विनय-वान शिक्षित एवं सभ्यलोगों से व्याप्त होने के कारण विनीता कहलाती थी। इक्ष्वाकु राजाओं की जन्मभूमि और राजधानी होने के कारण इक्ष्वाकुभूमि, रामचन्द्र के जन्म के कारण रामपुरी, और अवध प्रान्त में होने के कारण 'अवधा' कहलाती थी। पउमचरिउ में अयोध्या को बारह योजन लम्बी और नौ योजन विस्तीर्ण बतलाया है४। हरिषेण कथाकोश५ में अयोध्या और साकेत नामों का अनेक कथा-

---

१. विविध तीर्थकल्प पृ० २४

२. अरिभिः योद्धुं न शक्या आदिपुराण।

३. साकेतैः सह वर्तमाना साकेता आदिपुराण १२,७५,७६ पद्मचरित ३, १६६, १७०

४. पउमचरिउ २, १३ भगवती आराधना ९४१, तिलोयपण्णत्ती४-८०

५. ततो गङ्गा नदी तीरे वरे पश्चिम दक्षिणे।
अस्ति कोशल देशस्था साकेता नगरी परा।
हरिषेण कथा कोष०कथा१२७ पृ० ३१२।

स्थलों पर उल्लेख किया गया है। भगवती आराधना और तिलोय पण्णत्ती आदि जैन ग्रन्थों में उसका उल्लेख है। यशस्तिलक चम्पू में सोम देव ने अयोध्या को कोशल देश में बतलाया है१ तथा मगधदेश में प्रसिद्ध अयोध्या के राजा सगरचक्रवर्ती का उल्लेख किया गया है२।

वैदिक साहित्य में अयोध्या

वेदत्रयी में कहीं भी अयोध्या या कोशलदेश का उल्लेख नहीं है। किंतु अथर्ववेद खण्ड दो में एक स्थान पर लिखा है कि– 'देवताओं की बनाई हुई अयोध्या में आठ महल, नवद्वार और लोहमय धन भंडार है। यह स्वर्ग की भांति समृद्धि सम्पन्न है३। शतपथ ब्राह्मण में केवल एक स्थान पर 'कोशल' का नाम आया है। हां, प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनीय व्याकरण के एक सूत्र में 'कोशल' का उल्लेख अवश्य हुआ है४।

पतंजलि महाभाष्य में 'अरुणद्यवनः साकेतम्' दिया है जिसमें एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया है, और बतलाया है कि यवनों द्वारा साकेत पर आक्रमण किया गया था। यद्यपि पंतजलिने उक्त प्रकरण में उसका कोई परिचय नहीं दिया, किन्तु यूनानी लेखकों के वर्णन से स्पष्ट है कि उस राजा का नाम मिनन्डर था और उसके सिक्कों पर भी उसका नाम प्राकृत भाषा में अंकित मिलता है। उस की दृष्टि पाटलीपुत्र (पटना) पर अधिकार करने की थी, अतः उसने मथुरा पर अधिकार कर लिया, क्यों कि साकेत को जीतने के लिये मथुरा पर अधिकार करना आवश्यक था पश्चात उसने साकेत पर घेरा डाला५। पर बाद में उसे भागना पड़ा। परन्तु प्राचीन ब्राह्मण साहित्यका अयोध्या के सम्बंध में मौन होना इस बात का द्योतक है कि प्राचीन काल में इक्ष्वाकु या सूर्य वंशी क्षत्रियों की उपासना का प्राधान्य था, और वैदिक ब्राह्मण सभ्यता वहां बाद में पहुँची।

ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी पूर्व के लगभग महर्षि बाल्मीकि द्वारा रामायण ग्रन्थ के रचे जाने पश्चात् ब्राह्मण परम्पराने अयोध्या के प्राचीन महापुरुष रामचन्द्र को अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। उस समय उत्तरापथ के शासक मगध के ब्राह्मण जातीय शुंगनरेश थे, जिन्होंने श्रमणों और बौद्धों पर बड़े अत्याचार किये थे। ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धार का श्रेय भी उन्हें दिया जाता है। उस समय प्राचीन याज्ञिक क्रिया काण्ड रूप धर्म में क्रान्ति आगई थी, और औपनिषदिक के अध्यात्म प्रधान वैदिक धर्म ने पौराणिक हिन्दू धर्म का रूप लेना प्रारंभ कर दिया था। उसी समय से अयोध्या हिन्दू धर्म का केन्द्र बनने लगी थी। अतएव गुप्त काल में वैष्णवधर्म के अवतार वादके विकास एवं प्रचार के परिणाम स्वरूप अयोध्या की गणना हिन्दू धर्म के प्रमुख तीर्थों में होने लगी थी।

बाल्मीकि रामायण में६, कालिदास के रघुवंश में७, कुमारदास के जानकी हरण और भव-भूति के उत्तर रामचरित आदि ग्रन्थों में अयोध्या का सुन्दर नगर के रूप में वर्णन किया गया है। किन्तु भागवत में उसका उत्तर कौशल के रूप में ही उल्लेख हुआ है। (भागवत ९–१९–८)

बौद्ध साहित्य में अयोध्या

बौद्ध साहित्य में अयोध्या का उल्लेख साकेत और विशाखा के रूप में मिलता है। दिव्यवादान के अनुसार— 'स्वय मागतं स्वयमागतं साकेतं साकेतमिति संज्ञा संवृत्त'— अर्थात् जो आप ही आया आपही आया, इस कारण उसका

१. कोशलदेश मध्यायामयोध्यायां पुरि, पृ० २९३

२. मगध मध्य प्रसिद्धचाराध्द्यामयोध्यायां नरवरः सगरो नाम यशस्तिलक पृ० ३५१।

३—अष्ट चक्रा नव द्वारा देवानां पूः अयोध्या।
तस्यां हि हिरण्मयः कोशः स्वर्गोज्योतिषावृतः॥

४—वृद्धे कोसला जादा जञ्यङ्; ४, १, १७१।

५—देखो, जैनेन्द्र महावृत्ति की भूमिका पृ०–१० ११।

६—अयोध्या नाम तत्रास्ति नगरी लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरैव निर्मिता स्वयं॥
आयता दश चर्के च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा नानासंस्थानशोभिता॥
—बालकाण्ड

७—आसीद् वनन्यासनिभोगभागा—
दिवोऽ वतीर्णा नगरीय दिव्या।
तत्रानलेस्थान शर्मी समृद्धया,
पुरीमयोध्येति पुरी परार्ध्या॥ —रघुवंश

नाम साकेत पड़ गया।' साकेत और विशाखा में बुद्ध के कुछ चातुर्मास बिताने और उनकी दतोन से वृक्ष उत्पन्न हो जाने की घटना का उल्लेख मिलता है। चीनी यात्रियों ने अपने यात्रा विवरणों में साकेत और विशाखा का उल्लेख किया है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि बुद्ध के समय में और उसके कई सौ वर्ष के पश्चात् भी अयोध्या आदिनाथ आदि जैनतीर्थकरों की उपासना का केन्द्र बन रही थी। ऊपर साकेत की जो व्युत्पत्ति उद्धृत की गई है, वह इस नगर को स्वयं निर्मित होने की आदिम कालीन अनुश्रुति की समर्थक है। दूसरे कोसल राज्य की नूतन राजधानी श्रावस्ती को बौद्ध धर्म का केन्द्र बनाया जाना इस बात का सूचक है कि वहां जैनियों की प्रबलता थी। यही कारण है कि दशरथ जातक में राम के पिता दशरथ को काशी का राजा बतलाया और सीता को दशरथ की पुत्री, और फिर उसी के साथ राम के विवाह की बात उल्लिखित की गई है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि बुद्ध का सम्बन्ध अयोध्या से न होकर विशाखा (श्रावस्ती) से रहा है। और उनके बाद किसी समय अयोध्या में हीयमान सम्प्रदाय के कुछ स्तूप और संघाराम आदि वहां बने हुए थे। जिनका उल्लेख ईसा की ७ वीं शताब्दी में चीनी यात्री हुएनसांगने किया है।

महात्मा बुद्ध का जन्म कोशल देश के 'कपिलवस्तु' नामक नगर में हुआ था और परिनिर्वाण कुशीनगर में। महावीर और बुद्ध के समय कोसल नरेश प्रसेनजित की राजधानी श्रावस्ती में ही अनाथ पिण्डक द्वारा बनवाया हुआ जेतवन नामक विहार था। और विशाखा नाम की प्रसिद्ध उपासिका का पूर्वाराम भी श्रावस्ती के निकट होने की बहुत कुछ संभावना है। इस तरह अयोध्या बुद्ध के पश्चात् ही किसी समय उनके धर्म का स्थान बनी। जब बुद्धधर्म का संस्थान बनी तब भी वहां जैनधर्म मौजूद था।

मुसलमानी शासन में अयोध्या

सनातन, बौद्ध और जैनधर्मों को छोड़कर इस्लाम धर्मका सम्बन्ध अयोध्या के साथ अर्वाचीन है। परन्तु मुसलमानों का कहना है कि आदमके समय से ही अयोध्या विद्यमान है। तब तक अनेक पीर और औलिये इस नगर में होते रहे हैं१ आदमके दोनों बेटों की कब्रें (अयूब और शीसकी) अयोध्या में बतलाई जाती हैं। सम्राट् अकबर का मंत्री अबुलफज़ल भी दो कब्रों का वहां उल्लेख करता है। 'इस नगर में दो बड़ी कब्रें हैं एक छह गज लम्बी और दूसरी सात गज लम्बी। जन साधारण का विश्वास है कि ये कब्रें अयूब और शीसकी हैं२। अयोध्या एक खुर्द (छोटी मक्का) के नाम से प्रसिद्ध है।

११ वीं शताब्दी से पूर्व संभवतः मुसलमानों ने अयोध्या का नाम भी न सुना था। महमूद गजनवी पहला मुसलमान सुलतान था, जो लूट-खसोट करता हुआ भारत के मध्य प्रदेश में प्रविष्ट हुआ था, किन्तु वह अयोध्या तक नहीं पहुँच पाया था। उसका प्रतिनिधि और भानजा सैयद सालार मसऊदगाजी जो गाजी मियां और बाले मियां के नाम से लोक में प्रसिद्ध है। प्रथम मुसलमान सरदार था जिसने अवध पर आक्रमण किया था। वह अयोध्या भी पहुँचा था३। किन्तु अयोध्या के तत्कालीन राजा श्री वास्तव ने, जो जैनधर्माव-लम्बी था, गाजी मियां को भगा दिया था४। पश्चात् वह गाजी आगे बढ़कर सन् १०३२ (वि० सं० १०८६) में श्रावस्ती पहुँचा, जहां श्रावस्ती के तत्कालीन जैन नरेश सुहिलदेवने कोडियाला (कोशल्या) नदी तट पर होने वाले युद्ध में ससैन्य परास्त कर सन् १०३३ में मार डाला गया५। फारसी तबारीख में लिखा है। कि कुटिलानदी के किनारे महुए के वृक्ष के नीचे एक तीक्ष्ण बाण लगने से सैयद-सालार का जीवन-प्रदीप बुझ गया।५

सन् ११६४ ईस्वी में मुहम्मद गौरी का भाई मखदूम शाहजूरन गौरी सेना लेकर अयोध्या पर चढ़ आया। उसने वहां के सबसे प्राचीन भगवान आदिनाथ के विशाल मन्दिर को नष्ट कर दिया, और स्वयं भी उसी स्थान पर युद्ध में

१—देखो, मदीनतुल औलिया।
२—देखो, आयने अकबरी भा० २ पृ० २४५
३—देखो, फारसी ग्रन्थ दर बिहिस्त।
४—देखो, अवध गजेटियर भा० १ पृ० ३
५—निज्द दरियाय कुटिला जेर दरख्तों गुलचिकों।
ब जर्वे नावक हमचूं मीजान शहीद सुदन्द॥
देखो, सैलाते मसजवीअनुवाद मीराते मसऊदी।

मारा गया और उसी स्थान पर दफनाया गया। इसी कारण वह स्थान शाहजूरन का टीला कहलाता है। जिनमन्दिर वहाँ थोड़े समयबाद पुनः बन गया, किन्तु बहुत समय तक उस मन्दिर का चढ़ावा शाहजूरन के वंशज ही लेते रहे। जो अब तक अयोध्या के बकसरिया टोले में रहते थे१।

इस घटना के बाद ५० वर्ष में अयोध्या पर मुसलमानों का पूरा अधिकार हो गया।

दिल्ली के शाही राज्य में अयोध्या

तुर्क पठानों के शासन काल में अयोध्या पर अनेक मुसलमान शासक रहे, परन्तु उन्होंने अयोध्या की कोई श्री वृद्धि नहीं की। सन् १२२६ और सन १२४२ ईस्वी में नसीरुद्दीन नवासी और कम उद्दीन कैरान अयोध्या के शासक रहे हैं। जब जौनपुर में उसकी सल्तनत स्थापित हुई तो अयोध्या पर भी उसका अधिकार हो गया। यहां अनेक मुसलमान फकीर होते रहे हैं। उर्दू और हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अमीर खुशरो भी अयोध्या में आया और उसने वहां के दो प्रसिद्ध मुसलमान फकीरों (फजलअब्बास कलन्दर और मूसा आसिकान) के आग्रह पर अपने सिपहसालार मीरबाकी के द्वारा अयोध्या के प्रसिद्ध राममन्दिर को तुड़वाकर उसके स्थान पर उसी की सामग्री से मस्जिद बनवा दी। यद्यपि अकबर के शासन काल में कुछ हिन्दू व जैन मन्दिर पुन. बन गये, किन्तु औरंगजेबने उन्हें फिर तुड़वा दिया। मुगल शासन काल में अयोध्या का नाम फैजाबाद रख दिया गया और वह सूबा अवध की राजधानी रही।

अयोध्या के श्रीवास्तव नरेश

श्री वास्तव राजाओं ने अयोध्या पर तीन सौ वर्षों के लगभग राज्य किया है। सन् १८७० ईस्वी में श्री पी० कारनेगी ने लिखा था कि अयोध्या का यह सरयू पारी राज्य वंश जैनधर्मानुयायी था। अनेक प्राचीन देहुरे व जैन धर्मायतन जो आज विद्यमान हैं। मूलतः इन्हीं राजाओं के बनवाए हुए थे२। इन सबका जीर्णोद्धार हो चुका है। लाला सीताराम ने अपने इतिहास में लिखा है कि—'अयोध्या के श्री वास्तव कायस्थों के संसर्ग से बचे रहे, तो मद्य नहीं पीते और बहुत कम मांसाहारी हैं। इसी से अनुमान किया जाता है कि यह लोग पहले जैनी ही थे३। १२ वीं शताब्दी तक के श्री वास्तव बड़े प्रसिद्ध थे और ठाकुर कहलाते थे। फैजाबाद और उसके आस पास के जिलों में अब भी ब्राह्मणों और ठाकुरों के बाद हिन्दू समाज के प्रतिष्ठित अंग माने जाते है। मुसलमानों द्वारा इनकी राजसत्ता का अन्त हो जाने पर भी ये लोग दीवान, सूबेदार, कानूनगो आदि विभिन्न प्रशासकीय पदों पर काम करते रहे हैं। और धीरे धीरे मुन्शीगिरी इनका पेशा बन गया।

अयोध्या के वर्तमान जैन मन्दिर

अयोध्या में दिगम्बर जैनियों के ५ मन्दिर विद्यमान हैं, जिन का सामान्य परिचय निम्न प्रकार हैं—

१ आदिनाथ मन्दिर—यह मन्दिर स्वर्ग द्वार के पास मुराईटोले में एक ऊँचे टीले पर है जिसे शाहजूरन के टीले के नाम से पुकारा जाता है। यह वही स्थान है जहाँ पर सन ११९४ ईस्वी (वि० सं० १२५१) में मुहम्मद गौरी के भाई मखदूम शाह जूरन गौरी ने सब से पहले इस प्राचीन विशाल जैन मन्दिरको नष्ट किया था, और स्वयं भी काल का ग्रास बना था। वहीं उसकी कब्र बनाई गई थी। यह मन्दिर उसी स्थान पर पुनः बनाया गया था। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्व का है। यह आज भी शाहजूरन के टीले के नाम से प्रसिद्ध है।

दूसरा मन्दिर अजितनाथ का है—जो इतौंआ (सप्त सागर, के पश्चिम में हैं। इसमें एक मूर्ति और शिलालेख है। इसका जीर्णोद्धार सं० १७८१ में नबाब शुजाउद्दौला के खजांची दिल्ली निवासी लाला केशरीसिंह ने नबाब की आज्ञा से किया था।

तीसरा मन्दिर अभिनन्दन नाथ का है, जो सराय के पास है, यह भी प्रायः उसी समय का बना हुआ है।

१—अयोध्या का इतिहास पृ० १४६

२—अयोध्या का इतिहास पृ० १५२-१५३

3. A Historical Sketch of Faizabad, सन् 1870

४. अवध गजेटियर भा० १ सन १८७७ तथा अयोध्या का इतिहास पृ० ११५

जैनधर्म-तर्क सम्मत और वैज्ञानिक

(मुनि श्री नगराज)

जैन धर्म केवल आस्थाओं का ही धर्म नहीं, वह पूर्ण तर्क सम्मत और वैज्ञानिक है। आज के बुद्धिवादी युग में धर्म के नाम से जीवित रह सकने वाली कोई वस्तु है तो जैन धर्म है, जिसका प्रत्येक पहलू यौक्तिक और सहेतुक है।

जैन धर्म बताता है—अहिंसा हमें इसलिए मान्य है कि हमारी तरह सभी प्राणी जीना ही चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इस स्थिति में किसी को किसी की हिंसा करने का अधिकार नहीं।

जैन धर्म बताता है विश्व अनादि अनन्त है। इसका कोई पुरुष विशेष या अपुरुष विशेष सृष्टा नहीं है। यदि विश्व का किसी एक दिन प्रादुर्भाव हुआ और उसका कोई सृष्टा है तो प्राणी जगत और मानव जगत में दीखने वाली ये विविधाएं निर्हेतुक ठहरती हैं, क्योंकि विश्व की आदि से पूर्व कर्म तो थे नहीं तो फिर सृष्टा ने एक को पशु और एक को मनुष्य क्यों बनाया? विश्व की आदि से पूर्व अनन्तकाल तक वह सृष्टा क्या रहा? उसे उसी दिन विश्व संघटना की बात क्यों सूझी? जैन धर्म मानता है, बीज से वृक्ष और मनुष्य से मनुष्य जिस प्रकार आज पैदा होता है, वैसा ही क्रम अतीत में सदा ही रहा है और अनागत में भी सदा ही रहेगा, इसलिए विश्व स्वयं में अनादि अनन्त है।

जैन धर्म बताता है—स्याद्वाद हमें इसलिए मान्य है कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को अभिव्यक्त करने के लिए हम एक साथ एक ही स्वभाव को व्यक्त कर सकते हैं। स्याद्स्ति और स्यान्नास्ति हमें इसलिए मान्य हैं कि पदार्थ स्वयं इसी प्रकार व्यक्त होना स्वीकार करते हैं।

चौथा मन्दिर सुमतिनाथ का है, जो राम कोट के भीतर है अवध गजेटियर के अनुसार इस मन्दिर में भगवान पार्श्वनाथ की दो और नेमिनाथ की ३ मूर्तियों विराजमान हैं।

पांचवा मन्दिर अनन्तनाथ का है, जो गोला घाट के नाले के पास एक ऊँचे टीले पर है। इसका दृश्य सुन्दर है। दर्शनार्थी यात्रियों को चाहिये कि वे इन मन्दिरों का दर्शन पूजनादि कर उनके उद्धार आदि में अपना सहयोग प्रदान करें।

दर्शनेश्वर

अयोध्या का यह वर्तमान स्थान बहुत ही सुन्दर और चित्ताकर्षक है। इसका नाम दर्शनेश्वर है जिसकी लम्बाई चौड़ाई २८०००गज है और जिसके चारों ओर आठ फुट ऊँची और दो फुट चौड़ी एक पक्की दीवाल बनी हुई है। दो बड़े दरवाजे हैं जिनके साथ कुछ कोठरियां बनी हुई है। दो पक्के कुए हैं जिनमें मशीन से पानी निकाला जाता है। यह दर्शनेश्वर बाग राजा डुमरावन का था, जिसे अयोध्या के राजा ने खरीद लिया था। और अब अयोध्या के राजा से जैन समाज ने खरीद लिया है। इसमें आदिनाथतीर्थंकर ऋषभदेव की ३१ फुट ऊँची एक विशाल भव्य मूर्ति विराजमान की गई है। उसके चारों ओर दर्शन पूजनादिका स्थान रहेगा। उक्त मूर्ति के विराजमान होने से उस स्थान की शोभा दुगणित हो गई। छतरी आदि के निर्माण और प्रतिष्ठा कार्य सम्पन्न होने पर यह स्थान धर्म साधन के लिए बहुत ही सुन्दर रहेगा। यदि समाज का पूर्ण सहयोग मिला तो यह स्थान अपने उत्कर्ष द्वारा जैन संस्कृति के प्रचार में सहयोगी हो सकता है। जैनाचार्य श्री देश भूषण जी की इच्छा उसे सुन्दरतम बनाने की है, वह सुदिन कब आवेगा।

कवि धनदास रचित अज्ञात कृति—

भव्यानंदपंचाशिका–भक्तामर स्तोत्र का अनुवाद

(मुनि श्री कान्तिसागर)

भक्ति-तत्त्व

अन्य भारतीय दर्शनापेक्षा जैनदर्शन में ईश्वर की स्थिति भिन्न है। पर भक्ति–तत्त्व को किसी न किसी रूप में अंशतः जैन साहित्यकारों ने अपनाया है। अपने इष्टदेव-आराध्य-पूज्य के प्रति हार्दिक श्रद्धाभाव प्रकट करने का समुचित माध्यम भक्ति ही है। कहने की शायद ही आवश्यकता रह जाती है कि जैन-भक्ति की परिसमाप्ति "संयम" में होती है। जैन संस्कृति में भक्ति साधन है न कि साध्य। वह केवल हृदय की ही वस्तु नहीं अपितु इसका क्षेत्र मस्तिष्क भी है। जहां भक्ति को दर्शनका रूप मिलता है वहां वह अपना मूल्य बहुत बढ़ा देती है। जैनों ने भक्ति का स्वरूप विस्तृत माना है, केवल "ईश्वरानुरक्ति" तक ही सीमित नहीं रक्खा, जैसे वल्लभमतानुयायी मानते आये हैं। "श्वेताश्वतर" उपनिषद् में "भक्ति" शब्द का व्यवहार इसी अर्थ में हुआ है। "श्रद्धा" जैन संस्कृति का प्राण है। यों तो वैदिक साहित्य में भी "श्रद्धा" का व्यवहार प्रचुर परिमाण में हुआ है, पर इसका संपूर्ण अर्थघटन तदुत्तरवर्ती साहित्य में ही सम्भव हो सका है। परन्तु जैन साहित्य में इस शब्द का सक्रिय महत्त्व रहता है। श्रद्धा का मूर्त रूप अपनी-अपनी संस्कृति के मूल आधारों पर ही संभव है। यह बात भक्ति के लिए भी कही जा सकती है। सच बात तो यह है कि "भक्ति" एक ऐसा व्यापक तत्त्व है कि उसे शब्दों की सीमा में आबद्ध नहीं रक्खा जा सकता। व्यवहारिक रूप से दूसरे का सहारा लेना या चाहना ही "भक्ति" का शब्दार्थ है। "भक्तिसूत्र" के बाद भास्कर ने इसे और भी व्यापक बना दिया। यद्यपि पाणिनी के समय में भक्ति का अर्थ दूसरे का सहारा लेना "या चाहना" रहा होगा, आगे चल कर वह स्नेह पात्र और वात्सल्य का प्रतीक बन गया। साहित्यिक विश्लेषकों द्वारा प्रथम अर्थ लुप्त हो द्वितीय अर्थ का ही अस्तित्व शेष रह गया।

भक्ति में दो तत्त्वों की प्रधानता रहती है—एक तो स्वयं साधक और दूसरा साध्य, जिसके प्रति वह आत्म-समर्पण कर संतुष्टि का अनुभव करता है। परन्तु जैन दर्शन में आत्मा ही सब कुछ है। उसका कोई नाथ नहीं। अपने उत्थान पतन में कोई साधक बाधक नहीं होता, उत्कर्ष अपकर्ष स्वाधीन है। बाहरी कोई किसी का शत्रु-मित्र नहीं, वहां तो कार्मिक प्राधान्य है। दूसरे को चाहने का सवाल ही पैदा नहीं होता। यहां तो पार्थिव का तनिक भी महत्त्व नहीं होता, अपार्थिव ही सब कुछ है। आत्मिक सौंदर्य को जगाना ही उसका एक मात्र लक्ष्य है। आत्मा के गुणों का विकास संयम के द्वारा किया जाना ही अभिप्रेत है जैन आराध्य किसी पर कृपा नहीं किया करते। वरदान और अभिशाप जो वैदिक परंपरा की देन है। जैन साधक परमात्मा से दीनता पूर्वक कुछ भी सांसारिक वस्तु की याचना नहीं करता, वह तो यही चाहता है कि परमात्मा के गुणों का प्रकाश मेरी आत्मा में फैले, और संयम में वीर्य का उल्लास बना रहे, उसके द्वारा मुक्ति की प्राप्ति हो। इन सब बातों के बावजूद भी जैनों पर वैष्णव भक्ति का प्रभाव नहीं पड़ा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैनों द्वारा रचित कई स्तुतियां ऐसी पाई जाती जाती हैं, जिनका संस्कृति की मूल धारा से कोई संबंध नहीं। कोई भी परम्परा चाहे जितनी सुदृढ़ दार्शनिक आधार शिला पर क्यों न आश्रित हो पर कालान्तर में उसमें शैथिल्य आ ही जाता है या अन्य परम्परा से प्रभावित हो ही जाती है। जैन भक्ति पर वैष्णव- वल्लभाचार्य का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। श्वेताम्बर परम्परा के मंदिरों में रचाई जानेवाली अंग रचना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

जैसा कि उपर्युक्त पंक्तियों में सूचित किया जा चुका है कि जैन भक्ति का वास्तविक स्वरूप "संयम" में प्रतिबिंबित होता है। इसी द्वारा साधक अपना अंतिम ध्येय-मुक्ति प्राप्त कर सकता है। आत्मा को कर्म से विमुक्त करने का एकमात्र यही सर्वोत्तम और समुचित मार्ग है। इसी से

स्पष्ट है कि श्रमण संस्कृति संयोग में विश्वास नहीं करती, यह वियोग के गीत गाती है-वह मृत्यु महोत्सव मनाती है जो जीवन का पूर्व रूप है। ऐहिक सुखोपलब्धि का जैन संस्कृति में स्थान नहीं है। त्याग और वैराग्यमूलक वीतरागत्व ही वहां का काम्य है। जैन स्तुति साहित्य में इसी की ध्वनि गूंजती है। जैन भक्ति व्यक्तिपूजा में तनिक भी आस्था नहीं रखती, वह गुणमूलक परम्परा की अनुरागिनी है। पूज्यता और उच्चता का आधार भी गुण ही होता है। व्यक्ति तो केवल माध्यम मात्र है। गुणानुवाद से आत्मा में गुण विकसित होते हैं। जीवन शुद्धि के मार्ग पर अग्रसर होता है और आत्म-शान्ति का पथ प्रशस्त होता है। दर्प वृत्ति समाप्त होकर शील, सौजन्य एवम् समत्व से जीवन उद्दीपित हो उठता है।

भक्तामर स्तोत्र

भारतीय स्तुति-स्तोत्र साहित्य में जैनों का स्थान अन्य तम है। संस्कृति, प्राकृत और देश भाषाओं में अनेक कृतियां रचकर साहित्य के इस अंग को जैन साहित्यकारों ने परिपुष्ट किया है। केवल भक्ति साहित्य की दृष्टि से ही इनका महत्व नहीं है अपितु इनमें से कई स्तोत्र तो दार्शनिक और साहित्यिक दृष्टि से विशेष मूल्य रखते हैं। कइयों का ऐतिहासिक महत्व भी है। यद्यपि आजके अनुसंधान प्रधान युग में इस प्रकार के साहित्य का समुचित पर्यवेक्षण नहीं हो पाया है, पर जितना भी काम हुआ है, जो भी प्रकाश में आई है उससे इनका सार्वजनिक महत्व प्रमाणित है। कइयों ने तो ऐतिहासिक उलझनों को सरलता से सुलझाया है. पर उन सभी का विवेचन यहां अपेक्षित नहीं है।

आचार्य श्री मानतुंग एक अनुभवशील स्तुति कर्ता साधक थे इनके द्वारा प्रणीत "भक्तामर स्तोत्र" भारतीय भक्ति साहित्य का अलंकार है। अनुभूति व्यक्त करते हुए आचार्य श्री ने जैन दर्शन के मौलिक तत्वों की रक्षा की है। स्तुति का उच्चादर्श और गुणमूल परम्परा का निर्वाह करते हुए आचार्य श्री ने अनुपम आदर्श स्थापित किया है। यही कारण है कि जैनधर्म के सभी संप्रदायों में इसका आदर के साथ दैनिक पाठ आज भी होता आ रहा है—होता है। व्यापकता की दृष्टि से संभवतः कोई स्तोत्र इसकी समता नहीं कर सकता। जैन साहित्य में यही एक ऐसा स्तोत्र है जिस पर विभिन्न विद्वानों की लगभग ३६ से भी अधिक टीकाएं उपलब्ध होती हैं। इसके मार्मिक महत्व को प्रकट करने वाली अनेक कथाएं, मंत्र, यन्त्रादि प्रचुर परिमाण में प्राप्त हैं। पादपूर्ति साहित्य में इस स्तोत्र का खूब उपयोग किया गया है। इतना ही नहीं भक्तामर शब्द भी इतना लोकप्रिय हो गया कि इसी संज्ञा से "सरस्वती भक्तामर" "शान्ति भक्तामर" नेमि भक्तामर" "ऋषभ भक्तामर", "वीर भक्तामर" और "कालू भक्तामर" आदि स्तोत्रों की रचना हुई।

भक्तामर स्तोत्र मूल संस्कृत भाषा में निबद्ध है। संस्कृतानभिज्ञ जन साधारण भी इसका उचित आनंद उठा सकें तदर्थ श्री हेमराज, नथमल, गंगाराम आदि अनेक विद्वानों ने इसके पद्यबद्ध अनुवाद प्रस्तुत कर इसे लोकप्रिय बनाया और भी अनुवाद उपलब्ध हैं जिनमें से कुछेक का प्रकाशन श्री मूलशंकरजी ब्रह्मचारी ने करवाया है, इन पंक्तियों के लिखते समय वह प्रकाशित सामग्री मेरे सम्मुख नहीं है।

प्रस्तुत रचना-रचनाकार—"भयानद पंचाशिका" भी भक्तामर स्तोत्र का ही एक दुर्लभ अनुवाद है जिस की एक मात्र प्रति ही उपलब्ध हो सकी है। अद्यावधि प्रकाशित किसी भी जैन हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में नहीं हुआ। अनुवाद बहुत ही मधुर और ग्वालियरी भाषा के प्रभाव को लिए हुए है। अतः जितना महत्व इस कृति का धार्मिक दृष्टि से है उससे कहीं अधिक भाषा की दृष्टि से है। विशेष सौभाग्य की बात यह है कि जिस समय अनुवाद प्रस्तुत किया गया उसी समय का लिखा हुआ भी है। इसका लेखन काल सं० १६६५ है। ग्वालियर मंडल की भाषा के मुख को उज्ज्वल करने वाली अधिकतर रचनाएं जनों की ही देन है। अनुवाद की भाषा पर दृष्टि केंद्रित करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि धनराज या धनदास ने मंडलीय भाषा का प्रयोग करते समय बहुत सावधानी से काम लिया है। इसका शब्द चयन अद्भुत है। क्या मजाल है कि कहीं कठिन शब्द आ जाय। इसमें संदेह नहीं कि कवि को संस्कृत और तात्कालिक मंडलीय भाषा पर अच्छा अधिकार था। भावों के व्यक्ति-

करण में कहीं भी शैथिल्य नहीं आने दिया है। सीमित स्थान में दूसरे के भावों की रक्षा करना सरल कार्य नहीं है। भव्यानंद पंचाशिका के अंतिम पद्य से ज्ञात होता है कि कविने एक-एक पद्य का अनुवाद एक-एक दिन में किया है। इसमें ४८ काव्य तो मूल भक्तामर स्तोत्र के हैं और दो पद्यों में अपने विषय में स्वल्प संकेत है जिस से पता लगता है कि कवि के पिता का नाम राजनंद था और वह ग्वालियर मंडलान्तर्गत स्योपुर के निवासी थे। उनका गोत्र गोलापूरब था। स्योपुर की संभवतः प्राचीन रचनाओं में यही प्रथम जान पड़ती है। धनराज या धनदास का परिवार संस्कृत साहित्य में रुचि रखता था। क्यों कि खड्गसेन-असिसेन ने इसके परिवार का विस्तृत परिचय "भक्तामर जयमाल" की अन्त्य प्रशस्ति में दिया है। यहां स्पष्ट करना आवश्यक जान पड़ता है कि भक्तामर की जो प्रति मिली है उसके एक-एक पद्य का अनुवाद तो धनराज ने किया और उसके एक-एक पद्य पर असिसेन-खड्गसेन ने १५-१५ पद्यों की एक-एक जयमाल संस्कृत भाषा में परिगुम्फित की, परन्तु प्रति के जर्जरित हो जाने से उसका संपूर्ण पाठ नहीं मिल सका है। खड्गसेन ने सूचित किया कि धनराज के गोपाल, साहिब, हंसराज आदि पांच बंधु थे, जिन में धनराज।

"तेषां मध्ये कविर्धीर धनराजो गुणालयः"

धन कवि और धीर होने के साथ अनेक गुणों का आकर था। खड्गसेन धनराज के पितृव्य श्री जिनदास का पुत्र था। –जिनदास सुतोऽसिसेनः।

चित्र :—यहां यह कहने की कदाचित् ही आवश्यकता रह जाती है कि जैनों ने भारतीय प्रशस्थ चित्र कला के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो प्राचीनतम एतद्विषयक जो भी प्रतीक उपलब्ध हुए हैं, लगभग जैनों के ही हैं। नव्य-भव्य विचारों को रूपदान देने में इसी समाज ने पहल की ऐसा कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा। जिस प्रकार पुरातन कथाओं के मार्मिक भावों को चित्र द्वारा समझाने का प्रयत्न हुआ है उसी प्रकार अपने प्रिय आराध्यों की स्तुतिमूलक रचनाओं को भी चित्रित करवा करवा कर जैनों ने अपनी कलोपासना का भली-भांति सुपरिचय दिया है। कल्याणमंदिर आदि स्तोत्रों की प्राचीन सचित्र प्रतियां मिल चुकी हैं। कतिपय भक्तामर स्तोत्र की भी प्रतियां मिली हैं। सुना है जयपुर के एक दिगम्बर जैन भंडार में इसकी पूरी सचित्र प्रति विद्यमान है। पर वह अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। जिस "भव्यानंदपंचाशिका" का यहां उल्लेख किया जा रहा है उसकी पूर्ण प्रति सचित्र है। अतः चित्र कला के इतिहास की दृष्टि से, विशेषकर स्योपुर-ग्वालियर मंडल के चित्रों की दृष्टि से, इसका महत्त्व कम नहीं। शाहजहां कालिक चित्रकला का सफल प्रतिनिधित्व इन चित्रों द्वारा होता है। इसका चित्रण समय सं० १६६४ है और चित्रकार है मनोहरदास कायस्थ। चित्रमय यह प्रति कविने स्वयं अपने लिए तैयार करवाई थी जैसा कि अन्तिम उल्लेख से प्रतीत होता है। प्रति के सम्पूर्ण चित्रों का परिचय देना तो यहां संभव नहीं है, पर हां साधारणतया किंचित् संकेत दिया जा रहा है।

प्रति का आकार-प्रकार लगभग चतुर्दिग १४ इंच है। पूरे पत्र पर चित्र अंकित हैं। मध्य में जहां कहीं भी स्वल्प स्थान मिला वहां भक्तामर का मूल पद्य प्रति लिपित है और अधोभाग में धनराज का अनुवाद दिया है। बाद में असिसेन-खड्गसेन कृत "भक्तामर जयमाल" अंकित है। कहीं चित्रों के भावों के अधिक स्पष्ट करने के लिए संकेतात्मक प्रतीक दिये गये हैं। एक चित्र के पूरे परिचय देने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता।

प्रथम चित्र में ऊपर के भाग में श्री मानतुंगाचार्य एक चौकी पर विराजमान हैं जिनके सम्मुख कमण्डल अवस्थित है। पृष्ठभाग में "श्रहं मानतुंगाचार्य" शब्द अंकित है। आचार्य करबद्ध प्रार्थना की मुद्रा में भगवान ऋषभदेव की स्तुति कर रहे हैं। सामने ही इनकी खड्गासनस्थ नग्न प्रतिकृति अंकित है। चरणों में उभय ओर मुकुटधारी अमर नत मस्तक हैं। मध्य में "भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणां" शब्द आलेखित है। ऋषभदेव के बांये हाथ के पास। देवताओं के मस्तक में धारित मुकुट की मणियों की प्रभा बिखर रही है। प्रकाश का आलेखन गजब का है। ऋषभदेव के चित्र के बांये भाग में चौगति का चित्रण है और ऊपर "आलंबन" एवम् निम्न भाग में 'भवजले पततां जनानां' प्रतिलिपित है। पत्र के नीचे के भाग में 'दलित पापतमोवितानम' लिखकर काले रंग से समुद्र बनाया गया है जिस में एक मानवाकृति तैरती हुई बनाई है।

इसी प्रकार प्रत्येक चित्र के भावों को बड़ी खूबी के साथ अंकित कर स्तोत्र को लोभोग्य बनाने का पूर्ण प्रयास किया है। प्रत्येक चित्र में चौकी पर, कहीं सिंहासन पर मानतुंगाचार्य का चित्र है। जिस चित्र का जैसा भाव है वैसी ही उनकी मुखाकृति का सृजन किया गया है। कहीं-कहीं पुस्तक रखने की ठवणी और माला भी बनाई है। किसी चित्र में आचार्य के चित्र-प्रतीक भी हैं। सभी चित्र दिगम्बर मुद्रा के परिचायक हैं। इस प्रकार ४८ चित्र मूल रचना के हैं और ४९ वां भक्तामर को आम्नाय के रूप में ग्रहण करते हुए धनराज का है जो अपने गुरु से इसका पाठ सुन रहे हैं। एक विशाल श्याम पीठ पर किसी मुनि का चित्र है। सामने पांचों बंधु जिज्ञासा की मुद्रा में करबद्ध अवस्थित हैं। यह चित्र स्वेत रंग का है। शेष चित्र रंगीन हैं, जहां जिस रंगकी आवश्यकता थी, ठीक उसी का सफल प्रयोग किया गया है।

यहां इतना कहना पर्याप्त होगा कि चित्र मुगल शैली के हैं। और प्रदेशगत चित्रकला की मौलिक सामग्री प्रदान करते हैं। चतुर्थ चित्र और अंतिम चित्रों से मुगलकालिक पहनाव का पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है परन्तु कलाकार ने मुगल प्रभाव से प्रभावित होने के बावजूद भी अपने प्रदेश के कलोपकरणों का पूरा ध्यान रक्खा है। नारी, पुरुषों के पहनाव ऐसे है कि जिसका व्यवहार आज भी उस प्रदेश में होता है। नृत्यस्वशास्त्र के प्रकाश में इन चित्रों का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट पता चलेगा चित्र कि कितनी वास्तविकता और लाक्षणिकताओं से संयुक्त हैं कलाकार मनोहरदास ने एक कमी अवश्य रख दी है कि सामान्य पुरुष और नारियों के चित्रों में जितना सौंदर्य बिखेरा हैं उतना ऋषभदेव और मानतुंगाचार्य की प्रतिकृति में नहीं। फिर भी इनकी सशक्त रेखाएं इनके अलौकिक व्यक्तित्व की गंभीर झांकी तो करा ही देती हैं। क्लासिकल आर्ट की अपेक्षा इन चित्रों को लोकचित्र कहना कहीं अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

इस प्रकार की रचनाएं और भी प्राचीन जैन ज्ञानागारों में उपलब्ध की जा सकती हैं, पर एतदर्थ अन्वेषण की अपेक्षा है। स्यौपुर की परिधि में और भी पता लगाया जाय तो अनेक ग्वालियरी भाषा की जैन रचनाएं सहज मिल सकती हैं। क्योंकि ग्वालियर-मंडल के ज्ञानभंडारों का समुचित मूल्यांकन अभी नहीं हो पाया है।

भक्तामर स्तोत्र पर आज के अनुशीलन प्रधान युग में काम होना चाहिए और उसका समीक्षात्मक संस्करण की आवश्यकता तो है ही जिस में समस्त टीकाएं और अनुवादों पर अध्ययन प्रस्तुत हो। अध्यानंद पंचाशिका का मूल इस प्रकार है :—

भक्तामर स्तोत्र हिन्दी अनुवाद

.... ही परै ऐसे जिनवरजू के भक्त अमर हैं।
जिनके मुकट सीस राजत रतन मयकंचन जटित महा सोभित...............॥
.............लटक ही प्रभुके चरण पर आभा नखनि में व्यापी मानों दिनकर है।
धनुदास सेवइ जिन चरन ....तू हर है ॥१॥
..............................आपु वांगमय करै और करि काहि आवई।
सुरलोकहू के नाथ नरलोकहू के नाथ......... ....॥
अवर जितनै भव्य त्रिभूवन मांझ वसै तिनकै हरति मनहू को भलै भावई॥
.................................गीत के वाई सो धो पारू कैसे पावई॥२॥
......................कौ हीनौ नाथ औसौ सहु चाहै तेरी संस्तुति कहन कौ।
कबहू तौ बुधन की संगति करी न............................लहन कौ॥
राकापति आभा जल माह कौ प्रकास देषै बालक कै मनु शीश हातु.........।
....राजमें कहायै भई प्रभुकी भगति उर अंतर रहन कौ॥३॥

············अनंत ग्रन ·····बंध नरकै सकति कैसे होति काहु कीबे की।
सुरगि कौ गुरु आपु संस्तुति अवगि·····················पट्ट छीबे की॥
अंबुनिधि कल्पंत काल कै पवन कैसे मनुष्य कै भुजा बलु होइ पार की·····।
············ रौ सब गुनन न्यौरै ताकी कौ भगति मति होइ दाऊ दीवे की॥४॥
······व सठनिकौ राउ है अनाथ बंधु तुम्हारी भक्ति मोपै संस्तुति करावै जू।
हौं तो निपट अयांनी ताहि जा··· तुम्हारो यौ प्रीति मेरी रसनै सिषावै जू॥
नाही कछु मेरे गुनु एकहू अधिर केरे तेरेउ प्रताप नाथ तू ही मा·········।
धनुदास·····हु मृग · कैसा मुहै सुनैं मृग हू के जीव जुरि जुद्ध कह आवै जू॥५॥
श्रुति हौं अजि वेदनि की न जानै गति मेरी बुध मंद रु ठंठ·····है।
आपु ही स्तुति आई उर कछु उपजावै गुन मैंति ······व आपु ही करति है॥
जैसे कालका किलमकी माधवी वसंत रितु अंबको कलिका कम्बी स्वै में·····है।
सबह गुण को······ि······लीन तेरे कछू प्रभुको परम प्रीत आई निवढति है॥६॥
········म नामु सुमिरै जु तेरौ नाथ ले ताके बहु जनम के पातग हरत है।
नरक जवैया जे······महैया दुष दुर्गति······उ तेरौ नामु लै भौ-सागरु तिरत है॥
तमके समान आइ आक्ताजि रहत पाप रविकै समान प्रभु उदोतु करतु है।
धनुदास पा सकयौ प्रतापु ताकौ कहौ परै धन्नि बड़भागी जे जे हृदे मैं धरत है॥७॥
त्रिभुवननाथ के साथ श्रीअनाथ बंधु तुम्हारी भगति कीयै राजै मति मोरनी।
जैसे ही कुकडु होतु चंदनु प्रवा सु तैसे ही प्रगट बुधि················नी॥
नातुरु जनम पाइ नर अवतार आइ वृथा ही गवायें गुनु············नी।
धनुदास···पंकज द···थ जैसे सोभीयति जलहू की बिंदु दुति देषयै मोतीयन की॥८॥
तुम्हारी स्तुति कीयें उमा·········रै रहौ प्रभु कापें नहीं परे दोष सबइ हरणि है।
सूछिम कथा कहानी कहै ·····कदिंच लसत ·····इ जग ही पै·····की करणि है॥
जैसे हंस अंत आइ सरमै सरोजिनी कै आनंद·········रि·········है।
तैसे······दीरघ देव दीरघ प्रतापु तेरी दीरघ गुरणि भाषी धनूका वरणि है॥९॥
तुही अद्भुतु त्रिभुवन के भूषण नाथ आपनै समान जानु आपुनु करण कौ।
जो तनु तुम्हारे गुन जानतु तिकै करि सो ·····तुम्हारे ·····रहै सरण कौ॥
और जौ सेवगु लघु-लघु वेद मुष धनुदास सेवै और कौन के चरण कौ॥१०॥
तुम्हारै वदनु देषें निरषि नयन नाथ पलकसौ पलक लगाए कैसे आत हैं।
नाहि नै त्रिपति होत रहे इक टिगुलाइ सुषकौ संमाह देषें भारी ललचात है॥
क्षीरोदधि पीयौ है जिहि छीर समता कौ मनुवा ही पयपान में मवातु है।
धनुदास सोइ केम इछवतु खारौ जलु अंमृत कौ छाडि कौउ विषफल षात है॥११॥
जे सान्त राग रुचि हती परिमाणु नाथ तिन कौ तू तिहूलोक एकै निरमापीयौ।
उतनीयै हती वे सही कै किल निश्चएन जितनी निकै जू···तेरौ रूप गुनु थापीयौ॥
और जो कनिका कहू रहै होनै भवमांझ तौ नौकौउ हो तौ और पु· · पुण्यकौ प्रतापीयौ।
धनुदास प्रभु तेरी मुरति की समता कौ देषतु न काहू सबु जगतु सपापीयौ॥१२॥

तुम्हारे वदन दुति अति ही उदित अति सूर नर उरग के लोचन हरनि है।
जाकी एक सेष कली त्रिभुवन जोति जीतै रजनी वासर सदा उदैकी करनी है ॥
कोउ कहै चंदनी को कलंक मलीन फीकौ सूर कै मदन सेतु हेतु सो डरनि है ॥
धनुदास कहा प्रभु सब के अमृत धारी कहा वह बिलंगिनी करता जरनि है ॥१३॥
संपूरण मंडल शशिके सब स्वामी तुम कलाके समूह त्रिजगत यह जानीयौ।
तुम्हारे अनत गुन जहा तहा व्यापि रहै परम पवित्र ते पुराणणि वषाणियौ ॥
तेइ गुन सुमिरि-सुमरि साधु पार भयै जौ तौ उनि मन वच हू कै उर आनीयौ।
धनुदास वेइ गुन क्यौं न आपु हृदै धरौ भटक्यौ हौं तौलौ बौलौ स्वरण प्रमानीयौ ॥१४॥
नाही अचरजू अति तुम्हारे मन की गति चली न विकार मारग कौ प्रभु प्यारे जू।
त्रिदश की अंगना अनेक सोभाश्रु पुकै कै नटी आगयौ आई विद्या ठटिकै पधारे जू ॥
ताहि देषै छिनु मनु हल्यौ न हरष तेज नीयतह आहि यह गुननि तुम्हारे जू।
धनुदास कामरूप वनु प्रलै कौ प्रभु मंदारचल की शिषाह दहै विचारे जू ॥१५॥
परम जोतीश्वर रूप जानै त्रिजगत भूपति हू लोक दीपक दिपत त्रिभुवन मे।
देगुन कलिमा धूम नाहिनै मदन तेरे वाइ रूपी क्रम सुनै न द्रुवन मे ॥
यह तौ दीपक एक खामा ही बुझाइ जाइ किनेकु प्रतापु या बहनि के सूवन मे।
धनुदास प्रभु तुम महा हौ प्रतापु पुंज पनि चित्र करौ छिनकै छूवन में ॥१६॥
रवि तौ दिन ही पति तुम तिहूलोकपति ताकी उपमा क्यौं नाथ तुम क्यौं बताइयौ।
वाकौ रिपु राहु तुम रिपुनै नास करि उद्योत अनादि वह अंभोधर छाइयौ ॥
वह तौ विनाशी निशि तुम अविनाशी प्रभु वह तौ मित कला तुम सुपदाइयौ।
धनुदास विहूकी क्यौ ने देखै छवि तौ से रवि काज्यौ क्यौं न कमलु कहाइयौ ॥१७॥
जैसी तुव मुष जोति अनंत कलानि हो तैसी सोभा तेरी नाथ तो ही कहु सोहीयै।
नितसय उदैकारी मोह महातमहारी राह कौ न गम्य ताके वारिदल द्रोहीयै ॥
पूरण शशिकौ बिंबु तुव बदनार बिंदु विदित अपूरबु सु देषै मनु मोहीयौ।
धनुदास ऐसे राकापति सौ तू करि नर पद कहा है चकोर क्यौ न हो हीयौ ॥ ॥१८॥
तुम्हारे वदन रूपी शशिक्यौ चाहिजै उदै या ससि सूरकौ उदौत भयौ कै सून भयौ।
जैसे रवि तेज आगै दीपकु वारौ न वारौ अंधयारौ हुतौ जू भारौ वाही रविथै गयौ ॥
आदि अन अवै तिहूकाल तुव भाल प्रभा जगमगै जोति सुतौ हौ हु जगमैं जयौ।
धनुदास भई परपक्व जब वन सालि मेघन वरषे न वरषे तौका अभेदयौ ॥१९॥
जैसे तेरौ ज्ञानु हैं कृतावकासी प्यारे प्रभु औसौ काहू और माझ निमषु न देषीये।
तब ज्ञान माझ तीनौलोक से अनेक लोक ताकी तुही जानै वे तौ तै ही अवरेषीयौ ॥
हरि हर ब्रह्मादि पुलंदर कहावै देव तेउ तौ सकल स्वामी तै ही लिषि लेषीयौ।
धनुदास कहा महामनि कौ प्रतापु सभुइ काचकी सिषरि ताहि कैसे हित पेषीयौ ॥२०॥
आपनै मनकै वर देषै मैं सकल देव हरिहरब्रह्मादि पुलंदर समान कै।
जैसौ कछु मेरौ मन मानौ तुम चरण सौ ऐसौ मनु मानै नहीं देषै मुष आन कै ॥
मुष अग्र आयौ पीयौ कहू षीर कहू नीर तै नीरसु षीर प्राण भए प्राण कै।
धनुदास नाही कोउ मनको हरणहार तुम ही है प्रभु मेरे त्रगता जिहान कै ॥२१॥

धन्नि वह धरि जिहिं तेरी अवतार भयौ तेरी माता जिहि तौसौ सुत जाइयौ ।
त्रीयनिके शतशत पुत्र जनैं हू है तब तेरे तौ समान कौ का रूपगुन पाइयौ ॥
कलंक सहित और रहित कलंक तुही त्रै ज्ञान तेरे नगरे भाव तार आइयौ ।
धनुदास दिसा नछित्र जननहारि प्राचीव दिशा कौ समभाए रचि राइयौ ॥२३॥
तुम कौ मानत मुनि परम पवित्र देव आदित्य वरण जैसौ सिर्मलु इलक मैं ।
तुम्हारे अनंत गुन विचारि विचारि उर तनजग मृत्युकें ते जीनत पलक मैं ॥
मिथ्या तमकै हौ तुम सहाइ हरणहार ताथे साधु सेवै तुम्है सदा ललक मैं ।
धनुदास नाही कोउ सिउ और पंथु देवें सु सुनें रु नाथ तेरा यै बलक मैं ॥
छुउ मत पुरांण कुरांण वेद वेदिका में मत रु महंत तो सौ इा कौ कहत है ।
तुम अभिनाशी विभु अचित असंपि नाथ अनादि अगोचर सगोचर रहत हैं ॥
ब्रह्म रु ईश्वर हौ मनंग केत जोगीश्वर विदित तुम्हारै सब जोग निहचत है ।
धनुदास हू कै प्रभु एक रु अनेक हौ जू ज्ञान रूप विमल विवेक कौं गहत है ॥२४॥
तुम ही हौ बुद्धदेव विबुधनि पूजनीक तुम ही हौ सकर निसंक के करण जू ।
तुम ही विधाता विधि विधान जाननहार तुम भगवान पुरुषोतम वरण जू ॥
सकल देव मधि देवत्त गुनु हौ तेरौ तारागण सूर शशि तेरौ आभा तम जू ।
धनुदास एक तू त्रिलोक सोभा सोभायत तीनों लोक तेरी सोभा वरण-वरण जू ॥२५॥
तुम कौ नमामि त्रिभुवन की आरति हर तमकौ नमामि त्रिभुवन के भूषण जू ।
तुमकौ नमामि त्रिजगत के परम ईस तुमकौ नमामि त्रिजगत तम शोषण जू ॥
तुमकौ नमामि जन्मा मरण हरण व्याधि तुमकौ नमामि त्रिजगत के पोषण जू ।
धनुदास जन्म-जन्म न यै वार-वार तुम ही मेटनहार सकल दोषण जू ॥२६॥
यह मै सुनी हो नाथ आपने वानो तुम से ऐसा भूमि संदेह पारु पाइयौ ।
जे जन तुम्हारै गुन जानत है नीके करि ततछिन दोष तिन नीके कै गवइयौ ॥
तेइ दोष विहुरि विहुरि प्राणी प्रथीके तिनह सगु छाडि उजिहू कै सग धाएजू ।
धनुदास हू से अपराधीनिसौ रहै लागि तुम प्रीति सार्थीनि कै सुपने न आइयौ ॥२७॥
तो समोसरण मधै सोभायै अशोक वृक्ष तातारौ सराजत हौ तीनौ लोक तिजु ॥
कचन वरण सापा चिंतामणि फल ताके पल्लनि की दुति रवि हू ये अति गति जू ॥
सीतल मद सुगंध त्रिविधि बहति बाइ सुपदाई वरस पै सबही को अति जू ।
धनुदास वह सबु प्रभु कौ पुन्य प्रताप कहयौ सु परत कै सौ मानस की मति जू ॥२८॥
तुम तापै सोहीयत सोहिवे लाइक प्रभु तुम्हारै वयठै नाथ सिंघासनु राजै जू ।
कचन की जोति पचै मनि कौ उद्योतु तापै तुम्हारे तनकी आभा अधिक विराजै जू ॥
उदयाचल के सीस परमानौ सु प्रभात रविकौ उदय जैसौ जगत में भ्राजै जू ।
धनुदास यह सबु प्रभुकौ पुन्य प्रताप देपत ही बनें सु तौ कहत न छाजै जू ॥२९॥
कुन्द दुति उज्जल सीस पै चवसठि चौंर ढारत भावकै इन्द्रादिक देव आइकै ।
कंचन दीप्ति देह तापर विराजै अति शशिकी किरणि मानौ लागी रवि जाइकै ॥
कनक सुमेर येथे चौहू कोट आसुपासु छीरोदधि नीरु मानो—रतु सभाइकै ।
धनुदास यह सबु प्रभुकौ पुन्य प्रतापु कहयौ सुपरतु कैसे कछु गुन पाइकै ॥३०॥

छत्र तीनौं राजित जिनेश तेरे सीस पर सुरनर नागेंद्र जु आइकै चढाइयौ ।
आपनें लोक की महिमामयि फुनिंद—सर चौहू चक जोति कौ गढाइयौ ॥
सुर पुर हू की शोभा सुर निमकेलि रची अैंदवतानि तीनौं लगड़—यौ ।
धनुदास मनौ शशि सूरकौ मंडलु दिगननि समीप मोती पंकति पढाइयौ ॥३१॥
गंभीर गहरी धुनि बाजत निशानैं तेरै ताकौ सुर तीनौ लोक दसौ दिशि पूरे है ।
जैसे तौ बादल गाजि कहै महा मेघु आयौ तैसे यौ कहत त्रिभुवनपति रुरौ है ॥
सा धर्मराज कै गुन घोषत मानौ कैधौं जगत में जाकौ जसु सब ही थेसू है ।
धनुदास प्रभु के जयतवादी जौधा कुवादी मरण मानु महा चक सूरौ है ॥३२॥
मं·········पारिजात आदि पुष्प जेते सुगन्ध दल पुर्नात आकास थे बरषै ।
देवता सकल आई महा प्रीति लाई······ममूह देप शौभा नैननि कै परषै ॥
गधोदिक विष्टि करै जनमु सफलु धरै आपने आ·········हरषै ।
कहै धनराज वैठि वैठिकै विवांन सुर महज सुभाहु मे परम प्रीति परषै ॥३३॥
.........नि शोभा भामंडल तेरे नाथ कोटि रवि मानौ एक ठौर कीने है ।
काच मनि आदि दै पदारथ......तिनका सकल सोभा करी जिहि हीनी है ॥
तुम्हारी यौ शोभा मानौ दर्पाये त्रपन माह आ......नाथ तो उपमा दीनी है ।
धनदास नाही कछु तप तत्व गुनु तामै शशि कैसी सीतलता नवल है ॥३४॥
तुम्हारी की य महिमा महा हो नाथ स्वर्ग कौ मार्गु रु मार्गु मुकति है ।
जितनें कितनें जीव जैसी जै······तैसी ताकौ परिनवति उकति है ॥
तत्व वांनी उछलती जीव क्रम भिन्न भाउ यह पुन्य पाप······सुगति है ।
धनदास प्रभु चतुरानन जु चारौ मुष वेद चर्व तामै सबइ उकति है ॥३५॥
······पक······चरण हेम अष्टोत्तर मांडने मनोहर में आइे के पचित है ।
जहा जहा पद धरै तहा ऐसी······नग की मयूषा में सचति है ॥
समवसरण में थे विहार समै कै विपै विविध विबुध ऐसे······है ।
कहै धनुदास राजु सुरराज करै पद एजनारिनि के वृन्द नाना भेषने नचत है ॥३६॥
·········ई तहा जिनराज तेरे·········लब्धिमई केवल ज्ञान कै·········।
केवल ज्ञान नही और कै विशे······कैसे विभूति होइ समाम कै आन की ॥
अनन्त दरिस ज्ञान सउज्वल बल अनन्त अनन्त चतुष्टय······जानकी ।
धनुदास जहा त्रिभाकर जोति जगमगै गननि मयूषा कैसे कहीये प्रमांन की ॥३७॥
······होइ मागु है आवत प्रभु तेरो नाम लीगें हु चलि सकै सुन ठौर थे ।
मद कै······गलितु दुर्नाद······धात की कैसा मानौ आयौ······काल दौर थे ॥
चुवत कपोल पटै गुंजतु गरूर ठटे क्रोध कियौ सुर भौर थे ।
कहै धनुदास जाकें तुम्हारे नांव की अरु तुमकौ सम्हारि मौयौ हरे ॥३८॥
······सीस भू ऊर भूषीयत श्रोन सौ सनित मोती भुंज सम जानीयौ ।
जाकें वधाटाटो नर······फरै जाकौ देहु दपै मुष आवै नहीं वानीयौ ॥
जाकै डर परै गौरि जहा समुदाई दौरौ जाकै केवल ये······न प्रमानीयौ ।
धनुदास ऐसे मृगराजु रूप नाम मंत्र मृग के समान क्यौ न कांनु गहिआ······॥३९॥

······शावनि आवनि होइ तेरौ नामु लेयें नाथ सीतल होइ जाइ जू ।
प्रलै के समै की ज्वाला अ·········को उतपातु देखौ दुखी कदराइ जू ॥
यह तौ प्रगट आहि जानैं सबु जगु तबहि दि·····मैं साचैं·····होइ जू ।
धनुदास प्रभु तेरे सीतल गुन अपार जल थैं सिराइ क्यौं न तिनथैं सिराइ जू ॥४०॥
····· ···ग द्यनि है जाके उर सोइ क्यौं न ऐसौ अहि डारे सौंहि पाइकें ।
लौहित नैन नीलकंठ·····सब अंग हालाहलु रहयौ हो छाइकै ॥
कोपिकें डसो तौ सु पहार हू कौ छार कें ऐसे···ऐसे · वि···समाइकें ।
धनुदास मनि मंत्र औषधु तुम्हारौ नामु ताहि जौ सम्हारै चित्र कैसौ होइकें ॥४१॥
······कें एक जिनराज तुव नामबरू ताहि ऐसौ नृपु जीति सकें नहा बरु कें ।
जाके दल बादल कें उन······जग जवा जनि के कुन्ड गाजे हो मगाके रूक हैं ॥
जाके दल कोटि भट लडित जोधा जुहि अरि सु······बीर जू पहार कें ।
धनुदास ऐसे नृपु परें ताके पाइ आनि सछुरू सवाइ·········छि···॥५२॥
तुम्हारे धीरज सौं धरैं उर ताकी जय सदा ऐसें जुद्धनि में जानीयौ ।
जान विकर्व·····उठे एक हासइ·····विनु बल लाइ करि मागे मुप पानीयौ ॥
श्रोनि की सलिरिता तामें बूडे एक उछरत एकनि की दे·····नि कहू ले कहू डरानीयौ ।
धनदास प्रभु तेरे नाम सौंहै जाको मति ताकी मति·····नि कहू ते······॥४३॥
·········त्रिविधि प्रकार के तौ तेरौ नामु नाथ ऐसौ जल मैं निवारै जू ।
·········मैं जहां महा······नकें का जौ जीवनिकौ मुंहु फारे ॥
तामें वडवानल थि·····सब हां वं न क्त·····तुम्हारे जू ।
धनदास प्रभु जू अपारें कें तारक तुम भवसागर कै जलसागर न तारौ जू ॥४४॥
······श्राइ अंग अनग के अगक समान ननु दर्बायौ ।
ऐसौ होइ दशा·········सिनइ ······· नयौ नैननि कें पीपयौ ॥
त्रिभुवन······थाकौ पूरौ मंगया सब गइ दूरौ सौ यदि स······यौ ।
तुम तौ जू जन्मा मरण···· · हरण व्याधि धनुदास यह तत्तृत हौ [illegible] ··· ॥४५॥
·········रह आंद्र स नवाइ सॉलि गलै हाथ पाइ रापौ होइ [illegible] कें ।
कोठामाभ कोटरी कें भाकसी······रहें करि [illegible] बांध्यौ होत मारौ [illegible] ॥
·········ताहू कौ आवागमु पां न आव जान उपर छि············।
धनुदास प्रभुस ताइ·········हूम वासि यह वात कैसी क्यो न करौ ताथे काटौ कै ॥४६॥
·········प्रभु मेरे······सकल······हरि वे कौ तुम जिनराज जू ।
राज भय शोक भय नग त्रि············जहाज जू ॥
रोग भय सौक भय सिंघ भय राज भय जुद्धनिकौ भय·········।
धनराज·········जैसे तुम पर दवन कौ सफल लसे हरौ अन [illegible] जू ॥४७॥
तुम्हारी संस्तुति हूहू रूपिनी माला जिणंद पहिरौ जु कंठ सौं····· पवित्र नर नरमें ।
सुमन विविधि जाके अपि······नृर जाम पढति पवित्रडौ डि डोरा गुन्थी करमें ॥
अति सौं सुबासु सब जगत मे विस्तरित मुक्ति मोहिनी धरौ·····ध्यान धरमें ।
कहै धनुराज यह संस्तुति सम्हारौ सानु विना श्रम संपदा सकल आव घरमें ॥४८॥

अन्तिम प्रशस्ति :—

……गज को……नौकौ अ, प्रगासु जामें भगतांमर स्तवनु सुष हू कौ धामु है।
ताकौ उदाहरणु……जिनदास सेव पदहु ता……धन धर्म अरु काम है॥
पढौयौ पढाइयौ सुनाईयौ जु साधु……धन्नि वहै……धरि पल्लु धन्नि वहै॥
धनुदास हू सौ देव सौ निरु उजारे कहा। भव्यानन्द स्तुति पंचाशिका या नामु है॥४६॥
संवतु नवसै सात सात पर सुनु धीर पउष मिता तू गुरती……कीयौ कत कौ।
स्यौपुर थानक विराजें राजनन्द धनुदास ताकौ मनु भयौ भवि चिन्तांमृन्त कौ॥
एक - एक काव्य कौ सवैया एकु…एकु कै कै एकु एकु बासर में एकु—एकु नित कौ।
विय कर जोरि धनराज कहे साधुनि सौं असाधु संसुद्ध कीजौ जानि मन हित सौं॥५०॥

इति श्री भव्यानन्द पंचासिका समाप्ता

संवत १६६४ वर्षे वैसाख सुदी ७ कौ मनोहरदास का (या) स्थ चित्रासु कीनो।

संवत १६६५ वर्षे चैत्र सुदी १ भौमवासरे लीषतं पं० सिरोमनि भक्तांमर स्तवन भावार्थ काव्य पंचासिका॥ सुभं भवतु॥ पोथी लिषाइ साहु धनराज गोलापूरब कर्म्म काय निमित्ते।

प्रति परिचय :—

इस पंचाशिका की प्रति बहुत ही जीर्ण और जर्जरित हो चुकी है। ऐसा लगता है कि जहां कहीं यह रही है, उस पर लगातार पानी पड़ता ही रहा है। तभी तो वह इतनी गल गई कि हाथ लगाते ही पत्र फटने लगते हैं। कहीं–कहीं तो पाठ भंग लुप्त हो गया है। चित्र भी भ्रष्ट हो गये हैं। अनुसंधान में रुचि रखने वाले सज्जनों से निवेदन है कि यदि इस भव्यानंदपंचाशिका की प्रति अन्यत्र कहीं प्राप्त हो तो सूचित करने का कष्ट करें ताकि एक अज्ञात रचना पूर्णत्व प्राप्त कर सके।

★★★

कलकत्ता में महावीर जयंती

—रानी दुधोरिया : कुमार चन्द्रसिंह दुधोरिया

कलकत्ता महानगरी में महावीर जयंती पर इस बार नये वातावरण की सृष्टि हुई। तीर्थंकर भगवान की जयंती उन के धार्मिक अनुयायियों तक ही सीमित न रहकर व्यापक रूप से मनायी गयी। अन्य समाजों के व्यक्तियों ने भी समान रुचि एवं उत्साह के साथ सप्ताह व्यापी जयंती कार्य क्रमों में भाग लिया।

जयन्ती समारोह के लिए वस्तुतः पहले से ही पृष्ठभूमि तैयार हुई थी। मुर्शिदाबाद संघ ने महावीर जयन्ती को अहिंसा दिवस के रूप में मनाने के लिए जयन्ती के पूर्व जो प्रचार किया, उसका व्यापक असर हुआ।

संघ के सभापति श्री कमलसिंह दुधोरिया की अपील का ही यह परिणाम था कि विख्यात उद्योगपति श्री मोहन लाल लल्लूभाई शाह की की अध्यक्षता में महावीरजयन्ती समारोह समिति का गठन हुआ और नगर के विभिन्न वर्गों के विचार शील व्यक्ति जयन्ती के उद्देश्य के प्रति आकृष्ट हुए और उन्होंने जयन्ती के विभिन्न कार्यक्रमों में सहयोग देना प्रारंभ किया।

जयन्ती के दिन स्वेच्छा से काम काज बन्द रखने की मुर्शिदाबाद संघ की अपील पर शेयर बाजार, ईस्ट इण्डिया जूट तथा हेसियन एक्सचेंज, बंगाल जूट डीलर्स एसोसियेशन, काशीपुर जूट ब्रोकर्स एसोसियेशन, भारत जूट बेलर्स एसो-सियेशन, छाता पट्टी, पगैयापट्टी, केशोराम कटरा, सूता पट्टी, पांचागली, खत्री कटरा, विलासराय कटरा, पंजाबी कटरा, मूंगा पट्टी, मनोहरदास कटरा, महावीर कटरा आदि भगवान् महावीर की जन्म तिथि २४ अप्रैल पर पूर्ण तया बंद रहे।

जैन कला प्रदर्शनी

जयन्ती के सप्ताह व्यापी कार्यक्रम का प्रारंभ जैन कला प्रदर्शनी के उद्घाटन से हुआ। भारत जैन महा-मण्डल के तत्त्वावधान में आयोजित इस कला प्रदर्शनी का १६ अप्रैल को स्थानीय एकेडेमी आफ फाइन आर्ट्स में उद्घाटन करते हुए केन्द्रीय विधि एवं डाक-तार मंत्री श्री

अशोकसेन ने महावीर जयन्ती के अवसर पर जैन-कला प्रदर्शनी के आयोजन के लिए भारत जैन महामण्डल के कार्यकर्त्ताओं को बधाई देते हुए अपने भाषण में भगवान् महावीर को जैनधर्म का ही नहीं, अपितु समस्त मानवता और अखिल विश्व का महान नेता बताया।

माननीय श्रीसेन ने अपने मर्मस्पर्शी भाषण के अन्तर्गत कहा: जैनधर्म के आदर्श सारे देश में पनपे, जो जैनियों के लिए ही नहीं किन्तु सारे जगत के लिए धर्म, दर्शन, कला, सभ्यता और संस्कृति की बहु मूल्य विरासत छोड़ गये।

उन्होंने कहा भारत का कोई भाग जैनधर्म की विरासत से अछूता नहीं है। जहां भी हम जाते हैं, हमें सुन्दर जैन मन्दिरों, गुफाओं और कलाकृतियों के दर्शन होते हैं। देलवारा मन्दिर और एलोरा की गुफाएं आदि जैन धर्म के ऐसे अवशेष हैं, जो सदैव अमर हैं।

इस सजीव समारोह की अध्यक्षता कर रहे थे माननीय श्री केशव वसु-नगर के भूतपूर्व मेयर और प० बंगाल विधान सभा के वर्तमान अध्यक्ष।

श्री वसु महोदय ने कहा, युगों से धर्म के इर्द-गिर्द जिस कला का विकास हुआ है, उसमें हमें विभिन्न कालों के समाज का प्रतिबिंब मिलता है।

जैनधर्म के बारे में अपने हृदय के भव्य उद्गार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा जैनधर्म ने भारतीय संस्कृति और ललितकला के निर्माण में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

भारत जैन महामण्डल की ओर से पूर्वांचल शाखा के अध्यक्ष [illegible] सेठी श्री रतनलाल रामपुरिया ने [illegible] स्वागत भाषण में महावीर जयन्ती सप्ताह के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा, "महावीर की अहिंसा और अपरिग्रह का महत्व आज के अणु-परमाणु युग में अत्यधिक बढ़ गया है।"

श्री रामपुरिया ने कहा, अणु परमाणु अस्त्र-शस्त्रों ने मानव जाति के भविष्य को भयातुर बना दिया है और इस संदर्भ में हम स्वर्गीय राष्ट्रपति केनेडी की इस चेतावनी को भुला नहीं सकते कि हमारी संतानें केवल गणित के प्रश्न नहीं हैं, जिनके भविष्य के प्रति हम उदासीन रहें।

कला के बारे में उन्होंने कहा कि कभी कभी यह कहा जाता है कि आत्म-शुद्धि एवं सांसारिक वस्तुओं के त्याग को महत्व देने के कारण जैनधर्म कला को प्रोत्साहित नहीं करता। लेकिन यह बात सच नहीं है।

भारत जैन महामण्डल की पूर्वांचल शाखा के संयुक्त मंत्री कुमार चन्द्रसिंह दुधोरिया ने अपने भाषण में कहा कि हम महावीर का स्मरण, उनकी पूजा आराधना इसलिए करते हैं कि उन्होंने आचरण द्वारा हमें आत्म-शुद्धि का मार्ग बतलाया है। उन्हें जिन तथा आत्मा का विजेता कहा गया है, उन्हें अरिहन्त कहा गया है और महावीर के नाम से भी पुकारा गया है। महावीर से दूसरी चीज जो हम ग्रहण करते हैं वह है समभाव अर्थात् दूसरों के प्रति रागद्वेष रहित व्यवहार।

कुमार दुधोरिया ने कहा महावीर के समकालीन युग का अध्ययन करने पर यह बात सामने आती है कि उस समय समाज में भारी विक्षोभ व्याप्त था। महावीर स्वामी ने अपनी साधना, तपस्या और आचरण द्वारा हिंसक क्रान्ति की सम्भावनाओं से परिपूर्ण उस विक्षोभ को अहिंसा और अपरिग्रह की युग प्रवर्तक क्रान्ति में बदल दिया।"

कुमार दुधोरिया ने कहा, कि आज विश्व पुनः संकट के बीच है। धन सम्पत्ति और सत्ता की चाह भयानक रूप ले चुकी है। हम यह विश्वास करने लगे हैं कि आर्थिक कल्याण ही जीवन का चरम लक्ष्य है। भौतिक सुख-समृद्धि के पीछे हम इतने लिप्त हो गये हैं कि जीवन के अन्य सब प्रश्न गौण हो गये हैं नैतिक जीवन की जड़ें ही हिल उठी हैं आधुनिक भौतिक सभ्यता में मानवीय मूल्यों का महत्व बहुत कम हो गया है। परमाणु-परीक्षण संधियों के बावजूद भी विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों के साथ परमाणु बमों का निर्माण मानव जाति के लिए भारी संकट का कारण बन गया है। आज संसार के समक्ष प्रश्न यह है कि क्या हम युद्धास्त्रों को विनष्ट करें अथवा अपना ही विनाश करें।

लेकिन, कुमार दुधोरिया ने कहा अस्त्र-शस्त्रों को नष्ट करना ही पर्याप्त नहीं है। हमें अस्त्र-शस्त्रों की जरूरत को ही समाप्त कर देना चाहिए। इसके लिए मानव जाति को एक नया वातावरण तैयार करना होगा और

यथार्थवादी समाज का निर्माण करना होगा। ऐसा समाज जिसमें उत्तेजना एवं संघर्ष के प्रमुख कारण शोषण, हिंसा और कटुता का उच्छेद हो। इसके लिए हमें अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्तों पर आधारित नयी सामाजिक शृंखला का निर्माण करना होगा। हमें विचार करना है कि भगवान् महावीर के उपदेश इसमें किस प्रकार सहायक हो सकते हैं।

कुमार दुधोरिया ने कहा, महावीर के उपदेशों के तीन रत्न सम्यक्-दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र में ५ महाव्रतों का समावेश है: अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरि अर्थात् संग्रह और लोभ से निर्लिप्त। धर्म का सार चरित्र अथवा सदाचरण है। महावीर के जीवन और उनके उपदेशों के अनुशीलन का यही निष्कर्ष है कि व्यक्ति का सुधार होने पर ही कोई समाज उन्नत बन सकता है, उन्होंने कहा कि अहिंसा और अपरिग्रह आज किसी सम्प्रदाय विशेष के धार्मिक विश्वासों तक ही सीमित नहीं रह गये हैं। मानव जाति शनैः शनैः इस बात को अनुभव करने लगी है कि अणु-परमाणु के संहार का खतरा इन्हीं महान आदर्शों को ग्रहण कर हट सकता है।

अहिंसा और अपरिग्रह को मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति की श्रेष्ठतम् अभिव्यक्ति बतलाते हुए कुमार दुधोरिया ने यह कामना की कि यह अभिव्यक्ति विश्व शांति एवं मैत्री की वरदायिनी बने।

इस अवसर पर भारत जैन महामण्डल की ओर से विख्यात चित्रकार श्री इन्द्र दूगड़ का अभिनन्दन भी किया गया।

श्री इन्द्र दूगड़ अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के चित्रकार हैं जिन्हें चित्रकला अपने पिता स्व० हीराचन्दजी से विरासत में मिली है।

श्री इन्द्र की चित्रकला कांग्रेस अधिवेशनों के पण्डालों को कई बार सुशोभित कर चुकी है। आप उन चित्रकारों में हैं, जिन्होंने राजपूत पद्धति और अजन्ता पद्धति का सम्मिश्रण कर एक नवीन पद्धति का विकास किया है। लेकिन उन्होंने प्राचीन शैली को जीवित रखा है।

महामण्डल के सभापति श्री सोहनलाल दूगड़ ने उन्हें आशीर्वचन के साथ अभिनन्दन पत्र भेंट किया।

प० बंगाल के श्रम एवं सूचना मंत्री श्री विजयसिंह नाहर ने धन्यवाद ज्ञापन करते हुए जैन कला एवं संस्कृति की उत्कृष्टता का विवेचन किया और आशा प्रकट की कि भारतीय संस्कृति के इस महत्वपूर्ण अंग पर इस प्रदर्शनी से समुचित प्रकाश पड़ेगा।

महिलाओं की सभा

भगवान् महावीर के जन्म-दिवस के एक दिन पूर्व २३ अप्रैल को नगर की महिलाओं ने तीर्थंकर भगवान को अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की। अहिंसा प्रचार समिति हाल में श्रीमती सुभद्रा हस्कर की अध्यक्षता में आयोजित महिलाओं की विराट सभा में श्रीमती वाणा राय, श्रीमती कुन्था जैन, साध्वी श्री चन्द्र श्री जी ने भगवान् महावीर के जीवन दर्शन की विशद चर्चा की। जैन महिला समिति की अध्यक्षा श्रीमती उदयकुमारी दुधोरिया के आव्हान पर यह सभा बुलाई गई थी।

रोगियों में फल मिष्ठान वितरण

२४ अप्रैल को भगवान महावीर की पावन जन्म-तिथि पर अद्भुत उत्साह परिलक्षित हुआ। मानवता के महान संरक्षक की जन्मतिथि के उपलक्ष में **जैन सेवा संघ** की ओर से प० बंगाल के श्रम एवं सूचना मंत्री श्री विजयसिंह नाहर की वृद्धा मातुश्री श्रीमती इन्द्राकुमारी नाहर के नेतृत्व में महिला स्वयं सेविकाओं ने स्थानीय अस्पतालों में जाकर रोगियों में फल और मिष्ठान का वितरण किया। एवं मुर्शिदाबाद संघ द्वारा अजिम गंज, जियागंज, लाल बाग के अस्पतालों में रोगियों को मिष्ठान फल का वितरण किया गया, अजिम गंज में ३-४ हजार गरीबों को चावल बाटा गया।

सामूहिक भोज

प्रातःकाल बड़ा बाजार क्षेत्र में एक विराट जुलूस ने परिक्रमा की। मन्दिरों में धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न हुए बद्रीदास टेम्पुल-स्थित महावीर स्वामी के मंदिर में सामूहिक पूजा-आराधना का व्यापक कार्यक्रम आयोजित हुआ। मुर्शिदाबाद संघ के अध्यात्म-निष्ठ उप-सभापति श्री परिचन्द बोथरा ने पूजा आराधना का प्रबंध करने के अतिरिक्त संध्या समय सामूहिक भोज का भी भव्य आयोजन किया।

जैन सूचना केन्द्र

सांयकाल पद्मीदास टेम्पुल स्ट्रीट स्थित श्री शीतल नाथ स्वामी के मन्दिर के अहाते में प० बंगाल विधान परिषद् के अध्यक्ष डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा जैन सूचना केन्द्र का उद्घाटन हुआ।

डा० चाटुर्ज्या ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण में जैन धर्म और संस्कृति की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा कि भारतीय दार्शनिक चिन्तन एवं विचारधारा में जैन धर्म का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जैनधर्म ने अहिंसा के सिद्धांतों को पूर्णरूप दिया है।

विक्टोरिया मेमोरियल के प्रबन्धक डा० सरस्वती ने इस अवसर पर भाषण करते हुए कहा कि वर्तमान काल में ही नहीं, महावीर के काल में भी बंगभूमि के साथ जैनधर्म का निकटतम सम्पर्क रहा।

जर्मन संघीय प्रजातंत्र के कलकत्ता स्थित वाणिज्य-दूतवास अधिकारी डा० सुमन इस अवसर पर प्रधान अतिथि थे।

सार्वजनिक सभा

रात्रि में श्री जैन सभा के तत्वावधान में अहिंसा प्रचार समिति हाल में, श्री रामचन्द्र सिंघी जे० पी० की अध्यक्षता में सार्वजनिक सभा हुई। सर्वोदय नेता श्री सिद्ध राज ढड्ढा ने प्रधान वक्ता के रूप में भगवान् महावीर के जीवन दर्शन का विश्लेषण किया। पं० गौरीनाथ शास्त्री ने कहा कि भारत में जब जब धर्म की ग्लानि हुई और दुख दारिद्र्य आया, इस भूमि पर एक न एक अवतारी पुरुष अवतरित हुआ। भगवान् महावीर की गणना भी ऐसे ही अवतारी पुरुषों में है। साहू शान्ति प्रसाद जैन ने कहा कि भारत में ज्ञान की जो सतत धारा बहती जा रही थी, उसमें महावीर ने अपने व्यक्तित्व के माध्यम से एक नयी धारा बहायी। श्री मोहनलाल दुगड़ ने भावपूर्ण शब्दों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। ★★★

शोक-सभा

वीर सेवामंदिर २१ दरियागंज में ७ जून को ७ से ७॥ बजे सायंकाल एक आम सभा जवाहर लाल नेहरू के आकस्मिक निधन पर श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये राय सा० ला० उल्फतराय की अध्यक्षता में हुई।

वक्ताओं में प्रमुख श्री यशपाल जी जैन ने पं० जवाहर लाल नेहरू के व्यक्तित्व का परिचय कराते हुए उनके जीवन की कुछ मौलिक घटाएं बतलाईं। और कहा कि नेहरू जैसा लोक प्रिय नेता अब विश्व में नजर नहीं आता, नेहरू जी जहां नीति साहित्य और इतिहास के विद्वान थे, वहां वे आत्मबल के धनी थे। वे जो कहते थे आत्मविश्वास के साथ करते थे। उनकी दृढ़ता, कर्तव्य परायणता, उदारता और लोक सेवा की भावना उन्हें दुनिया में शांति कार्य करने के लिये प्रेरित करती थी। पंचशील और सह अस्तित्व उनके जीवन सहचर थे, वे लोक में उनका प्रचार करने में समर्थ हो सके। वर्तमान भारत की प्रगति उन्हीं की देन है। उनके दिवंगत हो जाने से भारत की ही नहीं, विश्व की महान् क्षति हुई है, जिसकी पूर्ति होना असंभव है।

प्रेमचन्द्र जैन

प्रस्ताव

वीर सेवामंदिर की यह आम सभा भारत के महान् नेता पं० जवाहर लाल नेहरू के आकस्मिक निधन पर गहरी वेदना अनुभव करती है। नेहरू जी का जीवन त्याग, बलिदान और सेवा से ओत-प्रोत था, उन्होंने देश को ऊपर उठाया और विश्व को शान्ति के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। सत्य अहिंसा आदि के लिये जो वातावरण उन्होंने उत्पन्न किया, वह उनकी चिरस्मरणीय देन है।

ऐसे युग-पुरुष को खोकर हम सब की जो क्षति हुई है, उसकी पूर्ति कदापि नहीं हो सकती।

यह सभा नेहरू जी के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करती है कि उनके जीवन के आदर्श और प्रेरणाएं हमारा सदा मार्ग-दर्शन करती रहें।

यह सभा उनके परिजनों, विशेषकर श्रीमती इंदिरा-गांधी के प्रति अपनी समवेदना प्रकट करती है।

साहित्य-समीक्षा

स्याद्वाद-पत्रिका

सम्पादक: सुदर्शनलाल जैन एम० ए० (फाइनल), प्रकाशिका: स्याद्वाद-प्रचारिणी-सभा, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी, वाराणसी, सन् १९६३ ई०, पृ० ११२।

यह पत्रिका स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी के विद्यार्थियों का प्रयास है। उन्होंने स्वयं सामग्री संकलित की है और स्वयं सम्पादन किया है। इसमें संस्कृत और हिन्दी के साथ २ अंग्रेजी, बंगला, मराठी, कन्नड और पालिभाषा के भी लेख निबद्ध हैं यह एक अच्छी दृष्टि है। और भी अच्छा होता यदि उनका अनुवाद हिन्दी में दे दिया जाता। हिन्दी संस्कृत पत्रिकाओं में भारतीय भाषाओं की प्रवृत्तियों का परिचय कराना भर पर्याप्त होता है। भारतीय ज्ञान पीठ पत्रिका ने इस दिशा में कदम बढ़ाये हैं।

शिक्षा-क्षेत्र में काम करने वाले 'कालेज-मेगजीन्स' से परिचित होंगे। यह पत्रिका भी तदनुरूप ही है। यदि इसमें केवल स्याद्वाद विद्यालय के विद्यार्थियों और अध्यापकों के ही निबन्ध होते, तो उचित ही था। इस परिधि से बाहर के विद्वानों के लेखों से पत्रिका का गौरव बढ़ा है, किन्तु इससे शिक्षा संस्थाओं में प्रचलित मान्यता का व्याघात भी हुआ है। सम्पादन और लेखन के क्षेत्र में विद्यार्थी अभ्यास कर सकें, यह ही इन पत्रिकाओं का उद्देश्य होता है।

जहां तक विद्यार्थियों के द्वारा लेख, कहानी, कविता के लेखन का सम्बन्ध है, इस पत्रिका का संकलन और सम्पादन उत्तम है। वे जिस पथ पर बढ़ रहे हैं, आशाप्रद है। अन्य संस्कृत विद्यालयों को इसका अनुकरण करना चाहिए। यदि कोई शिक्षा संस्था अपने विद्यार्थियों में लेखक सम्पादक, या वक्ता बनने की लगन उत्पन्न कर सकी, तो उतना पर्याप्त है। लगन वाला स्वावलम्बन के साथ बढ़ता ही जायगा, यह विश्वास होना ही चाहिए। 'ए फाउन्डेशन्स आव एजूकेशनल साइकालोजी' के रचयिता मि० रोस का ऐसा ही कथन है। स्याद्वाद महा विद्यालय अपनी स्याद्वाद प्रचारिणी सभा के द्वारा यह कार्य वर्षों से कर रहा है। स्याद्वाद-पत्रिका उसी का परिणाम है। हम स्वागत करते हैं।

—डा० प्रेम सागर जैन

जैनिज्म इन राजस्थान (राजस्थान में जैनधर्म)

डा० कैलाशचन्द जैन एम. ए. डी. लिट् राजऋषी कालिज अलवर, प्रकाशक गुलाबचन्द हीराचन्द दोशी, जीवराजग्रंथमाला, शोलापुर। पृष्ट सं० ३०४ मूल्य सजिल्द प्रतिका ११) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय उसके नाम से स्पष्ट है, इस पुस्तक में राजस्थान में जैनधर्म का परिचय कराया गया है। और वहां स्थित जैन सांस्कृतिक स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, आदि पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। साथ ही राजस्थान के स्थानों का ऐतिहासिक परिचय देते हुए विभिन्न राज्यों के राजाओं का निर्देश भी किया है। डा० साहब ने इसके संकलन करने में अच्छा परिश्रम किया है जिससे पुस्तक उपादेय बन गई है। यद्यपि राजस्थान में जैन-संस्कृति के ऐसे अनेक आधार मौजूद हैं जो पूर्णतः प्रकाश में नहीं आ पाये हैं। अनेक शास्त्र भंडार ऐसे हैं। जिनका परिचय अभी तक भी ज्ञात नहीं हो सका है। और जिनके अन्वेषण की ओर शोधक विद्वानों की दृष्टि लगी हुई है। राजस्थान में जैन संस्कृति खूब फली फूली, अनेक राज्यों में उसका विस्तार रहा। श्वेताम्बर साधुओं और दिगम्बर भट्टारकों ने तथा विद्वानों ने राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों में अनेक विषयों की प्राचीन प्रतियां उपलब्ध होती है, जो इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं। डा० साहब ने राजस्थान के विविध भंडारों के अनेक म्युनि स्कृप्टों का संक्षिप्त परिचय भी अंकित किया है। और कुछ ग्रन्थों के नामादि भी बतलाये हैं। ऐसी प्रतियों का उपयोग पाठभेद लेने में बहुत सहायक होता है। राजस्थान जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है वहां अनेक ग्रन्थ बने हैं। और कवि हुए हैं। जिन्होंने प्राकृत संस्कृत और राजस्थानी भाषा के विपुल साहित्य की सृष्टि की गई है। जैन साधुओं के विहार ने जगह जगह जैनधर्म का प्रचार किया है आज भी राजस्थान में जैनधर्म का प्रचार मौजूद है। अन्त में ऐतिहासिक नामों की सूची भी दे दी है जिससे ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ गई है। ऐसे सुन्दर प्रकाशनों के लिए सम्पादक संस्था संचालक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवादार्ह हैं।

—परमानन्द जैन

विषय-सूची

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवनदास जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल, कलकत्ता
१५०) श्री कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) श्री पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) श्री मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री प्रतापमलजी मदनलाल पाड्या, कलकत्ता
१५०) श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) श्री शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१००) श्री रूपचन्द जी जैन, कलकत्ता
१००) श्री बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१०१) श्री मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) श्री दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) श्री लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) श्री सेठ भंवरलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल्य-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थ में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा. ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा, साइज सजिल्द १५)

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। 8)

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दीअनुवाद-सहित १॥)

(६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥।)

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्तिकी १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित ॥)

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(१०) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं परमानन्दशास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४)

(११) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१२) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ।)

(१३) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १)

(१४) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡)। (१६) महावीर पूजा। ।)

(१७) बाहुबली पूजा जुगलकिशोर मुख्तार कृत ।)

(१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित १)

(१९) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंशके १२२ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका महत्वपूर्ण संग्रह ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और उनके परिशिष्टों सहित। सम्पादक पं परमानन्द शास्त्री मूल्य सजिल्द १२)

(२०) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन .. ५)

(२१) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज, और कपड़े की पक्की जिल्द। २०)

(२२) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजीमें अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० (६

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवामन्दिर के लिए, पवन प्रिन्टिंग वर्क्स, ३०१, दरीबा, दिल्ली में मुद्रित

द्वै मासिक

अगस्त १९६४

अनेकान्त

सहस्त्रकूट जिन चैत्यालय; ११ वीं शती ईस्वी;
कारीतलाई, जिला जबलपुर

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

मुड़ई से प्राप्त एक विशाल जिनबिम्ब का छत्र
(छाया—नीरज जैन)

★

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपये
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ न. पै.

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिये सम्पादक मंडल उत्तरदायी नहीं है।

विषय-सूची

★

ओम अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष १७ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१, दरियागंज, देहली-६. | अगस्त
किरण, ३ | वीर निर्वाण सं० २४६०, वि० स० २०२१ | सन् १६६४

अर्हत् परमेष्ठी स्तवन

रागो यस्य न विद्यते क्वचिदपि प्रध्वस्तसंगग्रहात् ।
अस्त्रादेः परिवर्जनान्न च बुधैर्द्वेषोऽपि संभाव्यते ।।
तस्मात्साम्यमथात्मबोधनमतो जातः क्षयः कर्मणा-
मानन्दादिगुणाश्रयस्तु नियतं सोऽर्हन्सदा पातु वः ।।

—मुनि पद्मनन्दि

अर्थ—जिस अरहंत परमेष्ठी के परिग्रह रूपी पिशाच से रहित हो जाने के कारण किसी भी इन्द्रिय विषय में राग नहीं है, त्रिशूल आदि आयुधों से रहित होने के कारण उक्त अरहत परमेष्ठी के विद्वानों के द्वारा द्वेष की संभावना भी नहीं की जा सकती है। इसीलिये राग-द्वेष से रहित हो जाने के कारण उनके समताभाव आविर्भूत हुआ है, और इस समताभाव के प्रकट हो जाने से उनके आत्म-विबोध हुआ है, उससे कर्मों का क्षय हुआ है। और कर्मों के क्षय से अर्हत् परमेष्ठी अनन्त सुख आदि गुणों के आश्रय को प्राप्त हुए हैं। वे अर्हत् परमेष्ठी सर्वदा आप लोगों की रक्षा करें।

मध्य प्रदेश की प्राचीन जैन-कला

(प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी, अध्यक्ष, पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय)

यद्यपि वर्तमान मध्यप्रदेश के क्षेत्र में जैन-कला का उतना प्राचीन रूप नहीं मिलता, जितना कि उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश में, तो भी मध्यप्रदेश के विभिन्न स्थानों में उपलब्ध जैन-कलाकृतियों की संख्या को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि पूर्वमध्यकाल में यह भूभाग जैन धर्म के विकास का एक प्रमुख क्षेत्र बन गया था। मध्य प्रदेश का ऐतिहासिक सर्वेक्षण करने से पता चला है कि यहां बौद्ध, भागवत तथा शैवधर्मों का प्रादुर्भाव एवं विकास बहुत प्राचीन काल में हुआ। साँची और भरहुत इस प्रदेश के दो मुख्य प्राचीन बौद्ध-केन्द्र हैं। जहां पर हमें बौद्धधर्म के लौकिक पक्ष की परिचायक विशाल कलाराशि उपलब्ध है। प्राचीन भागवत धर्म का विकास विदिशा, एरण, पवाया आदि अनेक स्थानों में हुआ। इसी प्रकार शैवधर्म के केन्द्र नचना, कुठार, भूमरा तथा मध्यकाल में खजुराहो, सिरपुर, गुर्गी आदि मिलते हैं।

मध्य प्रदेश में गुप्त काल तक जैन मूर्तियों का निर्माण नहीं हुआ, ऐसी बात नहीं कही जा सकती। ग्वालियर के पुरातत्व संग्रहालय में गुप्त कालीन कई जैन कलावशेष सुरक्षित हैं। इनकी निर्माण शैली मथुरा, कौशांबी आदि स्थानों में उपलब्ध प्रतिमाओं से बहुत मिलती जुलती है।

गुप्त काल के बाद पूर्वमध्य काल में वर्तमान मध्यप्रदेश के कई प्राचीन नगर कला के केन्द्र बने। उनमें अन्य कृतियों के साथ जैन-मूर्तियों तथा मंदिरों का निर्माण बड़ी संख्या में मिलता है। विन्ध्य प्रदेश के भाग में खजुराहो, अहार, पपौरा, द्रोणागिरि, पन्ना, मऊ तथा सोनागिरि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मध्यभारत के भूखंड में विदिशा, उज्जैन, ग्वालियर, पद्मावती, नरवर, सुरवाया, चन्देरी तथा ग्यारसपुर में जैन स्थापत्य और मूर्तिकला सम्बंधी सामग्री बड़े परिमाण में उपलब्ध है। महाकोशल प्रदेश के प्रायः प्रत्येक ज़िले में जैन मन्दिरों के भग्नावशेष मिलते हैं। देवरी, बीना, सिरपुर, कारीतलाई, आंजर्गार, रतनपुर आदि स्थान विशेष उल्लेखनीय हैं।

खजुराहो के प्रख्यात जैन-मन्दिरों का निर्माण ई० १० वीं शती में हुआ। खजुराहो की विशिष्ट स्थापत्य शैली के ये मन्दिर उत्कृष्ट उदाहरण हैं। भगवान आदिनाथ, पार्श्वनाथ तथा शान्तिनाथ के मन्दिर मुख्य हैं। शान्तिनाथ के देवालय में कायोत्सर्ग मुद्रा में भगवान की भव्य मूर्ति द्रष्टव्य है। मुख पर अमित तेज और शांति विराजमान है। जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं के अतिरिक्त इन देवालयों में अलंकरण के रूप में प्रयुक्त विविध मूर्तियों तथा अभिप्रायों का आलेखन अत्यंत सजीव हुआ है। नारी के रूप में सौंदर्य की अभिव्यक्ति यहां के कलाकारों को विशेष प्रिय था। इस अनिद्य सौंदर्य को विविध आकर्षक रूपों में मूर्त-रूप प्रदान करके उसे शाश्वत बना दिया गया है। इन मूर्तियों में अश्लीलता नहीं है। वर्तमान छतरपुर ज़िले में अहार नामक स्थान प्रसिद्ध है। वहां पर विशाल जैन मूर्तियां देखने को मिलती हैं। यह स्थान जैनधर्म का एक तीर्थ है। दूसरा ऐसा ही तीर्थ द्रोणागिरि पर्वत पर तथा तीसरा दतिया के पास सोनागिरि नामक स्थान है। इन स्थानों में मध्यकाल में तथा उसके पश्चात् अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ। टीकमगढ़ के समीप पपौरा नामक स्थान में लगभग दोसौ जैन मन्दिरों के भग्नावशेष प्राप्त हैं। वर्तमान पन्ना ज़िले में भी जैनधर्म का अच्छा प्रसार था। वहां के धर्म सागर नामक तलाब के पास अनेक कलापूर्ण जैन प्रतिमाएं रखी हैं। विंध्य प्रदेश में विभिन्न स्थानों से जैन प्रतिमाओं को धुबेला के संग्रहालय में सुरक्षित किया गया है। इस संग्रहालय में जैन तीर्थंकरों की अनेक अभिलिखित कलापूर्ण मूर्तियां हैं। मुनि सुव्रत नाथ की खण्डित प्रतिमा यहां है जिस पर संवत् ११८६ का एक लेख उत्कीर्ण है। लेख पद्य में है उसके अनुसार सुल्हण नामके व्यक्ति द्वारा इस मूर्ति की प्रतिष्ठापना की गई। संग्रहालय में अम्बिका के साथ गोमध, यक्ष की अनेक दर्शनीय प्रतिमाएं हैं। जो रीवां से प्राप्त हुई हैं। रीवां तथा मऊ से चक्रेश्वरी की भी कई प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। इस संग्रहालय में जैन मन्दिर के दो अत्यन्त कलापूर्ण

द्वार स्तम्भ रखे हैं जिनका अलंकरण दर्शनीय है। यहां गुरगी से प्राप्त यक्षिणियों की भी कई मूर्तियां प्रदर्शित हैं।

मध्यभारत के पूर्वोक्त स्थानों से मिली हुई बहुत सी प्रतिमाएं ग्वालियर के पुरातत्व संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनमें तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के अतिरिक्त अन्य जैन देवी-देवताओं की भी मूर्तियां हैं। पांचवी शती की जैन तीर्थंकर की एक प्रतिमा के सिर के पीछे अलंकृत प्रभा मंडल है। इस प्रतिमा की ऊंचाई साढ़े छह फुट और यह कायोत्सर्ग-मुद्रा में है। यह मूर्ति विदिशा से प्राप्त हुई है। भगवान ऋषभनाथ की उत्तरगुप्त कालीन एक अत्यंत भावपूर्ण प्रतिमा इस संग्रहालय में है। वे ध्यानमुद्रा में स्थिर चित्त आसीन हैं। चौकी पर विकसित अर्ध कमल और सिंहासन के दोनों सिंह उत्कीर्ण हैं। नागों तथा यक्ष-यक्षियों की गुप्त एवं प्राग् गुप्त कालीन अनेक प्रतिमाएं विदिशा, पवाया (प्राचीन पद्मावती) मंदसौर, तुमैन आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं। मध्य भारत से प्राप्त मध्यकालीन जैन कलावशेषों की संख्या बहुत अधिक है। ग्वालियर के प्राचीन दुर्ग में जैन तीर्थंकरों की विशालकाय प्रतिमाओं का निर्माण इस काल में हुआ। इनमें से कुछ कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं तथा अन्य पद्मासन पर ध्यान मुद्र में। यहां अनेक सर्वतोभद्र प्रतिमाएँ भी मिली हैं। पद्मावती, नरवर, चंदेरी, उज्जैन आदि से भी मध्यकालीन जैन अवशेष बड़ी संख्या में मिले हैं। विदिशा ज़िले में बरो या (बड़ नगर) नामक स्थान पर जैन मंदिरों का एक समूह दर्शनीय है। इस मंदिर-समूह के बाहर नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका की एक छह फुट ऊंची मूर्ति रखी है। मंदिर शिखर शैली के हैं और इनका निर्माण परमारों के शासन काल में हुआ। तीर्थंकरों की अनेक प्रतिमाएं यहां बाद में रखी गईं। कुछ मन्दिरों के प्रवेश द्वार अत्यंत आकर्षक हैं। द्वार स्तम्भों पर गंगा यमुना की मूर्तियां बनी हैं। जैन मंदिर समूह के पीछे शिव, सूर्य, लक्ष्मी, भैरव, नवग्रह आदि की अनेक मूर्तियां लगी हैं। विदिशा ज़िले का दूसरा महत्वपूर्ण स्थान ग्यारसपुर है। यहां पहाड़ी के ऊपर अनेक हिन्दू मंदिर बने हैं। मलादेवी के मंदिर में यक्षिणी अम्बिका तथा तीर्थंकरों की कई प्रभावोत्पादक प्रतिमाएँ हैं।

महाकौशल क्षेत्र में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। रामपुर ज़िला में सिरपुर नाम स्थान से पार्श्वनाथ तथा अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ मिली हैं। जबलपुर ज़िला में कारीतलाई स्थान से दसवीं-ग्यारहवीं शती में निर्मित तीर्थंकर प्रतिमाएँ बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। यहां सहस्त्र कूट जिन-चैत्यालय भी प्राप्त हुआ है। आकर्षक भाव में खड़ी हुई अम्बिका देवी की कई मूर्तियां भी यहां मिली हैं। रतनपुर (ज़िला बिलासपुर) से बारहवीं शती की तीर्थंकर मूर्तियां प्रायः ध्यान मुद्रा में बैठी हुई उपलब्ध हुई हैं। इनमें से चन्द्रगुप्त तथा ऋषभनाथ आदि की मूर्तियां रायपुर के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। सागर ज़िला की रहली तहसील में बीना, देवरी आदि स्थानों से कई सुन्दर जैन कलावशेष मिले हैं। यद्यपि मध्यकाल में महाकौशल प्रदेश के राजवंशों में से कोई जैन धर्मानुयायी नहीं था, तो भी इसकाल में जैन मंदिरों तथा प्रतिमाओं का निर्माण बड़े रूप में हुआ। यह तत्कालीन जनता की धार्मिक वृत्ति का सूचक है।

अभी तक मध्य प्रदेश के सभी प्राचीन स्थानों में विकसित जैन कला का पूरा सर्वेक्षण नहीं किया जा सका। यदि पूरे प्रदेश में बिखरी हुई कला-राशिका अनुसंधान किया जाय तो बहुत सा नवीन कलाकृतियों की जानकारी हो सकती।

आदमी से पाप कराने वाली दोही चीजें हैं और वे ही संसार में जीव की दुश्मन हैं। वे हैं काम और क्रोध, जिस तरह धुआं आग को ढक देता है और गर्द शीशे को अन्धा कर देता है उसी तरह दोनों मानव की बुद्धि पर पर्दा डाल देते हैं।

शब्द-साम्य और उक्ति-साम्य

(अणुव्रत परामर्शक मुनि श्री नगराज जी)

भगवान् श्री महावीर की वाणी का और उनके जीवन-वृत्तों का शास्त्र रूप संकलन द्वादशांगी या गणिपिटक कहा जाता है और भगवान् बुद्ध से सम्बन्धित शास्त्रीय संकलन को त्रिपिटक कहा जाता है। दोनों का अध्ययन करते समय ऐसा अनुभव होने लगता है कि हम किसी एक ही क्षेत्र काल और संस्कृति में विहार कर रहे हैं। एतद्-विषयक समता यहीं से प्रारम्भ हो जाती है कि शास्त्र के अर्थ में पिटक शब्द दोनों ही परम्पराओं ने अपनाया है। वह ज्ञान मंजूषा गणी तथा आचार्य के लिए है, इस लिए उसे गणिपिटक कहा गया है। गणी शब्द का प्रयोग महावीर, बुद्ध आदि तात्कालिक धर्म—प्रवर्तकों के अर्थ में भी बौद्ध परम्परा में मिलता है।[1] हो सकता है, संघ नायक भगवान् महावीर से उद्भूत वाणी के अर्थ में ही जैन परम्परा ने गणिपिटक शब्द को अपनाया हो। दोनों प्रकार के पिटकों में अनेकानेक शब्दों का प्रयोग समान रूप से मिलता है। यह शब्द—समता इस बात को असाधारण रूप से पुष्ट कर देती है कि दोनों परम्पराओं का ज्ञान-प्रवाह कभी-न-कभी एक ही स्रोत से अवश्य सम्बन्धित रहा है। उदाहरण मात्र के लिए इस प्रकार का कुछ शब्द-साम्य प्रस्तुत किया जाता है :—

निग्गंठ—इस शब्द का अर्थ है—निर्ग्रन्थ तात्पर्य है—अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित। त्रिपिटकों में जैन सम्प्रदाय को "निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय", भगवान् श्री महावीर को "निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र" स्थान-स्थान पर कहा गया है। जैन श्रमणों को भी निर्ग्रन्थ कहा गया है। उक्त अर्थों में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग गणिपिटक में भी ज्यों-का-त्यों देखा जाता है। भगवान् श्री महावीर के प्रवचन को भी निर्ग्रन्थ प्रवचन कहा गया है।

पुग्गल—पुद्गल शब्द का प्रयोग जैन और बौद्ध परम्परा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता है। जैन परम्परा में इसका मुख्य अर्थ "रूपी जड़ पदार्थ" है। बौद्ध परम्परा में पुद्गल शब्द का अर्थ है—आत्मा, जीव[2]। जैनागमों में भी जीव तत्त्व के अर्थ में पुद्गल शब्द आया है।[3] गौतम स्वामी के एक प्रश्न पर भगवान् श्री महावीरने भी जीव को पोग्गल कहा है।[4]

अर्हत और बुद्ध—वर्तमान में अर्हन् शब्द जैन परम्परा में और बुद्ध शब्द बौद्ध परम्परा में रूढ़-जैसा बन गया है। वस्तु स्थिति यह है कि जैनागमों में अर्हत् और बुद्ध अपने आराध्य पुरुषों के लिए अपनाये गये हैं और बौद्ध आगमों में भी अपने श्लाघ्यपुरुषों के लिए। जैनागमों की प्रसिद्ध गाथा—

जेय बुद्धा अतिक्कन्ता, जेय बुद्धा अणागया।[5]

बौद्ध परम्परा की सुविदित गाथा है :

ये बुद्धा अतीता च ये च बुद्धा अनागता।
पच्चुप्पन्ना च ये बुद्धा अहं वंदामि ते सदा॥

जैनागमों में और भी अनेक स्थानों पर बुद्ध, संबुद्ध, सयबुद्ध आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

तित्थगराणं सयंसंबुद्धाणं।[6]
तिविहा बुद्धा-णाण बुद्धा, दंसणबुद्धा, चरित्त बुद्धा।[7]
समणेणं। भगवया महावीरेणं आइगरेण
तित्थयरेणं सयं संबुद्धाणं।[8] बुद्धे हिं एवं पवेदितं।[9]
संखाइ धम्मं य वियागरंति बुद्धा हु ते अंतकरा भवन्ति।[10]

१—संयुक्त निकाय, दहर सुत्त ३-१-१ पृष्ठ ६८; दीघनिकाय, सामञ्जफल सुत्त, १-२; सुत्तनिपात, सभिय सुत्त, पृष्ठ १०८ से ११० आदि।

२—मज्झिम निकाय—११४

३—भगवती सूत्र शतक—२०-३-२

४—भगवती सूत्र शतक—८-३-१०

५—सूत्र कृतांग सूत्र १-१-३६।

६—राय पसेणइयं ५

७ स्थानांग सूत्र ठा० ३

८—समवायांग सूत्र १।२

९—आचारांग सूत्र ४।१।१४०

१०—सूत्रकृतांग सूत्र १-१४-१८

बौद्ध परम्परा में अर्हत् शब्द का प्रयोग इसी प्रकार पूज्य जनों के लिए किया गया है। स्वयं तथागत को स्थान-स्थान पर अर्हत् सम्यक् संबुद्ध कहा गया है।१ भगवान बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् पांच सौ भिक्षुओं की जो सभा होती है, वहां आनन्द को छोड़ कर चार सौ निन्यानवे भिक्षु अर्हत् बतलाये गये हैं। कार्य आरम्भ के अवसर तक आनन्द भी अर्हत् हो जाते हैं।२ बौद्धागमों में बुद्ध और जैनागमों में अर्हत् शब्द के तो अगणित प्रयोग हैं ही।

थेरे—स्थविर शब्द का प्रयोग दोनों ही परम्पराओं में वृद्ध या ज्येष्ठ के अर्थ में हुआ है। जैन परम्परा में ज्ञान, वय दीक्षा–पर्याय आदि को लेकर अनेक भेद-प्रभेद हैं। ये प्रयोग जैन आगमों के हैं।

बौद्ध परम्परा में १२ वर्ष से अधिक के सभी भिक्षुओं के नाम के साथ थेर या थेरी लगाया जाता है।

भन्ते—पूज्य और बड़ों को आमन्त्रित करने में भन्ते (भदन्त) शब्द दोनों ही परम्पराओं में एक है। से कणट्ठेणं भन्ते, से णूणं भन्ते, सेवं भन्ते, सच्चं भन्ते,३ आदि। ये प्रयोग जैन आगमों के हैं। बौद्ध आगमों में भी भन्ते शब्द की बहुलता है।

आउसो—समान या छोटे के लिए आउस (आयुष्मान) शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में समान रूप से मिलता है। भगवान बुद्ध को भी 'आवुस' गौतम कह कर सम्बोधित करते थे। गोशालक ने भी भगवान महावीर को आउसो कासवां कहा है।४

श्रावक, उपासक, श्रमणोपासक—श्रावक शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में मिलता है। जैन परम्परा के अनुसार उसका अर्थ गृहस्थ उपासक है। बौद्ध परम्परा में इससे भिक्षु, शिष्यों का बोध होता है।५ उपासक और श्रमणोपासक शब्द अनुयायी गृहस्थ के लिए दोनों परम्पराओं में प्रयुक्त हैं।

आस्रव और संवर—ये दोनों शब्द भी जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में एक ही अर्थ में मान्य दिखलाई पड़ते हैं।६

दीक्षित होने के अर्थ में एक वाक्य दोनों परम्पराओं में रूढ़ जैसा पाया जाता है। जैनागमों में 'आगाराओ अणगारियं पव्वइस्सए'७ बौद्ध शास्त्रों में ''अगारस्मा अनगारियं पव्वाजन्ति''।८

सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि— ये दोनों शब्द भी एक ही अर्थ में दोनों परम्पराओं में मिलते हैं। जैन और बौद्ध दोनों ही अपने-अपने अनुयायियों को सम्यक् दृष्टि और इतरमत वालों को मिथ्या- दृष्टि कहते हैं।

उपोसथ—इस शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में मिलता है। दीघनिकाय में भगवान् बुद्ध ने जैनों के उपोसथ की आलोचना की है।

वेरमण—व्रत लेने के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में देखा जाता है।

तथागत—मुख्यतः यह शब्द बौद्ध परम्परा का है। जैनागमों में भी यत्र तत्र उपलब्ध होता है।

''कओ कआइ मेहावी उप्पज्जन्ति तहागया।

तहागया उप्पडिक्कन्ता चक्खू लोगस्सनुत्तरा॥''९

विनय—विनय शब्द का दोनों परम्पराओं में महत्व है। बौद्ध परम्परा में समग्र आचार धर्म के विषय में ही विनय शब्द का प्रयोग है। विनय पिटक इसी बात का सूचक है। जैनागमों में भी अनेकों अध्ययन विनय प्रधान हैं। दशवैकालिक सूत्र का नवम अध्ययन विनय समाधि नाम से है। उसकी प्रथम उक्ति है—''थंभाव कोहा व मयप्प माया, गुरु सगासे विणयं न सिक्खे।'' उत्तराध्ययन सूत्र का प्रथम अध्ययन का नाम भी विनय श्रुत है और वहां यही कहा जाता है— विणयं पाउ करिस्सामि, आणु—पुव्वि सुणेह मे।

१ दीघ निकाय, पाउजफसुत, १८२।
२—विनय पिटक, पंच शतिका स्कन्धक।
३—भगवती सूत्र ७-३-२७१।
४—भगवती सूत्र शतक १५।
५—मज्झिम निकाय ३।

६—जैनागम, समवायांग सूत्र स० ५, बौद्ध शास्त्र, मज्झिम निकाय २।
७—भगवती सूत्र ११-१२-४३१।
८—महावग्ग।
९—सूत्र कृतांग सूत्र २-१५-१२०-६२५।

वर्जित कथा—जैनागमों में स्त्री कथा, भक्त कथा, देश कथा, राज कथा की वर्जना मिलती है। दीघ निकाय के ब्रह्मजाल और सामञ्ञफल, इन दोनों प्रकरणों से ऐसी कथाओं को तिरच्छान कथा कहा है—तिरच्छान कथं, अनुयुतो विहरति सेय्यथिदं-राज कथं, चोर कथं, महामत्त कथं, सेना कथं, भयकथं, युद्ध कथं, अन्न कथं, पान कथं।

त्रिशरण—चतुश्शरण-बौद्ध पिटकों में व परम्परा में तीन शरण बहुत ही महत्वपूर्ण हैं तो जैनागमों व परम्परा में चार शरण अपना अन्य स्थान रखते हैं। वे तीन व चार शरण क्रमशः निम्न प्रकार है :—

बुद्धं सरणं गच्छामि	अरिहन्ते सरणं पवज्जामि
संघं सरणं गच्छामि	सिध्दे सरणं पवज्जामि
धम्मं सरणं गच्छामि	साहू सरणं पवज्जामि
	केवली पयणत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि

णमोत्थुणं—जैन आगमों का प्रसिध्द स्तुति वाक्य है—"णमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स" बौद्ध परम्परा का सूत्र है—"णमोत्थुणं समणस्स भगवओ सम्यग संबुध्दस्स"।

नगर व देश—नालन्दा, राजगृह, कयंगला, श्रावस्ती आदि नगरों व अंग, मगध आदि देशों के नाम व वर्णन दोनों आगमों में समान रूप से मिलते है।

उक्ति साम्य

जैनागम कहते है—व्यक्ति तीन उपकारक व्यक्तियों से उऋण नहीं होता: गुरु से, मालिक से और माता-पिता से।[1] वहां यह भी बताया गया है कि अमुक-अमुक प्रकार की पराकाष्ठा परक सेवाएँ दे देने पर भी वह अनुऋण ही रहता है। लगभग वही उक्ति बौद्ध आगमों में मिलती है। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ! सौ वर्ष तक एक कन्धे पर माता को और एक कन्धे पर पिता को ढोए, और सौ वर्ष तक ही वह उनके उबटन, मर्दन आदि करता रहे, उन्हें शीतोष्ण जल से स्नान कराता रहे, तो भी वह भिक्षुओ! न वह माता-पिता का उपकारक होता है, न प्रत्युपकारक। यह इसलिए कि माता-पिता का पुत्र पर बहुत उपकार होता है।[2] जैनागमों ने धार्मिक सहयोग को उऋण होने का आधार माना है।

दो अरिहन्त—जैनागमों की मुदृढ मान्यता है—भरत आदि एक ही क्षेत्र में एक साथ दो तीर्थंकर नहीं होते। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ! इस बात की तनिक भी गुंजाइश नहीं है कि एक ही विश्व में एक ही समय में दो अर्हत् सम्यग संबुद्ध पैदा हों।

स्त्री-अर्हत-चक्रवर्ती शब्द—जैनों की मान्यता है ही कि अर्हत चक्रवर्ती, इन्द्र आदि स्त्री भाव में कभी नहीं होते। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओं यह तनिक भी संभावना नहीं है कि स्त्री अर्हत्, चक्रवर्ती व शक्र हो।[4] श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार मल्ली स्त्री तीर्थंकर थी, पर यह कभी न होने वाला आश्चर्य था।

स्थानांग और अंगुत्तर निकाय—जैन सूत्र स्थानांग के प्रकरण संख्या क्रम से चलते हैं। प्रथम में एक संख्या वाली बातों का वर्णन है तो यथा-क्रम दशम में दश संख्या वाली बात का। बौद्धागम अंगुत्तर निकाय में भी यही क्रम अपनाया गया है। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन एक रोचक विषय बन सकता है।

१—ठाणांग सूत्र ठा० ३।

२—अंगुत्तर निकाय।

३—अंगुत्तर निकाय।

४—अंगुत्तर निकाय।

विश्व-मैत्री

[डॉ० इन्द्रचंद्र शास्त्री, एम० ए० पी० एच० डी०, दिल्ली]

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन व्यवहार के लिए दो घेरे बनाता है। पहला "स्व" का घेरा होता है जहां उसका संबंध मित्रतापूर्ण होता है। उस घेरे के प्रत्येक सदस्य को देखकर उसके मन में हर्ष होता है। उसके दुःख को वह अपना दुःख मानता है और उसके सुख को अपना सुख। इतना ही नहीं स्वयं दुःख उठाकर भी उसे सुखी करना चाहता है। माता स्वयं भूखी रहकर सन्तान का पेट भरना चाहती है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र के लिये बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाने को तैयार रहता है। इस घेरे में सुख का आधार प्राप्ति नहीं, उत्सर्ग होता है। दूसरे के लिए त्याग करने और कष्ट उठाने में आनन्द आने लगता है।

महाकवि भवभूति का कथन है कि प्रियजन एक ऐसी वस्तु है जो बिना कुछ किये ही दुःख दूर कर देती है। और सुखों की सृष्टि करने लगती है सच्चा प्रेम बदलने में कुछ नहीं चाहता। हम जिससे प्रेम करते हैं इतना ही चाहते हैं कि वह सुखी रहे। उसके सुख एवं उन्नति के समाचार सुनकर हृदय तृप्त होता है।

दूसरा घेरा "पर" का है। इस घेरे के व्यक्तियों को हम पर या शत्रु मानते हैं उन्हें देखते ही हृदय आशंका या भय से भर जाता है। उनकी उन्नति सुनकर मन में ईर्ष्या होती है और हानि सुनकर प्रसन्नता। वे हमारे विरुद्ध कुछ करें या न करें उनका अस्तित्व ही हृदय में अशांति उत्पन्न करता रहता है।

'स्व' का घेरा जितना छोटा होता है व्यक्ति उतना ही दुःख तथा निर्बलता का अनुभव करता है। यह घेरा ज्यों-ज्यों विस्तृत होता है उसका अन्त होता जाता है। बल तथा आनन्द की अनुभूति बढ़ती चली जाती है। उच्च धार्मिक परम्पराओं ने इसी बात पर बल दिया है कि पर के घेरे को घटाते हुए स्व के घेरे को बढ़ाते जाना चाहिए।

प्राचीन मानव छोटे-छोटे कुलों में विभक्त था और उनमें बराबर युद्ध चलते रहते थे। प्रायः विजेता कुल, पराजित कुल को समाप्त कर देता था। क्रमशः उसने यह अनुभव किया कि पराजित कुलों को मार डालने के स्थान पर यदि उसे अपने अधीन कर लिया जाय तो अधिक लाभ हो सकता है। फलस्वरूप पराजित कुल के सदस्यों को गुलाम के रूप में रखा जाने लगा। यह मित्रता या सहयोग की ओर पहला कदम था। यहाँ हत्या की अपेक्षा शत्रु के जीवन को अधिक मूल्यवान मान लिया गया। धीरे-धीरे पराजित और विजेता का सम्बन्ध प्रजा और राजा के रूप में परिणत हो गया। राजा रक्षक बन गया और प्रजा की रक्षा करना अपना धर्म मानने लगा। दूसरी ओर प्रजा कर या अन्य रूपों में उसे सुख-सुविधाएँ प्रदान करने लगी। वर्तमान लोकतन्त्र में वह भेद समाप्त भी हो गया। राजा और प्रजा एक ही भूमिका पर आ गये। इस प्रकार शासन के क्षेत्र में हम विषमता से समता या शत्रुता से मित्रता की ओर बढ़े।

स्व और पर की परिधि का दूसरा रूप भौगोलिक सीमाएँ थीं। छोटे-छोटे कुल जब कृषि करने लगे तो विभिन्न स्थानों पर बस गये। इन बस्तियों को ग्राम कहा जाता था, जिसका अर्थ है समूह। किन्तु एक ग्राम का दूसरे ग्राम के साथ सम्बन्ध मित्रतापूर्ण नहीं होता था। दो ग्रामों के मिलने को संग्राम कहा जाता था जिसका अर्थ युद्ध। धीरे-धीरे ग्रामों में मित्रता पूर्ण संबन्धों का विकास हुआ और वे जनपदों के रूप में संगठित हो गये। किन्तु एक जन का दूसरे जन के साथ सम्बन्ध युद्ध के रूप में ही होता था। संस्कृत में इसे जन्य कहा जाता है जिसका व्युत्पत्त्यर्थ है—दो जनों का मिलना और प्रचलित अर्थ है युद्ध। क्रमशः उनमें भी प्रेमपूर्ण सम्बन्धों का विकास हुआ और राष्ट्रों का रूप लिया। कुछ राष्ट्र प्राकृतिक सीमाएँ लिये हुए थे, उनका अन्य राष्ट्रों के साथ अधिक संपर्क नहीं रहा। फलस्वरूप वे युद्धों से बचे रहे और अपना सांस्कृतिक विकास करते रहे। उदाहरण के रूप में चीन और भारत को उपस्थित किया जा सकता है। प्राकृतिक सीमाओं के न रहने पर राष्ट्रों में परस्पर युद्ध चलते रहे। यूरोप का रक्तरंजित इतिहास इसका साक्षी है।

वैज्ञानिक आविष्कारों ने भौगोलिक परिधियों को

समाप्त कर दिया है। रेडियो, टेलीविजन, हवाईजहाज आदि के कारण आदान प्रदान बढ़ गया है कि अब कोई देश अपने को बाह्य प्रभाव से मुक्त नहीं रख सकता। फिर भी पुरानी परिधियां हमारे मानस को घेरे हुए हैं। अब भी उनके आधार पर स्व और पर का भेद किया जा रहा है। यही वर्तमान मानव की सबसे बड़ी समस्या है।

जिस प्रकार जनपदों ने मिलकर राष्ट्रों का रूप ले लिया, उसी प्रकार राष्ट्र मिलकर अलग-अलग गुट बना रहे हैं और एक दूसरे के विनाश की तैयारी कर रहे हैं। आणविक अस्त्रों के विकास ने इस समस्या को और भी विकट बना दिया है। प्राचीन समय में युद्ध करते समय प्रत्येक पक्ष अपनी जीत और दूसरों की हार की बात सोचता था, किन्तु आणविक अस्त्रों ने इस धारणा को बदल दिया है। समस्त विचारक यह मान रहे हैं कि यदि इनका प्रयोग हुआ तो जीत किसी की नहीं होगी। इस समय उद्धार का एक ही मार्ग है कि परिधियों को समाप्त करके समस्त 'मानवता' एक ही भूमिका पर आजाय सर्व 'मैत्री' का पाठ सीखे।

धर्म, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि समस्त विद्याओं का जन्म मानव-कल्याण के लिये हुआ। किसी ने उसके अभ्यंतर रूप को सामने रखा, किसी ने बाह्य रूप को और किसी ने सामाजिक रूप को। किन्तु वह ही जब परिधियों से घिर गये तो असली लक्ष्य छूट गया। धर्म ने संप्रदाय का रूप ले लिया, राजनीति ने भौगोलिक अहंकार का, समाज शास्त्र ने जातीय अहंकार का और अर्थशास्त्र ने वर्ग शोषण का। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि प्रत्येक संस्था का जन्म सर्वोदय के लिये हुआ। वह मानव-कल्याण के लिये प्रवृत्त हुई और मर्यादित शक्ति तथा सुविधा की दृष्टि से क्षेत्रविशेष को चुन लिया। किन्तु जब उसके साथ अहंकार या क्षोभ मिल गया तो प्रतिस्पर्धा चल पड़ी और सर्वोदय ने 'स्वोदय' का रूप ले लिया। यहाँ स्व का अर्थ व्यक्ति तथा उसके द्वारा खड़ी की गई परिधि है। अहंकार की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। अपनी उन्नति का लक्ष्य धुंधला पड़ता गया और उसका स्थान दूसरे की हानि ने ले लिया। हमें अपने को ऊँचा उठाने की उतनी चिन्ता नहीं रही जितनी दूसरे को नीचे गिराने की। इस प्रकार स्वोदय ने पर-हानि का रूप ले लिया। धर्म, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में जो संगठन परस्पर सहयोग द्वारा विकास के लिये अस्तित्व में आये थे वे विध्वंसक प्रवृत्तियों में लग गये। दूसरे शब्दों में किसानों ने अन्न का उत्पादन बंद करके विदेशी वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ कर दिया। कारीगरों ने जीवन के लिये आवश्यक वस्तुएं बनाना छोड़ कर हथियार बनाना शुरू किये। राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने बन्दूक और तोपों का रूप ले लिया। सामाजिक क्षेत्र में परस्पर निन्दा और चुगली का; धार्मिक क्षेत्र में मिथ्या प्रदर्शन, दंभ एवं आक्षेप-प्रत्याक्षेपों का। कल्याणकारी संगठन सेनाये बन गई। आवश्यकता इस बात की है कि सब परिधियों को समाप्त करके पुनः सर्वोदय या सर्वमैत्री को अपना लक्ष्य बनाया जाय। कार्य-मर्यादा सीमित रहने पर भी उस लक्ष्य को प्रतिक्षण सामने रहना आवश्यक है। उसे भूलते ही मानव पथभ्रष्ट हो जायगा।

भगवान् बुद्ध का कथन है कि माता जिस प्रकार अपने इकलौते पुत्र से प्रेम करती है उसी प्रकार का प्रेम सारे विश्व में फैला दो। बौद्धों की महायान शाखा में इस सिद्धांत का विकास महाकरुणा के रूप में हुआ। वहां करुणा अर्थात् परोपकार के ये स्तर बनाये गए हैं। सबसे नीचा स्तर स्वार्थमूलक करुणा का है। इसका अर्थ है स्वार्थ को लक्ष्य में रखकर दूसरे की भलाई करना। इसमें मुख्य भावना प्रतिदान की रहती है। साधारण सामाजिक जीवन में परोपकार का यही रूप मिलता है। करुणा का दूसरा स्तर वह है जहाँ स्वार्थ न होने पर भी दूसरे को कष्ट में देखकर उसे निवारण का प्रयत्न किया जाता है। दूसरे का दुःख हमारे मन में एक प्रकार की अशांति उत्पन्न करता है, यही बेचैनी दूसरे की सहायता के लिये प्रेरित करती है। हम इसे करुणा का मानुषी रूप कह सकते हैं। तीसरा स्तर वह है जहाँ दूसरों की सहायता या परोपकार हमारा स्वभाव बन जाता है। किसी प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती। बादल यह नहीं देखता कि कौन-सी जमीन प्यासी है और कौन-सी सजल। बरसाना उसका स्वभाव है। इसी प्रकार परोपकार के लिये बिना किसी बाह्य प्रेरणा के सब कुछ अर्पित कर देना करुणा का सर्वोच्च रूप है। इसी को वहाँ करुणा कहा जाता है।

वेदांत ने मित्रता का यह संदर्शन ऐक्य या अभेद के रूप में दिया। उपनिषदों का कथन है जब तक दूसरा है भय बना ही रहेगा। जब सब एक हो तो किसको किसका भय है? वहां यह बताया गया। सारा विश्व ब्रह्म है—उसे प्राप्त करते ही सारी समस्यायें मिट जायेंगी। ईसाई धर्म भी विश्व प्रेम को केन्द्र में रखकर विकसित हुआ है।

जैनधर्म ने यह संदेश सर्वमैत्री के रूप में दिया। यहाँ साधु तथा श्रावकों के लिये दैनदिन अनुष्ठान के रूप में प्रतिक्रमण का विधान है। इसका अर्थ है जानकर या अनजान में लगे हुए दोषों के लिये पश्चात्ताप करके आत्मा को पुनः शुद्ध बनाना। प्रति का अर्थ है वापिस और क्रमण का अर्थ है जाना। सांसारिक प्रवृत्तियों के कारण आत्मा बहिर्मुखी हो जाता है उसे अंतर्मुखी बनाकर पुनः अपने स्वरूप में स्थापित करना ही प्रतिक्रमण है। उसके अंत में संसार के समस्त जीवों से क्षमा-प्रार्थना करके सर्वमैत्री की घोषणा की जाती है।

जो व्यक्ति कम-से-कम वर्ष में एक बार इस प्रकार आत्मा-शुद्धि नहीं करता उसे अपने आपको जैन कहने का अधिकार नहीं है। जो मनोमालिन्य को चार महीने से अधिक टिकाये रखता है, वह श्रावक नहीं हो सकता और जो पंद्रह दिन से अधिक रखता है वह साधु नहीं हो सकता।

मित्रता का आधार समता है, जहां एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अपने को बड़ा मानता है, अपनी भावनाओं और विचारों के समान दूसरे की भावनाओं और विचारों को आदर नहीं देता वहां समता नहीं होती।

जिस प्रकार वैदिक धर्म में संध्या तथा इस्लाम में नमाज का नित्य-कृत्य के रूप में विधान है उसी प्रकार जैन-धर्म में सामायिक का है। इसका अर्थ है—समता की आराधना। जैनधर्म और दर्शन का विकास इसी को केन्द्र रखकर हुआ है।

यहाँ समता या सर्वमैत्री को अनेक रूपों में उपस्थित किया गया है। यदि उनका अध्ययन विश्व की वर्तमान समस्याओं को लक्ष्य में रखकर किया जाय तो बहुत से समाधान मिल सकते हैं। संक्षेप में उन्हें नीचे लिखे अनुसार उपस्थित किया जा सकता है।

(१) व्यवहार और सर्वमैत्री—इस का अर्थ है व्यवहार में समता। भगवान् महावीर ने कहा है कि जब तुम दूसरे को मारना, सताना या अपमानित करना चाहते हो तो उसकी जगह अपने को रखकर देखो। यदि वह व्यवहार तुम्हें अप्रिय है तो दूसरे को भी अप्रिय होगा। जिस बात को तुम अपने लिये ना पसंद करते हो उसका आचरण दूसरे के लिये मत करो। हम इसे स्व और पर में समता कह सकते हैं। इसी का विकास अहिंसा के रूप में हुआ जो जैन शास्त्र की आधारशिला है।

(२) विचार में सर्वमैत्री—एक ही वस्तु के अनेक पहलू होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य अपने-अपने पहलू पर होता है। उदाहरण के रूप में एक ही व्यक्ति को एक स्त्री भाई कहती है, दूसरी पुत्र, तीसरी पिता और चौथी पति। ये चारों बातें परस्पर विरोधी होने पर भी विभिन्न अपेक्षाओं से सत्य हैं। यदि भाई कहने वाली स्त्री अन्य स्त्रियों को झूठी कहेगी तो सत्य से दूर चली जायगी। इसके विपरीत जिस अनुपात में उन धारणाओं का स्वागत करेगी उसी अनुपात में सत्य के समीप आयेगी। जैन-धर्म में इस अपेक्षा बुद्धि को अनेकान्त कहा गया है। उसका कथन है कि सत्य पर पहुंचने के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों का स्वागत करना आवश्यक है। इसी का विस्तार नयवाद तथा स्याद्वाद के रूप में हुआ है, जो कि जैन-दर्शन की आधारशिला है। वर्तमान राजनीति में यही भावना लोकतन्त्र के रूप में विकसित हुई है। वास्तविक लोक तन्त्र वही है जहां सदस्यों को अपने-अपने विचार प्रगट करने की पूरी छूट है और सभी पर सहानुभूति के साथ विचार किया जाता है।

(३) न्याय में सर्वमैत्री—प्राचीन समय में न्याय का रूप प्रतिशोध रहा है। उसका कथन था कि यदि कोई तुम्हारी आँख फोड़ता है तो उसकी आंख फोड़ दो। यदि तुम्हारा धन छीनता है तो उसका धन छीन लो। यदि तुम्हारी पत्नी के साथ बलात्कार करता है तो तुम भी ऐसा ही करो यह न्याय है। कालान्तर में यह अधिकार व्यक्ति के हाथ से छीनकर राजा या किसी अतीन्द्रिय सत्ता के हाथ में दे दिया गया किन्तु दण्ड का रूप वही रहा। जैन-धर्म का कथन है कि अन्याय या पाप करने वाला अपनी आत्मा को

स्वयं निर्बल तथा कलुषित करता है। यह निर्बलता अपने आपमें दण्ड है। यदि तुम प्रतिशोध के रूप में दण्ड देते हो तो तुम भी अपने आपको मलिन करते हो। यह व्यवस्था किसी अतीन्द्रिय शक्ति के हाथ में भी नहीं है। दण्ड के बदले में दण्ड या पाप के बदले में पाप न्याय नहीं है। इसके विपरीत पापी के प्रति हमारी भावना मित्रतापूर्ण होनी चाहिये। हम यह कल्पना करें कि उसने हिंसा या पाप के द्वारा अपने आपको मलिन किया है उसे समझ आये और वह उस मलीनता को धोने का प्रयत्न करे। मैत्री की यह भावना दोनों के हृदय को पवित्र करती है। जैनधर्म के अनुसार न्याय का आधार दूसरे की शुद्धि है, दंड नहीं। यहां आत्म शुद्धि के मार्ग को निर्जरा कहा गया है और प्रायश्चित्त उसका मुख्य तत्व है। इसके लिए आलोचना, प्रतिक्रमण, आत्मनिंदा, गर्हा, काय व्युत्सर्ग आदि अनेक प्रक्रियाये बताई गई हैं। जैन-धर्म सिद्धान्त न्याय के इसी रूप को प्रगट करता है। वहां यह बताया गया है कि किस प्रकार की बुराई करने पर आत्मा में किस प्रकार का मालिन्य आता है।

(४) **बाह्य और आभ्यन्तर में मैत्री**—वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या विशृंखलित व्यक्तित्व है। हम सोचते कुछ है, कहते कुछ है और करते कुछ। मन में भी एक प्रकार का द्वन्द्व चलता रहता है। एक विचार कुछ करने को कहता है और दूसरा कुछ। इस प्रकार जब व्यक्तित्व में कोई शृंखला नहीं रहती तो वह शक्तिहीन होता चला जाता है। अशांति बढ़ जाती है और हम आंतरिक आघात-प्रत्याघातों के कारण व्याकुल रहने लगते हैं। शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'हेमलेट' और भगवद्-गीता में इसी अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण मिलता है। राजकुमार हेमलेट तथा अर्जुन वीर होने पर भी अंतर्द्वन्द्व के कारण कायर हो गये। जैन-धर्म का कथन है कि मन, वाणी और कर्म में एक सूत्रता होनी चाहिये इसी को चारित्र कहा गया है। दूसरी ओर मन के सामने एक उच्च लक्ष्य रहना चाहिए। उसके प्रति दृढनिष्ठा होनी चाहिए। इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र का ज्यों-ज्यों विकास होगा जीवन में एक सूत्रता आती जायगी इसी का नाम आभ्यन्तर और बाह्य में मित्रता है जो जैन-साधना की आधारशिला है।

(५) **अपरिग्रह**—साम्यवाद का जन्म सामाजिक विषमता को दूर करने के लिये हुआ। मार्क्स तथा अन्य विचारकों ने देखा कि एक वर्ग सम्पन्न है और दूसरा दरिद्र। सम्पन्नवर्ग दरिद्रवर्ग का शोषण कर रहा है और उसे पनपने नहीं देता। इस वर्गभेद का कारण वैयक्तिक सम्पत्ति है। फलस्वरूप उसने राजकीय विधान द्वारा सम्पत्ति पर व्यक्ति के अधिकार को समाप्त कर दिया। इस व्यवस्था ने वर्गभेद को मिटा दिया और सभी को भोजन, निवास आदि जीवन सुविधायें प्राप्त होने लगीं। किन्तु ऊपर से लादी जाने के कारण इस व्यवस्था ने स्वतन्त्र प्रतिभा का भी दमन किया। मानव विचार की उच्च भूमिकाओं को छोड़कर निर्वाह की साधारण भूमिका पर आ गया। जैन-धर्म विषमता की इस समस्या को सुलझाने के लिए 'अपरिग्रह' का सन्देश देता है। वह यह मानता है कि परिग्रह वैषम्य को जन्म देता है उसे दूर करने के लिये सर्वोच्च भूमिका अपरिग्रही या साधु की है जो अपने पास कोई सम्पत्ति नहीं रखता। उससे नीची भूमिका श्रावक का है जो परिग्रह की स्वेच्छापूर्वक मर्यादा करता चला जाता है और विषमता से समता की ओर बढ़ता है। श्रावक के व्रतों में पांचवा व्रत 'परिग्रह परिमाण' है और छुटा दिशा परिमाण। पहले में धन सम्पत्ति आदि संग्राह्य वस्तु की मर्यादा की जाती है और दूसरे में व्यवसाय तथा उद्योग के क्षेत्र की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-धर्म प्रत्येक क्षेत्र में 'विश्वमैत्री' के लक्ष्य को लेकर चलता है। धर्म, दर्शन साधना, दैनिक कृत्य आदि सभी में उसकी झलक मिलती है। विश्वमैत्री का यह आदर्श ज्यों-ज्यों जीवन में उतरता है साधक ऊँचा उठता चला जाता है। अन्तिम भूमिका वीतराग की है जहां भेदबुद्धि सर्वथा समाप्त हो जाती है। न किसी के प्रति राग रहता है और न द्वेष। न कोई अपना होता है और न पराया। जब तक शरीर रहता है सभी के कल्याण के लिये प्रयत्न चलता रहता है। इसीको अरिहंत अवस्था कहते हैं जो जीवन की सर्वोच्च अवस्था है।

(जैन प्रकाश से)

धर्म ही मंगल मय है

(अशोक कुमार जैन)

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमसंति जस्स धम्मे सयामणो ॥

धर्म जीवनका मूलाधार है, शान्ति का प्रतीक है, समता, का परिणाम है—जिस में राग-द्वेष-मोह आदि विकारों का लेश नहीं है । धर्म वह अनुशासन है जो अन्तरात्मा को केवल स्पर्श ही नहीं करता प्रत्युत उसे अनुप्राणित भी करता है । अतएव धर्म उत्कृष्ट मंगल है पाप का विनाशक है । धर्म का वह मंगलरूप अहिंसा संयम और तप द्वारा प्रकट होता है । वही आत्मा की स्वतंत्रता का प्रतीक है । जब आत्मा धर्म का यथार्थरूप में आचरण करता है तब उसे जीवन प्रदायिनी शान्ति प्राप्त होती है । आत्मा से राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि विभाव जितनी जितनी मात्रा में कम होते जाते हैं उतनी उतनी मात्रा में ही जीवन में धार्मिकता एवं समता प्रकट होती रहती है ।

अहिंसा संयम और तपका आधार शिला है । इस के बिना उनमें प्राण नहीं रहता । अहिंसा जहां जीवन प्रदायिनी शक्ति है । वहां आत्म–कल्याण की कसौटी भी है । हिंसा निर्दोष व्यक्ति को चोट पहुँचाती है, भय, दुर्बलता, द्वेष, व निष्ठुरता को जन्म देती है । उससे जीवन अशान्त और दुखी बना रहता है । किन्तु अहिंसा दुर्बलों के प्रति न्याय का संचार करती हुई जीवन को सरस और कार्य क्षम बनाती है, और हिंसा जीवन को कठोर, निर्दयी तथा अन्याय को प्रोत्तेजन देती है । इसी से वह गर्हित एवं त्याज्य है ।

अहिंसक भावना की प्रेरक शक्ति संयम है । संयम स्वभावगत दुर्बलताओं के प्रति कोई रियायत नहीं प्रदान करती । किन्तु आत्मीय दुर्बलताओं का दमन करने या नियंत्रण करने के साथ-साथ उसमें जीवमात्र के प्रति दया, न्याय और प्रेमका आग्रह निहित है । आत्म-विकास में बाधक दुर्बलताएं हैं, जिन्हें नीरस या शक्ति हीन बनाने के लिये हमें इच्छाओं का निरोध करना आवश्यक है । क्योंकि इच्छाएं मोह के सद्भाव में उदित होती हैं । और वे जीवकी शक्ति को मरोर देती हैं जिससे जीवात्मा अपने उद्धार कार्य में असमर्थ बन जाता है । इसी से संयम में प्रवृत्त होना पड़ता है, तब कहीं उस की असंयम से रक्षा हो पाती है ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र को ही धर्म बतलाया है । 'चारित्रं खलु धम्मो' वह धर्म समता रूप है, और समता मोह-क्षोभ के अभाव में होती है । जब आत्मा रागद्वेषादि से अपने निर्मल चैतन्य स्वभाव में रहता है, तभी वह वास्तविक धर्म को पाता है । ऐसे धर्म का अनुष्ठान जिन्होंने किया है उन्हें ही वास्तविक सुख प्राप्त होता है ।

धर्म से कुत्ता भी देव हो जाता है और अधर्म से देव भी कुत्ता बन जाता है । धर्म ही जीवका रक्षक है, उस से ही दुःख दूर होते हैं : आगन्तुक विपदाओं से धर्म ही जीव को बचाता है । इसी से लोग धर्म की शरण में जाते हैं । धर्म ही उन्हें विपदाओं से उस का उद्धार करता है । धर्म-मय परिणति से ही अर्थात् धर्मका निर्दोष आचरण करने से ही कर्म रूपी ग्रन्थि खुलती है । कषाय की शक्ति का रस सूखता है । आत्म-बल में वृद्धि होती है ।

धर्म जीवमात्र का अकारण बन्धु है । संसार के सभी जीव धर्म से सुखी देखे जाते हैं, और पाप से दुखी । धर्म से ही सांसारिक सुख और साता परिणति रूप भोग सामग्री मिलती है । बड़े-बड़े चक्रवर्ती, बलभद्र और तीर्थंकरादि उच्चकोटि के पद मिलते हैं । धर्म से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं और पाप से मित्र भी शत्रु हो जाते हैं । और धर्म से ही कठोर साधना द्वारा जीव मुक्ति प्राप्त करता है । जिसने अपने धर्म की रक्षा की, उसी ने सब की रक्षा की । जो अधर्मी है-पापी है, उसकी कोई दया नहीं करता । अतः ऐसे उत्कृष्ट मंगल मय धर्म का हमें सदैव आचरण करते रहना चाहिये । और उस की प्राप्ति के लिये सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिये । इस लोक परलोक में धर्म ही हमारा अकारण बन्धु है—रक्षक है । हमें उसी की शरण में जाना चाहिये ।

'तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य'

(डा० श्यामशंकर दीक्षित, एम० ए०, पी० एच० डी०)

संस्कृत महाकाव्य के उद्भव-काल के सम्बन्ध में कोई निश्चित विचार प्रकट नहीं किया जा सकता । भारतीय परम्परा के अनुसार बाल्मीकि संस्कृत के प्रथम कवि और उनकी कृति 'रामायण' संस्कृत महाकाव्य की प्रथम रचना मानी जाती है, किन्तु इस के रचना-काल के सम्बन्ध में विद्वानों के मतैक्य नहीं है । महाभारत का रचनाना-काल भी असंदिग्ध रूप से निश्चत नहीं किया जा सका है । परन्तु इतना सभी विद्वान स्वीकार करते हैं कि इन काव्यों की रचना सन् ईस्वी से पूर्व हो चुकी थी और "सन् ईस्वी की प्रथम शताब्दी तक निश्चित रूप से संस्कृत की काव्य शैली निखर चुकी थी, काव्य-सम्बन्धी रूढ़ियाँ बन चुकी थीं और कथानक में भी मोहक गुण और मादक प्रवृत्ति ले आने से सम्बन्धित काव्यगत अभिप्राय प्रतिष्ठित हो चुके थे ।"1 अश्वघोश-कृत 'बुद्धचरित' और 'सौंदरानन्द' तथा पाणिनि-कृत 'जामवन्ती विजय' अब तक प्रकाश में आ गये थे, जिनमें उपर्युक्त सभी गुणों का समावेश था । जैन संस्कृत महाकाव्यों का उदय भी इसी समय से हुआ है और तब से लेकर अब तक जैन महाकाव्य की धारा अजस्र रूप से प्रवहमान रही । ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी तक जैनों द्वारा प्राकृत को अधिक अपनाये जाने के कारण, इस समय तक जैन संस्कृत महाकाव्यों की गति बहुत मंथर रही है, किन्तु इस समय के बाद उन्होंने गति पकड़ी है ! जैन संस्कृत महाकाव्य-साहित्य का विकास कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य से प्रारम्भ हुआ । ईसा की तेरवीं और चौदहवी शताब्दी में जैनों द्वारा जो विपुल और बहुमूल्य संस्कृत महाकाव्य-साहित्य रचा गया है, उसे निश्चय ही आचार्य हेमचन्द्र और उनकी कृतियों से प्रेरणा मिली है । आचार्य ने स्वयं त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित्र, तथा 'कुमारपाल चरित' नामक महाकाव्य लिखे । कतिपय महाकाव्यों की रचना आश्रय दाताओं की प्रेरणा पर हुई है । इन आश्रय दाताओं में धौलका (गुजरात) के राणा वीरधवल के मन्त्री वस्तुपाल का नाम प्रमुख है । वस्तुपाल स्वयं भी एक श्रेष्ठ कवि था और उसने 'नरनारायणानन्द' नामक महाकाव्य की रचना की है ! कुछ कवियों ने पाण्डित्य, काव्य-प्रतिभा और शास्त्र-ज्ञान प्रदर्शित करने की भावना से प्रेरित होकर भारवि, माघ और श्रीहर्ष की श्रेणी में स्थान पाने की महत्त्वाकांक्षा से कतिपय महाकाव्यों का निर्माण किया है । ऐसे महाव्यों में 'वाग्वैदग्ध्य' और 'पाण्डित्य प्रदर्शन' ही प्रधान लक्ष्य रखे गये हैं, वे जन साधारण के लिए बोधगम्य नहीं । वे हृदय की अपेक्षा बुद्धि की उपज हैं और उसी को अधिक सन्तुष्ट भी करते हैं । किन्तु इन सबसे अधिक संख्या ऐसे महाकाव्यों की है जिनकी रचना स्वान्तः सुखाय हुई है । इनमें कवियों का मुख्य उद्देश्य अपने आराध्य तीर्थंकरों के पावन जीवन का वर्णन करना रहा है । इनमें कहीं-कहीं उन कवियों का धर्म-प्रचारक रूप भी सामने आ गया है और कहीं-कहीं दार्शनिक पक्ष प्रबल हो गया है ।

जैन संस्कृत महाकाव्य-साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग अभी तक अप्रकाशित है । प्रोफेसर वेलणकर-कृत 'जिन-रत्नकोष' श्रीमोहनलाल दलीचन्द देसाई कृत 'जैन साहित्यनो इतिहास,' विविध इतिहास-ग्रन्थ तथा श्रीअगरचन्द नाहटा आदि विद्वानों के सहयोग से मुझे अभी तक इस युग के जिन जैन संस्कृत महाकाव्यों का पता लग सका है उनकी सूची इस प्रकार है :—

महाकाव्य	सर्ग संख्या	रचनाकाल	कवि
१ वसन्तविलास	१४	ई० १३ वीं शताब्दी	बालचन्द्रसूरि
२ मल्लिनाथ चरित्र	८	,,	विनय चन्द्रसूरि
३ नरनारायणानन्द	१६	,,	वस्तुपाल

१. संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आलोचना, जुलाई १९५२ ।

महाकाव्य	सर्ग संख्या	रचना काल	कवि
४ कुमारपाल चरित्र	१०	सन् १३६५	जयसिंह सूरि
५ वासुपूज्य चरित	४	सन् १२४२	वर्धमान सूरि
६ पार्श्वनाथ चरित	८	सन् १३५५	भावदेव सूरि
७ श्रेयांसनाथ चरित	१४	सन् १२७५	मानतुंग सूरि
८ जगडू चरित	७	सन् १२८१	सर्वानन्द सूरि
९ बालभारत	१८ पर्व, ४४ सर्ग	ई० १३ वीं शताब्दी	अमरचन्द्र सूरि
१० पद्मानन्दमहाकाव्य	१९	सन् १२४०	अमरचन्द्र सूरि
११ जयन्त विजय	१९	सन् १२२१	अभयदेव सूरि
१२ धर्माभ्युदय महाकाव्य	१५	सन् १२२० से १२३३ ई० मध्य	उदयप्रभ सूरि
१३ अभयकुमार चरित	१२	सन् ११५५	चन्द्रतिलक उपाध्याय
१४ पाण्डव चरित	१८ सर्ग	सन् १२१३	मलधारिदेवप्रभ सूरि
१५ पुण्डरीक चरित	८ सर्ग	सन् १३१५	कमलप्रभ
१६ धन्यशालिभद्र	६ सर्ग	सन् १२२८	पूर्णभद्रगणि
१७ मुनिसुव्रत चरित	८ सर्ग	ई० १३ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध	विनयचन्द्र सूरि
१८ यशोधर चरित	१४ सर्ग	ई० १३ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध	माणिक्य सूरि
१९ नलायनम्	स्कंध १०, सर्ग	ई० १३ वी १४ वी शताब्दी	माणिक्य सूरि
२० शान्तिनाथ महाकाव्य	१९ सर्ग	सन् १३५३	मुनिभद्र सूरि
२१ हम्मीर महाकाव्य	१४	सन् १२१९	नयचन्द्र सूरि
२२ श्रेणिक चरित	१८	सन् १३१८	जिनप्रभ सूरि
२३ चन्द्रप्रभ चरित	१०	सन् १२५५	सर्वानन्द सूरि
२४ पार्श्वनाथ चरित	५	सन् १२३४	सर्वानन्द सूरि
२५ पार्श्वनाथ चरित	८	ई० १४ वीं शताब्दी	विनयचन्द्र सूरि
२६ पार्श्वनाथ चरित	१०	सन् १२१९	माणिक्यचन्द्र सूरि
२७ शान्तिनाथ चरित	८	ई० १३ वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध	माणिक्यचन्द्र सूरि
२८ शान्तिनाथ चरित	१४	सन् १२६५	मुनिदेव सूरि
२९ मुनिसुव्रत चरित	८	सन् १२३७	पद्मप्रभ
३० नेमिनाथ चरित	१०	सन् १२३२ के लगभग	उदयप्रभ सूरि
३१ महापुरुष चरित	५	ई० १३ वीं शताब्दी	मेरुतुंगाचार्य
३२ प्रत्येकबुद्ध चरित	१७	सन् १२५४	लक्ष्मीतिलक
३३ लीलावतीसार काव्य	२१	ई० १३ वीं शताब्दी	जिनरत्न सूरि
३४ संभवनाथ चरित	—	सन् १३५६	मेरुतुंग
३५ सनत्कुमार चरित	—	सन् १२०५	जिनपाल उपाध्याय
३६ विवाहवल्लभ महाकाव्य	१४ से अधिक	१४ वीं शताब्दी (अनुमान से)	अज्ञात (प्रस्तुत महाकाव्य का केवल १४ वां सर्ग श्री अभयजैन ग्रंथालय बीकानेर में सुरक्षित है। श्री नाहटा जी का अनुमान है कि यह ग्रंथ भी १४ वीं शताब्दी का ही होगा)

	महाकाव्य	सर्ग संख्या	रचना काल	कवि
३७	धर्मशर्माभ्युदय	२१	ई० १३ वीं शताब्दी का आरम्भ (प्रो० अमृतलाल जी शास्त्री, बनारस सं० विश्वविद्यालय तथा प्रिंसिपल चैनसुखदास न्यायतीर्थ के अनुसार)	हरिश्चन्द्र
३८	मुनिसुव्रत चरित	१०	ई० १३ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध	अर्हद्दास
३९	वर्धमान चरित (श्री परमानंद शास्त्री के अनुसार ईडर भंडार में सुरक्षित है)		ई० १३ वीं शताब्दी	पद्मनन्दि
४०	भव्यमार्गोपदेश श्राकाचार	—	,,	जिनदेव
४१	ऋषभदेव महाकाव्य	—	,	वाग्भट्ट (अनुपलब्ध)
४२	भरतेश्वराभ्युदय	—	,,	पं आशाधर (अनुपलब्ध)
४३	राजीमती-विप्रलम्भ	—	,,	,, (अनुपलब्ध)
४४	चन्द्रप्रभचरित	—	,,	वीरनन्दी

यह ध्यान रखने की बात है कि ईसा की १४ वीं शताब्दी से पूर्व तक सर्गबद्ध काव्य ही महाकाव्य माना जाता रहा है इस समय तक सर्गों की संख्या किसी भी आचार्य ने निर्धारित नहीं की। सर्व प्रथम विश्वनाथ महापात्र ने महाकाव्य के लिए आठ सर्गों की संख्या नियत की। विश्वनाथ का समय ईसा की १४ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है अतः उनका यह निर्णय पूर्व की कृतियों पर लागू नहीं किया जा सकता। इसीलिए ऊपर लिखे गए कुछ महाकाव्यों में सर्गों की संख्या आठ से कम होने पर भी कवियों ने उन्हें महाकाव्य कहा है और इन पंक्तियों के लेखक ने भी उन्हें महाकाव्य स्वीकार किया है। इन महाकाव्यों में क्रम संख्या १ से लेकर २२ तक के तथा ३७ और ३८ क्रम संख्या वाले महाकाव्य प्रकाशित हैं शेष सभी अमुद्रित हैं।

पाश्चात्य तथा आधुनिक भारतीय विद्वान कहाकाव्य के दो भेद करते है :- 1. Epic of growth 2 Epic of Arts अर्थात् विकसनशील महाकाव्य और अलङ्कृत महाकाव्य। विकासनशील महाकाव्य एक व्यक्ति के हाथ की रचना नहीं होते। उनमें एक से अधिक का योगदान होता है। सैकड़ों वर्षो में, अगणित व्यक्तियों की प्रतिभा और वाणी के योग से उसका विकास होता है। बाल्मीकिरामायण और महाभारत इसीलिए विकसनशील महाकाव्य माने जाते हैं। महाभारत और रामायण में इस मात्रा तक विकास हुआ है कि उनके मूल रूप और वर्तमान रूप में कोई समानता नहीं रह गई है। हिन्दी का प्रसिद्ध महाकाव्य चन्द वरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' को भी इसी लिए विकसनशील महाकाव्यों की कोटि में रखा जाता है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्यों में ऐसा कोई भी महाकाव्य नहीं जो कि एक हाथ की रचना न हो फलस्वरूप विकसनशीलमहाकाव्य की श्रेणी में कोई महाकाव्य नहीं आता। सभी महाकाव्य अलङ्कृत महाकाव्य हैं।

इन महाकाव्यों को छः भागों में बांटा जा सकता है १. रीतिबद्ध महाकाव्य २. शास्त्र काव्य ३. ऐतिहासिक महाकाव्य ४. पौराणिक महाकाव्य ५. रोमेन्टिक महाकाव्य ६. पौराणिक रोमेन्टिक महाकाव्य। प्रथम भाग में उन महाकाव्यों की गणना की जा सकती है, जिनकी रचना भामह, दण्डी और आचार्य हेमचन्द्र द्वारा निश्चित महाकाव्य-लक्षणों के अनुसार हुई है। इन महाकवियों के समक्ष भारवि, माघ और श्रीहर्ष का आदर्श रहा है। ऐसे महाकाव्यो को रीतिबद्ध महाकाव्य कहा जा सकता है। रीतिबद्धता की यह प्रवृत्ति राज्याश्रय और दरबारी वातावरण की देन थी, जहां प्रत्येक कवि अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन, वाक्चातुर्य, कल्पनातिरेक और अलङ्कृत भाषा के द्वारा अपने उत्कृष्ट कवित्व की धाक जमाना चाहता था।

आलोच्य युग के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'धर्मशर्माभ्युदय' और 'नरनारायणानन्द' में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। भारवि और माघ की तरह इन महाकाव्यों के रचयिता भी कथाक्रम को छोड़ कर बीच में लगातार पांच छै सर्गो तक चन्द्रोदय, वन-विहार, जलक्रीड़ा, पानगोष्ठी तथा प्रकृतिका वर्णन करते चले गये हैं और बाद में विशृंखलित कथा सूत्र को पकड़ कर आगे बढ़े हैं। 'नरनारायणानन्द' में तीसरे सर्ग के बाद कथा सूत्र टूट जाता है और चौथे सर्ग से नवें सर्ग तक ऋतुवर्णन, रैवतकवर्णन, चन्द्रोदय, सुरापान-सुरतवर्णन, सूर्योदय, वनक्रीडा, दोलान्दोलन और पुष्पावचयन का वर्णन है। 'धर्मशर्माभ्युदय' में भी ग्यारहवें सर्ग से लेकर पन्द्रहवें सर्ग तक ऋतुवर्णन, वनक्रीडा, जलक्रीडा, चन्द्रोदय, मद्यपान तथा संभोग शृंगार का वर्णन किया गया है। दोनों ही महाकाव्यों में कथानक गौण है, अलङ्कृत वर्णन तथा चमत्कार की प्रमुखता है। पाण्डित्य प्रदर्शन के द्वारा पाठकों को चमत्कृत करने के लिए दोनों ही महाकाव्यों का पूरा एक-एक सर्ग चित्र-काव्यों से भरा है। एक-एक उदाहरण देखिए :—

कङ्कः किं कोककेकाकी किं काकः केकिकोऽककम्।
कौकः कुकैकक कैकः कः केकाकाकुककाङ्कम्॥

—धर्मशर्माभ्युदय सर्ग १९ श्लोक ८२

लोलालोलं लुलोलेली लाली लालल्ल लोल्ललः।
लोलं लोलं लुलल्लोलोल्लो लल्ली लाललोललः॥

नरनारायणानन्द सर्ग १४, श्लोक २३

रीतिबद्धशैली का एक अन्य महाकाव्य दिल्ली के बादशाह फीरोज शाह द्वारा संमानित मुनिभद्रसूरि कृत 'शान्तिनाथ चरित' है। इसमें भी अलङ्कृत शैली द्वारा पाण्डित्य-प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। महाकाव्य की प्रशस्ति में कवि ने बड़े गर्व से कहा है, कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष में जिन्हें दोष दिखाई देते हैं। उन्हें इसमें गुण ही गुण दिखाई देंगे। संस्कृत के काव्य पञ्चक मिथ्यात्व से अंचित हैं अतः साहित्याभ्यासियों के लिए उन ग्रन्थों की जगह सम्यक्त्व-संवासना से युक्त यह महाकाव्य पढ़ाया जा सकता है।" कवि के इस कथन से स्पष्ट है कि उसके सामने संस्कृत के पंच महाकाव्यों के सभी गुणों से युक्त एक जैन महाकाव्य बनाने की योजना रही थी। इस कार्य में वह कितना सफल हुआ यह तो एक अलग निबन्ध का विषय है, किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि भाषा पर उसका असाधारण अधिकार है किन्तु अनुप्रास के अत्यधिक आग्रह के कारण वह बहुत क्लिष्ट हो गई है, जिससे उसका काव्य पण्डितों के उपयोग की वस्तु है जनसाधारण के उपयोग के लिए नहीं।

दूसरे भाग शास्त्र-काव्य के अन्तर्गत ऐसे महाकाव्यों की गणना है, जिनमें काव्य के साथ-साथ व्याकरण के प्रयोगों का भी पूरा परिचय पाठकों को दिये जाने का उपक्रम रहता है। महाकाव्य का इस शैली की जनक भट्टि नामक वैयाकरण कवि को माना जाता है। उसने 'भट्टिकाव्य' की रचना की थी। इस काव्य में रामकथा के वर्णन के साथ-साथ व्याकरण और अलंकार के प्रयोग भी बताये गए हैं। बारहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने 'कुमारपाल चरित' की रचना की इसमें कुमारपाल के जीवन चरित के साथ-साथ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का व्याकरण भी बताया गया है। आलोच्य युग में जिनप्रभसूरिने 'द्वयाश्रय' या 'श्रेणिक चरित' महाकाव्य की रचना की जिसमें महावीरस्वामी के समकालीन राजा श्रेणिक के जीवन चरित्र के साथ-साथ संस्कृत व्याकरण के प्रयोगों को बताया गया है। एक उदाहरण देखिए—

घोषवन्तोऽप्यघोषाः स्युस्तत्रैव प्रतिवादिनः।
जिव्हतान्वादिनो बिभ्रत्युच्चतामनुनासिकम्॥

यहाँ मगध देश के नागरिकों की विशेषताओं के वर्णन के साथ-साथ व्यंजनों की घोष, अघोष और अनुनासिक संज्ञा होती है, यह बताया गया है!

आलोच्य युग में जैन कवियों ने अनेक ऐतिहासिक महाकाव्य लिखे हैं। ऐतिहासिक महाकाव्यों में कथानक इतिहास से लिया गया होता है और घटना क्रम भी इतिहास सम्मत होता है। शैली रीतिबद्ध ही होती है। कहने का आशय यह है कि उनमें वस्तु-व्यापार वर्णन, अलङ्कृत शैली, प्रकृति-चित्रण, काव्य रूढ़ियों का निर्वाह आदि सभी गुण होते हैं। कथानक में ऐतिहासिक जीवन वृत्त के साथ-साथ कभी-कभी काल्पनिक घटनाओं का उपयोग भी कवि स्वतन्त्रता-पूर्वक करता है। नयचन्द्र सूरिकृत 'हम्मीर महाकाव्य' इस युग का सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक महाकाव्य है

जिसमें रणथंभपुर के चौहान राजा हम्मीर के शौर्यपूर्ण कार्य शरणागत-रक्षा और अलाउद्दीन खिलजी के साथ युद्ध का वर्णन है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। आलोच्य काल का दूसरा ऐतिहासिक महाकाव्य जयसिंह सूरिकृत 'कुमारपाल चरित्र' है। गुजरात के चालुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल का जीवनवृत्त जानने के लिए यह काव्य बड़ा उपयोगी है। सन् १२८१ में सर्वानन्द सूरी ने 'जगडूचरित' लिखकर जगडूशाह की कीर्ति को अमर कर दिया, जिसने अपने गुरु के मुख से आने वाले अकाल की बात जानकर प्रचुर अन्न का संग्रह किया और सन् १२५६-५८ ई० के गुजरात के भीषण दुर्भिक्ष में अन्न कष्ट से मरते हुए प्राणियों को अन्न दान द्वारा बचाया था। महाकाव्य में इस त्रिवर्षीय अकाल का सुन्दर वर्णन हुआ है। बालचन्द्र सूरि कृत 'वसन्तविलास' में गुर्जरेश मूलराज से लेकर वीरधवल तक के राजाओं का ऐतिहासिक वृत्तान्त है और वस्तुपाल-तेजपाल का मंत्री होना, भृगुकच्छ के शंख के साथ वस्तुपाल के युद्ध का तथा शंख की पराजय का वर्णन है। इसके बाद वस्तुपाल की यात्राओं के वर्णन से लेकर उसकी मृत्यु तक का वर्णन है। इस महाकाव्य में भी गुजरात के इतिहास की महत्त्व पूर्ण सामग्री सुरक्षित है। वस्तुपाल की यात्राओं से सम्बन्धित दूसरा ऐतिहासिक महाकाव्य 'धर्माभ्युदय महाकाव्य' है जिसके प्रथम और अन्तिम सर्गों में ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त है। इन सर्गों में वस्तुपाल, उनके गुरु तथा अन्य जैनाचार्यों से सम्बन्धित ऐतिहासिक वृत्तान्त है।

इस युग में कुछ ऐसे भी महाकाव्य हैं जिन्हें पौराणिक महाकाव्य कहा जा सकता है। इन महाकाव्यों की शैली पुराणों से बहुत प्रभावित है! पुराणों में प्रायः देखा जाता है कि उनमें कथा की अन्विति कम होती है और अवान्तर कथाओं की बहुलता तथा घटनाओं की विविधता रहती है, जिनका उद्देश्य उपदेश देना या किसी मत विशेष का प्रचार करना होता है। अमरचन्द्र सूरि कृत 'बालभारत' और माणिक्य सूरि कृत 'नलायन' या 'कुबेर पुराण' पौराणिक महाकाव्य के अन्तर्गत आते हैं! पुराणों की भांति ये महाकाव्य भी पर्वों, स्कन्धों और सर्गों में विभक्त हैं। 'बालभारत' की कथा का संक्षेप में वर्णन किया गया है और 'नलायन' में नलदमयन्ती की प्रसिद्ध कथा है। देवप्रभसूरि का 'पाण्डवचरित्र' भी पौराणिक शैली का महाकाव्य है। अधिकतर देखा जाता है कि पौराणिक महाकाव्यों का लक्ष्य केवल कथा कहना होता है अतः उनकी शैली में कवित्व कला और चमत्कार प्रियता का अभाव होता है, किन्तु ये तीनों महाकाव्य काव्यकला की दृष्टी से भी उच्च कोटि के काव्य हैं।

आलोच्य युग में रोमेन्टिक शैली का प्रतिनिधि काव्य 'अभयकुमार चरित' है। इस महाकाव्य के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अभयकुमार ऐसे-ऐसे अद्भुत कार्य करता है कि पाठक को दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। ऐसा कोई भी दुष्कर कार्य नहीं जिसे वह सम्पन्न नहीं कर सकता। महाकाव्य की कथा बड़ी जटिल, पेचीली और अस्त व्यस्त है जिसे याद रखना कठिन है। प्रबन्ध भी शिथिल है। कवि ने जगह-जगह नई कथाएँ आरम्भ कर दी हैं, जिनका सम्बन्ध बाद में बड़ी कठिनता से जुड़ता है। किन्तु अभयकुमार के साहसिक कार्य, अद्भुत चोर का पता लगाना, वासवदत्ता का संगीत शिक्षा के लिए उदयन को चतुरता से लाना आदि अद्भुत कार्यों से इस महाकाव्य का रोमेन्टिक गुण बढ़ गया है, जो पाठकों के कौतूहल को बढ़ाने वाला है। मुहावरों और लोकोक्तियों का इस काव्य में भरमार है। ये तत्कालीन समाज में प्रचलित मुहावरे और लोकोक्तियाँ हैं जिनका प्रयोग आज भी हिन्दी में होता है। कुछ लोकोक्तियाँ व मुहावरे देखिए—

१. कार्ये निजे क्रियत एव खरोऽपि बप्ता
२. प्रथमं दृश्यते तैलं तैलधाराथ दृश्यते
३. सर्वोऽपि परस्थाले स्थूलं पश्यति मोदकम्
४. वक्रं नाजनि रोमपि
५. तालिका नैक हस्तिका
६. गगने रोपिता

अपने काम के लिए गधे को बाप बनाना पड़ता है।
तेल देखो, तेल की धार देखो।
दूसरे के थाल का लड्डू हमेशा बड़ा दीखता है
बाल टेढ़ा न कर पाना
एक हाथ से ताली नहीं बजती
आकाश पर चढ़ना

इसी प्रकार अनेक मुहावरे और लोकोक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। संस्कृत साहित्य तो बहुत विशाल है उसकी बात तो मैं नहीं करता, किन्तु, उसके जितने अंश से मेरा परिचय है उसमें कहीं भी मुझे ऐसे जीवित, मुहावरेदार भाषा के दर्शन नहीं हुए जैसी 'अभयकुमार चरित' में पाई जाती है।

शेष महाकाव्यों में पौराणिक और रोमेन्टिक दोनों शैलियों के तत्व मिलते हैं। विनयचन्द्रसूरि कृत 'मल्लिनाथ चरित' वर्धमानसूरि-कृत 'वासुपूज्यचरित', भावदेवसूरि कृत 'पार्श्वनाथ चरित', मानतुंगसूरि कृत 'श्रेयांसनाथचरित' अमरचन्द्रसूरि कृत 'पद्मानन्द महाकाव्य' कमलप्रभ कृत 'पुण्डरीक चरित' आदि सभी चरित काव्य हैं जिन्हें पौराणिक-रोमेन्टिक महाकाव्य कहना अधिक उपयुक्त है। इन महाकाव्यों के अतिरिक्त शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ, यशोधर, सनत्कुमार, नेमिनाथ, संभवनाथ, मुनिसुव्रत, चन्द्रप्रभ, धन्यकुमार, शालिभद्र आदि के चरित्रों को लेकर अनेक महाकाव्य लिखे गये, जिनका उल्लेख ऊपर तालिका में किया जा चुका है। सामान्य रूप से इनमें महाकाव्य के सभी लक्षणों का समावेश मिलता है किन्तु इनमें भाषा-शैली की उदारता और चमत्कार प्रियता अपेक्षाकृत कम है। इन पौराणिक-रोमेन्टिक चरित काव्यों का मूल उद्देश्य तीर्थंकरों के चरित्र का गान करना और धर्मभावना का प्रसार करना है। माणिक्यदेव सूरि कृत 'यशोधरचरित' की रचना नवरात्रों में पाठ करने के लिए की गई है। इसका पाठ करने से पुत्र की उत्पत्ति होती है जैसा कवि ने स्वयं इन शब्दों में कहा है—

> इदं जातिस्मृतिकरं भूतसन्तर्पणं परम्।
> पठ्यतं नवरात्रेषु प्रयतैः पुत्र काम्यया॥

सर्ग १, श्लोक ७.

कभी-कभी इन पौराणिक-रोमेन्टिक महाकाव्यों के रचयिताओं में भी अपने विविध ज्ञान को प्रदर्शित करने की इच्छा जाग पड़ी है और उन्होंने कथा-प्रवाह की चिन्ता किये बिना ही अपना पाण्डित्य प्रदर्शन किया है। भावदेव सूरि-कृत 'पार्श्वनाथ चरित' के सप्तम सर्ग में कवि ने अपने वैद्यक ज्ञान का विस्तृत परिचय दिया है। इसी सर्ग में, लगभग ४० श्लोकों में सामुद्रिक ज्ञान का परिचय भी दिया गया है। द्वितीय सर्ग में कवि एक ज्योतिषी की भाँति स्वप्नों के फल का विस्तृत वर्णन करने में लग गया है। इसी सर्ग में आगे शकुन और अपशकुनों की विस्तृत सूची प्रस्तुत की गई है। 'मल्लिनाथ चरित' में विनयचन्द्र सूरि का दार्शनिक ज्ञान मुखरित हो उठा है और उन्होंने सप्ततत्वों के निरूपण, सम्यकत्व और पञ्चाणुव्रत सम्बन्धी विस्तृत विवरण दिये हैं। इनके अतिरिक्त अपने ज्योतिष ज्ञान का परिचय देते हुए उन्होंने 'होराज्ञान तत्त्वार्थ', 'लक्ष्मी प्रवर्धक लग्न' आदि के लम्बे, उबा देने वाले विवरण प्रस्तुत किये हैं। कमलप्रभ-कृत 'पुण्डरीकचरित' में प्राकृत के शास्त्रीय अवतरणों को स्थल-स्थल पर उद्धृत किया गया है और बीच-बीच में 'तथाहि', 'ततश्च', 'पुनश्च', 'किंबहुना' तथा 'पुण्डरीक उवाच' आदि का प्रयोग है। विनयचन्द्र कृत 'मुनिसुव्रत चरित' के छठे सर्ग में मूर्तिशास्त्र के विधान का विस्तृत वर्णन है, जिससे कवि की शिल्पशास्त्र सम्बन्धी विद्वत्ता प्रकट होती है। इस काव्य में दो एक जगह गद्य का भी प्रयोग है (देखिए सर्ग ७, श्लोक २८६ के बाद)। कहने का आशय यह है कि इन पौराणिक-रोमेन्टिक महाकाव्यों में भी कवियों ने अपने विविध ज्ञान का परिचय दिया है, किन्तु कतिपय अपवादों को छोड़कर, उनकी भाषा सरल ही रही है और मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है। इन काव्यों में जिनोत्पत्ति, समवसरण, देशना, निर्वाण आदि के विस्तृत वर्णन मिलते हैं। अन्य धर्मावलम्बियों और जैन विद्वानों के शास्त्रार्थ का भी वर्णन हुआ है। यहाँ उनका उद्देश्य अन्य धर्मों पर जैनधर्म की विजय दिखाना और जैनधर्म की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करना रहा है। इन पौराणिक-रोमेन्टिक महाकाव्यों में अनेक आश्चर्यजनक कार्यों का और अति प्राकृत तत्वों का वर्णन है। इनका कथानक भी अपेक्षाकृत जटिल और असन्तुलित है, क्योंकि बीच-बीच में अनेक अवान्तर और प्रासङ्गिक कथाएँ आती रहती हैं। इनमें भूत-प्रेतों का आगमन, जादू-टोना, तन्त्र-मंत्र, पशु-पक्षियों की बातें, शाप, वरदान शकुन अशकुन आदि में विश्वास आदि अलौकिक और अप्राकृत बातों का वर्णन है, किन्तु इनका कथानक पूर्णतया पौराणिक है और इनका उद्देश्य महत् है तथा इन सभी का पर्यवसान वैराग्य और शान्त रस में हुआ है।

इस प्रकार ईसा की तेरहवीं-चौदहवी शताब्दी में जैनों ने संस्कृत महाकाव्य-साहित्य की जो देन दी है वह परिमाण में ही नहीं, गुणों की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। उसमें भाषा-शैली गत विभिन्नता उपलब्ध होती है। एक ओर उसने 'धर्मशर्माभ्युदय' और 'नरनारायणानन्द' जैसे शास्त्रीय रीतिबद्ध काव्य प्रदान किए हैं जिनका मूल्य आलोचना के किसी भी मानदण्ड से भारवि के 'किरातार्जुनीय' और माघ के 'शिशुपालवध' से कम नहीं है, तो दूसरी ओर 'बालभारत' और 'पद्मानन्द' जैसे रस मग्न करने वाले महाकाव्य दिए हैं। गुजरात के इतिहास को सुरक्षित रखने में जो योग इस युग के ऐतिहासिक महाकाव्यों का है उसे उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। चरितात्मक महाकाव्यों की भी अपनी अलग महत्ता है। यह ठीक है कि इन महाकाव्यों में 'धर्मशर्माभ्युदय', 'नरनारायणानन्द' 'पद्मानन्द' 'बालभारत' आदि काव्यों जैसी साज-सज्जा, काँट-छाँट और चमक-दमक नहीं है, यह भी ठीक है कि इनमें प्रयत्नसाध्य अलंकार कृत्रिम भाषा, उक्तिवैचित्र्य आदि गुण नहीं है. फिर भी उनमें सौन्दर्य है, वैसा ही सहज सौन्दर्य जैसा किसी अनगढ़ जंगल का होता है, उपवन का प्रयत्न साध्य सौन्दर्य नहीं। उनका यह सौन्दर्य उनकी सादगी, सरलता और अनलङ्कृति में है और इसी के कारण उनका स्थाई महत्त्व है।

जैन दर्शन और पातञ्जल योगदर्शन

साध्वी श्री संघमित्राजी

दर्शन केवल चिन्तन नहीं, साक्षात्कार है। साक्षात आत्मगम्य होता है और इन्द्रिय गम्य भी। आत्मा से होने वाला साक्षात्कार अव्यवहित और अत्यन्त स्पष्ट होता है। वह परमार्थ प्रत्यक्ष कहलाता है। इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला साक्षात् व्यवहित होता है अतः वह अस्पष्ट रहता है और व्यवहार प्रत्यक्ष कहलाता है। जिनका साक्षात जितना अधिक आत्मा के निकट होता है, सत्य को वह उतना ही अधिक पकड़ पाता है।

एक बिन्दु पर केन्द्रित दो मनुष्यों की दृष्टि एक ही रूप को देखती है, पर एक ही परमार्थ के साक्षात्कार में ऋषियों के दर्शन ने विभिन्न रूप क्यों लिए? इस का स्पष्ट समाधान है कि सबके साक्षात् का माध्यम आत्म-गम्य ही नहीं रहा। महर्षि चार्वाक का प्रत्यक्ष इन्द्रिय गम्य था। कुछ महर्षियों का साक्षात् आत्मगम्य होते हुए भी अधूरा था। इस अधूरेपन और साक्षात्कार के माध्यम भिन्न-भिन्न थे; अतः दर्शन की धाराएं भी विभक्त हो गई।

भारत में अनेक दर्शन पनपे। उनमें पातञ्जल योग दर्शन भी एक है, जो महर्षि पतञ्जलि का प्रयत्न है। जैन दृष्टि से पातञ्जलयोग दर्शन का अध्ययन करना प्रस्तुत निबन्ध का अभिप्रेत है।

योगशब्द पर विचार

योगशब्द युज धातु से व्युत्पन्न है। युज धातु की मूल प्रकृति द्वयर्थक है युजिर 'योगे' और युजङच 'समाधौ'। व्यास भाष्य में १ समाध्यर्थक युज् धातु का संकेत है। हरिभद्र ने योगार्थकर युज धातु को ग्रहण किया है। दोनों दर्शनों में योग शब्द की आवृत्ति सम होते हुए भी प्रकृति भिन्न है।

योगशब्द के अर्थ पर विचार

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योग समाधि है। यह सर्वोत्तम समाधान है। यह समाधान शरीर का नहीं है, इन्द्रियों का नहीं हैं, किन्तु मन का समाधान है २। ३, जहां मानसिक वृत्तियों का पूर्ण समाधान हो जाता है, शेष संस्कार भी विदग्ध हो जाते हैं, वही योग की पूर्ण प्राप्ति है।

जैनदर्शन में योगका अर्थ है-जोडना। यह दो भिन्न तत्त्वों को संयोजित करता है। अध्यात्म क्षेत्र में योग वह है जो आत्मा को मोक्ष से जोडता है। इस दृष्टि से धर्म के सभी व्यापार योग ही हैं ४। निश्चय दृष्टि से योग 'ज्ञान दर्शन चारित्र' है।

१—योग विं० श्लो०१

२—व्यास भा० १

३—व्यास भा० १ पृ० ४

४—योग वि० श्लोक १

उनकी उपलब्धि का प्रकृष्टतम माध्यम व्यवहार योग है।

योग का स्वरूप चित्त-वृत्तियों १ का निरोध है। चित्त-वृत्तियों का निरोध जहां से प्रारम्भ होता है, योग का अंकुर वहीं से फूटता है। चित्त की पांच भूमिकाएँ २ हैं— क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध। क्षिप्तावस्था रजोगुण प्रधान है। इसमें चित्त विषयों में आसक्त बना रहता है मूढावस्था तमोगुण प्रधान है। इस अवस्था में चित्त मोह से प्रभावित रहता है। काम, क्रोध, लोभ उभरे हुए रहते हैं। विक्षिप्त अवस्था में चित्त चचल रहता है। एकाग्र अवस्था में चित्त की वृत्तियों का प्रवाह किसी एक विषय पर केंद्रित हो जाता है। निरुद्ध अवस्था समग्र प्रतीतियों से शून्य है।

जैन दर्शन में इन चित्त भूमिकाओं की प्रतिच्छाया यत्र-तत्र प्रतिच्छायित है। मुनि की भिक्षा-विधि के विवेचन में बताया गया है :— अव्याक्षिप्त चित्त से मुनि गोचरी करे। अव्याक्षिप्त ३ शब्द से क्षिप्त और विक्षिप्त दोनों भूमिकाओं का संकेत है।

अज्ञानियों के स्वरूप की व्याख्या देते हुए कहा गया है— ४ मोह से जो आवृत हैं, वे मूढ हैं— अज्ञानी हैं। इस प्रतिपादन में मूढावस्था का प्रतिबिम्ब है।

ध्यान के विश्लेषण में आया है— ध्यान वह है, जहां एकाग्र-चिन्तन होता है अथवा योगों का निरोध होता है। ध्यान की व्याख्या में योग-दर्शन की एकाग्र और निरुद्ध चित्त-भूमिका अभिव्यञ्जित हो रही है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष का अनादि सम्बन्ध है। सत्त्व, रजस, तमस् इन तीनों की साम्यावस्था ५ का नाम प्रकृति है।

प्रकृति की यह साम्यवस्था कभी दृश्य नहीं बनती। जो दृश्य है, वह इनकी विकृत अवस्था है।

प्रकृति नित्य है, जड है, कर्मों की कर्ता है, परिणामी है। संसार की सृष्टि का मूल प्रकृति है। इसमें बुद्धि६, अहंकार और षोडशगण पैदा होते हैं। प्रकृति ही बन्धन को प्राप्त होती है और यही मुक्त होती है। पुरुष में बन्ध और मोक्ष की कल्पना उपचार मात्र है।

पुरुष अकर्ता है७, निर्गुण है, भोक्ता है, अपरिणामी है। न उसके बन्धन होता है और न वह मुक्त होता है।

प्रकृति और पुरुष के बीच में बुद्धि है। बुद्धि उभय मुख दर्पणाकार है। उसमें एक ओर पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है; दूसरी ओर बाह्य जगत का। पुरुष के प्रतिबिम्ब से बुद्धि अपने में चेतना का अनुभव करती है। बुद्धि प्रतिबिम्बित सुख-दुःख का आभास पुरुष को होता है, यही पुरुष का भोग है। पर यथार्थ में पुरुष में कोई परिवर्तन नहीं होता। प्रकृति८ अपने किसी भी प्रयोजन की गणना न करती हुई पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए प्रवृत्त होती है। प्रकृति पुरुष का संयोग प्रकृति पुरुष९ के स्वरूप की उपलब्धि के लिए ही होती है। जब पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब प्रकृति भी निवृत्त हो जाती है। द्रष्टा पुरुष है और दृश्य जब प्रकृति है। लक्ष्य प्राप्ति में दोनों का अन्धे लंगडे१० का सा संयोग है।

पातञ्जल योग दर्शन की यह मान्यता जैन दर्शन में आत्मा और कर्म के साथ सुघटित होती है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। कर्म प्रकृति की तरह जड है। आत्मा चेतन है। पूर्ण विकसित और स्वतन्त्र आत्मा के कभी कर्म का बन्धन नहीं होता। कर्म सहित आत्मा ही कर्म का सर्जन करती है। उसके ही बन्धन होता है। जैन दर्शन मानता है कि कर्मवर्गणा के स्कंध समग्र लोक में फैले हुए हैं और वे वहां भी हैं जहां मुक्त आत्माएँ निवास करती है। वहां उनके कभी बन्धन नहीं होता। इस मान्यता के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि किसी अपेक्षा कर्म के ही कर्म का बन्धन होता है। कर्म ही प्रकृति की तरह कर्म का सृजन करता है। जिसके बन्धन होता है, वही मुक्त होता है।

दुःख क्या है? दुःख का हेतु क्या है? दुःख का अभाव

१—पा० यो० द० सू० २
२—व्यास० भा० १, पृ० १
३—द० अ० ५ उ० १ श्लो० २
४—आ० १।२।२।७४
५—हरिभद्र सूरि कृत—षड्-दर्शन श्लोक ३६
६—हरिभद्र सूर कृत—षड्-दर्शन श्लोक ४१
७—पा० यो० प्रदीप पृ० ३२७
८—पा० यो० द० सा० सू० २१
९—पा० यो० द० सा० सू० २३
१०—षड-दर्शन श्लोक ४२

क्या है ? दुःख निवृत्ति का साधन है ? मानव की सहज जिज्ञासा से भरे हुए ये चार प्रश्न कितने महत्वपूर्ण हैं। पतञ्जलि की दृष्टि में इन प्रश्नों का समाधान इस प्रकार से हुआ— द्रष्टा पुरुष है। दृश्य प्रकृति१ है। द्रष्ट और दृश्य का संयोग ही दुःख है। इस संयोग का कारण अविद्या है।२ अविद्या का अभाव हो जाने से संयोग का भी अभाव३ हो जाता है। यह हान अवस्था है। यहां द्रष्टा का कैवल्य और प्रकृति की मुक्तावस्था है।

पुरुष को स्व और प्रकृति के विषय में भेद ज्ञान हो जाना विवेकख्याति कहलाती है।४ यह विवेक ख्याति ही हान का उपाय है।

जैन दर्शन कहता है—आत्मा और कर्म का संयोग ही यथार्थ में दुःख है। यह संयोग नहीं होता तो दुःख भी नहीं होता। दुःख के हेतु अनेक हैं, जिनमें मिथ्या-ज्ञान ही सबसे पहला है। यही संसार की जड़ है। जड़ के टूट जाने से दुःख का वृक्ष भी शिथिल हो जाता है।

दुःख का अभाव मुक्ति है। दुःख निवृत्ति के चार मार्ग हैं—इनमें ज्ञान का स्थान पहला है। यही पतञ्जलि की विवेक-ख्याति है। उपर्युक्त चार प्रश्नों को चतुर्व्यूह कहा गया है। इस चतुर्व्यूह के समाधान में जैन-दर्शन और पातञ्जल योग दर्शन में विशेष निकटता है।

अविद्या की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि ने कहा—अनित्य ५ को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्मतत्त्व में आत्मतत्त्व ज्ञान को मान लेना ही अविद्या है।

जैन दर्शन कहता है—अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि मिथ्या-ज्ञान है ६। सामान्यतः यह मिथ्याज्ञान और अविद्या की परिभाषा भी कितनी सुन्दर और समकक्ष बनी है।

समाधि के प्रकारों का विश्लेषण करते हुए पतञ्जलि कहते हैं—समाधि दो प्रकार की होती है—भव प्रत्यय और उपाय प्रत्यय७। योगीजनों की समाधि उपाय प्रत्यय होती है। विदेह और प्रकृति लयों में भवप्रत्यय समाधि होती है।

विदेह वे कहलाते हैं ८ जो योगी आनन्दानुगतसम्प्रज्ञात समाधि में चेतन तत्त्व की स्पष्ट अनुभूति करते हैं। उसीको आत्म स्थिति समझकर रुक जाते हैं। इस प्रकार के योगी शरीर को त्याग कर दिव्यलोक से भी ऊपर बहुत अधिक समय तक कैवल्य जैसे आनन्द को भोगते हैं।

प्रकृति लय वे कहलाते हैं, जो अस्मितानुगत समाधि में चेतन तत्त्व की अत्यन्त स्पष्ट अनुभूति करते हैं। उसीको आत्मस्थिति समझ लेते हैं। वे शरीर को त्यागने पर इस अवस्था में दिव्यलोक से भी अधिक अवधि तक कैवल्य जैसे अनन्त आनन्द का अनुभव लेते रहते हैं। ये जब पुनः मानवदेह में आते है, तब उन्हें जन्म से ही असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाती है।

जैन दर्शन में भी कुछ इसी प्रकार के रहस्य उद्घटित हैं—लव सप्तम देव उपशान्त कषाय वाले होते हैं। योगी ध्यान में कर्मों का क्षय करते हुए चलते हैं। जब सप्त लव जितने कर्म शेष रह जाते हैं, तब आयु टूट जाती है। यदि इतना सा लम्बा आयु होता तो समग्र कर्मों का क्षय कर मुक्त हो जाता पर ऐसा न होने पर वे अनुत्तर विमान में जाते है और वे अन्य सब देवों से बहुत अधिक समय तक उपशान्त समाधि का अनुभव करते है।

अनेकान्तवाद भगवान् महावीर की मौलिक देन है। जैन दर्शन का समग्र प्रतिपादन इस पर टिका हुआ है। योग दर्शन में भी अनेकान्त दृष्टि के प्रतिबिम्ब मिलते हैं। बुद्धि और पुरुष ९ के सरूप और विरूप पर विवेचन करते हुए योग दर्शन में लिखा है—बुद्धि त्रिगुणात्मिकता है। त्रिगुण प्रकृति के धर्म हैं। प्रकृति अचेतन है। बुद्धि अचेतन प्रकृति से उत्पन्न है। पुरुष गुणों का द्रष्टा है। वह त्रिगुणात्मक नहीं है; अतः प्रकृति पुरुष सरूप नहीं है। पर अत्यन्त विरूप भी नहीं है, क्योंकि बुद्धिज प्रतीतियों को

१—पा० यो० द० सा० सू० २३
२—पा० यो० द० सा० सू० २४
३—पा० यो० द० सा० सू० २५
४—पा० यो० द० सा० सू० २६
५—पा० द० सा० सू०।
६—जै० सि० दी० ७।३।

७—पा० यो० द० १।१६।
८—पा० यो० प्रदीप १८७
९—पा० यो० द० भा० पृ० १६२।

मंदिरों का नगर-मड़ई

नीरज जैन सतना (म० प्र०)

सतना जिला पुरातत्व की दृष्टि से भारत वर्ष का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है, ईसा पूर्व दूसरा शती का भरहुत का बौद्ध स्तूप, देश का सर्वाधिक प्राचीन भुमरा का शिव मंदिर, गुप्त काल की अनन्य कृति नचना का चतुर्मुख शिव पार्वती मंदिर तथा इसी काल की गौरव शाली कृतियां सीरा पहाड़की जैन गुफाएँ आदि अनेक एक-से-एक बढ़कर शिल्प-अवशेष इस ज़िले में आस-पास बिखरे पड़े हैं।

मध्य काल में भी इस भूभाग पर अनेक सुन्दर-सुन्दर कलाकेन्द्रों का निर्माण हुआ है, जिनमें पतियान दाई, बाबूपुर और मडई का स्थान प्रमुख है।

मडई तो कभी खजुराहो की तरह मंदिरों का ही नगर रहा होगा। ऐसा लगता है कि कालान्तर में भूकम्प आदि के दैविक प्रकोप से इन मंदिरों का विनाश हो गया और उन्होंने टीलों का रूप धारण कर लिया। यह स्थान न जाने कितनी शताब्दियों तक ऊजड़ पड़ा रहा, अभी सौ-डेढ़ सौ साल पूर्व यहां एक छोटी सी बस्ती बस गई है। यहां भी खजुराहो की ही तरह जैन, वैष्णव और शैव सम्प्रदायों के अलग-अलग मंदिर समूह थे उनमें से केवल जैन भग्नावशेषों की चर्चा इस लेख में की जायगी।

यह नगर एक बड़े तालाब के किनारे बसा हुवा था। तालाब से लगा हुवा ही पहाड़ है। मध्यकाल में यह पहाड़ कलचुरियों की त्रिपुरी शाखा की राज्य सीमा पर था और मडई का तालाब तथा मंदिर समूह चन्देल राजाओं की कलाकृति थे, इस प्रकार यह स्थान मध्य कालीन मूर्ति कला का संगम रहा है, यह आश्चर्य की बात है कि इतना महत्त्वपूर्ण स्थान होते हुए भी इस स्थान को पुरातत्व के किसी भी विद्वान द्वारा अभी तक प्रकाश में नहीं लाया गया। हो सकता है कि इस स्थान की दुर्गमता और पथ की दुरूहता ही इसका कारण रही हो।

जैन मंदिरों का समूह शैव-समूह के उत्तर में स्थित था। उस समूह का सारी समृद्धि भूगर्भ में विलीन पड़ी है, कुछ जो ऊपर थी वह नष्ट-भ्रष्ट हो गई या यत्र-तत्र चली गई है, पर अभी तक इस समूचे टीले का सरसरी देख भाल से जो अनुमान हुआ है, उसके अनुसार यहां पर पंचायतन शैली के कम-से-कम पांच विशाल, शिखर बन्द जिन मंदिर विद्यमान रहे हैं। इन मंदिरों की कला खजुराहो की समकालीन और वैसी ही वैविध्य पूर्ण सज्जा-सहित तथा मूर्त्तियों के परिकर सहित सुन्दर तथा अत्यंत प्रचुर मात्रा में विराज मान रही है।

सर्व प्रथम इस टीले को देखने पर मुझे जो अनुभूति हुई उसका वर्णन सम्भव नहीं है। अचानक पता लगाता इस टीले पर पहुँच गया और मैंने यहां पुरातत्व का कल्पनातीत वैभव बिखरा हुआ पाया। जिस पत्थर को पलटता वही एक-न-एक तीर्थंकर प्रतिमा निकलती। हर पत्थर पर पांव रखने में आशंका होती कि ना जाने उसके नीचे पद्मावती, चक्रेश्वरी, अम्बिका अथवा कौन से तीर्थंकर विराजमान हों।

रामवन संग्रहालय के लिए मैंने इस टीले की कुछ सामग्री अभी कुछ समय पूर्व संकलित की है। इनमें अधिकांश तो पद्मासन और खड्गासन तीर्थंकर प्रतिमाएँ ही हैं, पर कुछेक बहुत सुन्दर शासन देवी मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं। इस सामग्री के अतिरिक्त कुछ विशाल तीर्थंकर मूर्तियाँ तथा देवी मूर्तियां और द्वार तोरण, देहरी, वेदिका, स्तम्भ आदि विविध सामग्री वहीं अभी भी बिखरी पड़ी है। यह टीले के ऊपर की कहानी है। टीले के नीचे भूगर्भ में जिस कला वैभव के पाये जाने की आशा है वह तो निश्चित ही कल्पनातीत है।

प्राप्त सामग्री के आधार पर यह सहज अनुमान होता है कि यहां एक फुट आकार से लेकर सात-आठ फुट ऊँची तक अनेक प्रतिमाएँ थीं, तथा साढ़े तीन फुट ऊंची खड्गा-

---

[शेष पृ० ११६ का]

देखता है, उनको देखता हुआ अनदात्मक भी तदात्मक की तरह प्रतिभासित होता है।

इस प्रकार लगता है, दोनों दर्शन अपनी गहराई में और भी अनेक दृष्टियों से विचित्र साम्य लिए हुए हैं। अनुमान है, कभी ये दोनों धाराएँ बहुत पार्श्ववर्तिनी रही हैं और इन्होंने परस्पर एक दूसरे को अवश्य प्रभावित किया है।

सन चौवीसी भी किसी मन्दिर में प्रतिष्ठित रही है। इस चौवीसी की सात-आठ प्रतिमाएँ क्वचित् खंडित रूप में मुझे प्राप्त हो गई हैं जिनकी एक रूप रचना-विधि को देखकर चौवीसी की धारणा पुष्ट होती है।

शासन देवियों के निर्माण के विशेष रचना कौशल का प्रयोग मध्यकाल की विशेषता रही है और वह यहाँ खूब पाई जाती है। रामवन में लाई गई एक अम्बिका मूर्ति तो साढ़े पाँच फुट ऊँची है। धरणेन्द्र, पद्मावती तथा चक्रेश्वरी और गौमुख यक्ष की कुछ अन्य मूर्तियां भी दर्शनीय हैं।

इस संकलन में एक अखण्डित तीर्थंकर प्रतिमा भी मुझे प्राप्त हुई है। इस सुन्दर मूर्ति का चित्र इस लेख के साथ दिया जा रहा है। यह मूर्ति नही है वरन एक विशाल (लगभग ७ फुट) ऊँची पद्मासन प्रतिमा के छत्र का भाग है। इसपर सर्व प्रथम तीन छत्र अंकित हैं, जिनके पार्श्व में कुम्भ लेकर जल धारा ढारते हुए दो सुन्दर गजों का अंकन है। इन गजों पर महावत, इन्द्र तथा गजवदों का अस्तित्व भी दर्शनीय है। इसके ऊपर स्तम्भों द्वारा कोष्ठक बनाकर बीच में एक पद्मासन तथा दोनों ओर खड्गासन तीर्थंकर प्रतिमाएँ अंकित की गई हैं, जिनकी सौम्यता तथा मनोज्ञता अद्भुत है।

इस कोष्ठक के ऊपर शिखर की रचना दिखाई गई है जिसमें बड़ी बारीकी और सुन्दरता के साथ छज्जा, अंग शिखर, चक्र तथा कलश की रचना है। वास्तव में यह अकेला कलावशेष मड़ई के समूचे मन्दिर का एक अच्छा प्रतिनिधि अवशेष है, इसकी शैली, सौंदर्य तथा लघुता की पृष्ठभूमि में से झांकती हुई विराटता से उन विशाल गगनचुम्बी कलात्मक जिनालयों की कल्पना आसानी से की जा सकती हैं जो कभी इस स्थान की शोभा रहे होंगे।

जब तक कोई शिलालेख प्राप्त न हो तब तक निश्चित इतिहास तो कहना संभव नही है, पर मड़ई का वैभव जब पूरी तरह प्रकाश में आवेगा तब निश्चित ही 'जैन मूर्ति कला' और मंदिरों, तीर्थों के इतिहास में एक नया अध्याय नही तो नया पृष्ठ अवश्य जोड़ना होगा।

शोध-टिप्पण

आगमों के पाठ-भेद और उनकेमुख्य हेतु

मुनिश्री नथमलजी

यह विश्व परिवर्तनशील है। इसमें काल के साथ-साथ सब कुछ बदलता है। केवल आदमी ही नहीं बदलता, उस के उपकरण भी बदलते हैं। केवल मानस ही नहीं बदलता, शब्द और अर्थ भी बदलते हैं। बदलने का इतिहास बड़ा विचित्र है। पुराने ग्रंथों के पाठ भी बदल जाते हैं इस प्रसंग में जैन-आगमों के पाठ-परिवर्तन के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना चाहूंगा। भाषा-भेद, लिपि-दोष और व्याख्या का मूल में प्रवेश ये पाठ परिवर्तन के मुख्य हेतु रहे हैं।

भाषा-भेद

श्वेताम्बर आगम महाराष्ट्री प्राकृत में प्राप्त है किन्तु दिगम्बर आचार्य शौरसेनी में अधिक लिखते रहे है। उन्हों ने श्वेताम्बर आगमों से जो उद्धरण लिए उनका शौरसेनी में रूपान्तर हो गया। मूलाराधना या भगवती आराधना की वृत्ति में अपराजित सूरि ने श्वेताम्बर आगमों से कुछ उद्धरण लिए हैं उनके तुलनात्मक अध्ययन से पाठ-परिवर्तन का पता चल जाएगा—

आचारांग	विजयोदया आश्वास ४ श्लोक संख्या ३३३
१।८।४।२०६ यह पुण एवं जाणिज्जा उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा।	अह पुण एवं जाणेज्ज उपातिकंते हेमंते सुपडिवन्ने से अथ पडिजुन्न मुवधिं पदिट्ठावेज्ज
१।२।२।६०	

वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहणं च कडासणं एभुसु चेव जाणिज्जा,

उत्तराध्ययन २३।२९,३९

अचेलगो य जो धम्मो जो इमो सन्तरुत्तरो ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महाजसा ॥
एगकज्जपवन्नाणं विसेसे किं नु कारणं ।
लिंगे दुविहे मेहावि । कहं विप्पच्चओ न ते ॥ दशवैकालिक ६।६४

नगिणस्स वा वि मुंडस्स दीहरोमनहंसिणो ।
मेहुणा उवसंतस्स कि विभूसाए कारियं ॥

लिपि-दोष

लिपि के रूप बदलते रहे हैं । अतः प्रतिलिपि करने वालों के सामने पढ़ने की कठिनाई रही है । लिखने में प्रमाद भी रहा है । प्रतिलिपिक सब के सब विद्वान नहीं थे । इन कई कारणों से प्रतिलिपि-काल में पाठ-परिवर्तन हो गए ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की वृत्ति [सूत्र ३०, पत्र १३६, १३७] में रायपसेणइयसे बहत्तर कलाओं का पाठ उद्धृत किया गया है । उसमें चौदहवीं कला 'पोरकव्वं' है । वृत्तिकार शांतिचन्द्र ने इसका अर्थ शीघ्र कवित्व किया है ।[1] समवायांग [समवाय ७२] औपपातिक [सूत्र ४०] और रायपसेणइय [कण्डिका २११] की प्रतियों में यह पाठ 'पोरेकव्वं' या 'पोरेकच्च' बन गया ।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति [सूत्र ३० पत्र १३७] समवायांग [समवाय ७२] औपपातिक [सूत्र ४०] में खंधावार [वा खंधार माणं, नगरमाणं-पाठ है । पं० बेचरदासजी द्वारा सम्पादित रायपसेणइय [पृष्ठ ३४०] में यह पाठ 'खंधवारं माण वार' माण वार बन गया ।

व्याख्या का मूल में प्रवेश

चूर्णि और वृत्ति के साथ आगमों का अध्ययन करने वाले व्यक्ति को ऐसे पचासों उदाहरण प्राप्त होंगे कि चूर्णि या प्राचीन वृत्तियों में जो व्याख्या-शब्द हैं, वे उत्तरवर्ती वृत्तियों या आदर्शों में मूलपाठ बन गए हैं । उत्तराध्ययन २२।२४ का उत्तरार्ध इस प्रकार था--

पादपुंछणं, उग्गहं कडासणं, उच्चारं उवधिं पावेज्ज इति ।

आचेलक्को य जो धम्मो, जो वायं पुणरुत्तरो ।
देसिदो वड्ढमाणेण, पासेण य महप्पणा ।
एगधम्मे पवत्ताणं दुविधा लिंग-कप्पणा ।
उभएसि पदिट्ठाण मह संसय मागदा ॥

णग्गस्स य मुण्डस्स य दीह लोम णखस्स य ।
मेहुणादो विरत्तस्स कि विभूसा करिस्सदि ॥

सयमेव लुंचई केसे, पंचट्ठाहिं समाहिओ

आगे चलकर यह इस प्रकार हो गया–

सयमेव लुंचई केसे, पंचमुट्ठीहि समाहिओ

उत्तराध्ययन की संस्कृत वृत्तियों में शान्त्याचार्य की बृहद्वृत्ति सबसे प्राचीन है । उसमें 'पंचट्ठाहि' पाठ माना गया है– पंचाष्टाभिः– पंचमुष्टिभिः । [पत्र ४९७] पंचमुष्टिभिः आगे चलकर मूल पाठ बन गया ।

औपपातिक [सूत्र १९] में 'ठाण ठिइए पाठ' था ।[2] वृत्तिकार के अनुसार 'ठाणाइए' पाठान्तर था । किन्तु उत्तरवर्ती वृत्तियों में 'ठाणठिइए' की भांति 'ठाणाइए' भी मूल पाठ बन गया ।

सूत्रकृतांग १।११।११ में विज्जा पाठ है ।

उसका अर्थ विधान–कुर्यात् किया गया । उत्तरवर्ती आदर्शों में कुर्यात्–कुज्जा मूल पाठ बन गया ।

विपाक [३१ पृष्ठ २९] में 'ओसारियाहिं' पाठ है । उसकी वृत्ति है 'ओसारियाहि'त्ति प्रलम्बिताभिः । आगे चलकर पाठ बन गया–'लंबियाहि य ओसारियाहि' । यहां कुछेक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं । उनके आधार पर पाठ–परिवर्तन की स्थिति को समझा जा सकता है ।

१–जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति, सूत्र ३०, पत्र १३७
पुरः काव्य मिति पुरतः पुरतः काव्यम्–शीघ्रकवित्वमित्यर्थः ।

२–'ठाण ठिइए' त्ति न स्थान–कायोत्सर्गः । तेन स्थितिर्यस्य स स्थानस्थितिकः, पाठान्तरेण ठाणाइए त्ति ।

२. राजा श्रीपाल उर्फ ईल

नेमचन्द डोणगांवकर (न्यायतीर्थ)

दिसम्बर १९६२ के अनेकांतमें डॉ० वि० जोहरापुरकर का 'राजा एल' के नाम से लेख प्रसिद्ध हुआ है। उसमें ब्रह्म ज्ञानसागर (१७ वीं सदी) के तीर्थवंदना के नीचे पद्य पर आपने विचार प्रगट किये हैं। पद्य इस प्रकार हैं—

एयलराय प्रसिद्ध देश दक्षिण से आयो।
एलूर नयर बखाण महिमंडल जस पायो॥
खरचो द्रव्य अनंत पर्वत मधि कोरायो।
षटदर्शन-कृतमान-इन्द्रराज-मन भायो॥
कार्तिक सुदि पूनम दिने, यात्रा श्रीजिनपासकी।
ते पूजत नित भावसूं, आसा पूरत तासकी॥३८॥

इस पद्य में उल्लेखित इंद्रराज (सन ९१४-८८) राष्ट्रकूट सम्राट तृतीय होने का आशय प्रगट करते हुए इंद्रराज चतुर्थ (सन् ९१४-८८) नहीं होने का भाव प्रगट किया है। क्योंकि उस वक्त राष्ट्रकूटों की स्थिति संकटापन्न थी।

लेकिन बाबू कामताप्रसाद जी-इंद्रराज चतुर्थ को (सन् ९७४-८२, का सम्राट् कहते हैं, और उसे गंगवंशी राजा मारसिंह ने राष्ट्रकूट राजसिंहासन पर बैठाया गया सूचित करते हैं। वह जैन धर्म का दृढ श्रद्धानी तो था ही साथ ही जैनेतर दर्शनों का भी आदर करता था।

इस लिए 'षट्दर्शन-कृतमान' यह विशेषण इसी को ही शोभा देता है। तथा इस राजा की पूर्वावधि निश्चित करने में इंद्रराज चतुर्थ का ही समय ठीक बैठता है। भक्तामर की यंत्रमंत्र कथा में दो श्रीपुर नगर की कथा दी है। जिसमें श्रीपाल राजा तथा वीरचंद्र मुनिका उल्लेख है। जान पड़ता है इन्हीं वीरचंद्र मुनि के उपदेश से वच्छ देश से श्रीपुर नगर के एक ग्वालने ईलिल देश के (हरिपुर) एलिचपुर का राज्य लिया था। [देखो भ० कथा ३१ और ३०-३१]

सिरपुर के अंतरिक्ष पार्श्वनाथ चैत्यालय में जो कि श्रीपाल-ईल राजा का बनवाया हुवा कहा जाता है—३ शिलालेख पाये जाते है।

[१] मंदिर के गर्भागारमें मानस्तंभाकार पाषाण पर—
ग्वाल गोत्री रामसेनु······

[२] मन्दिर के बाहर दरवाजों के ऊपर—
ओल १ ली······वसुन्धरो मल्ल पद्म······।
"२ री······अंतरिक्ष श्री पार्श्वनाथ······॥

[३] मन्दिर के दरवाजे के ऊपर एक शिलपर—

॥ श्री दिगंबर जैन मन्दिर श्री मन्नेमिचन्द्राचार्य प्रतिष्ठित ॥

पहले शिला लेख के बारे में प्रो० जोहरापुरकर लिखते हैं कि, ग्वाल गोत्री के आगे और रामसेनु के पीछे कोई शब्द छूट गये होंगे। कारण मुनियों का गोत्र भी नहीं बताया जा सकता।

इस आशंका के साथ वह लेख 'ग्वाल गोत्री (श्रीपाल) रामसेनु (पदेशात······) इस तरह वांचा जाय तो उसका अर्थ ठीक बैठता है। ग्वाल गोत्रीय राजा श्रीपाल ने रामसेन के उपदेश से [यह कार्य प्रारम्भ किया था और कुछ]।

वीरचन्द्र और रामसेन का गुरु-शिष्य सम्बन्ध इतिहास प्रसिद्ध है। उनका कार्य क्षेत्र भी श्रीपुर से एलीचपुर के समीवताल का भाग ही रहा है। तथा काल भी समान है। इनके विषय में जुगलकिशोरजी मुख्तारने तत्त्वानुशासन की प्रस्तवना में खूब विस्तार के साथ चर्चा की है। ईल राजा का समय निश्चित करने में वह बहुत उपयुक्त ठहरी है। जिसके लिए मैं उनका ऋणी हूं। वैसा तो आपने विक्रम की १० वीं शती का उत्तरार्ध में रामसेन का प्रारम्भ माना है। और शक ९५३ में माथुर संघ० स्थापन करने से अन्तिम समय सं १०८८ ही ठहरता है। प्रारम्भ में तत्त्वानुशासन सं १०५० के पूर्व का नहीं होने से उन्होंने वि० की १० सदी का उत्तरार्ध मान लिया। वहां अगर वीरचन्द मुनि का समय सं० १००० से १०३५ और रामसेन का समय १०३५ से १० ९० तक मान लिया तो अनुचित न होगा। खैर इस वक्त वह थे, यह निर्विवाद है।

इंद्रराज चतुर्थ [सं० १०३८] के समय जब ईल राजा सामंत राजा थे तो अनायास वीरचन्द्र-रामसेन उनके समकालीन ठहरते हैं।

[१] दूसरे शिला लेखों में 'मल्ल पद्मः' के शब्द से अगर मलधारी पद्मप्रभदेव की सूचना हो तो, वह पद्मप्रभदेव हमारे सामने आते हैं; जिन्होंने अपने 'लक्ष्मी महातुल्य सती सती सती' इस पार्श्वस्तुति के अन्त में गुरु पद्मनन्दी का उल्लेख किया है। यह पद्मनन्दी सं० १०३ में (प्रेमीजी जंबुदीव पण्णत्ति को सं० १०५३ के लगभग रची हुई मानते हैं।) रचे हुये जंबूदीवपण्णत्ति के कर्ता पद्मनन्दी सं० १०३०–५५ मानलिए जाएँ तो, उनके शिष्य पद्मप्रभदेव

का समय सं० १०५० से ७१ मानना उचित ही होगा।

औरंगाबाद से आये हुए हस्त लिखित ग्रंथों में 'गुरूनी विनती' का एक जीर्ण-शीर्ण पृष्ठ मिला है। जिसमें संस्कृत भाषा में ७ अंक हैं। छंद दृष्टि से कुछ अशुद्ध होते हुए भी भाव दर्शन में परिपूर्ण है। प्रारम्भ में एक अम्बुज प्रभ मलधारिका संकेत मिलता है। बाद में उनके गुण का वर्णन है। ५ से ७ श्लोक इतिहास की दृष्टि से महत्त्व के जान पड़ते है। वह इस प्रकार है।

'अथ श्री प्रतिष्ठाणपुरे मुनिसुव्रतं वंदितात्मा ।
प्राप्तो देवगिरिमु संस्थानं इलोर समिपं वरम् ॥ ५
आगतानां जनानां वा, आग्रहान्नृपवांछया ।
अस्मान्च्छ्री श्रीपुरं गत्वा, श्रीपार्द पूज्य खेश्वरम् ॥ ६
विवादि भूतवादं हि, त्यक्त्वा श्रीजिनालयम् ।
नूतनं विरचयामौ, दक्षिणापथगाम्यभूत ॥७॥

वर्षा योग समाप्तिबाद वह मुनि प्रतिष्ठानपुर [पैठन] में श्री मुनिसुव्रतनाथ की पूजा कर, इलोरा के समीपवर्ती देवगिरि में स्थित हुए। वहां आए हुए लोगों के आग्रह से वह श्रीपुर पधारे। और वहां खेश्वर-अन्तरिक्ष प्रभु की वंदना की। बाद में भूत जिनालय को छोड़कर नया बनवाया और इसके बाद दक्षिण में चले गये।

अम्बुज प्रभ को पद्मप्रभ मान लिया जाय तो शिलालेख नं० २ से इसकी और पुष्टि होती है कि, यह मलधारि पद्मप्रभदेव (यह नियमसारके टीकाकार से भिन्न हैं) पौलीका मन्दिर छोड़ गाँव मे नूतन मन्दिर बनाने में प्रेरक रहे हों।

[३] तीसरे लेख की चर्चा करते समय, हमारे सामने ब्रह्मदेवसूरि का बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका का प्रथम भाग आता है वह इस प्रकार है, "अथ मालव देशे धारानाम-नगराधिपतिराज-भोजदेवाभिधान-कविकालचक्रवर्ति संबन्धिनः श्रीपाल-महामंडलेश्वरस्य संबन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनि-सुव्रत-तीर्थंकर-चैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्ति-समुत्पन्न-सुखा-मृतरसास्वाद-विपरीत नारकादि दुःखभयभीतस्य परमात्म-भावनोत्पन्न-सुखसुधारसं पिपासितस्य भेदाभेद-रत्नत्रय भावना प्रियस्य भव्यवर- पुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेक-नियोगा-धिकारि-सोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमि- चन्द्र-सिद्धांतदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेष तत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्य-अधिकार शुद्धि-पूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।

इसके विवेचन में मुख्तार साहब ने बताया है, कि 'ब्रह्मदेव के उक्त घटना-निर्देश और उनकी लेखन शैली से ऐसा मालूम पड़ता है कि ये सब घटनाएँ साक्षात् उनकी आंखों के सामने घटी हुई हैं। परमार राजा भोजदेव उनके महा-मंडलेश्वर श्रीपाल और उनके राजश्रेष्ठी सोम तथा नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव-उनके समय में मौजूद थे। इत्यादि।"

पद्मप्रभदेव के नया मन्दिर बनवाने के बाद, यह जो राजा का बनाया मन्दिर खाली था, उसमें वेदी प्रतिष्ठादि कार्य इन्हीं नेमिचन्द्राचार्य ने किये हों तो आश्चर्य नहीं। और इसी की सूचक वह शील मन्दिर पर लगाई हो।

ब्रह्मदेव के बताए हुये महामंडलेश्वर 'श्रीपाल' और अन्तरिक्ष प्रभु की पुनः स्थापना करने वाले ईल-श्रीपाल अभिन्न जान पड़ते हैं। क्योंकि डा० जोहरापुरकर भी एल राजा को सामंत सूचित करते हैं। तथा आश्रम-आशारम्यपुर प्रेमीजी के कथनानुसार या श्वे. सूरि के कथनानुसार पैठण ही हो, तो, वह उस वक्त एल राजा के आधीन था ही।

तथा ईल राजा के जीवन में २ युद्ध होने की सूचना मिलती है पहला युद्ध उत्तरभारत में राज्य करने वाले राजा वाकेड (Vaked) के आक्रमण पर उसे परास्त करने वाला और दूसरा हुआ अब्दुल रहमान गाजी के साथ। इस दूसरे युद्ध में या युद्ध के बाद जल्दी ही पंचपीरों से ठगा जाकर एल राजा को देह दण्ड मिला है। इस युद्ध का समय मुसलमानी ग्रंथों में सन १००१-८ बताया है। लेकिन यह समय बराबर न होते हुए कुछ साल बाद का होने की सूचना अमरावती गजेटीअर में दी है। १५-२० साल के बाद की यह घटना मानी जाय तो भी-भोजदेव राजा का महामंडलेश्वर (बड़े प्रान्तका अधिकारी) पद को भूषित करने वाला पराक्रमी श्रीपाल-ईल का ही रहना उचित लगता है। इस प्रकार श्रीपाल ईल का अन्तिम समय सं० १०७५ तक निश्चित होता है। जिससे उसका राज्य काल सं० १०३५ से ७५ तक ४० साल का निश्चित होता है। इस काल में चार महान् आचार्यों की सेवा करने का सौभाग्य उसे प्राप्त हुआ था। आचार्य मलधारि पद्मप्रभदेव के जीवन की घटनाएँ थोड़े फार फरक से श्वे. 'अन्तरिक्ष

पार्श्वनाथ' पुस्तक में मलधारि अभयदेव सूरि के नाम पर घटाई हैं। जो काल व्यत्यय आने से ऐतिहासिक प्रतीत नहीं होती। क्योंकि जब सं० १०७५ के लगभग ईल राजा का जीवन समाप्त होता है, तब उसके ७० साल बाद उसके हाथ से प्रतिष्ठा बताना उचित नहीं लगता। और ऊपर बताए मुताबिक चार महान दिगंबर मुनियों की सेवा करने वाला तथा मुक्तागिरी, एलोरा, पातुर और प्रत्यक्ष शिरपुर आदि जगह दिगंबर जैन स्थापत्य निर्माण कराने वाला श्वेताम्बर संप्रदाय का नहीं हो सकता। अतः विद्वानों को इसपर अधिक प्रकाश डालना चाहिए।

३ अनार्य देशों में तीर्थंकरों और मुनियों का विहार

मुनिश्री नथमलजी

कुछ वर्ष पूर्व मैंने "अहिंसकपरम्परा" शीर्षक लेख पढ़ा था जिज्ञासा भर आई। उसमें था—ईसवी सन् की पहली शताब्दी में और उसके बाद के हजारों वर्षों तक जैनधर्म मध्यपूर्व के देशों में किसी-न किसी रूप में यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लामधर्म को प्रभावित करता रहा है। प्रसिद्ध जर्मन इतिहास लेखक वान केमर के अनुसार मध्य-पूर्व में प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय श्रमण शब्द का अपभ्रंश है। इतिहास लेखक जी० एफ० मूर लिखते है कि हजरत ईसा के जन्म की शताब्दी से पूर्व ईराक, स्याम और फिलिस्तीन में जैन मुनि और बौद्ध भिक्षु सैकड़ों की संख्या में चारों ओर फैले हुए थे। "सियादतू नाम ए नासिर" का लेखक लिखता है कि इस्लाम धर्म के कलन्दरी तबके पर जैनधर्म का काफी प्रभाव पड़ा था। कलन्दर चार नियमों का पालन करते थे—साधुता, शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे।

जैन साहित्य में विहार-क्षेत्रों का कोई उल्लेख है या नहीं यह जानने की प्रबल उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। किन्तु यात्रा व अन्य कार्य-बहुलता के कारण उसकी पूर्ति नहीं हुई। समय पाकर यह भावना विलीन हो गई। बीदासर चातु र्मास में हम लोग आचार्य श्री के समक्ष विशेषावश्यक भाष्य और आवश्यक निर्युक्ति का पारायण कर रहे थे। उसमें तीर्थंकरों के विहार का उल्लेख आया तो सुप्त भावना पुनः उद्बुद्ध हो गई। उनमें लिखा है, "बीस तीर्थंकरों ने आर्यक्षेत्र में विहार किया। भगवान् ऋषभ, अरिष्टनेमि पार्श्व और महावीर ने अनार्यक्षेत्र में भी विहार किया था?' ये चार तीर्थंकर जिन अनार्य क्षेत्रों में—देशों में गए उनका पूरा विवरण प्राप्त नहीं है। फिर भी यत्र क्वचित् उनका नामोल्लेख मिलता है। आवश्यक निर्युक्ति व विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार भगवान् ऋषभ ने बहली, अडंबइल्ल, यवन, सुवर्णभूमि, पण्हव आदि म्लेच्छ देशों में विहार किया था। भगवान् ऋषभ दीक्षित होने के प्रथम वर्ष में ही आर्य और अनार्य देशों में गए थे। आचार्य हेमचन्द्र ने अडंबइल्ल आदि म्लेच्छ देशों मे भगवान् ऋषभ के विहार का उल्लेख किया है वह आवश्यक निर्युक्ति का अनुवाद मात्र है।

द्वारिका-दहन हुआ, तब भगवान् अरिष्टनेमि पल्हव नामक अनार्यदेश में थे। यह पल्हव भारत की सीमा में था या उसके बाहर यह अन्वेषणीय है। प्राचीन पार्थीया (वर्तमान ईरान) के एक भाग को पल्हव या पण्हव माना जाता है। काठियावाड में जूनागढ रियासत में एक ईरानी उपनिवेश की सम्भावना होती है। भारत में आर्य और अनार्य दोनो प्रकार के देश थे। कलिंग आदि देशों में यवन शासकों का भी उल्लेख मिलता है। कुमार पार्श्व ने वहाँ एक यवन शासक को पराजित किया था।

भगवान् अरिष्टनेमि ने द्वारावती-दहन की बात बतलाई। उस समय वे वहीं थे। उसके पश्चात् वे वहां के अन्य जनपदों में विहार कर गये। द्वारावती-दहन से पूर्व एक बार फिर वे रैवत पर्वत पर आये। जब द्वारावती का दहन हुआ तब भगवान अरिष्टनेमि पल्हव देश में थे। इस मध्यावधि में १२ वर्ष का काल बीता है। उसमें वे ईरान भी जा सकते हैं और सौराष्ट्र में भी हो सकते है। किन्तु द्वारावती का दहन होने के पश्चात् कृष्ण और बलभद्र, पाण्डव मथुरा [वर्तमान मदुरा] जा रहे थे। वे पूर्व दिशा में चले, सौराष्ट्र को पार किया और हस्तिकल्पपुर पहुंचे। वहाँ से दक्षिण की ओर प्रस्थान किया और कोसुम्बारण्य में गए। इस यात्रा में भगवान अरिष्टनेमि के पास जाने का उल्लेख नहीं है। द्वारावती-दहन के पश्चात् वे भगवान के पास नहीं गये यह आश्चर्य की बात है। यहींपर कल्पना होती है कि

उस समय भगवान सौराष्ट्र में नहीं थे। यह भी हो सकता है भगवान उनके यात्रा-पथ से दूर थे। कुछ भी हो अन्तिम निर्णय के लिए अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने कुरु, कौशल, काशी, सुह्म, अवंती, पुण्ड्र, मालव, अंग, बंग, कलिंग पंचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्णाटक, कोंकण, मेवाण, लाट, द्राविड़, काश्मीर, कच्छ, शाक, पल्लव, वत्स, आभीर आदि देशों में विहार किया था। इनमें अनार्य देशों का नामोल्लेख नहीं है। किन्तु दक्षिण के कर्णाटक, कोंकण, पल्लव, द्राविड आदि उस समय अनार्य माने जाते थे। शाक भी अनार्य प्रदेश हैं। इसकी पहचान शाक्य देश या शाक द्वीप से हो सकती है। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका में है। वहाँ भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे। भगवान बुद्ध का चाचा, स्वयं भगवान् पार्श्व का श्रावक था। शाक्य प्रदेश में भगवान् का विहार हुआ हो, यह बहुत संभव है। भारत और शाक्य का बहुत प्राचीन काल से सम्बन्ध रहा है। संभव है वहां भगवान् पार्श्व ने विहार किया हो।

भगवान महावीर व्रज भूमि, सुह्मभूमि, दृढभूमि, आदि अनार्य प्रदेशों में गये थे। वे बंगाल की पूर्वीय सीमा तक [शायद बर्मी सीमा तक] गये थे।

उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त एवं अफगानिस्तान में विपुल संख्या में जैन श्रमण विहार करते थे। कालकाचार्य सुवर्णभूमि [सुमित्रा] गये थे। उनके प्रशिष्य वहां पहले ही विद्यमान थे।

जैन श्रावक समुद्र पार करते थे। उनकी समुद्र यात्रा और विदेश व्यापार के अनेक प्रमाण मिलते हैं। लंका में जैन श्रावक थे, इसका उल्लेख बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। महावंश के अनुसार ई० स० ४३० पूर्व जब अनुरुद्धपुर बसा तब जैन श्रावक वहां विद्यमान थे। निगंठ का भी उल्लेख मिलता है।

आर्य अनार्य देशों की चर्चा के प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि अनार्य देश भारत के बाहर ही नहीं रहे हैं; यहां भी विविध दृष्टिकोणों से विविध देशों को अनार्य कहा गया है। धार्मिक दृष्टि से भारत के छः खण्डों में से केवल मध्य क्षेत्र को आर्य देश कहा गया है। बृहत्तर भारत के छः खण्ड है। उनमें पांच खण्ड अनार्य हैं। छठा खण्ड आर्य है। उसमें भी बहुत अनार्य देश है। वहां धर्म सामग्री सुलभ नहीं है इसलिए वे अनार्य हैं - भारत में आर्य-अनार्य दोनों प्रकार के देश मान्य रहे है। फिर भी वर्तमान भारत की सीमा से बाहर तीर्थंकर नहीं गये, ऐसा नहीं माना जा सकता।

४ द्रोणगिरि

डा० विद्याधर जोहरापुरकर, जावरा

निर्वाणकाण्ड के कथनानुसार द्रोणगिरि यह तीर्थक्षेत्र फलहोडी ग्राम के पश्चिम में है तथा यहां से गुरुदत्त आदि मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया था। इस वर्णन को देखते हुए पं० प्रेमीजी ने अनुमान किया था कि शायद जोधपुर रियासत में मेड़ता नगर के पास जो फलोधी नाम का तीर्थ है उसी के समीप किसी समय द्रोणगिरि रहा (जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४४२-४३) तथा वर्तमान द्रोणगिरि जो बुन्देलखण्ड में सेंदपा ग्राम के समीप है वह निर्वाणकाण्ड में वर्णित द्रोणगिरि नहीं है। इस सम्बन्ध में एक और संभावना की ओर हम विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहते है। निर्वाणकाण्ड के कथनानुसार द्रोणगिरि से गुरुदत्त मुनि मुक्त हुए थे। इन गुरुदत्त मुनि की विस्तृत कथा हरिषेणाचार्य के बृहत्कथाकोष की १३९ वीं कथा में मिलती है। इस में आचार्य ने गुरुदत्त का निर्वाणस्थान तोणिमत् पर्वत बतलाया है तथा उसे लाट देश में चन्द्रपुरी के समीप बतलाया है। जैसा कि सुविदित है, हरिषेणाचार्य के कथाकोष में शिवार्य की भगवती आराधना की गाथाओं के उदाहरणों के रूप में कथाएँ संगृहीत हैं। यहां उन्होंने गुरुदत्त का निर्वाणस्थान जो तोणिमत पर्वत बतलाया है उसे शिवार्य के शब्दों में (गुरुदत्तो य मुणिंदो संबलिथालीव दोणिमतम्मि) देखें तो तोणिमत का प्राकृत रूप दोणिमंत ज्ञात होता है। इस दोणिमंत को निर्वाणकाण्ड में वर्णित द्रोणगिरि से भिन्न समझने का कारण दिखाई नहीं देता। तात्पर्य यह हुआ कि हरिषेणाचार्य के कथनानुसार गुरुदत्त का निर्वाणस्थान तोणिमत् —द्रोणगिरि लाट देश में अर्थात् वर्तमान गुजरात प्रदेश में कहीं होना चाहिये। हरिषेणाचार्य का समय

शक सं० ८५३ सुनिश्चित है अतः उन के इस कथन का विशेष महत्त्व स्पष्ट है। उक्त कथा पर संपादक डा० उपाध्ये जी ने जो टिप्पण लिखा है उस में कहा गया है कि उक्त तोणिमत् के स्थान पर प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोष में द्रोणीमति यह रूप पाया जाता है। तोणिमत्—दोणिमंत—द्रोणगिरि की एकता का यह भी समर्थक प्रमाण है। वर्तमान गुजरात में उक्त वर्णन के अनुरूप कोई स्थान है या नहीं इस की खोज अवश्य होनी चाहिए।

२ शंखेश्वर तथा शंखजिनेन्द्र

शंखेश्वर यह तीर्थक्षेत्र गुजरात प्रदेश में वीरमगांव के पास है। यहां के मुख्य देव पार्श्वनाथ हैं। जिनप्रभसूरि के विविधतीर्थकल्प में इस के सम्बन्ध में एक कथा है जिस के अनुसार इस का नाम श्रीकृष्ण द्वारा बजाये गये शंख के कारण शंखपुर पड़ा था। मुनि जयन्तविजयजी ने इस तीर्थ के सम्बन्ध में उपलब्ध स्तोत्रों तथा अन्य साहित्यिक एवं शिलालेखीय उल्लेखों का संग्रह शंखेश्वर महातीर्थ नामक विस्तृत पुस्तक में प्रकाशित किया है। यह तीर्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अधिकार में है।

मैसूर राज्य के धारवाड जिले में लक्ष्मेश्वर नामक ग्राम है जो पुरातन समय में पुरिकर पुलिगेरे, हुलिगेरे या हुलगिरि-होलागिरि जैसे नामों से प्रसिद्ध था। यहां के मुख्य देव नेमिनाथ हैं जो शंखजिनेन्द्र इस नाम से प्रसिद्ध थे; क्यों कि इस मूर्ति के चरणों का भाग शंखनिर्मित जैसा है। इस के सम्बन्ध में एक कथा का उल्लेख मदनकीर्ति की शासनचतुस्त्रिंशिका में है। यह तीर्थ दिगम्बर संप्रदाय के अधिकार में है। यहां के कई शिलालेख जैनशिलालेख संग्रह भा० २ में हैं जिन से पता चलता है कि यह क्षेत्र सातवीं सदी में ही प्रसिद्ध था।

नाम की समानता के कारण इन दो क्षेत्रों को एक समझ लेने का एक उदाहरण हमारे अवलोकन में आया (पं० दरबारीलालजी द्वारा संपादित शासनचतुस्त्रिंशिका पृ० ४३-४७) का यह भ्रम दुहराया न जाय इस उद्देश्य से यह टिप्पण लिखा है।

(जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर के आगामी प्रकाशन तीर्थवन्दनसंग्रहके दो अंश)

(कहानी)

गेही पै गृह में न रचे

[श्री कुन्दनलाल जैन एम० ए०]

शरत्कालीन शुक्लपक्षीय चतुर्दशी की चमकती हुई चन्द्रिका, धौत धवल रात्रि, नीलगगन, क्षीणालोक तारकों से झिलमिला रहा था। राजगृही नगरी पूर्णतया निस्तब्ध एवं शान्त थी। नगर के सभी नागरिक जन प्रगाढ निद्रा में निमग्न थे। मध्यरात्रि का द्वितीय प्रहर राजकुमार वारिषेण शय्या त्यागकर नगर के बाहर दूर एक नीरव निर्जन उपवन में जा पहुँचे और कुछ प्रहरों के लिये सम्पूर्ण परिग्रह का परित्याग कर ध्यान में निमग्न हो गए। ऐसा वे प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी की रात्रि को किया करते थे।

पूर्व दिशा में लाली छा गई, क्षितिज में उषा की अरुण आभा प्रकट होने लगी। खगकुल अपने-अपने नीड़ों का परित्याग कर कलरव सहित गगनमंडल में विहार करने लगे, भगवान भास्कर अपनी अरुणिम आभा से नील गगन को आलोकित करने लगे, विभाकर का कर स्पर्श पा कमल प्रमुदित हो उठे, राजकुमार वारिषेण के ध्यान का समय समाप्त हुआ जान, वे ध्यान से निवृत्त हो स्ववस्त्र धारण करने ही वाले थे कि नागरिक सुरक्षा के अधिकारी दण्डपाल अपने सैनिकों सहित वहां आ धमके और क्या देखते हैं कि साम्राज्ञी चेलना का अत्यन्त प्रिय बहुमूल्य मणिमुक्ताहार वहां पड़ा हुआ दमक रहा है। राजकुमार वारिषेण इससे बिल्कुल ही बेखबर थे। दण्डपाल ने सैनिकों को आदेश दिया कि महारानी चेलना के बहुमूल्य हार का असली चोर यही है इसे पकड़कर महाराज श्रेणिक के न्यायाधिकरण में उपस्थित करो, सैनिकों ने अपने अधिकारी की आज्ञा का

अक्षरशः पालन किया।

मगध नरेश महाराज श्रेणिक अपनी राज्यसभा में बैठे राज्यकार्यों में व्यस्त थे। प्रतिहारीने दण्डपाल के आगमन की सूचना महाराज को दी महाराज की स्वीकृति पर दण्डपाल को महाराज की सेवा में उपस्थित किया गया। अपराधी वेशमें राजकुमार वारिषेण सहित दण्डपाल को राज्यसभा में आया देख सभी पार्षदगण एवं महाराज स्वयं विस्मय विमुग्ध हो गये। एक क्षण के लिए सम्पूर्ण राज्यसभा जड़वत् निस्तब्ध हो गई। सभी महाराज के संकेत पर दण्डपाल ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।" महाराज! अपराध क्षमा हो। बड़े खेद एवं विनयपूर्वक निवेदन करता हूँ कि साम्राज्ञी चेलना के बहुमूल्य मुक्ताहार की चोरी राजकुमार वारिषेण ने की है, साक्षी के लिए यह हार इनके पास से ही उपलब्ध हुआ है। अब महाराज की जो आज्ञा।

अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर जब दण्डपाल मौन हो गया, तो महाराज श्रेणिक ने वारिषेण को अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए कहा पर विरागी गृहस्थ वारिषेण क्या कहता? उसका तो एक ही पक्ष था, जिसकी उसने बार-बार पुनरावृत्ति की वह था "हे तात। यह सब कर्मों की विडम्बना है, "जो-जो देखी वीतराग ने सो-सो होसी वीरारे। अन होनी कबहूं नहि होसी, काहे होत अधीरा रे।" इत्यादि महाराज श्रेणिक ने राजकुमार को अपना पक्ष प्रस्तुत करने को बार-बार कहा, पर राजकुमार वारिषेण उपर्युक्त वाक्यों के अतिरिक्त कुछ भी न कह सका। अन्ततोगत्वा महाराज श्रेणिक ने ऐसे घृणित अपराध के दण्ड स्वरूप राजकुमार को प्राण दण्ड की घोषणा कर दी और बहुमूल्य हार लेकर महारानी चेलना के पास भिजवा दिया।

राजकुमार वारिषेण के प्राण दंड की तिथि की घोषणा सम्पूर्ण नगर में करा दी गई। इस कठोर आज्ञा को जो कोई सुनता उसकी आँखे अश्रुजल से गीली हो जाती, क्योंकि राजकुमार की निस्पृहता एवं श्रेष्ठता से सभी नागरिक अच्छी तरह से परिचित थे, उन्हें पूर्ण विश्वास था कि राजकुमार ऐसा घृणित कार्य नहीं कर सकता, पर हार राजकुमार के पास से पकड़ा गया था और वह अपने बचाव में कुछ कह भी नहीं रहा था अतः नागरिकों के समक्ष एक अति जटिल समस्या आ पड़ी थी। नागरिक शिष्ट मंडल ने राजकुमार की निस्पृहता के सम्बन्ध में महाराज श्रेणिक के समक्ष अपना प्रतिनिधित्व भी प्रस्तुत किया पर महाराज सब कुछ जानते हुए भी अपने निर्णय पर सर्वथा अटल रहे।

अन्ततः राजकुमार के प्राण दंड की तिथि आ गई' अधिकारीगण उन्हें नगर के प्रधान चतुष्पथ पर ले जा रहे थे, कि कहीं से नगर चोर विद्युच्चर वहाँ आ पहुँचा, उसे जब सम्पूर्ण स्थिति का पता लगा तो उसका मन करुणा से विगलित हो उठा, 'अपराध कोई करे दंड कोई भोगे' विद्युच्चर आत्म-ग्लानि से गलने लगा वह भागा-भागा महाराज श्रेणिक के पास पहुँचा और उनके चरणों में गिर पड़ा और बिलख-बिलख कर रोता हुआ बोला महाराज अपराध क्षमा हो। राजकुमार वारिषेण सर्वथा निरपराध हैं, वह तो गृहस्थ होकर भी साधु है। यह सब पाप तो मैंने किया था। नगर नर्तकी कामलता ने किसी दिन महारानी चेलना का यह बहुमूल्य मुक्ताहार देख लिया था, जिसे पाने के लिए उसने मुझे बाध्य किया। उसके प्रेम पाश में अन्धा होने के कारण मैंने इस हार को चुरा लिया, पर प्रहरियों की दृष्टि से न बच सका, अतः अपने प्राण बचाने के लिए भागा पर जब किसी तरह अपने को सुरक्षित न पा सका तो यह हार ध्यानस्थ राजकुमार वारिषेण के समक्ष फेंककर वहीं झाड़ी में छिप गया। इसी दुष्कृत्य का परिणाम है कि आज राजकुमार को प्राणदण्ड भोगना पड़ रहा है और वह भी आप जैसे निष्ठावान शासक के हाथों जो अपने पुत्र का भी ध्यान न रख सका।

महाराज श्रेणिक विद्युच्चर की बातें बड़े ध्यान से सुन रहे थे। वे मन ही मन विचलित हो उठे कि किसी का दण्ड कोई भोग रहा है। पर वे विवश थे, आदेश दे चुके थे, तीर हाथ से निकल गया था, क्या करें कुछ समझ में नहीं आ रहा था। तभी प्रतिहारी ने सविनय निवेदन किया कि देव "वारिषेण का वध करने वालों के हाथ किल गये हैं, और राजकुमार के ऊपर पुष्पवृष्टि हो रही है" प्रतिहारी के शब्दों से महाराज श्रेणिक का मनस्ताप शान्त हो गया वे मन ही मन प्रमुदित हो उठे, प्रतिहारी को उचित रूप से पुरस्कृत कर विदा किया और स्वयं महारानी चेलना सहित वध-स्थल को चल दिए जहां कुमार वारिषेण कायोत्सर्ग धारण किए हुए विराजमान थे। महाराज श्रेणिक ने अपनी

निष्ठुरता की क्षमा याचना करते हुए राजकुमार से घर चलने का आग्रह किया, महारानी चेलना तो पुत्र प्रेम से विह्वल हो विलखने लगी और उसे घर चलने को मनाने लगी, पर वारिषेण का मन तो संसार से विरक्त हो गया था। वे कहने लगे मैंने संसार विडम्बना का रूप देख लिया, मेरी उसमें कोई आस्था नहीं है मेरा दृढ़ निश्चय है कि आत्म-साधना का अनुष्ठान करूँ। घर तो जेल खाने के सदृश है। वे संसार की स्थिति को भली भांति समझ गये थे, उन्होंने माता पिता को सांसारिक अस्थिरता से परिचित कराया और उनकी अनुमति लेकर स्वयं दीक्षा धारण करने के लिए वन में चले गये।

जब वारिषेण वन में प्रव्रज्या के हेतु जा रहे थे तभी उनके मित्र सोमशर्मा भी उन के साथ हो गये और भावावेश वश उन्हीं के साथ वन में दीक्षित हो गये तथा तपस्या करने लगे, एक दिन सोमशर्मा ने वीणा पर किन्नरों का निम्न गीत सुना—

कुवलयनवदलसमरुचिनयने सरसिजदल निभवर कर चरणे।
श्रुति सुखकर परभृतकलवदने कुर्जजितनुतिर्मायिसखि त्रिभुवदने।
बहुमल मलिनशरीरा मलिन कुचेलाभि विगततनुशोभा।
त्वदगमन दग्धहृदया शोकातप शुष्कमुखकमला।
विमनागत लावण्या वर कान्ति कलाप परि मुक्ता॥
किं जीविष्यत्यवनिका नाथेऽपि गतेऽ जयं मोक्षं।

उपर्युक्त गीत को सुनते ही सोमशर्मा को अपनी पत्नी की याद आई उससे मिलने के लिए व्याकुल हो उठे, उन्होंने वारिषेण से घर जाने की आज्ञा मांगी, वारिषेण सोमशर्मा की दुर्बलता को भांप गये, और उसे सांसारिक अस्थिरता का उपदेश देने लगे। हे भद्र, यह संसार असार है, और इसके भोग विलास तो शर्करा मिश्रित विष तुल्य हैं। अनन्त भवों से इन भोगों को भोगते आ रहे हो पर आज तक कभी भी तृप्ति नहीं हुई। अपना मन संयम और संतोष की ओर आकृष्ट करो। सर्वोच्च सुख के साधन संयम और संतोष ही है। मनुष्य भव बड़ा दुर्लभ है, इसे पाकर इस तरह व्यर्थ ही विषयभोगों में नहीं गंवा देना चाहिए, आप तो स्वयं विज्ञ हो सांसारिक विषय-भोगों से इस चंचल चित्त को निवृत्त कर आत्म-चितन में रत रहो, पारिवारिक जनों के मोह जाल में व्यर्थ न फंसो, कोई किसी का संगी साथी नहीं है, आपके शुभा-शुभ कर्म ही आपका सदा साथ देंगे, अतः आप ने दीक्षा धारण करली है व्यर्थ ही उसे कलंकित करने का विचार न लाओ।"

सोमशर्मा वारिषेण का उपदेशामृत पान कर मन ही मन अत्यधिक प्रभावित हुए, पर अपनी पत्नी को न भुला सके, वारिषेण को उनकी बड़ी चिन्ता थी, जब उन्होंने अपने उपदेशों का सोमशर्मा पर कोई प्रभाव न देखा तो स्वयं आदर्श प्रस्तुत करने की सोची, अतः सोमशर्मा को साथ ले चर्या के बहाने राजगृह नगरी में महाराज श्रेणिक के महलों में आ गये। रानी चेलना पुत्र को घर आया जान हर्ष से पुलकित हो उठी, उन्हें विधि पूर्वक आमंत्रण कर घर में बैठाया, तब वारिषेण ने अपनी मां से अपनी सभी पत्नियों को सोलह श्रृंगार से सुसज्जित कर अपने समक्ष बुलाने को कहा। पुत्र के आदेश को सुन पहले तो रानी विस्मित हुई पर पुत्र प्रेम में विह्वल वह कुछ भी न सोच सकी और शीघ्र ही अपनी सभी वधुओं को सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर वहां ले आई जहां वारिषेण और सोमशर्मा बैठे थे, उन अप्सरा तुल्य सुन्दरियों के सौन्दर्य को देख सोमशर्मा मन ही मन बड़े लज्जित हुए और सोचने लगे और मैं बड़ा कामी हूँ जो इस प्रकार विषयासक्त हो दीक्षा से विमुख हो रहा हूँ। और दूसरी ओर महाधीर संयमी एवं त्यागी वारिषेण हैं, जो ऐसी देवांगना तुल्य स्त्रीरत्नों को सहज ही तृणवत् परित्याग कर चुका है, धन्य है इसकी महानता और निस्पृहता को। निश्चय ही यह गृहस्थ होकर भी घर में आसक्त नहीं हुआ है वारिषेण के त्याग और संयम को प्रत्यक्ष देख सोमशर्मा की आंखे खुल गईं। विवेक जाग्रत हुआ। विवेक की इस धारा ने हृदय गत राग की लालिमा को हटा दिया, और अपनी संयमश्री को संभालने के लिये वैराग्य की निर्मल धारा उसके अन्तर में वहने लगी।

वह सोचता है तूने ये १२ वर्ष व्यर्थ ही खो दिये। अपनी कानी स्त्री के त्याग के कारण मैं इस पवित्र वेष को लजाता रहा हूं। अपनी आत्मा को ठगता रहा हूँ। मेरे उस राग भाव ने मुझे सांसारिक दृढ़ बन्धनों में जकड़ दिया है। यह भोग रोग के समान है। वे ही संसार में धन्य हैं

(शेष पृष्ठ १३३ पर)

अनेकान्त और अनाग्रह की मर्यादा

(मुनि श्री गुलाबचन्द्रजी 'निर्मोही')

अनेकान्त दर्शन के प्रणेता भगवान् महावीर समन्वय और सहअस्तित्व का दिव्य सन्देश लेकर इस संसार में आए। विभिन्न मतीय विवादों के कोलाहल पूर्ण एवं आग्रह भरे वातावरण में तत्त्व को समझने की जो सूक्ष्म दृष्टि उन्होंने दी, वह सचमुच ही मानवीय विचारधारा में एक वैज्ञानिक उन्मेष है।

हमारे सामने अनेक वस्तुएं आती-जाती रहती हैं। हम अपने प्रयोजनानुसार उनका व्यवहार करते रहते हैं, पर यह शायद ही सोचते होंगे कि जिस समय वे हमें दिखलाई पड़ती हैं, वही क्या उनका मौलिक रूप है या और कुछ? किन्तु जब हम वस्तुओं के स्वरूप के बारे में सोचना तथा विश्लेषण करना प्रारम्भ करते हैं; तब हम दर्शन के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं।

भगवान महावीर की दृष्टि में दर्शन, धर्म और संस्कृति की जिज्ञासाओं का सुन्दर समाधान है। उनके सामने अनेक दार्शनिक परम्पराएं विद्यमान थीं। एक-अनेक, नित्य-अनित्य, जड़-चेतन आदि विषयों का एकान्तिक आग्रह उनके सामने था। एक परम्परा नित्यवाद पर ही सारा बोझ डाल देती थी तो दूसरी परम्परा अनित्यवाद को ही प्रमाण समझती थी। किसी परम्परा को एकत्व में चरम तत्त्व का अन्वेषण अभीष्ट था। तो अन्य किसी परम्परा में एकत्व का सर्वथा निषेध ही परिलक्षित होता था, एक परम्परा सृष्टि की विभिन्नता में जड़ को ही कारणभूत मानती थी तो दूसरी को आत्मतत्त्व से अन्यथा कुछ भी स्वीकार्य नहीं था। इस प्रकार अनेक विरोधीवाद एक दूसरे पर प्रहार करने में ही अपनी शक्ति का व्यय करते थे। यही कारण है कि उस समय का दार्शनिक जगत शान्त न होकर कोलाहलपूर्ण व अशान्त था। इतरेतर विरोध ही दर्शन का ध्येय बन गया था।

महावीर ने अपने चिन्तन से इस विरोध की बुनियाद में मिथ्या आग्रह पाया। उन्होंने इसे एकान्तिक आग्रह की संज्ञा दी। वस्तुतत्त्व का सूक्ष्मेक्षण से चिन्तन करके उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि एक ही वस्तु में अनेक धर्म हैं किन्तु दृष्टि की संकीर्णता से ही सब अपने-अपने आग्रह में यथार्थता का आरोपण करते हैं। उन्होंने कहा—दार्शनिक दृष्टि संकुचित न होकर विशाल होनी चाहिए। वस्तु में जितने भी धर्म परिलक्षित होते हैं। उन सबका समावेश उस दृष्टि में होना चाहिए। किसी एक समय में किसी एक अपेक्षा से किसी एक धर्म का प्रमुखता काम्य हो सकती है किन्तु उससे अन्य सब धर्मों का अभाव तो नहीं हो जाता। इसी दृष्टि से उन्होंने वस्तु को अनन्त विरोधी-धर्म-युगलात्मक बताया। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि उसपर अनेक दृष्टियों से चिन्तन किया जा सकता है। इसी दृष्टि का नाम अनेकान्तवाद है। किसी एक धर्मी का एक धर्म की प्रधानता से जो प्रतिपादन होता है, वह 'स्यात्' (किसी एक अपेक्षा या किसी एक दृष्टि से) शब्द से होता है, अतः अनेकान्त की निरूपण पद्धति को स्याद्वाद कहा जाता है। दार्शनिक क्षेत्र में महावीर की यह बहुत बड़ी देन है।

अनेकान्तवाद के क्षेत्र में दो पक्ष प्रधान हैं। एक सांख्य-योग दर्शन, दूसरा जैन दर्शन। ये दोनों दर्शन अपनी-अपनी परिभाषाओं के द्वारा अपने अपने विचार वैचित्र्य से अनेकान्त की स्थापना करते हैं।

सांख्य दर्शन मूल में दो तत्त्वों को स्वीकार करता है—१—पुरुष तत्त्व, २—प्रकृति तत्त्व। उसके मत में पुरुष बहु है और कूटस्थ नित्य है। उसमें न कोई गुण है और न कोई धर्म। उसमें कभी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। प्रकृति ठीक पुरुष तत्त्व का विपरीत रूप है। वह नित्य होकर भी परिणमन करती रहती है। यह दृश्यमान जगत इस प्रकृति का परम्परागत परिणमन है। अति सूक्ष्म प्रकृति तत्त्व एक परिणाम से दूसरे, दूसरे से तीसरे इस प्रकार परिणामों को प्राप्त करता हुआ स्थूल रूप में परिणत होता है। यह परिणमन धर्म, लक्षण और अवस्था इन तीनों परिणामों के द्वारा होता है। धर्मीरूप प्रकृति से उसके धर्म का एकान्त भेद बतलाना सम्भव नहीं। वस्तु का व्यक्त धर्म जब अव्यक्त तथा अव्यक्त धर्म जब व्यक्त बनता है, वह धर्म परिणाम है। यह धर्म-परिणाम धर्मी के स्पष्टरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिए कार्य और कारण में

भेद भी है और अभेद भी। यदि भेद नहीं माना जाए तो धर्मी का नाना धर्मों में रूपान्तरित होना असम्भव है। एक ही वस्तु रूपान्तर ग्रहण करती है इसलिए अभेद भी है।

धर्म का भी परिणमन होता है। उस परिणमन को लक्षण परिणमन कहा जाता है। लक्षण परिणमन का अर्थ है—अतीत, अनागत और वर्तमान रूप परिणमन। धर्मी में रहे हुए धर्म का अतीत, अनागत और वर्तमान रूप में परिणमन होता है, द्रव्य रूप धर्मी का नहीं। वर्तमान समय में धर्मी का जो स्वरूप आविर्भूत है, वह कालान्तर में विलय होकर अतीत का विषय बन जाता है और अनागत रूप में जो धर्म धर्मी की सत्ता में छिपा हुआ था, उसका आविर्भाव होता है इसी प्रकार धर्म समूह तीनों कालों को स्पर्श करता हुआ परिणमन करता रहता है। धर्मी इन तीनों कालों में धर्मों में विद्यमान रहकर नित्य कहलाता है।

लक्षण परिणाम का परिणमन अवस्था परिणाम कहलाता है। नया-पुरानापन ही अवस्था परिणाम है। मृत-पिंड से जब घट कार्य रूप से आविर्भूत होता है, तब नया घट कहलाता है और प्रति दिन पुरानेपन की तरफ बढ़ता हुआ पुरानेपन में परिणमन करता है। इस तरह अतीत कार्य सुदूर अतीत के रूप में और, सुदूर अनागत कार्य निकट अनागत के रूप में परिणत होता रहता है।

सांख्य-योग दर्शन ने इस प्रकार के तीन परिणामों के द्वारा परिदृश्यमान जगत की व्याख्या की है। इस तरह अनन्त काल से कार्य-कारण का निरवच्छिन्न प्रवाह चलता आता है। एक का लय तथा अपर की उत्पत्ति होती रहती है, किन्तु कारण की सत्ता से उसकी कोई भिन्न सत्ता नहीं है।

जैन दर्शन चेतन तत्व और जड-तत्व, इन दोनों तत्वों को स्वीकार करता है। वह जड़ और चेतन दोनों को उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक रूप से प्रतिपादित करता है, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य शब्द से एक ही वस्तु के दो स्वरूप प्रति-भासित होते हैं—१ अविनाशी, २ विनाशी।उत्पाद और व्यय शब्द वस्तु के विनाशी स्वरूप को बतलाते हैं तथा ध्रौव्य शब्द उसके अविनाशी स्वरूप का वाचक है।

जैन परिभाषा में धर्मी को द्रव्य और उत्पाद व्यय शील धर्म को पर्याय कहा गया है। वह वस्तु का क्रम भावी धर्म है। सहभावी धर्म गुण कहलाता है। गुण और पर्याय का आधार द्रव्य है। द्रव्य परिणामी है अतः वह अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा विभिन्न पर्यायों को उत्पन्न करता हुआ परिणमन करता है। जैन दर्शन के अनुसार एक द्रव्य अनन्त गुणों का आधार है। उस गुण समूह को गुणी द्रव्य से पृथक करना असम्भव है। द्रव्य एक द्रव्य में रहे हुए गुणों को भी गुणान्तर से पृथक् करना शक्य नहीं। द्रव्य जब अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा विभिन्न पर्यायों के रूप में परिणमन करता है, तभी गुण से गुणान्तर का भेद उपलब्ध होता है। द्रव्य से पर्यायों का भेद दिखलाई पड़ता है। इसलिए एक दृष्टि से द्रव्य, गुण और पर्याय में भेद भी है। द्रव्य स्वयं ही परिणमन करता है। इसलिए एक दृष्टि से वे तीनों अभिन्न भी हैं। पर्याय उत्पन्न और विनिष्ट होता रहता है, पर द्रव्य और गुण अपने स्वरूप का त्याग न करते हुए पर्यायों से पर्यायान्तर में परिणत होते रहते हैं। सांख्य दर्शन के कार्य की तरह पर्याय भी तीनों कालों के प्रवाह में बहता हुआ चला जाता है। न इसका आदि है, न अन्त ही। एक द्रव्य में अनेक गुणों के पर्याय एक समय में वर्तमान रह सकते हैं, किन्तु एक गुण के दो पर्यायों का एक समय में रहना सम्भव नहीं। एक विशेष गुण दूसरे गुण में रूपान्तरित नहीं होता। जैन-दर्शन के अनुसार चेतन स्वरूप आत्मा बद्धावस्था में हो या मुक्तावस्था में, दोनों अवस्थाओं में अपने चेतन स्वरूप को नित्य रखते हुए गुणों के द्वारा परिणमन करता रहता है।

कुछ विचारकों का अभिमत है कि अनेकान्त वाद एकान्तवादों का समन्वय करने के लिए निष्पन्न हुआ, किन्तु यह उचित नहीं है। एकान्त दृष्टियों का समन्वय उसका फलित है, किन्तु मूल आत्मा नहीं।

वस्तु में जो अनेक आपेक्षिक धर्म हैं, उन सबका यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है, जब अपेक्षा को सामने रखा जाए। दर्शन-शास्त्र में एक-अनेक, वाच्य-अवाच्य तथा लोक व्यव-हार में स्वच्छ-मलिन, सूक्ष्म स्थूल आदि अनेक ऐसे धर्म हैं जो आपेक्षिक है। इनका भाषा के द्वारा कथन उसी सीमा तक सार्थक हो सकता है, जहां तक हमारी अपेक्षा उसे अनुप्राणित करती है। जिस समय जिस अपेक्षा से जो शब्द जिस वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है, उसी समय उसी

वस्तु के लिए किसी अन्य अपेक्षा से अन्य शब्द की प्रयुक्ति भी तथ्यगत ही होगी। वह भी उतना ही अखंड सत्य होगा जितना कि पहला। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि एक वस्तु के सम्बन्ध में ऐसे अनेक तथ्य होते हैं जो हमारे ज्ञान में सन्निहित हैं और एक ही समय में सब समान रूप से सत्य हैं फिर भी वस्तु के पूर्ण रूप की अभिव्यक्ति में उनकी विभक्ति करनी ही पड़ेगी। यह तो भाषा की विशेषता है कि वह एक ही शब्द में वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं बांध सकती। जिस धर्म का प्रतिपादन करना हो उसके लिए तद्बोधक शब्द की प्रयुक्ति करके अवशिष्ट धर्मों के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग होता है अर्थात प्रतिपाद्य धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों की सत्ता का स्वीकरण तो है किन्तु वर्तमान में उसका कथन नहीं किया गया है। कभी-कभी 'स्यात्' शब्द की प्रयुक्ति के अभाव में भी वस्तु धर्म का प्रतिपादन होता है, किन्तु वहां भी कथक के अभिप्राय में कथ्यमान धर्म के अतिरिक्त धर्मों का निराकरण करने की बात नहीं जानी चाहिए। तभी वस्तु सम्बन्धी वास्तविकता का समादर किया जा सकता है। इस तथ्य को हम एक वाक्य में यों भी कह सकते हैं कि वस्तु सम्बन्धी सम्पूर्ण दृष्टि प्रमाण तथा एक दृष्टिनय कहलाता है।

प्रमाण और नय दोनों का उद्देश्य यही है कि वस्तु का प्रतिपादन उचित भाषा में हो और ज्ञाता उसके अभिप्राय को ठीक प्रकार से हृदयंगम कर सके। इस वाक्य प्रणाली को अहिंसा की वैचारिक पृष्ठ भूमिका कहा जा सकता है। क्योंकि यह यथार्थ कथन है और यथार्थता ही अहिंसा है। यह प्रणाली कथित और कथनावशिष्ट धर्मों को, यदि वे वस्तु-प्रमाणित होते हैं तो समानरूप से स्वीकार करती है। अलग-अलग अपेक्षाएँ अलग-अलग जिज्ञासाओं के प्रत्युत्तर से स्वयं प्रतिफलित होती हैं। एक मकान विशेष के लिए प्रश्नकर्ता को उसकी जिज्ञासाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न समाधान दिये जा सकते हैं—

१—यह मकान पत्थर का है।

२—यह मकान नरेश का है।

३—यह मकान रहने का है।

४—यह मकान सन् १९६२ का है।

५—यह मकान पांच मंजिल का है।

६—यह मकान लाल रंग का है।

७—यह मकान समाजवादियों का है।

प्रश्न होता कि मकान किसका समझा जाए? उपर्युक्त वाक्यों में एक भी ऐसा नहीं हैं, जिसे अप्रमाणित माना जाए। सभी प्रश्न भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक ही विषय में सत्य हैं। एक वाक्य में जो कथन है, दूसरे में वह उससे सर्वथा भिन्न है। फिर भी परस्पर में अविरोध है। विरोध इस लिए नहीं है कि प्रत्येक में अपेक्षा भेद है। वह मकान उपादान कारण की अपेक्षा से पत्थर का है। स्वामित्व की अपेक्षा से नरेश का है। कार्यक्षमता की अपेक्षा से रहने का है। काल की अपेक्षा से सन् १९६२ का है। आकार और ऊंचाई की अपेक्षा से पांच मंजिल का है। वर्ण की अपेक्षा से लाल रंग का है और किसी दल विशेष से सम्बन्ध की अपेक्षा से समाजवादियों का है। प्रश्नकर्ता की भिन्न-भिन्न अपेक्षाएं उत्तरदाता को भिन्न-भिन्न उत्तर देने को उत्प्रेरित करती हैं। क्योंकि एक ही उत्तर से समस्त जिज्ञासाएं समाहित नहीं हो सकतीं।

लोक भाषा और व्यवहार में सापेक्ष कथन का यह प्रकार जितना मौलिक और सत्य है उतना ही दर्शन जगत में भी। उपरोक्त आवास सम्बन्धी ज्ञान में एकान्तवादिता सत्य से जितनी दूर ले जाती है, उतनी ही तत्त्व ज्ञान के सम्बन्ध में भी। अतः दर्शन और लोक व्यवहार दोनों ही क्षेत्रों में स्याद्वाद का प्रयोग न केवल उचित ही है, किन्तु अनिवार्य भी है।

महावीर के स्याद्वाद के सम्बन्ध में कुछ इतर दार्शनिकों का खास तर्क यह है कि यदि कोई वस्तु 'सत' है तो 'असत' कैसे हो सकती है? इसी प्रकार एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि परस्पर विरोधी स्वभाव एक ही समय में एक ही पदार्थ में कैसे टिक सकते हैं? इसी तर्क के आधार पर शंकराचार्य और रामानुजाचार्य ने स्याद्वाद को 'मिथ्यावाद' कह कर उसकी उपेक्षा की। राहुल सांकृत्यायन ने 'दर्शन-दिग्दर्शन' में बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के शब्दों के आधार पर दही, दही भी है और ऊंट भी, तो दही खाने के समय ऊंट खाने को क्यों नहीं दौड़ते? इस प्रकार के कथन से स्याद्वाद का उपहास किया है। डा० राधाकृष्णन् ने इसे 'अर्धसत्य' कह

कर त्याज्य बताया है। इसी प्रकार किसी ने इसे 'छल' और किसी ने इसे 'संशयवाद' की संज्ञा प्रदान की है किन्तु यह सब स्याद्वाद के हार्द को नहीं समझने का ही परिणाम है। प्राचीन बद्धमूल रूढ़ धारणाएं तथा जैनेतर ग्रन्थों में जैन दर्शन के लिए किए गए कथन को ही प्रमाण घोषित करना भी इसमें सहायक हुए हैं। अन्यथा सापेक्ष दृष्टि से 'है' और 'नहीं है' के कथन में विरोधाभास होना ही नहीं चाहिए।

सर्राफ की दुकान पर किसी ने दुकानदार से पूछा—'यह जेवर सोने का है न? दुकानदार ने उत्तर दिया—'हां यह सोने का है। दूसरे व्यक्ति ने पूछा—'यह जेवर पीतल का है न? दुकानदार ने उत्तर दिया—'नहीं, यह पीतल का नहीं है। यहां कथ्यमान जेवर के लिए 'यह जेवर सोने का है' यह कथन जितना सत्य है उतना ही यह पीतल का नहीं है यह भी सत्य है। एक ही जेवर में सोने की अपेक्षा से 'सत' और पीतल की अपेक्षा से 'असत्' अर्थात् 'है' और 'नहीं है' ये दोनों कथन सत्य हैं। स्याद्वाद इसी सिद्धान्त की पुष्टि है। 'सत' है तो 'असत' कैसे हो सकता है? यह संदेह तो ठीक ऐसा ही है कि पुत्र है तो पिता कैसे हो सकता है? किन्तु वह अपने पिता का पुत्र है, तो अपने पुत्र का पिता भी है। इसमें विरोध नहीं, केवल अपेक्षा भेद है।

प्रत्येक वस्तु और पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से 'सत्' और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से 'असत्' है। इसे सहजतया ही समझा जा सकता है। वस्त्र स्वद्रव्य रुई की अपेक्षा से 'सत्' और परद्रव्य मिट्टी की अपेक्षा से 'असत्' है। क्योंकि वस्त्र, वस्त्र है मिट्टी नहीं। द्रव्य के समान वस्तु में क्षेत्र भी सापेक्ष है भगवान महावीर ने ऋजुबालिका नदी के तट पर केवल ज्ञान प्राप्त किया। यह घटना ऋजुबालिका की अपेक्षा से 'सत्' है किन्तु भगवान महावीर ने 'पावापुरी' में केवल ज्ञान प्राप्त किया, यह 'असत्' ही कहा जाएगा। काल भी अपेक्षित है। आचार्य श्री तुलसी को १ मार्च १९६२ को अभिनन्दन ग्रंथ भेट किया गया। यह 'सत्' है, किन्तु इसके अतिरिक्त किसी अन्य काल का कथन वस्तु को प्रकट नहीं करता। द्रव्य, क्षेत्र और काल की तरह भाव भी अपेक्षित है। तरलता की भावना जल की सत्ता को ही व्यक्त करती है, अन्यथा बाष्प कुहरा या हिम भी उसके अन्तर्गत होते, जो कि पानी नहीं किन्तु उसके रूपान्तर हैं। इस प्रकार उपरोक्त 'सत्-असत्' अथवा 'विधि-निषेध' के अपेक्षिक कथन के समान ही वस्तु में एक अनेक, वाच्य-अवाच्य आदि विभिन्न धर्मों की सत्ता विद्यमान है।

किसी वस्तु या पदार्थ में जो अपेक्षाएँ घटित होती हैं उनका स्वीकरण ही अनेकान्त का सिद्धान्त है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जिस वस्तु में जो अपेक्षा विद्यमान न हो, उसका भी अनेकान्त के माध्यम से स्वीकरण हो। शशकशृंग या गगन पुष्प की अस्तित्व सिद्धि में अनेकान्त सापेक्ष नहीं है, क्योंकि उसमें अस्तित्व का ही असिद्धि है। अनेकान्त को केवल यथार्थता का प्रकटीकरण करता है। वस्तु का यथेच्छ परिवर्तन उसे अभीष्ट नहीं है।

दर्शन क्षेत्र में महावीर का अनेकान्त विचार-क्रान्ति की दिशा में एक नया मोड है। आचार-क्रान्ति के लिए विचार क्रान्ति आवश्यक होती है। अत. विचार-पक्ष को उदार, परिष्कृत एवं संस्कृत बनाने के लिए अनेकान्त का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त एवं वास्तविक है। इससे अनाग्रह दृष्टि का विकास होता है और वही वस्तु सत्य एवं तत्त्व की परख की वास्तविक सरणी है। ★★★

महाकोशल का जैन पुरातत्त्व

(बालचन्द्र जैन एम० ए०, साहित्य शास्त्री, रायपुर संग्रहालय)

प्रस्तुत निबंध में प्रयुक्त 'महाकोशल' पद से पुराने मध्यप्रदेश के उन सत्रह हिन्दी भाषी जिलों का निर्देश है, जो अब जबलपुर और रायपुर कमिश्नरियों के अन्तर्गत है।

प्राचीन भूगोल के अनुसार भारत भूमि पर 'कोसल' नाम के दो प्रदेश थे, जो क्रमशः उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल कहे जाते थे। उत्तर कोसल प्रदेश में अयोध्या और उसका समीपवर्ती क्षेत्र सम्मिलित था, तथैव दक्षिण कोसल छत्तीसगढ़ के रायपुर और बिलासपुर जिलों तथा सम्बलपुर के क्षेत्र तक विस्तृत था। यतः दक्षिण कोसल प्रदेश उसी नाम के उत्तरीय प्रदेश से विस्तार में बड़ा था, अतएव इसे महाकोसल कहा जाने लगा था। किन्तु आधुनिक राजनीतिक जागरण ने महाकोशल की नयी सीमा का निर्माण किया जिसके अनुसार प्राचीन दक्षिण कोसलीय क्षेत्र के साथ जबलपुर, होशंगाबाद, नरसिंहपुर, खण्डवा, सागर बालाघाट बैतूल आदि जिलों तक विस्तृत क्षेत्र भी महाकोशल में सम्मिलित कर लिये गये। इस लेख में इसी बड़े विस्तार वाले महाकोशल के जैन पुरातत्त्व के विषय में आवश्यक जानकारी संक्षेप में दे देने का प्रयत्न किया गया है।

महाकोशल में ईस्वी सन् ६०० से पूर्व की जैन पुरातत्त्व सामग्री अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। किन्तु इससे यह अनुमान लगाना कि उससे पूर्व के काल में यहां जैन रहते नहीं थे, उचित नहीं होगा। छत्तीसगढ़ से लगे उड़ीसा प्रदेश में जैनधर्म का प्रचार भगवान महावीर के जीवनकाल में ही हो चुका था; नन्द-मौर्य और उसके पश्चात उड़ीसा के चेदिवंशीय खारवेल के समय में उड़ीसा जैन मतावलम्बियों का विश्रुत केन्द्र बना हुआ था। ऐसी स्थिति में उसके पड़ोसी छत्तीसगढ़ में अवश्य ही जैनधर्म का प्रचार रहा होगा। लेकिन या तो पर्याप्त सर्वेक्षण के अभाव अथवा काल के दुष्प्रभाव के कारण छत्तीसगढ़ की प्राचीनतम जैन प्रतिमाएं आदि अभी तक अनुपलब्ध हैं। इसके विपरीत कुछेक विद्वानों का मत है कि सिरगुजा जिले की रामगढ़ पहाड़ी में स्थित जोगीमारा गुफा की कलाकृतियों के विषय जैन प्रतीत होते है। यह गुफा मौर्यकाल की मानी गई है।

(अजितनाथ और संभवनाथ, १० वीं शती ईस्वी, कारीतलाई, जिला जबलपुर)

गुप्तोत्तर काल की कुछ जैन प्रतिमाएं छत्तीसगढ़ में रायपुर और बिलासपुर जिलों के गांवों में मिली हैं। रायपुर जिले में इस प्रतिमा सामग्री का केन्द्र सिरपुर (प्राचीन श्रीपुर) और बिलासपुर जिले में मल्लार (प्राचीन मल्लाल) है। मल्लार की जैन प्रतिमाएं यहां-वहां बिखरी पड़ी हैं। कई-एक प्रतिमाएं तो विशालकाय है जिनका समय कलचुरि-काल हैं। किन्तु इस स्थान से जो अम्बिका देवी की खड़ी

प्रतिमाएं प्राप्त हुई है, वे निश्चय रूप से ७ वीं ८ वीं शताब्दी की हैं। सिरपुर की जैन प्रतिमाओं में पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं विशिष्ट हैं। उसी प्रकार राजिम में, जो कि वर्तमान में भी हिन्दुओं का एक मुख्य तीर्थ है, पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा उपेक्षित पड़ी है। वह संकेत करती है कि प्राचीन काल मे राजिम में जैन मंदिर स्थापित था, जिसके कोई अन्य अवशेष अब अप्राप्य हैं। बिलासपुर जिले के रतनपुर में भी आठवीं-नौवीं शती की अम्बिका प्रतिमाएं मिली हैं।

कलचुरि राजवंश के राज्य काल में महाकौशल में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। इस वंश की डाहल-मण्डलीय और दक्षिण कोसलीय, दोनों ही शाखाओं के नृपति बड़े ही धर्मसहिष्णु रहे हैं। डाहलमण्डलीय कल-चुरियों की राजधानी त्रिपुरी (जबलपुर के निकट) और दक्षिण कोसलीयों की राजधानी रत्नपुर (जिला बिलासपुर) में स्थापित थी। इसलिये इन दोनों ही स्थानों में जैन कलाकृतियों का निर्मित होना स्वाभाविक था। आरंग (जिला रायपुर) में बारहवीं सती का एक जैन मंदिर आज भी खड़ा हुआ है। इस मंदिर की प्रतिमाओं के अतिरिक्त कुछ और जैन प्रतिमाएं उसी गांव के महामाया मंदिर में रखी हुई हैं। ये सभी प्रतिमाएं बहुत ही सुन्दर हैं और भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों की हैं। इन प्रतिमाओं को देखने से ऐसा ज्ञान होता है कि आरंग में कायोत्सर्ग आसन की प्रतिमाएं अधिकतर बनाई जाती थीं। इन प्रतिमाओं के अलावा, आरंग में स्फटिक की तीन प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं, जो अब रायपुर के एक जैन मंदिर में विराजमान हैं। ये स्फटिक प्रतिमाएं १० वीं ११ वीं शती की प्रतीत होती है। उनमें से बड़े आकार की प्रतिमा पार्श्वनाथ की है और दोनों छोटी प्रतिमाएं शीतलनाथ की। सिरपुर (रायपुर जिला) रत्नपुर और धनपुर (बिलासपुर जिला) भी तत्कालीन जैन केन्द्र थे। रत्नपुर की कुछेक जैन प्रतिमाएं रायपुर के संग्रहालय में ले आई गई हैं। धनपुर में आज भी अनेक मूर्तिखण्ड तितर-बितरे पड़े हैं। कल्लार की प्रतिमाओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है, उनमें से अनेक बड़ी विशाल हैं।

त्रिपुरी के कलचुरियों के समय की जैन कलाकृतियाँ डाहलमण्डलीय क्षेत्र में बहुत मिलती हैं। जबलपुर जिले में त्रिपुरी, बहगांव रीठो, आभाहिनौता, कारीतलाई, बिलहरी आदि स्थानों में कलचुरि काल में जैन केन्द्र स्थापित थे, वहां अनेक मंदिरों और प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। त्रिपुरी की जैन प्रतिमाएं कलकत्ता और नागपुर के संग्रहा-लयों में भी प्रदर्शित हैं। इनकी कला उच्च कोटि की है। त्रिपुरी की दो प्रतिमाओं पर कलचुरि सं० ६०० के उत्कीर्ण लेख हैं। जबलपुर के हनुमानताल स्थित जैन मंदिर में विराजमान कलचुरि कालीन प्रतिमा अतीव प्रभावपूर्ण है। बहुरीबन्द में शांतिनाथ की विशाल प्रतिमा है, वह कलचुरि राजा गयाकर्णदेव के समय में स्थापित की गई थी। बिल-हरी में जैन तीर्थंकरों की पद्मासन और कायोत्सर्ग दोनों आसनों की प्रतिमाएं मिलती हैं। वहां की बाहुबलि प्रतिमा अपने किस्म की एक ही है। बहगांव की जैन प्रतिमाएं ११ वीं शती की हैं। कटनी के निकट कारीतलाई नामक ग्राम में अनेक जैन मंदिरों के अवशेष बिखरे पड़े हैं। इस स्थान की बहुत सी जैन प्रतिमाएं अब रायपुर संग्रहालय में ले आई गई हैं और वहां दीर्घा में प्रदर्शित हैं। इन अप्राप्त प्रतिमाओं में विभिन्न तीर्थंकरों यथा ऋषभनाथ, अजितनाथ, संभवनाथ, पुष्पदंत, शीतलनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की प्रतिमाओं के साथ जैन देवियों, अम्बिका, पद्मावती और सरस्वती की भी प्रतिमाएं हैं। सहस्रकूट जिन-बिम्ब और सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं भी इस संग्रह में हैं और सबसे महत्वपूर्ण तो हैं द्विमूर्तिका—प्रतिमाएं त्रिमूर्तिका और चतु-र्विंशतिपट्ट।

नरसिंहपुर जिले में प्राप्त कुछ प्रतिमाएं नागपुर के संग्रहालय में हैं। इनका समय १३ वीं शती ई० है। बैतूल और बुरहानपुर की प्रतिमाएं भी उसी संग्रहालय में सुरक्षित हैं। मुक्तागिरि आज भी एक जैन तीर्थ है।

सागर और दमोह जिलों में भी अनेक प्राचीन जैन केन्द्र हैं, जिनमें रहली, फतहपुर और कुण्डलपुर मुख्य हैं। मंडला का कुकुर्रामठ जैन कहा जाता है।

इस प्रकार महाकौशल क्षेत्र में गुप्तोत्तर काल से लेकर कलचुरि काल तक की प्राचीन प्रतिमाएं प्राप्त होती हैं।

(पृष्ठ १२६ का शेष)
जिन्होंने भववांछा को विनष्ट करने के लिये आशावल्ली के रस को निःशक्त बनाया है। भगवन् मेरा यह गुरुतर अपराध कैसे दूर होगा ? और मैं अपने जीवन को कैसे सफल बना सकूंगा। वारिषेण जैसा महा सन्त ही मुझे संसार समुद्र पार कर सकता है। इस ने मेरा बड़ा उपकार किया है। जिसे मैं कभी भुला नहीं सकता। इसके तप और त्याग ने मुझे वह शक्ति प्रदान की है, जिसे मैं अब तक प्राप्त न कर सका था। मेरा चित्त निरन्तर डांवा डोल रहता था, अब वह विष-कणिका निकल गई मानो मेरे उत्थान का ही शुभ दिन आया है। अब मैं वास्तविक साधु बन पाया हूं। और मुझे विश्वास है, कि मेरी साधना अवश्य सफल होगी। वारिषेण पर यह उक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है। 'गेही पै गृह में न रचे ज्यों जल में भिन्न कमल है। नगर नारि को प्यार यथा कादे में हेम अमल है।' सोमशर्मा वारिषेण के साथ शीघ्र ही वन में पहुँचे, अब वे पूर्णतया निःशल्य थे। प्राप्त निर्विकार भाव से उन्होंने पूर्णतया मुनिपद का पालन किया और परम्परया मुक्ति पद पाया। ★

"जगत राय की भक्ति"

(गंगाराम गर्ग एम० ए०, रिसर्च स्कॉलर)

ईश्वर के प्रति तीव्र अनुरक्ति भक्ति कही जाती है। धर्म प्राण देश होने के कारण भारत की काव्य-साधना की पृष्ठभूमि में भक्ति का महत्त्वपूर्ण योग रहा है, चाहे सन्त काव्य हो अथवा वैष्णव काव्य; बौद्ध काव्य हो अथवा जैन काव्य कोई भी यहां भक्ति से अछूता न मिलेगा। एक बात और है—विभिन्न साम्प्रदायिक काव्य-धाराओं के दार्शनिक चिन्तन में भेद दृष्टि गोचर हो सकता है किन्तु भक्ति के विचार से इनमें कोई भेद भी नहीं आंका जा सकता उपास्य का गुण-कथन अथवा महिमा-गान, आत्म-निन्दा, एक निष्ठ भक्ति की कामना आदि मूलभूत बातें ऐसी हैं जो सभी सम्प्रदाय के भक्तिसाहित्य में समान रूप से मिलती हैं। जैन साहित्य भक्ति की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है।

जगतराय का परिचय—जगतराय का जैन भक्ति-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके पिता मह माईदास सिंघल गोत्रीय अग्रवाल जैन थे। माईदास के दो पुत्र थे रामचन्द्र और नन्दलाल। इन दोनों भाइयों में से जगतराम किन के पुत्र थे, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। कवि काशीदास ने अपनी सम्यक्त्व कौमुदी में इनको रामचन्द्र का पुत्र कहा है।[१] अगरचंदनाहटा की भी यही राय है[२] किन्तु पद्मनन्दि की पंचविंशतिका की प्रशस्ति में जगतराय को नन्दलाल का पुत्र स्वीकार किया गया है[३] जो समीचीन प्रतीत होता है। जगतराय औरंगजेब के दरबार में उच्च पद पर आसीन थे। 'राजा' इनकी पदवी थी। अगरचंद नाहटा के विचारों के अनुसार डॉ० प्रेमसागर जैन ने जगतराय को एक प्रभावशाली धर्म प्रेमी, कवियों का आश्रयदाता दानवीर व निरहंकारी बतलाया है।[४] डॉ० जैन ने जगतराय के आगम विलास, सम्यक्त्व कौमुदी, पंचविंशतिका, छंद रत्नावली, ज्ञानानन्द श्रावकाचार आदि ग्रंथों की चर्चा की है किन्तु कवि का भक्त हृदय केवल अद्यावधि प्राप्त १५२ पदों में ही देखा जा सकता है। डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल ने पद्मनन्दि पंचविंशतिका के आधार पर जगतराय का काव्यकाल सं० १७२०-१७४० ई० ठहराया है।[५]

जगतराय की भक्तिः—जगतराय ने अपने आराध्य जिन भगवान् शान्त स्वरूप, निष्काम, विरागी, शोभायमान, महा-महिम, अक्षरविहीन वाणी द्वारा उपदिष्टा बतलाए हैं। वे जिनेन्द्र को षटकाय जीवों पर दयालु, सबका हितकारी व सृष्टि का सेव्य भी मानते हैं।

---

१ सम्यक्त्व कौमुदी की प्रशस्ति, अनेकान्त वर्ष १० किरण १०

२ भारतीय साहित्य वर्ष २ अंक २ में जगतराय संबन्धी लेख ५२३।

३ पुण्य हर्ष, पद्मनंदि पंच विं शतिका की प्रशस्ति संग्रह, पृ० २३८

४ हिन्दी के भक्ति काव्यमें जैन साहित्यकारों का योगदान की पाडुलिपि। ५९३

५ देखो, जैनपद संग्रह

जगतराय के पदों में आराध्य का स्वरूपांकन अधिक नहीं हुआ प्रत्युत् भक्त के अवगुण व अल्पता की व्यंजना अधिक हुई है। वे कहते हैं कि मैंने व्रत, तप, संयम, तीर्थ, दान कुछ भी तो नहीं किया और न ज्ञान, ध्यान धर्म व अधर्म को पहिचाना है; अतः मुझे तो तुम्हारी दया का ही आश्रय है—

व्रत तप संजम कछु बनत न मोपैं हौ सिथिल क्रिया कठिनाई।
याते 'जगराय' प्रभु नाम ही जगत निति अब कछु करिबो तेरी बड़ाई॥

★ ★ ★ ★

कुछ ज्ञान ध्यान में न जानूं अरु धर्म अधर्म न पहिचानूं।
तुम चंद जगतपति जग भानू मेरे मोह तिमिर को हटा देना॥
कभी दान हाथ से नाहिं दिया कभी सुमरन मुख से नाहिं किया।
कभी पग से मैं तीर्थ नाहिं गया मोहि धरम की रीति सिखा देना॥
यह विनती है मोरी जगतपति सब जीवन के रखवाले पती।
तुम दया धुरं-धर धीर सती 'जग' दया की धूम मचा देना॥

जैनधर्म में पुन-र्जन्म तथा कर्मवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य के दुःख सुख का दाता ईश्वर नहीं प्रत्युत् वे कर्म हैं जो उसके पूर्व जन्मों में किये हैं। यद्यपि शुभ और अशुभ रूप उभय कर्म ही मोक्ष प्राप्ति में बाधक हैं किन्तु अशुभ कर्म अपेक्षाकृत अधिक कष्ट दायक और परित्याज्य है जिसकी विद्यमानता में शुभ कर्म व ज्ञान-प्राप्ति की प्रेरणा ही नहीं मिलती। इन अशुभ कर्मों की भयावहता से घबड़ा कर छुटकारा पाने के लिऐ जगतराम जिनेन्द्र से प्रार्थना करते हैं—

अशुभकर्म म्हारी लेरा जी फिरै छै, शिवपुर जाने न देवै दीनानाथ।
भव-भव म्हारी गैल न छांडत दुःख-देतां कुछ नाहीं डरै छै।
ज्ञानादिक धन लूट लियो म्हारो नर्क न मोपै दया जी धरै छै।
'जगत' उदधि तैं पार करीजे मम दुःख संकट कौन जी हरै छै।

'जिन' के गुण तथा अपनी अल्पता व दुःख के कथन के उपरान्त जगतराम को उनके विरद का स्मरण होता है। भक्त के अवगुणों का अवलोकन तथा उस पर विचार करना भगवान के लिए उचित नहीं हो सकता; क्योंकि उन पर ध्यान देने से उत्पन्न ग्लानि उनके विरद-पतित-पावनता की पूर्ति में बाधक प्रमाणित होगी। यही सोच कर जगतराय जिनेन्द्र को उनके विरद का स्मरण कराते समय उसके सम्यक् पालन के लिए उनके अवगुणों पर ध्यान न देने का निवेदन भी कर देते हैं—

जिन जी थ्यारोला जी हो वे.................।
मेरी करनी परि मति जइयो अपनों विरद सम्हारोला जी हो।
अवतो सरनो पकड़ यो तेरो जगतराय प्रति-पालालो जी॥

भक्त अपने उद्धार में आराध्य की दृढ़ता पूर्वक रुचि लिवाने के लिए उनके द्वारा उपकृत भक्तों का स्मरण भी उन्हें करा देते हैं। अजामिल, सेना, नरसी बाल्मीकि, अहिल्या आदि के उद्धार की चर्चा वैष्णव भक्ति साहित्य में सर्वत्र दृष्टि गोचर होती है। जैन भक्त भी इस क्षेत्र में किसी से भी पीछे नहीं रहे। जिनेन्द्र भक्ति से सेठ धनञ्जय के पुत्र का विष उतरा, मानतुंग के बंधन तोड़े, वादिराज का कोढ़ मिटाया, सागर से श्रीपाल को बचाया, भविष्यदत्त को घर पहुँचाया, उर्मिला की आशाएं पूरी की, सिंहोदर को संकट में वज्रकरण के मान को घटाया तथा कुमुदचन्द्र के दर्शन दिये आदि कथाओं में विविध भक्तों के प्रति की गई रक्षा एवं उपकार के स्मरण ने ही जगतराय को अर्हन्त की शरण में आने का साहस प्रदान किया है—

श्री अरहंत शरण तेरी आयो।
सुरनर मुनितुमको सब ध्यावै जिन-सुमरे तिनही सुख पायो।
सेठ-धनं-जय स्तोत्र रच्यो तब ताके सुत को विष उतरायो।
मान तुंग के बन्धन तोडे वादिराज को कोढ मिटायो।
कुमुदचन्द्र प्रभु पारसमेंट्यों सागरमें श्रीपाल बचायो।
उर्मिला की वांछा पूरी भविष्यदत्त को घर पहुंचायो।
सिंहोदर के संकट माहीं वज्रकरण को मान घटायो।

भक्त सहाय करी बहुतेरी तिन के कथन पुरान बतायो।
भई प्रतीति सुनी जब महिमा तब 'जगराम' शरण चित लायो।

जैन भक्ति साहित्य में जिनेन्द्र के प्रतिमा-दर्शन को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। द्यानतराय, बनारसीदास आदि सभी भक्तों के प्रतिमा-दर्शन से उत्पन्न आनन्द को व्यक्त करने वाले पद मिलते हैं। जगतराय भी जिन प्रतिमा के दर्शन मात्र से अपने दुःखों के विनाश, हृदय को प्रफुल्लित तथा अंग-प्रत्यंग को रोमाञ्चित पाकर गद्-गद् हो उठे हैं -

प्रभु के दर्शन को आये आवत ही दुःख द्वंद नसाये।
देख दरस देऊ नैन सिराये निरखि-निरखि पुनि पुनि ललचाये।
सीस धारि कर चरन नमाये नमत नमत तेऊ न अघाये।
हियरे-हरस-तरंग न माए तब सुर भरि रसना गुन गाये।
अंग अंगतन पुलकित थाये अब सब काज सरे मन भाये।
'जगतराय' सेवक सरसाये तीन लोक-पति साहिब पाये।

भक्ति की चरम परिणति अनन्यता है। यह अनन्यता जगतराय के कई पदों में परिलक्षित होती है, जिससे विदित होता है कि जगतराय की प्रीति तथा लगन अन्य देवों की अपेक्षा जिनेश्वर से ही लगी रहती है और उसके अतिरिक्त उन्हें कुछ सुहाता नहीं—

तो सौं जोरी प्रीति जिनराय
देव और सबनि सौं तोरी।
रस सब विरस भये तुम रस लखि,
लगन रहत तुव ओरी।
मनवां मेरा लाग्यो हो जिनेश्वर स्यौं।
और न मोहि सुहाय कछु अब काम कहा पर सौं।

जगतराम अपने आराध्य से किसी भौतिक पदार्थ अथवा मुक्ति की अभिलाषा नहीं करते: सुबुद्धि-दात्री तथा पाप विनाशिनी जिन सेवा तथा 'जिन' मंत्र का जप ही उन्हें अभीप्सित है—

दे हो जिनराज देव सेवा मोहि आपनी।
देत जो सुबुद्धि कुबुद्धि की उथापनी।
हूँ तो महा पातगी कहूं न अंग सातगी।
सुनी मैं तेरी सेवा है अनेक पाप कांपनी।
पूरो 'जगराम' दास आस प्रभु नाथ।
पाऊं नाम मंत्र के जपावन की जपावनी।

जगतराय केवल इसी जन्म में अपने आराध्य की सेवा के अभिलाषी नहीं हैं प्रत्युत वह तो जन्म-जन्मांतरों में भी उनकी सेवा के उनके दर्शन व कथा श्रवण के भी सतत आकांक्षी हैं—

सेवा फल यह पावू तिहारी।
भव-भव स्वामि मिलौ तुमही हौं सेवक ह्वै गुन गावूं।
तिहारी मूरति अपने नैनन निरखि निरखि हरसाऊं।
तिहारे चरण अपने करन तैं अर्घ बनाय चढ़ावूं।
कथा तिहारी अपने श्रवनन सुनत सुनत न अघावूं।
जगतराय प्रभु जबलौं शिव यौं तबलौं इतना चितचावूं।

"जयपुर की संस्कृति साहित्य को देन—"

श्री दलपतिराय और उनकी रचनाएँ

प्रो० प्रभाकर शास्त्री एम० ए०

"आमेर"—या "अम्बानगर" के शासक-महाराजाधिराज मिर्जाराजा रामसिंह प्रथम का नाम कछवाहवंशीय शासकों के इतिहास में प्रसिद्ध है। यह नगर राजस्थान की वर्तमान राजधानी 'जयपुर' से ६ मील उत्तर में जयपुर-दिल्ली सड़क पर स्थित एक प्राचीन रमणीक एवं ऐतिहासिक स्थान है। मिर्जा राजा रामसिंह संस्कृत भाषा के अत्यन्त प्रेमी थे और आपकी सभा में संस्कृत भाषा के कतिपय विद्वान सम्मानित थे। सम्मानित विद्वानों में एक श्री दलपतिराम या श्री दलपतिराय भी थे।

श्री दलपतिराय का परिचय उपलब्ध नहीं होता। केवलमात्र यह कहा जा सकता है कि इनका मुगल कालीन शासकों से अच्छा परिचय था। उनकी रचनाओं के देखने

से यह पता चलता है कि ये पहले बादशाह के पास रहे थे और तदनन्तर आमेर के शासक मिर्जा रामसिंह के पास चले आये थे।

राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर के हस्तलिखित पुस्तक संग्रहालयाध्यक्ष श्री लक्ष्मीनारायण जी गोस्वामी को एक गुटका प्राप्त हुआ था जिसमें प्राचीन अनेकों ग्रन्थ लिखे हुए थे। उसमें श्री दलपतिराय के नाम से २ रचनाएं उपलब्ध होती हैं (१) चकत्ता पातशाही की परम्परा और (२) राजरीति निरुपणम्। कवि ने अपना वर्णन करते हुए उसमें अपने आश्रयदाता महाराज रामसिंह का यशोवर्णन एवं उनके आश्रय की प्रशंसा की है। प्रारम्भ में प्रास्ताविक परिचय उपस्थित करते हुए लिखा है कि लेखक ने वह विषय बादशाह अहमदशाह के उस्ताद महफूज खां नामक व्यक्ति की व्यक्तिगत पुस्तकें पढ़कर इस चकत्ता पातशाही की परम्परा" नामक रचना का प्रणयन किया है। इसमें बादशाहों के नित्यनैमितिक दिन कृत्य, अदब की रीति, वैभव, प्रताप, मनसब, जागीर आदि का विस्तृत विवेचन है। यह पुस्तक उर्दू मिश्रित हिन्दी भाषा में हैं - उक्त गुटके में उपर्युक्त ग्रन्थों के २३ पृष्ट हैं।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में कुछ सामान्य विवेचन है— "विनय विधिवाही विनेता के लायक है। जाकी चटसाल में विनय है भक्ति, मेव (१) अरु दीनता परमसेव। जाणो मनुष्य कौं च्यारिकौं उपकार दुप्रतिकार है।–१ प्रभु २ माता पिता ३ गुरु ४ खाविंद॥ प्रथम प्रभु जानें नरदेह दई सुरदेह तें पुनीत। दूसरे मातापिता जिन सुतहित सह्यौ धाम सीत। तीसरी गुरु, जो नरतन में नर गु(ण) न दावै। चौथो खाविंद जो अन्न बलतें निन प्राण हि राखै।

तीननि कौ प्रतिकार न बणै बिना स्वामि के उपकार। जो पै सब ही नित्त नैमित्तिक देह के अधीन अरु देह अन्न के अक्ष स्वामि के।

ग्रन्थ लेखन की 'भूमिका' लिखते हुए श्री दलपतिराय लिखते है–"अथ। विबुधन की शिलोञ्छ वृत्ति वारौ में एक दिन महफूजपां [खां] नाम अहमदशाह को उस्ताद जो मोहू पै कृपा राखत हौ, ताकी बैठक के ताक में दोय यावनी किताबधरी हती। १.अदाबस्सहलतीन २. मिफ्ताहुउजबाबित। ए दुइं पातिसाही किताब खाना तें आई हती। प्रतिबन्ध हतौ, जौ इतर जन ताहिं न बांचै। तामें पातिसाहन के नित्य नैमित्तिक दिन कृत्य, अदब की रीति, वैभव, प्रताप, मनसब, जागीर मरातिब को ब्योरा इत्यादिक अनेक प्रबन्ध हते। किताब को दल विशेष हतो।

एक दिनां खान के दिवानखाना के ताक तैं किताब मैं लई बांचनि लग्यो। तै ही ओसर [अवसर] खान आयो। मोहि बांचिबै को निषेध कियो। मोहि जो तहां तै यादि रही और यावन गीर्वाण ग्रंथन तैं जो जानिबै में आई सो या संक्षिप्त प्रबन्ध में लिखी हैं। जो पै सीइखे तिन्हें काम आवें, चतुरनि की सभा में आदर बढावै। या प्रबन्ध को नाम व [द] दुल आदाव धर्यौ है–ताको अर्थ है— "विनय विधु"। वाके चौदह उदय - अधिकार इत्यर्थः ताम नाम पारसी में तल अत्—अधिकार।·······
इत्यादि"।

उपर्युक्त अवतरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यवनबादशाह अहमदशाह के पुस्तकालय की २ गोपनीय पुस्तकों के किंचित् अध्ययन से सामग्री प्राप्त कर लेखक ने इन ग्रन्थों का निर्माण किया है। इसके पश्चात १३ उर्दू फारसी के पारिभाषिका शब्दों का अर्थ प्रस्तुत किया है। जैसे—[१] सिजदा कौ—दण्डवत। [२] तवाफकौ—परिक्रम। [३] सलाम कौ—कुशलपृच्छा। तस्लीम कौ—सौंपिवो। [४] कियाम कौ—ठाडो रहिवौ। [६] कऊद कौ—बैठिवौ [७] तहरीम कौ—शिष्टाचार—इत्यादि।

"चकत्ता पातशाही की परम्परा" नामक ग्रन्थ प्रथम पृष्ठ से प्रारम्भ किया जाकर पन्द्रहवें पृष्ठ तक लिखा गया है। यह अपूर्ण है। इसकी भाषा पूर्व प्रदर्शित उद्धरण के समान है। अक्षरों की दुर्वाच्यता एवं लिपि के प्राचीन होने से उसका यथावत् अध्ययन कठिन है।

इसके पश्चात् सोलहवें पृष्ठ से २३ वें पृष्ठ तक "राजरीति निरूपणम्" नामक ग्रन्थ है। इसमें लेखक की विद्वत्ता का आभास अत्यन्त शीघ्ररूप में हो जाता है।

सर्व प्रथम—'अहल खिदमत के नाम" शीर्षक के अन्तर्गत—संस्कृत के शब्दों का प्रचलित उर्दू मिश्रित भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के पर्यायवाची रूप में उल्लेख है। यथा—

"प्रतिनिधि==वकील, मुतलक, नायब, मुसाहिब।
अमात्य==वजीर, दीवान, प्रधान।
सेनापति==बख्शी।
शालापति = मीरसामान, खानसामा।
मुलेखक==मुन्शी।
महत्तर==नाजिर।
अनलाध्यक्ष==मीर आतश, तोपखाना का दरोगा।
वास्तुक==मीर इमारत।
नगर गौप्तिक==कोटवाल।
धर्माध्यक्ष==काजी।
गणनायक==रिसालेदार–इत्यादि।

इस के पश्चात् कारखानों के नाम दिए गए हैं। इनकी संख्या ३६ बतलाई गई है। इससे पता चलता है कि उस समय ३६ कारखाने होते थे। इनका शब्दकोश की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। कुछ कारखानों के नाम दर्शनीय हैं–

[१] शय्यागार==सुखसेज खाना।
[२] मज्जनागार==गुसल्ल खाना, हम्माम।
[३] देवायतन==तसबीह खाना।
[४] भैषज्यागार==दवाई खाना।
[५] फलागार==मेवा खाना।
[६] महानस==बवर्ची खाना, रसौडा।
[७] सुगंधागार==खुशबोई खाना।
[८] प्रहरणागार==कोरखाना, सिलह खाना।
[९] संस्तरागार==फराश खाना।
[१०] श्रीगृह==खजाना।
[११] मंदुरा==अस्तबल, तबेला.....इत्यादि।

उपर्युक्त इन सभी का संस्कृत पद्यों में विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसी रचना का नाम "राजरीति निरूपण" है। उदाहरण के लिए—"अबूल–खिदमत" के नामों में 'प्रतिनिधि' का उल्लेख किया गया है—वे लिखते हैं–

"वकील—मुतलक—नायब—मुसाहिब—
"आज्ञा भवेद्यदायत्ता हस्तलेखश्च भूपतेः।
जानीहि तं प्रतिनिधिं राज्य सर्वस्वधूर्वहम् ॥३॥
वजीर—प्रधान—दीवान—
"आयद्वाराधिकाराः स्युर्यदायत्ताः महीभुजः।
अमात्यं मन्त्रिणं विद्धि प्रधानं सचिवं हि तत् ॥४॥

मुन्शी—
"पत्राणि प्रति पत्राणि लिखेद्यो हि नृपाज्ञया।
मुलेखक विजानीयाद् राजमन्त्र निकेतनम् ॥८॥
नाजिर—
"योऽ वरोधस्य कृत्यानि गुप्त्यादीनि विचेष्टते।
महत्तरं विजानीयात् तं प्रतीतं जितेन्द्रियम् ॥११॥
काजी—
"आचार व्यवहारेषु प्रायश्चित्तेषु योजनात्।
प्रवर्त्तयेन्मान्यतमो धर्माध्यक्षः प्रकीर्तितः "२५" इत्यादि।

'अहल खिदमत' के नामों की परिभाषा देकर–'शाला भेद' निर्दिष्ट किए हैं। जैसे–सुखसेज खाना—

"मञ्चाः संस्तरणाद्यं च यत्र तत्परिचारकाः।
शय्यागारं विनिर्दिष्टं राजरीतिविशारदैः ॥३५॥
गुसल्ल खाना—
"आपङ्गनोद्वर्तनानि सचरोपस्करं जलम्।
यत्र तन्मज्जनगृहं राजरीतिज्ञ भाषया ॥३६॥ इत्यादि।

इनके वर्णन करने के पश्चात्—देश विभाग तथा उसके अधिपों की परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं जिनमें सूबा, सिरकार, प्रगणा (परगना) मौजे, बंदर, दयार, मजमूएदार का उल्लेख है—

सूबा—
"समुद्र गिरिपर्यन्तं की चक्रं चक्री तदीश्वरः।
महांस्तस्य विभाग. स्याद् राष्ट्रं जनपदं च तत् ॥८१॥
"दयार"—
शिल्पिनः कर्मकाराश्च व्यापारे व्यवहारिणः।
चतुरंग बलो राजा यत्र तदरंगमुच्यते ॥९०॥
चक्री चक्राधिपः सम्राट् राष्ट्रपालः प्रकीर्तितः।
मण्डलेशो महाराजः सामन्तो विषयाधिपः ॥९१॥
ग्रामाणि कतिचिद्यस्य वशेऽसौ भौमिकः स्मृतः।
ग्रामणीर्ग्राममुख्यं (चौधरी) स्याद्रीतिज्ञो देशपंडितः।
[कानूनगो] ॥९२॥
मजमूएदार—
'राजवेतनदानांशान ग्रामाप्ति दशवार्षिकीम्।
लिखित्वा धारयत्यस्तु लेखसंग्राहको मतः ॥९३॥

इसके पश्चात् परगनों के अधिकारियों की परिभाषाएं हैं जिनमें अर्मान, करोड़ी, कोतलकरोड़ी, पोतदार खजांची, बकाये निगार या खुफिये नवीस, तहवीलदार, कोटवाल, फोजदार आदि का वर्णन है।

'पोतेदार' का वर्णन करते हुए लिखा है—

"राजद्रव्यं प्रजादत्त मादद्यात परीक्ष्य यः।

धनिको निक्षिपेत् पश्चात कथितः प्राप्तधारकः ॥९७॥

अन्त में उपसंहाररूप में लिखा है—

"इत्यादयोऽधिकाराः स्युः प्रायशश्चक्रवर्तिनाम्।

सम्पत्तेरनुसारेण त्वन्येषां विद्धि भूभुजाम् ॥१०२॥

एषा पद्धति राख्याता राजरीति बुभुत्सया।

गर्भाराद्राज सेवाढ्येः द्रोणपाकाच्च सिक्यवत ॥१०३॥

इति यवन पाठ्यनुकृत्या राजरीति निरूपणं नाम शतकं विरचितं दलपतिरायेण ॥ समाप्तं — शुभंभवतु ॥

ग्रन्थ के प्रारम्भ करते समय लेखक ने स्पष्ट रूप में बतलाया है कि इस ग्रन्थ का निर्माण रूढ़ि, कोश, स्वानुभव आदि के आधार पर किया गया है। यह एक प्रकार से यवन कालीन प्रमुख पारिभाषिक शब्दों का संस्कृत कोश है इसके द्वारा हम तत्कालीन शब्दों एवं आवश्यक व्यवहारों का ज्ञानकर सकते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है तथा प्रकाशन योग्य है।

मोक्षशास्त्र के पांचवे अध्याय के सूत्र ७ पर विचार

(प० सरनाराम जैन, बड़ौत 'मेरठ')

गृद्धपिच्छाचार्य ने मोक्षशास्त्र या तत्त्वार्थसूत्र के पांचवे अध्याय में जिन धर्म अधर्म और आकाश द्रव्यों को एक-एक कहा है उन्हीं की और भी विशेषता प्रकट करने के लिये सूत्रकार कहते हैं :—

निष्क्रियाणि च ॥७॥

पद छेद :—च धर्मादीनि द्रव्याणि निष्क्रियाणि भवन्ति।

धर्म, आदि द्रव्य.. धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य—क्रिया रहित हैं—देशान्तर प्राप्ति रूप क्रिया से रहित हैं—हलन चलन क्रिया रहित है इस कथन से जीव पुद्गल स्वतः क्रियावान भी सिद्ध हो जाते हैं। इस सूत्र का रहस्य समझने के लिये हमें पहले जैनधर्म के उत्पादव्यय का सिद्धान्त समझना आवश्यक है। द्रव्यों में निम्न प्रकार से उत्पाद व्यय होते हैं :—

(१) पहली क्रिया—अगुरुलघु गुण द्वारा षट्स्थान पतित हानि वृद्धि रूप उत्पाद व्यय है। यह परिणमन प्रत्येक द्रव्य का निष्कारण स्वतः सिद्ध स्वभाव है। द्रव्य एक स्थान पर अवस्थित रहे या दूसरे स्थान पर जाने के लिये गमन करे उस से इस परिणमन का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह परिणमन तो छहों द्रव्यों में प्रत्येक समय स्वभाव या विभाव हर अवस्था में होता ही रहता है। यह परिणमन द्रव्य से तादात्म्य अनादि अनन्त है। केवलज्ञान गम्य वचन अगोचर है। 'अर्थपर्याय' रूप है। इस की अपेक्षा सब द्रव्य क्रियावान है पर यह क्रिया यहां इष्ट नहीं है।

(२) दूसरी क्रिया—स्वभाव की हीनाधिकता रूप होती है जैसे बच्चे का ज्ञान अभी हीन है। फिर ज्यों-ज्यों जवान होता जाता है वह बढ़ता जाता है। बुढ़ापे में घटने लगता है। यह जो ज्ञान की हीनाधिकता या मतिज्ञान से श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल रूप परिणमन करना या दर्शन गुण का चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल, रूप परिणमन करना। इसी प्रकार पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण का परिणमन जैसे पीलेपने का तरतमरूप परिणमन या पीले से हरे रूप परिणमप। धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्व परिणमन, अधर्म-द्रव्य का स्थिति हेतुत्व परिणमन, आकाश का अवगाहहेतुत्व परिणमन तथा काल का वर्तनाहेतुत्व परिणमन। यह संयोग जनित परिणमन है; क्योंकि संयोग का सद्भाव या अभाव सापेक्ष होता है। इस को **'स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय'** कहते हैं। इस परिणमन से भी उपरोक्त सूत्र का सम्बन्ध नहीं है क्योंकि जब द्रव्य एक क्षेत्र में स्थित रहे तब भी यह क्रिया होती है और दूसरे क्षेत्र में जाय तब भी होती है।

(३) **तीसरी क्रिया**—केवल जीव में होती है। वह मोहनी आदि कर्म के उदय से जीव का मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय रूप परिणमन है। यह विभाव क्रिया है सो जब तक उसका निमित्त कर्म रहता है तब तक तो ये होती है फिर निकल जाती है। इस को '**विभाव गुण व्यंजन पर्याय**' कहते हैं। जिस समय जीव में ये क्रिया होती है यद्यपि उस समय में हलन चलन रूप परिस्पन्दात्मक क्रिया भी अवश्य होती है पर दोनों क्रियाएं भिन्न-भिन्न हैं। इन के गुण भिन्न भिन्न है, लक्षण भी भिन्न-भिन्न है और निमित्त भी भिन्न-भिन्न है। इसलिये यह राग रूप क्रिया भिन्न है और परिस्पन्दात्मक क्रिया भिन्न है। उपरोक्त सूत्र का सम्बन्ध इस राग क्रिया से भी बिल्कुल नहीं है।

(४) **चौथी क्रिया**—द्रव्य में एक ऐसी क्रिया होती है जिस के द्वारा द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान में जाता है। हिन्दी में इस को हलन चलन क्रिया कहते हैं और शास्त्र में इसे प्रदेश परिस्पन्दात्मक कहते हैं यह क्रिया निमित्त सापेक्ष है तथा विभाव रूप है। इसलिये धर्म अधर्म, आकाश और काल में तो इस क्रिया को अवकाश ही नहीं। पुद्गल में यह काल सापेक्ष होती है अतः उस में परमाणु तथा स्कन्ध दोनों अवस्थाओं में रह सकती है। जीवमें द्रव्यकर्म नोकर्म सापेक्ष हैं। इसलिये संसार अवस्था में रहती है। सिद्ध में नहीं। आत्मा में शरीर अनुसार जितने आकार बनते हैं वे सब इसी क्रिया के कारण है और पुद्गल की जितनी स्कन्धात्मक रचना बनती तथा बिगड़ती है वह सब इसी क्रिया के कारण है। इस क्रिया को '**द्रव्य व्यंजन पर्याय**' कहते है। उपरोक्त सूत्र का सम्बन्ध इस परिस्पन्दात्मक क्रिया से है। सूत्रकार का यह आशय है कि धर्म, अधर्म, आकाश जिन तीन द्रव्यों का अधिकार चला आ रहा है, वे तीन द्रव्य इस परिस्पन्दात्मक क्रिया से सदा रहित है।

यद्यपि निर्विशेषण रूप से प्रयुक्त किया गया क्रिया एक सामान्य शब्द है जो सभी क्रियाओं का द्योतक है पर यहां उस क्रिया को कोई विशेषण न देकर भी वह केवल परिस्पन्दात्मक क्रिया का वाचक है। बात आगम बल से स्पष्ट है। इसलिये '**निष्क्रियाणि**' से भाव '**निरपरिस्पन्द क्रियाणि**' से है।

उपरोक्त चार क्रियाओं में से आदि की तीन क्रियाओं के कारण द्रव्य में जो परिणमन या पर्याय उत्पन्न होते हैं उन को '**भावात्मकपरिणाम**' या '**भावात्मक पर्याय**' या केवल '**भाव**' कहते हैं और चौथी क्रिया से जो परिणाम या पर्याय उत्पन्न होती है उन को '**परिस्पन्दात्मक परिणाम**' या '**परिस्पन्दात्मक पर्याय**' या केवल '**क्रिया**' भी कहते हैं।

उपरोक्त तीन परिणाम गुणों से सम्बधित है और चौथा परिणाम प्रदेशों से सम्बन्धित है यह भी कह सकते है क्योंकि वे क्रियाएं '**गुणपरिणामात्मक**' है और यह क्रिया '**प्रदेश परिस्पन्दात्मक**' है।

उक्त तीनों क्रियाएं गुणों की पर्याय होने से '**गुण पर्यायरूप**' है और चौथी क्रिया प्रदेशों का परिणमन होने से '**द्रव्य पर्याय रूप**' है ऐसा भी कह सकते हैं।

प्रश्न—इस क्रिया का लक्षण क्या है?

उत्तर—'**उभयनिमित्तापेक्ष पर्यायविशेषः द्रव्यस्य देशान्तर प्राप्तिहेतुः क्रिया (राजवार्तिक)**'

अर्थ—स्व और पर अथवा अन्तरंग और बहिरंग कारण की अपेक्षा रखनेवाली पर्याय विशेष, द्रव्य की प्रदेशान्तर की प्राप्ति का कारण जो है वह '**क्रिया**' है। क्रिया विशेष्य है और तीन उस के विशेषण है।

प्रश्न—तीन विशेषण देने का क्या कारण है?

उत्तर—,**उभय निमित्त सापेक्ष**' देने का यह कारण है कि यह क्रिया अगुरुलघु की क्रिया की तरह केवल स्वनिमित्तक नहीं है किन्तु विभाव क्रिया होने के कारण उभय निमित्तक है। वस्तु का निज परिणाम है सह तो स्वनिमित्तक का अर्थ है और स्वभाव परिणाम नहीं किन्तु विभाव परिणाम है यह परनिमित्त सापेक्षता है। स्वनिमित्तक क्रिया सदा रहती है। यह सदा नहीं रहती। यह इस विशेषण से स्पष्ट ज्ञात होता है।

'**पर्यायविशेष**' कहने से यह क्रिया स्वयं द्रव्य या उस का त्रिकाली स्वभाव या गुण नहीं है किन्तु पर्याय है और पर्याय भी स्वभावपर्याय नहीं किन्तु विभावपर्याय है। इस लिये पर्यायविशेष विशेषण दिया है। इस से यह भी फलि-

तार्थ होता है कि यह क्रिया द्रव्य से भिन्न प्रदेश रूप नहीं है किन्तु स्वयं द्रव्य इस रूप होता है इसलिये ये द्रव्य की ही पर्याय है।

'द्रव्य की देशान्तर प्राप्ति का कारण' इस विशेषण से जो हम ने ऊपर दो और तीन नम्बर की ज्ञान और राग क्रियाएँ बतलाई हैं उन से भिन्न किया है; क्योंकि वे द्रव्य की देशान्तर प्राप्ति का कारण नहीं है।

प्रश्न—यदि उपरोक्त द्रव्य निष्क्रिय हैं तो अपने अन्दर कोई क्रिया किये धर्म, जीव पुद्गल के गमन में सहायता कैसे करेगा ? अधर्म स्थिति में और आकाश अवगाह में कैसे मदद करेगा क्योंकि अपने अन्दर कुछ क्रिया करेगा तभी तो मदद करेगा जैसे घोड़ा स्वयं चलेगा तभी तो सवार को देशान्तर में जाने में मदद करेगा अन्यथा नहीं ?

उत्तर—धर्म अधर्म आकाश का जो मदद करने का स्वभाव है वह प्रेरक कारण रूप नहीं है जो उसे स्वयं चलने की आवश्यकता पड़े किन्तु उदासीनरूप बलाधार निमित्त है जैसे बिलकुल ठहरा हुआ जल भी मच्छली के चलने में और छाया पथिक के ठहरने में प्रत्यक्ष सहाय पड़ती देखी जाती है। हमारी आंख स्वयं कोई देखने का कार्य नहीं करती। जब आत्मा देखने का कार्य करना चाहे तो सहाय पड़ती है। इस के बिना इन्द्रिय ज्ञानी देख नहीं सकता। इसी प्रकार ये तीनों द्रव्य स्वयं नहीं चलते पर जब जीव पुद्गल स्वयं चलते ठहरते, या स्थान लेते है तो सहाय रूप पड़ जाते हैं ऐसा स्वतः सिद्ध वस्तु स्वभाव है। स्वभाव में तर्क नहीं हुआ करता। स्वभाव तो केवल अनुभव द्वारा जानने की चीज है।

प्रश्न—इस परिस्पन्दात्मक क्रिया का निरूपण आगम में कहां आया है जहां से आप के विवेचन की प्रमाणता का निर्णय किया जा सके ?

उत्तर—१. श्री प्रवचन सार गाथा १२८ [ज्ञेयाधिकार]

२. श्री पंचास्तिकाय गाथा न० ९८ [चूलिका]।

३. श्री गोम्मट्टसार जीवकाण्ड गा० न० ५९१, ५९२ [सम्यक्त्व मार्गणा]।

४. श्री वसुनन्दि श्रावकाचार गा० न० ३२

५. श्री पंचाध्यायी दूसरा भाग श्लो० २४,२५,२६,२७,

६. इस सूत्र की टीका श्री सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिक आदि से देखिये। पर द्रव्यानुयोग का वास्तविक ज्ञान होना परम आवश्यक है, क्योंकि आगम से प्रमाणता मिलने पर भी आप को अनुभव से प्रमाणता तो द्रव्यानुयोग के बल से ही आवेगी।

ब्रह्म जीवंधर और उनकी रचनाएँ

(परमानन्द जैन शास्त्री)

ब्रह्मजीवंधर माथुर संघ विद्यागण के प्रख्यात भट्टारक यशः कीर्ति के शिष्य थे। आप संस्कृत और हिन्दी भाषा के सुयोग्य विद्वान थे। संस्कृत भाषा की चतुर्विंशति तीर्थंकर-जयमाला का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि वे संस्कृत में भी अच्छी कविता कर सकते थे। इन की हिन्दी भाषा की अनेक कृतियां देखने में आती हैं, उस पर गुजराती भाषा का प्रभाव अंकित हुआ जान पड़ता है। रचनाओं में गुणस्थानवेलि, खटोलारास, झुंबुकगीत, श्रुतजयमाला, नेमिचरित, सतिगीत, तीन चौवीसी स्तुति, दर्शन स्तोत्र, ज्ञान-विराग विनती, आलोचना, बीसतीर्थंकर जयमाला और चौबीस तीर्थंकर जयमाला प्रसिद्ध हैं सभी रचनाएं सुन्दर और सरल हैं।

ब्रह्मजीवंधर ने सं० १५६० में वैशाखवदी १३ सोमवार के दिन भट्टारक विनयचन्द्र की स्वोपज्ञ चूनड़ी टीका की प्रतिलिपि अपने ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयार्थ की थी१। इस से कवि १६ वीं १७ वीं शताब्दी के विद्वान निश्चित होते हैं। रचनाएँ सभी महत्वपूर्ण और सम्बोधक भाव की स्पिट को लिये हुए हैं। कवि की रचनाओं का परिचय निम्न प्रकार है:—

गुणठाणावेलि—इस बेलि में आत्म-विकास के १४ स्थानों का सुंदर परिचय कराया गया है। ये गुणस्थान आत्म-विकास अवस्था के प्रतीक हैं। जिन्हें गुणस्थान कहा

---

१ ब्रह्म श्री जीवंधर तेनेदं चूनडि का टिप्पणं लिखितं आत्म पठनार्थं सं० १५६० वैसाख वुदि १३ सौमे

गया है। वे गुणस्थान मोह और योग के निमित्त से होते हैं। उन के नाम इस प्रकार हैं - मिथ्यात्व सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली। इनमें दूसरा और तीसरा गुणस्थान गिरने की अपेक्षा हैं। क्योंकि मिथ्यात्व गुणस्थान से आत्मा चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में जाता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में दर्शनमोह के उदय से जीव की दृष्टि विपरीत होती है और स्वाद कटुक होता है, इस कारण उसे वस्तुतत्त्व रुचि कर नहीं होता। जिस तरह पित्तज्वर वाले रोगी को दूध कडुवा प्रतीत होता है उसी तरह मिथ्यादृष्टि को ही धर्मतत्त्व रुचिकर नहीं होता। वह जीव उस में अनन्त काल तक रहता है मिथ्यात्व के पांच भेद हैं। विपरीत, एकांत, विनय, संशय, अज्ञान। इन पांचों के द्वारा जीव के परिणाम में अस्थिरता रहती है, उसे हित कर मार्ग नहीं सूझता, इसी कारण वह संसार में यत्र-तत्र अनेक पर्यायों में भटकता रहता है। कवि ने इस गुणस्थान का कथन करते हुए उसकी प्रवृत्ति का संक्षिप्त परिचय दिया है। और उसके कथन का सम्बंध उक्त वेलि में भगवान आदिनाथ के कैलाशगिरि पर समवसरण सभासहित पधारने पर भरत चक्रवर्ती ने उनकी पूजा करने के पश्चात् चौदह गुणस्थानों का स्वरूप पूछा था। इसी प्रसंग का उल्लेख कवि ने किया है। जैसा कि कवि के निम्न दो पद्यों से स्पष्ट है :—

पंच परम गुरु पाये नमो प्रणमवि गणहरविदजी।
गुण ठाणा गुणगातिसु मनि धरि परमानन्द जी
आनंद कंद जिणिंद भाखे भेद भावहु भव्व ए।
गुणठाण वेलि विलास जुत्ता सुक्ख पावहो सव्वए।
कैलास भूधर आदि जिणवर एक दिनि समोसरचा।
सुर असुर खेचर मुनिवर तिण धर्म वर्षा तिहिं करया(?)

२

भरत नरेसरु आविया भाविया सब परिवारे जी
रिसहेसर पाय वंदीए, पूजीए अट्ठपयारे जी
अट्ठपयारीय रचीय पूजा भरत राजा पूछए।
गुणठाण चौद विचार सारा भणहि जिणसुणि वच्छए।
मिथ्यात नामे गुणहठाणे वसहिं काळु अनंतए।
मिथ्यात पंचहु निच्च पूरे भमहिं चिहुगति जंतुए॥

अन्तरंग में दर्शन मोहनीय कर्म का 'उपशम, क्षय या क्षयोपशम से जो तत्त्वरुचि होती है वह उपशम सम्यग्दर्शन है। जिस तरह जल में कीचड़ मिले हुए पानी में से कतक फल (निर्मली) के निमित्त से जब कीचड़ नीचे बैठ जाती है, और पानी स्वच्छ हो जाता है। उसी तरह आत्मा में कर्ममल के उपशान्त होने पर आत्म-परिणाम स्वच्छ एवं निर्मल हो जाते है। यह आत्म निर्मलता से कषायकलुषता को दबाती हुई विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ाती रहती है, जिससे कर्म जन्य कटुक रस धीरे-धीरे शक्तिहीन एवं शिथिल होता जाता है। सम्यग्दृष्टि आते ही विरोध भाव कम हो जाते हैं। दृष्टि में दूसरों की बुराई की ओर उदासीनता हो जाती है आत्म-दोषों के प्रति ग्लानि हो जाती है, आत्म-निरीक्षण करते समय ज्ञानी को अपने दोष दूर करने की प्रेरणा मिलती है, और वह निन्दा तथा गर्हा द्वारा अपने दोषों को दूर करने की चेष्टा करता है। इस तरह वह अपने ज्ञान चारित्र-विवेक आदि के द्वारा अपने को आगे बढ़ाने की चेष्टा करता है। और चतुर्थ सीढ़ी से पांचवीं में, और पांचवीं से छटवी तथा सातवीं में आकर अपने परिणामों की संभाल द्वारा अपनी स्वात्म-स्थिति का लाभ कर लेता है। और स्थितिप्रज्ञ बनकर आत्म-विरोधी शक्तियों की परवा न करता हुआ साम्यभाव की उज्ज्वलता को बढ़ाता हुआ उसमें शक्ति पुंज का संचय कर लेता है, जो अंतर्मुहूर्त में मोहादि शत्रुओं को विनष्ट करता हुआ चैतन्य मय प्रशान्त रूपको पाकर जीवन्मुक्त हुआ स्वपद में स्थित हो जाता है। मानुषीप्रकृति को दूर कर परमौदारिक दिव्य देह का धारी हुआ, और निरंतर ही अपनी ज्ञानादि चतुष्टयरूप निजसम्पत्ति की संभाल करता हुआ, तथा सर्वजीवों को कल्याण का परमधाम बताता हुआ, उस सयोगकेवली अवस्था में निरत रहता है, जहां अघाति कर्मोदय जन्य शक्ति निर्जीव सी बनी रहती है। और जीवका कुछ भी अनिष्ट करने में समर्थ नहीं होती। जिस तरह रस्सी जल जाने पर निःशक्त हो जाती है परन्तु उसकी ऐंठन नहीं जाती, उसी तरह वे अघाति कर्म निःशक्त हो गये, इसीसे मोहके अभावमें केवली के क्षुधा तृषादिक

कर्म बाधक नहीं होते। और वह चिरकाल तक चिदानन्दस्वभाव में मग्न हुआ समता रस का पान करता रहता है। कवि ने इस गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या ८ लाख और अट्ठाणवे हजार पांच से दो बतलाई है१। इस तरह यह जीव तीसरे शुक्ल ध्यान का ध्यान करता हुआ स्वात्मानन्द में लीन हुआ १४ वीं सीढ़ी रूप अयोग अवस्था को प्राप्त करता है, और वहां पंचह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल में चतुर्थ शुक्ल ध्यान द्वारा पचासी प्रकृतियों की सत्ता का विनाश कर स्वात्मोपलब्धि को पा लेता है स्वात्मोपलब्धि आत्मा की शुद्धनिरंजन दशा है, आत्मा उस अवस्था को पाकर अनन्तकाल तक अपने चिदानन्द रस में निमग्न रहता है। यह वह अवस्था है जिस के बाद अन्य कोई अवस्था नहीं होती, इसी से वह स्वात्म-सुधारस का पान करता रहता है और अजर अमर हो जाता है। इस तरह से कवि की यह बेलि रचना सुन्दर कृति है।

दूसरी रचना खटोला रास है, जिस में १२ पद्य हैं जिनमें खटोलेका चित्रण करते हुए वस्तु तत्त्व का कथन किया गया है। खटोले में चार पाये होते हैं दो वाही और दो सेरुवे। उक्त खटोला रत्नत्रय रूप बाणों से बुना हुआ है। उस पर शुद्धभाव रूपी सेज को संजम श्री ने बिछाया है। उस पर बैठा हुआ आत्मप्रभु परम आनन्द की नींद लेता है, मुक्ति-कान्ता पंखा झलती है, और सुरनर का समूह सेवा कर रहा है। वहां आत्मप्रभु की अनन्त चतुष्टय रूप स्वात्म-संवित्ति या सम्पदा का उपभोग करता है। यह भी एक आत्म-संबोधक रूपक काव्य है। रचना साधारण होते हुए भी भाव भीनी है।

तीसरी कृति 'झुंबिकगीत' है। जिस में जिन शासन के नवदेवों का कथन किया गया है, यह एक अत्यंत छोटी रचना है, उस के दो पद्यों का मनन कीजिये।

१ केवलि गुणठाण तेरहमें रमैं सबि मिलिय महंत जी।
आठौं लाख अठाणवें सहस्र पंचसै दो ए संत जी।
संतसारौ आयु पूरो तिहां रहि सात भोगवै।
देसोनपूरव कोडि भव्यहं धर्म देशहि ते ठवैं।
तीजा सुकलहं ध्याम ध्यावत केवल दृष्टि विदए।
स्वात्म नै परमात्म विन्दैं प्रत्यक्ष परमानन्दए॥
गुणठाणवेलि

नवमउ झुंबुक शासनहि, पूजहिं सुरनर भव्व।
अक्किट्टिम किट्टिम पडिमा, तेहंउ वंदउ सव्व॥
जिन मारग नवदेवता, मानै नहि जो लोइ।
काल अनंतइ परिभमइ, सुक्खु न पावइ सोइ॥

चौथी रचना श्रुत जयमाला है, जिसमें आचाराङ्ग आदि द्वादश अंगों का परिचय दिया गया है। रचना संस्कृत श्लोकों में निबद्ध है।

पांचवीं कृति मनोहररास या नेमिचरित रास है जिसमें कवि ने लगभग ११५ पद्यों में वसन्त ऋतु के वर्णन के बहाने से जैनियों के २२ वे तीर्थंकर नेमिजिन का चरित्र अंकित किया है। वसन्त वर्णन में कवि ने पुरानी रूढ़ीके अनुसार अनेक वृक्षों फलों फूलों के नाम गिनाये हैं। मधुमास में होने वाली वन की शोभा का सुन्दर वर्णन उपस्थित किया है। उस समय वन में अनेक प्रकार के फूल फूले हुए हैं, उनकी मधुर और भीनी-भीनी सुरभि से सारा ही वन सुवासित हो रहा है। तरु लता, बेलें अपनी-अपनी मादकता से इठलाती हुई उन्माद प्रकट करती हैं। यह ऋतु कामी जनों को काम वासना का प्रोत्तजन देती है, राग-रंग में उन्हें अनुरक्त करती है। कुछ फूले हुए वृक्षों के नाम कवि के शब्दों में पढ़िये—

बसंत ऋतु प्रभु आइयउ, फूली फली बनराइ।
फूली करुणी केतकी फूली वडल सिरि जाइ॥ २६
फूली पाडलिनै वाली, फूली लाल गुलाल।
राय बेलि फूली भली, जाकी वासु रसाल॥२७
फूलिउ मरुवो मोगरो, अरु फूले मचकुंद।
फूली कणियर सेवती, फूले सरि अरविंद॥ २८
फूले कदंबक चंपकी, अरु फूली कचनार।
जुही चमेली फूलसी, फूली वन कल्हार॥२९॥

इस वसन्तोत्सव को मनाने के लिये द्वारिका [वारावती] के सभी नर-नारीजन उल्लास से भर रहे थे, और टोलियों टोलियों के रूप में वनकी ओर जा रहे थे। सुन्दर गीतों की ध्वनि से मानो मार्ग उस समय बोल ही रहा हो। जंगल के पशु पक्षी भी कलरव कर रहे थे। राजकुल में बड़ी चहल पहल मची हुई थी। श्रीकृष्ण की सतभामा, रुकमणि और जामवन्ती आदि आठों रानियां सुन्दर वस्त्राभूषणों से सज्जित हो और केसरकपूर मिश्रित बावन चंदन के

घोल को तय्यार कराकर साथ में लेजा रही थीं। नेमि जिन भी भाभियों की प्रेरणा से बसन्तोत्सव के लिये तय्यार हो गये थे। उस समय नेमि कुंवर की सुन्दर श्यामलि सूरत बडी सुहावनी लग रही थी। वनमें पहुंच कर कृष्ण की रानियों ने नेमि जिन के शरीर पर बावनचन्दनका घोल खूब छिड़का। उन के वस्त्र केशर के रंग से तरबतर हो रहे थे। फिर भी वे रानियां अंजुलियों में घोल भर भर कर उनके अंगों पर छिड़क रहीं थीं। और अनेक दोहा, गीत तथा अनुष्टुप छन्दों से उनकी स्तुति की जा रही थी। इस तरह बसन्तोत्सव मना कर सब जने द्वारिका वापिस लौट आये।

कवि ने नेमि जिन की बाल अवस्था की उन्हीं घटनाओं का उल्लेख किया है, जिन का कथन हरिवंशपुराण पाण्डव-पुराण और नेमि चरित आदि में पाया जाता है।

एक दिन राजसभा में नेमि जिन के बल का कथन हो रहा था, इतने में बलदेव ने कहा कि यहां नेमिजिन से कोई अधिक बलशाली नहीं है। इस बात को सुनकर श्री कृष्ण को अभिमान आ गया। और उन्हों ने नेमिजिन से कहा कि यदि आप अधिक बलशाली हैं तो मल्ल युद्ध कर देख लीजिये। तब नेमि कुमार ने कहा—

> नेमि भणइ सुणि बंधव ! मल्ल करहि मल युद्ध।
> जुक्त नही नृप नंदन हं, जे निज मान धरंत॥
> जो तूं बल देखो चहै, नमावइ तौ मुझ पाउ।
> अथवा कर कर सूं धरी, कै लहु अंगुलि नमाउ॥
> कन्ह वि लग्गउ पद हत्थेहिं, ते पुण नमइ न जाय।
> तिव सो धरि तिणे अंगुली, नाम झुलायउ नाहु।
> गयणे हि दुंदुहि बाजए देव करै जयकार।
> मान गमायो आपणे, विलखउ भयउ मुरार॥

नेमि जिन ने कहा, योद्धा मल्ल युद्ध करते हैं यह ठीक है। किन्तु मल्ल युद्ध राजकुमारों को नहीं करना चाहिये। जो तुम मेरे बलको देखना चाहते हो तो मेरा पांव अथवा हाथ की अंगुली ही नमाओ। किन्तु कृष्ण से पांव नहीं नमाया जा सका। किन्तु नेमि जिन ने कृष्ण को अपनी अंगुली से ही झुला दिया। तब आकाश में दुंदुभि बाजा बजा, और देवों ने जय जय कार किया, श्री कृष्ण विचार करते हैं कि मैं यह नहीं जानता था कि नेमिजिन इतने बलशाली हैं, इस घटना से उन का बड़ा अपमान हुआ और उससे उ क मन विषाद युक्त बन गया। मैं आगे क्या करूंगा। जब ये राज्य करेंगे। अन्यथा कोई अन्य उपाय करना होगा। परिणाम स्वरूप हलधर ने किसी नैमित्तिक को बुलाकर पूंछा कि राज्य कौन करेगा? तब नैमित्तिक ने कहा कि नेमि जिन राज्य नहीं करेंगे। पश्चात् कृष्ण ने उनके विवाह का उपक्रम किया। और जूनागढ़ के राजा उग्रसेन की लाड़ली पुत्री राजमती के साथ विवाह निश्चित कर द्वारिका वापिस आए। रास्ते में एक बाड़े में पशुओं को इकट्ठा किया गया, और सारथि से कहा गया कि यदि नेमि जिन पूंछें तो बतला देना कि पशु बारात के आतिथ्य के लिये रोके गये हैं।

यथा समय बारात सजधज कर चली, नेमि जिन ने उन पशुओं की करुण पुकार सुनते ही रथ रुकवा दिया और सारथि से पूंछा कि पशु क्यों रोके गए हैं। तब उस ने कहा कि बारात के आतिथ्य के लिये रुकवाए गये हैं। यह सुनते ही उन्हें वैराग्य हो गया। उन्हों ने कहा मुझे उस विवाह से क्या प्रयोजन है जिसमें निरपराध पशुओं को सताया जाय। उन्हो ने सभी पशुओं को छुड़वा दिया और रथसे उतर कर रैवत गिरि पर चले गये।[१] और दिगम्बरी दीक्षा लेकर आत्म-साधना में संलग्न हो गये।

जब इस बात को राजुलने सुना तो वह मूर्छा खाकर गिर पड़ी। उपचार करने पर जब होश आया, तब वह अपनी सखियों के साथ गिरनार पर जाने के लिये तय्यार हुई। माता पिता और परिजनों ने बहुत समझाया, परन्तु वह न मानी, और वहां दीक्षा लेकर तपश्चरण करने में निरत रही। और आत्म-साधना द्वारा स्त्री लिंग को छेद कर अच्युत स्वर्ग में देव हुआ। जैसा कि कवि के निम्न दोहे से प्रकट है:—

> १ परम महाछवि आइए, नेमिजिन तोरण द्वार।
> तिव सबुदिहि दयावरो, पशुवहि कियउ पुकार॥१०४
> दीन वयणु सुणेविकरि, सारथि पूंछिउ ताम।
> तिसु कहणी भेउ जाणियौ, अवधिहि नेमि जिनु नाम॥ १०५
> नेमीसरु इम बोलए धिग धिग यह संसार।
> राज्य विवाहे कारणे को करइ जीउ संघार॥ १०६
> धरि विराग रथु फेरियउ, तिहा तै करुणाधार।
> पशु बंधन छोडाविकरि, नेमि चढे गिरनार॥ १०७

साहित्य-समीक्षा

१. गणितसार-संग्रह—महावीराचार्य, सम्पादक, और अनुवादक प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन एम. एस. सी. जबलपुर, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर । पृष्ठसंख्या ३१४, सजिल्द मूल्य १२) रुपया ।

लौकिक गणित का यह प्राचीन ग्रन्थ है । जो राष्ट्रकूट राजा अमोघ वर्ष के राज्यकाल में रचा गया है । ग्रन्थ ६ अधिकारों में विभाजित है, संज्ञा अधिकार, परिकर्म व्यवहार कला सवर्णव्यवहार, प्रकीर्णव्यवहार, त्रैराशिक व्यवहार, मिश्रक व्यवहार, क्षेत्रगणित व्यवहार और छाया व्यवहार । इनमें से प्रथम अधिकार में क्षेत्र, काल, धान्य, सुवर्ण, रजत और लोह आदि की परिभाषाओं का परिचय दिया है । दूसरे अधिकार में प्रत्युत्पन्न (गुणन) भाग, वर्ग, वर्गमूलघन, घनमूल आदि का स्वरूप संकलित किया है । तीसरे में भिन्न भागाहार और भिन्न सम्बन्धी वर्ग, वर्गमूल, घन घन-मूल, तथा भिन्नात्मक श्रेणियों का संकलन, व्युतकलन और भागजाति का कथन करते हुए त्रैराशिक पंचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक तथा क्रय विक्रय और संक्रमण आदि का सुन्दर कथन किया गया है।

सम्पादक ने अपनी महत्वपूर्ण प्रस्तावना में गणित के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए गणित का सुन्दर विवेचन किया है । गणित का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले अन्वेषकों के लिये ग्रंथ की प्रस्तावना बड़ी उपयोगी है। प्रोफेसर लक्ष्मीचंद जी ने जंबूद्वीप पण्णत्ती की प्रस्तावना भी सुंदर लिखी है । आप जैसे विद्वान से समाज को बड़ी आशाएँ हैं । सम्पादक ने विषय को स्पष्ट करने के लिये परि-शिष्टों द्वारा उसे सरल बना दिया है । गणित जैसे कठिन विषय को समझने के लिये सम्पादक ने बहुत परिश्रम किया है । अनुवाद भी अच्छा हुआ है ऐसे सुंदर संस्करण के प्रकाशन के लिये ग्रंथमाला संचालक और सम्पादक दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं :

स्वर्गीय ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंद जी दोशी जी की जैनसाहित्य के उद्धार की यह बलवती भावना और अधिक रूप में पल्लवित हो, यही भावना है ।

२. कसायपाहुड भाग ६ (जयधवलाटीका, हिंदी अनुवाद सहित) मूल गुणधराचार्य, टीकाकार वीरसेनाचार्य, सम्पादक पं० फूलचंद सिद्धांतशास्त्री और कैलाशचंद शास्त्री, काशी, प्रकाशक, भा० दि० जैन संघ चौरासी मथुरा, पृष्ठ संख्या ४६२ मूल्य १२ रुपया ।

प्रस्तुत ग्रंथ जयधवला का छठा बंधक अधिकार है, इसके बंध और संक्रम दो भेद हैं । जिस अनुयोग द्वार में कर्मवर्गणाओं का मिथ्यात्व आदि के निमित्त से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश भेद से चार प्रकार कर्मरूप परिणाम कर आत्म-प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप बंध का कथन किया गया है वह बंध अधिकार है और जिसमें बंधरूप मिथ्यात्व आदि कर्मों का प्रकृति स्थिति आदि चारभेद से अन्य कर्मरूप परिणमन का विधान किया है वह संक्रम अधिकार है । इन्हीं दोनों के विषय का स्पष्ट विवेचन यहां किया गया है । कर्मसिद्धांत के जिज्ञासुओं के लिये यह भाग बड़ी सुन्दर सामग्री अध्ययन करने के लिये प्रस्तुत करता है, जिससे यह सहज ही ज्ञान हो जाता है कि प्रकृत्यादि चार प्रकार के बन्ध में संक्रमण कैसे होता है । स्वाध्याय प्रेमियों को इन सिद्धान्त ग्रंथों का अध्ययन कर अपने ज्ञान की वृद्धि अवश्य करनी चाहिये ।

संघ के व्यवस्थापकों का कर्तव्य है कि वे जयधवला के अवशिष्ट भागों को भी यथा शीघ्र प्रकाशित करने का प्रयत्न करें । ग्रन्थ का सम्पादन प्रकाशन अच्छा हुआ है ।

राजमती संयमधरी समकित रयण सहाय ।
अच्युत स्वर्गहिं सुरभयौ नारी लिगु विहाय ।

इस तरह कवि की यह रचना सरस है ।

छठी रचना चतुर्विंशति जिनस्तवन है, जो संस्कृत के पद्यों में रचा गया है, और जिसे अनेकान्त में प्रकाशित किया जा चुका है ।

सातवीं रचना 'सतीगीत' है जिस में २७ पद्य है । आठवीं रचना २० तीर्थकर जयमाला है जो बड़ी सुन्दर है । नौवीं रचना वीर चोवीसी स्तुति है, जिसमें २८-२६ पद्य हैं । दशवीं रचना ज्ञान विराग विनती है । और ग्यार-हवीं रचना मुक्तावलिरास । है, संभव है यह इन्हीं की कृति है या अन्य की विचारणीय है, पुस्तक सामने न होने से उसके सम्बन्ध में निश्चयतः कुछ नहीं कहा जा सकता । इनके अतिरिक्त कवि की और भी रचनाएं होंगी, जो ज्ञान भंडारों के गुच्छकों में संगृहीत होंगी । जिन का अन्वेषण होना आवश्यक है ।

★★★

विदुषी सुमित्रा बाई की आर्यिका दीक्षा

श्रीमती सुमित्राबाई ने अपने जीवन में विद्याभ्यास कर परहित का सम्पादन करते हुए निरन्तर स्वाध्याय आदि द्वारा जो ज्ञानार्जन किया, और साधु सन्तों तथा ज्ञानियों की तत्त्वचर्चा का रस भी लिया; तथा पूज्य वर्णी गणेशप्रसाद जी जैसे सन्तका सांनिध्य प्राप्त कर आत्महित की तरंगों का प्रबलवेग बार बार उमड़ा; परंतु उसे कार्य रूपमें परिणत न कर सकी। किन्तु कुछ समयबाद जब राग की ज्यों-ज्यों मदंता और विवेक का जागृति होती गई सांसारिक झंझटों की ओर उतनी ही उदासीनता बढ़ती गई। अतः उचित समय पर आपने अपने भाई श्री नीरज जी को प्रतिबोधकर उनकी भी भावभीनी अनुमति प्राप्त कर श्री आचार्यशिवसागरजी से आर्यिका दीक्षा लेकर आत्म-साधना का मार्ग प्रशस्त किया है। आशा है, बाई जी अपनी आत्म-साधना द्वारा ज्ञान-वैराग्य और ध्यान द्वारा अवलम्बन लेकर जीवन को सफल बनाने का यत्न करेंगी। वे स्वयं विदुषी है इस लिये उनके सम्बन्ध में कुछ कहना उचित नहीं प्रतीत होता।

—परमानन्द जैन शास्त्री

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सन्स, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रसाद जी जैन
स्वस्तिक मेन्टल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० जैन, सी० कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री कस्तूरचन्द जी आनंदीलाल, कलकत्ता
१५०) श्री कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) श्री प० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) श्री मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री प्रतापमलजी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) श्री शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) श्री मारवाडी दि० जैन समाज, व्यावर
१०१) श्री दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) श्री लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) श्री सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१००) श्री बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) श्री रूपचन्द जी जैन, कलकत्ता
१००) श्री बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल्य-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थ में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा. ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा, साइज सजिल्द १५)

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दीअनुवाद-सहित १॥)

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥।)

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्तिकी १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित ॥।)

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(१०) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं परमानन्दशास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४)

(११) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१२) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। .. ।)

(१३) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १)

(१४) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡)। (१६) महावीर पूजा। ।)

(१७) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत ।)

(१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित १)

(१९) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंशके १२२ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका महत्वपूर्ण संग्रह ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और उनके परिशिष्टों सहित। सम्पादक पं परमानन्द शास्त्री मूल्य सजिल्द १२)

(२०) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ...५)

(२१) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज, और कपड़े की पक्की जिल्द। २०)

(२२) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजीमें अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० (६

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवामन्दिर के लिए, पवन प्रिन्टिंग वर्क्स, ३०१, दरीबा, दिल्ली मे मुद्रित

द्वैमासिक अक्तूबर १९६४

अनेकान्त

भगवान् सन्मति (महावीर) की सुन्दर मूर्ति, देवगढ़

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

★

★

मुख्तार श्री जुगल किशोर जी की ८८वीं जन्म-जयन्ती

जैन साहित्य और इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार की ८८ वीं जन्म जयन्ती एटा में सानन्द मनाई जा रही है। मुख्तार साहब आजकल एटा में अपने भतीजे डा० श्रीचन्द जी के पास ठहरे हुए हैं।

हमारी हार्दिक भावना है कि मुख्तार साहब शत वर्ष जीवी हों।

—अनेकान्त परिवार

अनेकान्त के प्रकाशन में विलम्ब का कारण

अनेकान्त जिस प्रेस में छपता था उसमें कार्य अधिक होने के कारण कुछ अव्यवस्था सी रही, और अनेकान्त का कुछ आवश्यक मैटर खो जाने से इस अंक के प्रकाशन में अधिक विलम्ब हो गया है। इसके लिये हम पाठकों से क्षमा चाहते हैं।

—प्रकाशक अनेकान्त

वीर-वाणी का विशेषांक

वीर-वाणी का विशेषांक बड़ी सजधज के साथ प्रकाशित हो रहा है। पाठक महानुभाव उसके ग्राहक बन कर सहयोग प्रदान करें।

प्रकाशक
वीरवाणी

★

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपये
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ न० पै.

★

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १७	वीर-सेवा-मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली-६.	अक्टूबर
किरण, ४	वीर निर्वाण सं० २४६१, वि० सं २०२१	सन् १९६४

श्री शम्भव-जिन-स्तुतिः

नचेनो न च रागादिचेष्टा वा यस्य पापगा ।
नो वामैः श्रीयतेऽपारा नयश्रीर्भुवियस्य च ॥१८
पूतस्वनवमाचारं तन्वायातं भयाद्रुचा ।
स्वया वामेश पाया मा नतमेकार्च्य शंभव ॥१९

श्रीसमन्तभद्राचार्य

अर्थ—जिनके पापबन्ध कराने वाली रागादि चेष्टाओं का सर्वथा अभाव हो गया है और जिनकी अपार नय लक्ष्मी को भूमि तल पर मिथ्यादृष्टि लोग प्राप्त नहीं हो सकते ऐसे, इन्द्र चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषों के नायक ! अद्वितीयपूज्य ! शंभवनाथ जिनेन्द्र ! आप सबके स्वामी हैं, रक्षक है अतः अपने दिव्य तेज द्वारा मेरी भी रक्षा कीजिए। मेरा आचार पवित्र और उत्कृष्ट है। मैं संसार के दुःखों से डर कर शरीर के साथ आपके समीप आया हूं।

भावार्थ—'मैं किसी का भला या बुरा करू' इस तरह राग-द्वेष से पूर्ण इच्छा और तदनुकूल क्रियाएं यद्यपि वीतराग भगवान के नहीं होती तथापि वीतरागदेवकी भक्ति से भक्त जीवों का स्वतः भला हो जाता है; क्योंकि वीतराग की भक्ति से शुभ कर्मों में अनुभाग (रस) अधिक पड़ता है, फलतः पाप कर्मों का रस घट जाता अथवा निर्बल पड़ जाता है और अन्तराय कर्म भी बाधक नहीं रहता, तब इष्ट की सिद्धि सहज ही हो जाती है। इसी नयदृष्टि को लेकर अलंकार की भाषा में आचार्य समन्तभद्र भगवान शम्भवनाथ से प्रार्थना कर रहे हैं कि मैं संसार से डर कर आपकी शरण में आया हूं, मेरा आचार पवित्र है और मैं आपको नमस्कार कर रहा हूं, अतः मेरी रक्षा कीजिये। आप की शरण में पहुंचने से रक्षा कार्य स्वतः ही बिना आप की इच्छा के बन जाता है।

राजस्थानी भाषा का अध्यात्म-गीत

(कर्त्ता अज्ञात्)

रे मन रमिरहु चरण जिनन्द, जाह पठावहि तिहुवनि इंद ।।टेक
यहु ससार असार मुणेप्पिणु, करु जिय धम्मु दयालं ।।
परजय तच्चु मुणहि परमेट्ठिहि, सुमरहि अट्ठ गुणाल ।।१
जीउ अजीउ दुविह पुणु आसव, बन्ध मुणहि चउभेयं ।।
संवरु निज्जरु मोखु वियाणहि, पुण्यरु पाप विसेयं ।।१
जीउ दुभेउ मुक्त संसारी मुक्त सु सिद्ध वियाणे ।
वसु गुण जुत्त कलङ्क विवज्जिय, भासिय केवलणाणे ।।३
जे ससारि भमहिजिय सकुल, लख जोणी चउरासी ।
थावर वियलिदिय सयलिंदिय, ते पुग्गल सहवासी ।।४
पंच अजीव पढम तहि पुग्गल, धम्म अधम्मु अगास ।
काल अकाउ पंचकायामय, ये छह दव्वपयासं ।।५
आसउ दुविह दव्व-भावहँ, पुणु पंच पयार जिणुत्त ।
मिच्छाऽविरय पमाय कसायहि, जोगह जीव प्रमुत्त ।।६
चारि पयार बंध पयडिय ठिदि, तह अणुभाव पयेस ।
जोगा पयडि पयेस ठिदायणुभाव कसाय विसेसं ।।७
सुह परिणामे होइ सुहासउ, असुहि असुह वियाणे ।
सुह परिणामु करहु हो भवियहु जिम सहु होय नियाणे ।।८
संवरु करहि जीव जग सुन्दर, आसवदार-निरोहं ।
अरुह सिद्ध समु आपु वियाणहु सोहं सोहं मोह ।।९
णिज्जर कम्म विणासण कारणु, जिय जिण वयण संभाले ।
बारह विह तव दसविह सजमु, पंच महावय पाले ।।१०
अटविहि कम्म विमुक्कु परमपउ, परमप्पय थिरु वासो ।
णिच्चलु णाण सुखद अमरापुरि, समरस भाव पयासो ।।११
जाणि असारहु कहो क्या करणा, पंडित मनहि विचारइ ।
जिणवर सासणु भव्वु पयासणु, सोहिय बुह थिर धारइ ।।१२

जैन दर्शन और उसकी पृष्ठभूमि

पं० कैलासचन्द्र जैन शास्त्री, वाराणसी

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने पुण्य प्रदेश बिहार को न केवल अपने जन्म से पवित्र किया था, किन्तु अपनी कठोर साधना के द्वारा उसी प्रदेश की ऋजुकूला नदी के तट पर केवलज्ञान को प्राप्त करके राजगृही नगरी के विपुलाचल पर अपनी प्रथम धर्मदेशना की थी। उस समय राजा बिम्बसार श्रेणिक मगध के स्वामी थे और रानी चेलना के साथ भगवान के समवसरण मे उपदेश श्रवण के लिये बराबर जाया करते थे। इसी प्रदेश के विद्वदशिरोमणि ब्राह्मणवंशावतंस इन्द्रभूति गौतम ने सर्वप्रथम भगवान महावीर के पादमूल मे प्रव्रज्या ग्रहण करके उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था तथा भगवान के प्रथम गणधर पद को अलंकृत करके भगवान् की देशना को बारह अंगों मे ग्रथित किया था। गौतम गणधर के द्वारा ग्रथित वे बारह अंग तो कालक्रम से लुप्त हो गये किन्तु उनके ही आधार पर सकलित और रचित जैन-साहित्य आज भी भारतीय साहित्य भंडार को समृद्ध बनाने में यथायोग्य योगदान कर रहा है।

अतः बिहार भूमि का जिन और जिनशासन से गहरा सम्बन्ध है और जैनधर्म के अनुयायियों पर उसका महान ऋण है। उस ऋण को चुकाने के लिए ही आज भी भारत के कोने-कोने से जैन स्त्री-पुरुष उस पुण्यभूमि की वन्दना के लिए जाते है और उसकी पवित्र धूलि को अपने मस्तक पर धारण करके अपने को कृतकृत्य मानते है। उसका कण कण भगवान महावीर के चरण-चिन्हों से अंकित है।

भगवान् महावीर से पूर्व इस देश की धार्मिक स्थिति के पर्यवेक्षण के लिए प्राचीनतम वैदिक साहित्य ही यत्किंचित् सहायक हो सकता है। आधुनिक अन्वेषकों के अनुसार आर्य जाति की एक शाखा ने मध्य एशिया से भारतवर्ष में प्रवेश करके एक नये समाज की स्थापना की थी। वैदिक काल मे सिन्धु और सरस्वती का ही यशोगान होता था। उन्ही के तट पर आर्यों की बस्तियां थीं। ऋग्वेद की ऋचाओं का बहुभाग भी सरस्वती के तट पर रचा गया था। शेष तीनों वेद और ब्राह्मणग्रन्थ ऋग्वेद के बाद रचे गए थे। इस काल मे वैदिक आर्य दक्षिण पूर्व की ओर बढ़ गए थे और गंगा के प्रदेश मे बस गए थे। यजुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों से जिस प्रदेश की सूचना मिलती है वह है कुरुओं और पाञ्चालों का देश। सरस्वती और दृषद्वती नदी के बीच का क्षेत्र कुरुक्षेत्र था और उससे लगा हुआ, उत्तर-पश्चिम से लेकर दक्षिण-पूर्व तक फैला हुआ गंगा और यमुना के बीच का प्रदेश पाञ्चाल था। इसी को मनुस्मृति मे (२।७) ब्रह्मावर्त कहा है। यही प्रदेश एक समय ब्राह्मण सभ्यता का घर था।

सिन्धुदेश मे ब्राह्मण सभ्यता का विस्तार किधर को हुआ, इसका निर्देश शतपथ ब्राह्मण मे मिलता है। उसमे लिखा है 'सरस्वती के तट से अग्निहोत्र ने गंगा के उत्तर तट पर गमन किया और फिर सरयु, गण्डक, तथा कोसी नदी को पार करके सदानीरा नदी के पश्चिम तट पर पहुंचा। उसमें अग्निहोत्र के मगध अथवा दक्षिण बिहार तथा बंगाल मे प्रवेश करने का उल्लेख नहीं है।

ऐतरेय आरण्यक (२, १-१-५) मे बंग, बगध और चेरपादों को वैदिक धर्म का विरोधी बतलाया है। इनमे से बंग तो बंगाल के अधिवासी है, 'बगध' अशुद्ध प्रतीत होता है सम्भवतया 'मगध' होना चाहिये। चेरपाद बिहार और मध्य प्रदेश के चेर लोग जान पड़ते है। डा० भण्डारकर ने (भण्डारकर इन्स्टीटयूट पत्रिका जि० १२, पृ० १०५) लिखा है—'ब्राह्मण काल तक अर्थात् ईसा पूर्व ६०० लगभग तक पूर्वीय भारत के चार समूह मगध,

पुण्ड्र, वंग और चेरपाद आर्य सीमा के अन्तर्गत नहीं आये थे।'

शतपथ ब्राह्मण में विदेह के राजा जनक का बार-बार उल्लेख आता है। उसने अपने ज्ञान से सब ऋषियों को हतप्रभ कर दिया था। पाली टीका परमत्थ जोतिका (जि० १, पृ० १५८-६५) में लिखा है कि विदेह के जनकवंश का स्थान उन लिच्छवियों ने लिया, जिनका राज्य विदेह का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य था, तथा जो वज्जिगण के प्रमुख भागीदार थे। ये लिच्छवि काशी की एक रानी के वंशज थे। इससे प्रकट होता है कि काशी के राजवंश की एक शाखा ने विदेह में अपना राज्य स्थापित किया था (पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्सिएण्ट इण्डिया, पृ० ७२)।

उपनिषदों के कतिपय उल्लेखों के आधार पर डा० राय चौधरी का मत है कि विदेह राज्य को उलटने में काशीवासियो का हाथ था क्योंकि काशीराज अजातशत्रु विदेहराज जनक की ख्याति से चिढ़ता था। इसी के साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ईस्वी पूर्व ८७७ मे काशीराज के घर में जैनधर्म के तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था और उनके जन्म से २७८ वर्ष पश्चात् वैशाली में लिच्छवि गणतन्त्र के नायक चेटक की पुत्री त्रिशाला की कुक्षि से भगवान महावीर का जन्म हुआ था।

मनुस्मृति में (अ० १०) लिच्छवियों को व्रात्य कहा है। और व्रात्य शब्द ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों मे आता है। अत: स्पष्ट है कि 'व्रात्य' बहुत प्राचीन है। यजुर्वेद तथा तै० ब्रा० (३, ४-५-१) में व्रात्य का नाम नरमेध की बलि सूची में आया है। और महाभारत में व्रात्यों को महापातकियों में गिनाया है। अथर्ववेद के १५ वें काण्ड के प्रथम सूक्त में व्रात्य का वर्णन है। और सायणाचार्य ने उसकी व्याख्या में व्रात्य को 'कर्मपरैः ब्राह्मणैर्विद्विष्टं' जिससे कर्मकाण्डी विद्वान विद्वेष करते थे, लिखा है। अथर्ववेद में ही मागधों का व्रात्यों के साथ निकट सम्बन्ध बतलाया है। इसी से श्री काशीप्रसाद जी जायसवाल ने (माडर्न रिव्यु १६२६, पृ० ४६६) लिखा था 'लिच्छवि पाटलीपुत्र के अपोजिट मुजफ्फरपुर जिले में राज्य करते थे वे व्रात्य अर्थात् अब्राह्मण क्षत्रिय कहलाते थे। वे गणतन्त्र राज्य के स्वामी थे। उनके अपने पूजा स्थान थे, उनकी अवैदिक पूजा विधि थी, उनके अपने धार्मिक गुरु थे। वे जैनधर्म और बौद्धधर्म के आश्रयदाता थे। उनमें महावीर का जन्म हुआ था, मनु ने उन्हें पतित बतलाया है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। व्रात्य का अर्थ होता है घुमक्कड़, जो एक स्थान पर स्थिर होकर न रहता हो और वज्जिगण का वज्जि शब्द भी व्रज धातु से बना है जिसका अर्थ होता है चलना। व्रज् से ही परिव्राजक शब्द बना जो साधु के अर्थ मे व्यवहृत होता है।

डा० हावर ने लिखा है—अथर्व का० १५, सूक्त १०-१३ मे लौकिक व्रात्य को अतिथि के रूप में देश में घूमते हुए तथा राजन्यों और जन साधारण के घरों में जाते हुए दिखलाया गया है। तुलना से यह सिद्ध किया जा सकता है कि अतिथि घूमने फिरने वाला साधु ही है।.........प्राचीन भारत में एक ही व्यक्ति ऐसा है जिस पर यह बात घट सकती है वह है परिव्राजक योगी या सन्यासी। योगियों-सन्यासियों का सबसे पुराना नमूना व्रात्य है। (भारतीय अनुशीलन, पृ० १६)।

अत: प्राचीन व्रात्य यदि उत्तर काल में वज्जि कहे जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। इस तरह भगवान महावीर को जन्म देने वाली पुण्य भूमि बिहार के निवासी विदेहों मगधों का सम्बन्ध भारत की अति प्राचीन उस परम्परा से है जिसने वैदिक क्रियाकाण्ड से शताब्दियों तक अप्रभावित रहकर उस तत्त्वचिन्तन मे अपना समय बिताया था, जिसने वेदान्त के रूप में उपनिषदों के निर्माण मे भाग लिया था। यहाँ इतना स्थान नहीं है कि मैं उपनिषदों से उन सम्वादों को उपस्थित करूँ जिनमें वैदिक ऋषियों में आत्म-जिज्ञासा की भावना से क्षत्रियो का शिष्यत्व स्वीकार करने के उल्लेख हैं और वैदिक ज्ञान को निकृष्ट और आत्म ज्ञान को उत्कृष्ट बतलाया है। इस विषय में डा० दास गुप्ता ने अपने भारतीय दर्शन के इतिहास में (जि० १, पृ० ३१) लिखा

है—'यहाँ यह निर्देश करना अनुचित न होगा कि उपनिषदों में बारंबार आने वाले सम्वादों से, जिनमें कहा गया है कि उच्च ज्ञान की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण क्षत्रियों के पास जाते थे, तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के साधारण सिद्धान्तों के साथ उपनिषदों की शिक्षा का मेल न होने से और पाली ग्रन्थों में वर्णित जन-साधारण में दार्शनिक सिद्धान्तों के अस्तित्व की सूचना से यह अनुमान करना शक्य है कि साधारणतया क्षत्रियों मे गम्भीर दार्शनिक अन्वेषण की प्रवृत्ति थी, जिसने उपनिषदों के सिद्धान्तों के निर्माण में प्रमुख प्रभाव डाला। अतः यह सभव है कि यद्यपि उपनिषद ब्राह्मणों के साथ सम्बद्ध है किन्तु उनकी उपज अकेले ब्राह्मण सिद्धान्तों की उन्नति का परिणाम नही है, अब्राह्मण विचारों ने अवश्य ही या तो उपनिषद सिद्धान्तों का प्रारम्भ किया है अथवा उनकी उपज और निर्माण में फलित सहायता प्रदान की है, यद्यपि ब्राह्मणों के हाथों से ही वे शिखर पर पहुँचे है।' अन्य भी अन्वेषक विद्वानो ने इसी तरह के विचार प्रकट किये है। वस्तुतः इस देश मे प्रवृत्ति और निवृत्ति को दो परम्पराएं ऋग्वेद के समय में भी प्रचलित थीं। प्रवृत्ति परम्परा को देव परम्परा कहते थे, यज्ञविधि आदि उसी के अंग है। यही परम्परा ब्राह्मण परम्परा के नाम से विख्यात हुई। निवृत्ति परम्परा को मुनि परम्परा कहा जाता था। यही परम्परा श्रमण परम्परा की पूर्वज थी। निवृत्ति-मार्गीय श्रमणों के अनेक सम्प्रदाय महावीर और बुद्ध से पूर्व भी विद्यमान थे। अशोक ने अपने शिलालेखो में उसी आधार पर श्रमण ब्राह्मणों का उल्लेख किया है उसका अभिप्राय ब्राह्मण और श्रमणों की दो पृथक परम्पराओं के अस्तित्व से था। पतञ्जलि ने पाणिनि के 'येषाञ्च विरोध: शाश्वतिक:' सूत्र पर 'श्रमणब्राह्मणम्' उदाहरण देते हुए सूचित किया है कि श्रमणों और ब्राह्मणों का पृथक-पृथक अस्तित्व चला आता है। इन दोनों परम्पराओं में बहुत कुछ आदान-प्रदान भी हुआ है। श्रमण परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म में सन्यास आश्रम को स्थान मिला, और आचार्य शंकर ने तो दशनामी सन्यासियों के रूप में श्रमणों जैसा ही नया संगठन खड़ा कर लिया जो आज तक जीवित है। दूसरी ओर ब्राह्मण परम्परा के आचार-विचार का प्रभाव श्रमण परम्परा पर पड़ा। कपिल मूल में निवृत्ति-मार्गी श्रमण परम्परा के अनुयायी थे। किन्तु उनका केवल दर्शन बचा है सम्प्रदाय नही। ज्ञात होता है कि बाद के शैव माहेश्वर सम्प्रदाय में उसका अन्तर्भाव हो गया और उसके दार्शनिक सिद्धान्तों को, जो मूल में अनीश्वरवादी थे, सेश्वरवादी बनाकर एक ओर पाशुपत शैवों ने और दूसरी ओर भागवतों ने अपना लिया।

कपिल का सांख्य दर्शन प्राचीनतम दर्शन माना जाता है। कुछ उपनिषदों में सांख्य के कतिपय मौलिक विचार मिलते हैं। अतः डा० याकोबी का विचार था कि प्राचीनतम उपनिषदों के काल मे सांख्य-दर्शन का उदय हुआ। चूँकि योग-दर्शन का निकट सम्बन्ध भी सांख्य के साथ है इसलिए योगदर्शन का उदय भी उसी के साथ माना जाता है। इन दर्शनों के उदय में प्रधान कारण आत्माओं के अमरत्व मे विश्वास था, जो उस समय सर्वत्र फैला हुआ था। यह एक ऐसा सिद्धान्त था जिसे मृत्यु के पश्चात् विनाश से भीत जनता के बहुभाग का समर्थन मिलना निश्चित था।

आत्माओं के अमरत्व के सिद्धान्त ने ही तर्कभूमि में आकर जड़तत्त्व की भिन्नता को सिद्ध किया, जिसका प्राचीन उपनिषदों में अभाव है। ये दोनों सिद्धान्त प्रारम्भ से ही जैन और सांख्ययोग जैसे प्राचीनतम दर्शनों के मुख्य भाग है। वैशेषिक और न्यायदर्शन का उदय तो बहुत बाद में हुआ हैं और इन दोनों ने भी उक्त दोनों सिद्धान्तों को अपने में स्थान दिया है। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में वेदान्त दर्शन को निबद्ध किया है। यद्यपि यह कहा जाता है कि उन्होंने उपनिषदों के सिद्धान्तों को ही व्यवस्थित रूप दिया है किन्तु ब्रह्मसूत्र में भी जीव को अनादि और अविनाशी माना है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में भले ही इसके विरुद्ध प्रतिपादन किया है। इसके सम्बन्ध में कलकत्ता के श्रीअभयकुमार गुह का 'ब्रह्मसूत्र में जीवात्मा' शीर्षक निबन्ध पठनीय है।

कठ और श्वेताश्वतर उपनिषदों में ब्रह्म से आत्माओं

का पृथक् अस्तित्व माना है। यद्यपि उनमें दोनों के ऐक्य का भी समर्थन मिलता है। किन्तु ब्रह्मसूत्र तो उन उपनिषदों से भी एक कदम आगे बढ़ गया है।

इस तरह स्वतन्त्र आत्माओं की अमरता में विश्वास ने ही विचारों को नया रूप प्रदान करने में मुख्य भाग लिया है।

जैन और सांख्ययोग भारत के प्राचीनतम दर्शन हैं जो वैदिक युग के अन्त के साथ ही सम्मुख आते हैं। ये दोनों ही अमर आत्माओं के बहुत्व के तथा जड़ तत्त्व के पृथकत्व के समर्थक हैं। यद्यपि दोनों ही दर्शनों ने इन विचारों को अपने-अपने स्वतन्त्र ढंग से विकसित किया है फिर भी दोनों में कहीं-कहीं सादृश्य-सा प्रतीत होता है। यहाँ हम विस्तार में न जाकर संक्षेप में दो मुद्दों पर प्रकाश डालेंगे।

जैन और सांख्ययोग इस विषय में एक मत हैं कि जड़ स्थायी है किन्तु उसकी अवस्थाएँ अनिश्चित हैं। सांख्यमत के अनुसार एक प्रधान तत्त्व ही नाना रूप होता है, किन्तु जैनधर्म के अनुसार केवल पुद्गल द्रव्य नाना अवस्थाओं में परिवर्तित होता है—आकाश आदि द्रव्य परिवर्तनशील होते हुए भी अखण्ड और अविनाशी रहते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि जब से जड़ और चेतन का भेद विचारकों के अनुभव में आया तभी से जड़ के विषय में उक्त मत मान्य चला आता है। किन्तु उत्तरकाल में उक्त मूल सिद्धान्त में परिवर्तन होना दृष्टिगोचर होता है। यह परिवर्तन है चार या पाँच भूतों का एक दूसरे से एकदम भिन्न और स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाना। यह मत चार्वाकों का था। चार्वाक सांख्ययोग से अर्वाचीन है। न्यायवैशेषिक ने भी इसी मत को ग्रहण कर अपने ढंग से विकसित किया। जैन और सांख्ययोग ने इस मत का एक मत से विरोध किया, जो इस बात का सूचक है कि भूतवादी मत अर्वाचीन होना चाहिए।

जैन पुद्गल को परमाणु रूप में मानते हैं किन्तु सांख्य प्रधान या प्रकृति को व्यापक मानता है। जैनों के अनुसार परमाणुओं के मेल से जीव धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल और आकाश के सिवाय शेष सब वस्तुएँ उत्पन्न हो सकती हैं। किन्तु सांख्यमत के अनुसार प्रधान में सत्त्व, रज और तम नाम के तीन गुण हैं और इन्हीं के मेल रूप एक प्रधान से महान् अहंकार आदि पाँच तन्मात्रा पर्यन्त तत्त्वों की उद्भूति होती है और उन पाँच तन्मात्राओं से पाँच भूत बनते हैं। अतः मूल सांख्यमत परमाणुवाद को नहीं मानता था। किन्तु सांख्य योग दर्शन के कुछ ग्रन्थकार परमाणुवाद को मानते थे ऐसा प्रतीत होता है। सांख्यकारिका की टीका में गौड़पाद ने बिना विरोध किए परमाणुवाद का कई जगह निर्देश किया है। योगसूत्र (१-४०) में भी उसे स्वीकार किया है, उसके भाष्य में तथा वाचस्पति मिश्र की टीका (१-४४) में भी परमाणुओं का अस्तित्व स्वीकार किया है। इससे प्रमाणित होता है कि परमाणुवाद सिद्धान्त इतना अधिक लोकसम्मत था कि उत्तरकाल में सांख्ययोग ने भी उसे स्वीकार कर लिया। अब आत्मतत्त्व को लीजिये—

आत्मतत्त्व के विषय में जैन और सांख्ययोग कतिपय मूल बातों में सहमत हैं। आत्माएँ सनातन अविनाशी हैं, चेतन हैं, किन्तु जड़ कर्मों के कारण, जो अनादि हैं, उनका चैतन्य तिरोहित है। मुक्ति अवस्था में कर्मों का अन्त हो जाता है।

किन्तु आत्मा के आकार के विषय में जैन-दर्शन का अपना एक पृथक मत है जो किसी भी दर्शन में स्वीकार नहीं किया गया। जैन-दर्शन मानता है कि प्रत्येक आत्मा अपने शरीर के बराबर आकार वाला है। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल सांख्य इस विषय में अपना कोई स्पष्ट मत नहीं रखते थे। क्योंकि योग भाष्य में (१-३६) पञ्चशिव का मत उद्धृत किया है जिसमें आत्मा को अणुमात्र माना है। जबकि ईश्वर कृष्ण तथा पश्चात् के सभी ग्रन्थकारों ने आत्मा को व्यापक माना है।

आत्मा के कर्म-बन्धन और कर्मों से छुटकारे के सम्बन्ध में भी सांख्ययोग और जैन-दर्शन में बहुत भेद है।

इसके सिवाय जैन-दर्शन मानता है कि पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति में भी जीव है और उसके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है। सारांश यह है कि जड़ और आत्मा को लेकर जैन-दर्शन और सांख्ययोग में

इतना सुनिश्चित अन्तर है कि उसे देखते हुए यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि जैनों ने सांख्ययोग से या सांख्ययोग ने जैनों से कुछ लिया है। फिर भी सांख्य और जैनदर्शन की आत्म-विषयक कुछ बातों में समानता देखकर कुछ अन्वेषक विद्वानों का ऐसा मत है ये दोनो दर्शन लगभग समकाल में उदित हुए हैं। तथा ये दोनो ही प्राचीनतम भारतीय दर्शन है। कौटिल्य के अनुसार उसके समय मे (३०० ई० पूर्व) सांख्ययोग और लोकायत ये दो ही ब्राह्मण दर्शन वर्तमान थे। अतः अवश्य ही ये कौटिल्य काल से प्राचीन है।

जैन धर्म के आदि प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव थे और अन्तिम प्रवर्तक थे भगवान महावीर। भगवान महावीर ने संसार के दुःखी जीवो के समुद्धार के लिए अहिंसामयी धर्म का उपदेश सार्वजनिक रूप मे दिया था। भगवान बुद्ध ने भी विश्व को दुःख रूप मानकर क्षणिक कहा था। उनका उद्देश्य भी विश्व को वैराग्य की तरफ ले जाने का था। जिससे अत्याचार, अनाचार और हिंसा का लोप हो जाये। किन्तु उनके उतराधिकारियों ने क्षणिकवाद के आधार पर शून्यवाद की प्रतिष्ठा कर डाली। इसके विपरीत भगवान महावीर ने पर्याय दृष्टि से विश्व को क्षणिक मानकर भी द्रव्यदृष्टि से नित्य माना। उनका कहना है कि इस दृश्यमान जगत मे जो प्रतिक्षण परिणाम हुआ करते है ये परिणाम ही प्रतिक्षण होते रहने के कारण क्षणिक है किन्तु मूल तत्व स्वयं क्षणिक नही है। अन्य दर्शनों ने किसी को नित्य और किसी को अनित्य माना है। किन्तु जैन-दर्शन कहता है—

आदीपमाव्योम समस्वभावं
स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यद्
इति त्वदाज्ञा द्विषतां प्रलापाः

अर्थात्—आकाश नित्य हो और दीपक क्षणिक हो, यह बात नही है। आकाश से लेकर दीपक तक सब एक स्वभाव हैं, कोई भी वस्तु उस स्वभावका अतिक्रमण नही कर सकती क्योंकि सभी के मुंह पर स्याद्वाद या अनेकान्त स्वभाव की छाप लगी हुई है। हे जिनेन्द्र! आप से द्वेष रखने वाले ही ऐसा प्रलाप करते हैं कि अमुक वस्तु नित्य ही है और अमुक वस्तु अनित्य ही है।

जैन-दर्शन एक द्रव्य पदार्थ ही मानता है और उसे इस रूप में मानता है कि उसके मानने पर अन्य पदार्थ के मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार में द्रव्य का लक्षण इस प्रकार किया है—

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वत्ति वुच्चंति॥

अर्थात—जो अपने अस्तित्व स्वभाव को न छोड़कर, उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य से संयुक्त है एवं गुण तथा पर्यायों का आधार है उसे द्रव्य कहा जाता है।

आशय यह है कि गुण और पर्याय के आधार को द्रव्य कहते है। गुण और पर्याय उस द्रव्य के ही आत्मस्वरूप है अतः वे किसी भी हालत मे द्रव्य से जुदा नहीं होते। द्रव्य के परिणमन को पर्याय कहते है। पर्याय सदा कायम नही रहती, प्रतिक्षण बदलती रहती है। एक पर्याय नष्ट होती है तो उसी क्षण मे दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है। इसी से पर्यायो के आधार द्रव्य को उत्पाद-व्यय से संयुक्त कहा जाता है। और जिनके कारण द्रव्य सजातीय से मिलता हुआ और विजातीय से भिन्न प्रतीत होता है वे गुण हैं। गुण अनुवृत्ति रूप होते हैं और पर्याय व्यावृत्ति रूप होती है। इसी से जैन दर्शन मे सामान्य और विशेष नाम के दो पृथक पदार्थ मानने की आवश्यकता नही समझी गई।

यह द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल के भेद से छह प्रकार है। आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव या आत्मा को अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, अशब्द, भूतों के चिन्हों से अग्राह्य, निराकार तथा चैतन्य रूप माना है। यथा—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं दव्वमणिदिट्ठसंठाणं॥

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण से युक्त पृथिवी, जल, अग्नि और वायु को पुद्गल कहते हैं। जिसमें पूरण-गलन हो उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गल द्रव्य अणु

और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार का है। परमाणुओं के संघात से बने पृथिवी आदि को स्कन्ध कहते हैं।

जीव और पुद्गलों की गति में सहायक को धर्म कहते हैं और स्थिति में सहायक को अधर्म द्रव्य कहते हैं। अवकाश देने वाले पदार्थ को आकाश कहते हैं और द्रव्यों के परिणमन में सहायक द्रव्य को काल कहते हैं। सम्पूर्ण जगत इन्हीं छह दव्यों का प्रसार है।

चूंकि यह दर्शन प्रत्येक द्रव्य को परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाले नित्य अनित्य, सत् असत् आदि धर्ममय मानता है इसलिये इसे अनेकान्तवादी दर्शन भी कहते हैं। जैसे प्रत्येक वस्तु द्रव्य रूप से नित्य है और पर्याय रूप से अनित्य है, स्वरूप से सत् है और पर रूप की अपेक्षा असत् है। इसी को अनेकान्तवाद कहते हैं। अर्थात् एकान्त से नित्य, अनित्य आदि कुछ भी नही, किन्तु अपेक्षा भेद से सब है। इसी से इसे सापेक्षवाद भी कहा जाता है। अनेक धर्मात्मिक वस्तु का बोध कराने के लिए 'स्याद्वाद' का अवतार किया गया है। 'स्याद्वाद' में स्यात् शब्द अनेकान्त रूप अर्थ का वाचक या द्योतक अव्यय है। अतएव स्याद्वाद और अनेकान्तवाद एकार्थक भी माने जाते हैं। जैन विद्वानों ने स्याद्वाद के निरूपण में और समर्थन में बहुत बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं, और अनेकान्तवाद रूपी शस्त्र के बल से उन्होंने अन्य दार्शनिकों के मन्तव्यों का निरसन किया। है समन्तभद्र और सिद्धसेन, हरिभद्र और अकलंक, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र तथा हेमचन्द्र जैसे प्रकाण्ड जैन विद्वानों ने अनेकान्तवाद के बारे में जो कुछ लिखा है वह भारतीय दर्शन साहित्य में बड़ा महत्व रखता है। इसी से आज जब कोई अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का उच्चारण करता है तो सुनने वाला विद्वान उससे जैन दर्शन का ही भाव ग्रहण करता है।

अनेकान्तवाद जैनाचार और विचार का मूल है। उसके ऊपर से जो अनेक वाद जैन दर्शन में अवतरित हुए उनमें से दो मुख्यवाद उल्लेखनीय हैं—एक नयवाद और एक सप्तभंगीवाद। नयवाद में दर्शनों को स्थान मिला और सप्तभंगीवाद में किसी एक ही वस्तु के विषय में प्रचलित विरोधी कथनों या विचारों को स्थान मिला। पहले वाद में सब दर्शन संगृहीत हैं और दूसरे में दर्शन के विशंकलित मन्तव्यों का संग्रह है।

आशय यह है कि भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन के अतिरिक्त वैशेषिक न्याय, सांख्य, वेदान्त, मीमांसा और बौद्ध दर्शन मुख्य हैं। इन दर्शनों को पूर्ण सत्य मानने में आपत्तियां थीं और सर्वथा असत्य कह देने में सत्य का अपलाप था। अतः उन्हें दृष्टि भेद से आंशिक सत्य स्वीकार करने के लिए नयवाद का अवतार हुआ। इस तरह स्याद्वाद, सप्तभंगीवाद और नयवाद ये तीनों वाद अनेकान्तवादी जैन दर्शन की देन है जो इतर दर्शनों में नहीं मिलते।

जैन दर्शन स्वपर प्रकाशक सम्यग्ज्ञान को प्रमाण मानता है और चूंकि ज्ञान-स्वरूप आत्मा है इसलिये अन्य की सहायता के बिना केवल आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और इन्द्रिय आदि की सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। परोक्ष ज्ञान अपारमार्थिक होने से हेय है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष केवलज्ञान ही उपादेय है। इन्द्रियजन्य ज्ञान की तरह इन्द्रियजन्य सुख भी अपारमार्थिक होने से हेय है। जैनधर्म का कहना है कि जिन प्राणियों की सांसारिक विषयों में रति है वे स्वभावतः दुःखी हैं क्योंकि यदि वे दुःखी न होते तो सांसारिक विषयों की प्राप्ति के लिए रात दिन व्याकुल क्यों होते। चूंकि वे विषयों की तृष्णा से सताए हुए हैं अतः उस दुःख का प्रतीकार करने के लिए विषयों में उनकी रति देखी जाती है, किन्तु उससे उनकी तृष्णा शान्त न होकर और भी अधिक प्रज्वलित होती है। इसलिए सच्चे सुख की प्राप्ति के लिये इन्द्रियजन्य वैषयिक सुख हेय है।

ज्ञान की तरह सुख भी आत्मस्वरूप है। अतः आत्मोत्थ ज्ञान की तरह आत्मोत्थ सुख ही सच्चा सुख है। क्योंकि उसमें दुःख का लेश भी नहीं रहता। और न उसके नष्ट होने का भय रहता है। अतः जैन दर्शन संसार के सुख मे भूले हुए प्राणियों को उसी सच्चे सुख की प्राप्ति की सलाह देता है और उसके लिए मोक्ष का मार्ग बतलाता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मुक्ति का मार्ग है। तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। तत्त्वार्थ सात हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इन सात में से

मूल पदार्थ तो दो ही हैं जीव और अजीव। इन्हीं दोनों के सम्बन्ध से संसार की प्रवृत्ति हो रही है। जीव की अशुद्ध दशा का नाम ही ससार है और जीव की अशुद्ध दशा में-जड़ कर्म निमित्त हैं। यह जड़ कर्म जीव में कैसे आता है और कैसे उसके साथ बन्ध को प्राप्त होता है इन दोनों प्रक्रियाओं को ही आस्रव और बन्ध कहते हैं। ये दोनों ही संसार के कारण हैं। और इनसे बचने की प्रक्रिया को संवर और निर्जरा कहते हैं। नवीन कर्मों के आगमन को रोकना संवर है और पूर्व-बद्ध कर्मो का क्रमशः नष्ट होना निर्जरा है इन दोनों के होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है अतः ये दोनों मोक्ष के कारण हैं। इस तरह मुमुक्षु को जीव और अजीव को, तथा संसार के कारण आस्रव और बन्ध को व मोक्ष और उसके कारण संवर निर्जरा को सविधि जानना चाहिए और उन पर श्रद्धान रखना चाहिए। श्रद्धा-विहीन ज्ञान की कोई कीमत नही है उसी तरह आचरण-विहीन ज्ञान का भी कोई मूल्य नहीं है।

कहा है —

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पगुकः॥

क्रियाहीन ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानियों की क्रिया भी व्यर्थ है। एक जंगल में आग लगने पर एक अन्धा दौड़ते हुए भी जल मरा और एक लंगड़ा देखते हुए भी जल मरा। अतः सम्यक् श्रद्धामूलक ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है सम्यग्ज्ञान-मूलक आचरण ही सम्यक्चारित्र है। सम्यक्चारित्र ही यथार्थ धर्म है किन्तु उस धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने समयसार में कहा है—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च,
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥१४॥

भूतार्थ नय से जाने हुए जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर निर्जरा, बन्ध और मोक्ष सम्यग्दर्शन है।

आशय यह है कि भगवान कुन्दकुन्द की व्याख्यान शैली दो नयों पर आश्रित है। वे दोनों नय हैं— व्यवहार और निश्चय। इनमें से उन्होंने व्यवहार को अभूतार्थ तथा निश्चय को भूतार्थ कहा है और यह भी कहा है कि भूतार्थ का आश्रय लेने वाला जीव ही सम्यग्दृष्टि है। इन्हीं दोनों नय से उन्होंने अपने समयसार में उक्त नव पदार्थों का कथन किया है जिससे मुमुक्षु जीव अभूतार्थ को छोड़कर भूतार्थ का आश्रय कर सके। उदाहरण के लिए जीव को ले लीजिये। जीव क्या है? क्या जिस शरीर में जीव रहता है वह शरीर ही जीव है या वह शरीर जीव का है? जीव मे होने वाले रागादि विकार क्या उसके है। इन प्रश्नों का उत्तर व्यवहार और निश्चय नय से इस प्रकार दिया जाता है—

१. जीव और देह एक हैं यह व्यवहार नय का कथन है। जीव और देह एक नहीं हैं पृथक्-पृथक् हैं यह निश्चय नय का कथन है।

२. रागादिक जीव के हैं यह व्यवहार नय का कथन है ये जीव के नही है यह निश्चनय का कथन है।

३ शरीर जीव का है यह व्यवहार नय का कथन है और शरीर जीव से भिन्न है यह निश्चय नय का कथन है।

इन दोनों शैलियों के द्वारा जीव के सोपाधि और निरुपाधि स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और ऐसा होने से मुमुक्षु की दृष्टि सोपाधि स्वरूप से हट कर निरुपाधि स्वरूप पर टिक जाती है। उपाधि चूँकि आगन्तुक है अतः वह उपादेय नहीं है निरुपाधि स्वरूप ही यथार्थ स्वरूप होने से उपादेय है। उसी की प्राप्ति के लिये मुमुक्षु व्यवहार का अवलम्बन लेते हुए भी व्यवहार मय नही होता। वह व्यवहार को साध्य नही मानता, साधन मानता है। साध्य तो निश्चय है, व्यवहार को करते हुए भी उसी पर उसकी दृष्टि केन्द्रित रहती है। इसी से वह व्यवहार विमूढ होकर अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता।

जैन-धर्म का आचार या चारित्र गृहस्थ और साधु के भेद से दो प्रकार का है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को साधु पूर्ण रूप से पालता है, और ग्रहस्थ एक देश रूप से पालता है। इसी से साधु महाव्रती कहलाते हैं और गृहस्थ अणुव्रती कहे जाते हैं। इस व्रत पालन का एक मात्र लक्ष्य राग-द्वेष से निवृत्ति है। रागद्वेष से निवृत्ति के लिए ही साधु चरित्र का पालन करता है। राग-द्वेष की निवृत्ति हो जाने पर हिंसा वगैरह की निवृत्ति स्वतः हो जाती है।

जिस तरह जैन-दर्शन अनेकान्तमय है उसी तरह जैनधर्म अहिंसामय है। अनेकान्त और अहिंसा ये दो ऐसे तत्त्व हैं जो समस्त जैनाचार और विचार पर छाये हुए हैं। जैसे अनेकान्तविहीन विचार मिथ्या है वैसे ही अहिंसाविहीन आचार भी मिथ्या है। समस्त जैनाचार का मूल एक मात्र अहिंसा है। जिस आचार में जितना ही अहिंसा का अंश है उतना ही उसमें धर्म का अंश है और जितना हिंसा का अंश है उतना ही अधर्म का अंश है। सारांश यह है कि हिंसा अधर्म है और अहिंसा धर्म है किन्तु अपने से किसी के प्राणों का घात हो जाने या किसी को कष्ट पहुँच जाने मात्र से जैन-धर्म हिंसा नहीं मानता। जहाँ कर्त्ता का मन दूषित है—प्रमादी और असावधान है वहाँ बाहर में हिंसा नहीं होने पर भी हिंसा अवश्य है और जहाँ कर्त्ता का मन विशुद्ध है उसकी प्रवृत्ति पूर्ण सावधानता को लिये हुए है वहाँ बाहर में हिंसा हो जाने पर भी हिंसा नहीं है। कहा भी है—

मरदु व जीवदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा',
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स"

जीव मरे या जिये, जो अयत्नाचारी है=प्रमादमूलक प्रवृत्ति करता है उसे हिंसा का पाप अवश्य होता है। किन्तु जो अप्रमादी है, सावधानता पूर्वक आचरण करता है उसे हिंसा हो जाने मात्र से पाप का बंध नहीं होता।

इसी से कहा है—कि एक बिना मारे भी पापी होता है और दूसरा मार कर भी पाप का भागी नहीं होता।

इस तरह जैन धर्म में अहिंसा की व्याख्या अध्यात्म-मूलक हैं। यदि ऐसा न मानकर बाह्य हिंसा को ही हिंसा माना जाता तो संसार में कोई अहिंसक हो नहीं सकता था। कहा भी है—

विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत्'
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम्'।

यदि बन्ध और मोक्ष का एकमात्र साधन भाव (जीव के परिणाम) न होता तो चहुँ और जीवों से भरे हुए इस संसार में विचरण करने वाला कोई भी मनुष्य क्या कभी मोक्ष प्राप्त कर सकता था?

अतः अपनी वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति की विशुद्धि के लिए मानसिक विशुद्धि आवश्यक है। मन के अविशुद्ध रहते हुए अहिंसा का पूर्ण पालन अशक्य है। मन के विकार ही मूलतः हिंसा के जनक हैं, इतना ही नहीं किन्तु वे स्वयं हिंसा रूप हैं।

क्योंकि जब हम दूसरों को मारने या सताने का विचार करते है तो सर्वप्रथम उस दुर्विचार से अपनी आत्मा का ही घात करते हैं। प्रत्येक मानसिक विकार उसके कर्त्ता के लिये ही सर्वप्रथम अनिष्टकारक होता है। अतः आत्मा को विकार शून्य कर देना ही पूर्ण अहिंसा है। और आत्मा की उस निर्विकार अवस्था को हीं मोक्ष कहते हैं। अतः पूर्ण अहिंसा ही मोक्ष का कारण है।

किन्तु हम लोग तो गृहस्थ हैं अतः यद्यपि पूर्ण अहिंसा का पालन करने में असमर्थ हैं तथापि आंशिक अहिंसा का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है। समाज की सुख-शान्ति उसके सदस्यों की अहिंसा-मूलक वृत्ति पर ही निर्भर है। जिस समाज के सदस्यो में जितना ही पारस्परिक सौहार्द और सद्भाव होता है वह समाज उतना ही सुखी होता है। यही बात राष्ट्रों के विषय मे भी जानना चाहिये। विश्व के राष्ट्रों में जितना ही सद्भाव होगा उतनी ही विश्व में शान्ति रहेगी। किन्तु जैसे समाज में सभी सज्जन नही होते वैसे ही सभी राष्ट्र भी सज्जन नहीं होते और इसलिए जैसे दुर्जनों के बीच में पड़कर सज्जन को भी कष्ट भोगना पड़ता है वैसे ही लड़ाकू राष्ट्रों के बीच मे पड़कर शान्ति-प्रेमी राष्ट्र को भी लड़ाकू बनना पडता है अन्यथा उसकी स्वतन्त्रता खतरे में पड़ सकती है।

हमारा भारत देश सदा से शान्ति-प्रेमी रहा हैं उसने कभी किसी बाहरी देश पर आक्रमण नहीं किया, आज भी वह अपनी उस नीति पर दृढ़ है किन्तु फिर भी एक पड़ोसी राष्ट्र ने मित्रता का स्वांग रचकर उस पर आक्रमण किया और आज भी वह हमारी भूमि दबाये बैठा है। ऐसे राष्ट्र पर आक्रमण करके अपनी भूमि हस्तगत करना हिंसा नही है, अहिंसा है। लुटेरों की अहिंसा भी हिंसा है और मातृभूमि की रक्षा के लिए जूझने वाले वीरों की हिंसा भी अहिंसा है। हिंसा और अहिंसा का यह पाठ हमें सदा याद रखना चाहिये।

जैनधर्म में मूर्तिपूजा

डा० विद्याधर जोहरापुरकर, जावरा

१. त्रिविध सौन्दर्य

सौन्दर्य के तीन प्रकार हैं—आत्मिक, शारीरिक तथा बाह्य। शुद्ध आत्मा के ज्ञान दर्शन, चारित्र आदि गुणों की उत्कृष्टता आत्मिक सौन्दर्य है। निरावरण शरीर का स्वाभाविक रूप शारीरिक सौन्दर्य है। तथा वस्त्रों एवं आभूषणों से प्राप्त सौन्दर्य बाह्य तथा कृत्रिम सौदर्य का मोह छोड़ना चाहिए तथा फिर शरीर से भी मुक्त होकर आत्मिक सौन्दर्य में स्थिर होना चाहिए।

२. त्रिविध धर्म

सौन्दर्य के समान धर्म की भी तीन अवस्थाएँ हैं—आत्मिक, व्यावहारिक तथा औपचारिक। आत्मा का निर्मोह, निष्क्रोध समभाव में स्थिर होना यह उत्कृष्ट आत्मिक धर्म है। जैसा कि कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥

मुनियों के महाव्रत, समितियां आदि तथा गृहस्थों के अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत व्यावहारिक धर्म में सम्मिलित होते है। इनके अतिरिक्त जो धार्मिक कार्य हैं उन का—मूर्तिपूजा, मदिर प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा आदि का—औपचारिक धर्म में समावेश होता है। औपचारिक धर्म तभी उपयुक्त होगा जब वह हमें व्यावहारिक (व्रत-पालन रूप) धर्म की ओर और आत्मिक (निर्मोह सम-भाव रूप) धर्म की ओर प्रेरित करेगा।

३. मूर्तिपूजा क्या तीर्थंकर प्रणीत है?

धर्म के इन तीन रूपों का परस्पर सम्बन्ध और तुलनात्मक महत्व भूलने के कारण हम अक्सर मूर्ति पूजा पर बहुत अधिक जोर देते हैं। किन्तु मूर्तिपूजा के साथ कई सामाजिक प्रवृत्तियां जुड़ जाती हैं। मूर्ति-मन्दिरों की व्यवस्था के लिए नौकर रखे जाते हैं, उनके वेतन के लिए या मन्दिरों के जीर्णोद्धार आदि के लिए स्थायी सम्पत्ति (घर, दुकान आदि) प्राप्त की जाती है, उस की व्यवस्था को लेकर समाज में मनमुटाव तथा कलह होते हैं। और इन सब बातों में हिंसा अवश्य ही होती है। इसी बात को देख कर स्वामी पात्रकेसरी ने कहा है कि जीव हिंसा के लिए कारण भूत मन्दिर आदि क्रियाओं का उपदेश केवलज्ञानी भगवान अरहन्त ने नहीं दिया है, ये क्रियाएँ तो श्रावकों ने स्वयं अपनी भक्ति के कारण शुरू की है—

विमोक्षसुखचैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिका:
क्रिया बहुविधासुभृन्मरणपीडनाहेतव:।
त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिता: किं नु ता:
त्वयि प्रसृतभक्तिभि: स्वयमनुष्ठिता: श्रावकै: ॥

४. प्राचीन आगमों में मूर्ति पूजा का अभाव ...

इस वर्णन को देखते हुए यह स्वभाविक ही प्रतीत होता है कि जैन साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थों में—जिन की रचना वीरनिर्वाण के बाद की छह-सात शताब्दियों में हुई है—मूर्तिपूजा के उपदेश या उल्लेख नहीं पाये जाते। ग्यारह अंग, बारह उपांग, छह छेदसूत्र तथा चार मूल सूत्र इन सभी आगमों में इस बात का वर्णन नहीं है। आगमों का तात्पर्य जिस ग्रन्थ में आचार्य उमास्वाति ने संकलित किया है उस तत्त्वार्थ सूत्र मे भी मूर्तिपूजा का निर्देश नहीं है[1]।

५. व्रतों में मूर्तिपूजा का समावेश--

प्राचीन परम्परा में मूर्तिपूजा का उपदेश न होने से मध्ययुग में जिन आचार्यों ने उसका वर्णन करना चाहा उनके सामने यह कठिनाई उपस्थित हुई कि इसका समावेश गृहस्थों के किस व्रत में या किस प्रतिमा मे किया जाय। रत्नकरण्ड में स्वामी समन्तभद्र ने वैयावृत्य शिक्षा व्रत का वर्णन करने के बाद देव पूजा का वर्णन कर दिया है। इस प्रकार वे मुनियों की सेवा के साथ देव पूजा को

---

१. इसी बात को लेकर सन् १४७० में अहमदाबाद में लोंकाशाहने मूर्तिपूजा विरोधी स्थानकवासी संप्रदाय का प्रारम्भ किया था।

समाविष्ट करते हैं। गृहस्थों के मूल गुणों में उन्होंने इस का वर्णन नहीं किया है। सोमदेव आचार्य ने यशस्तिलक में सामायिक शिक्षाव्रत में पूजा का अन्तर्भाव किया है...

आप्तसेवोपदेशः स्यात् समयः समयार्थिनाम्
नियुक्तं तत्र यत् कर्म तत् सामायिकमूचिरे ॥

६. जैन मूर्ति पूजा का उद्देश्य—

उपर्युक्त वर्णन के बावजूद यह स्पष्ट है कि कम से कम दो हजार वर्षों से जैन समाज मे मूर्ति पूजा प्रचलित है। ईसवी सन् के प्रारम्भ के समय की कुछ मूर्तिया मथुरा से प्राप्त हुई है उनसे सिद्ध होता है कि तब भी जैन समाज मे मूर्ति पूजा प्रचलित थी। अतः यह देखना चाहिए कि इस का कौनसा उद्देश जैन दर्शन के अनुकूल हो सकता है। जैन मूर्ति पूजा किसी वैयक्तिक सुख-लाभ (धन मिलना, रोग दूर होना, पुत्र होना) के लिए नही की जाती क्योंकि जैनों के आराध्य देव=तीर्थङ्कर—सिद्ध पद को प्राप्त हुए वीतराग महापुरुष है=वे ससार के किसी जीव के सुख-दुःख मे रुचि नही रखते। हम यद्यपि पूजा के प्रारम्भ मे कहते है कि हे भगवन् अत्र आगच्छ अत्र तिष्ठ (यहाँ आइये और ठहरिये) तथा अन्त मे यह भी कहते हैं कि जिन देवों को यहाँ बुलाया तथा पूजा की वे अपने स्थान को वापस जाये (ते मयाऽर्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु निजालयम्) तथापि यह हमें अच्छी तरह मालूम है कि तीर्थंकर भगवान यहाँ न आते है, न वापस जाते है। सासारिक सुख मिलने की आशा से उन की पूजा करना किसी तरह उचित नही है। चक्रेश्वरी, पद्मावती, ज्वालामालिनी आदि की पूजा तो सुख की आशा से करने मे कोई अर्थ हो सकता है क्योंकि ये देवियां सराग है अतः कुछ हद तक भक्तों की सहायता कर सकती है। किन्तु वीतराग जिनेन्द्र की पूजा का यह उचित उद्देश नही हो सकता। वीतराग जिनदेव किसी पर प्रसन्न होकर सुख नही देते अथवा कुपित होकर दुःख नही देते। मनुष्य का सुखदुख उसी के अपने कर्मों का परिणाम है, जैसा कि अमितगति आचार्य ने कहा है—

निर्जार्जित कर्म विहाय देहिनो
न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन ।

अतः सांसारिक सुख की प्राप्ति यह जैन मूर्तिपूजा का उद्देश्य नही है।

जिन भगवान की पूजा का वास्तविक उद्देश स्वामी समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र मे प्रकट किया है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

अर्थात्—हे भगवन् आप वीतराग है इसलिए आपकी पूजा से लाभ नहीं तथा आप वैरहीन हैं इसलिए आपकी निन्दा से भी लाभ नहीं, फिर भी आपके पवित्र गुणों की स्मृति हमारे मनको पाप रूपी कालिख से मुक्त—पवित्र करे (यही आपकी पूजा का उद्देश है)। तात्पर्य—भगवान जिनेन्द्र के पवित्र गुणो की स्मृति होना और उन गुणों को प्राप्त करने के प्रयास की ओर प्रेरणा मिलना यही देवपूजा का वास्तविक उचित उद्देश है।

७. वर्तमान पूजा पद्धति

अब हमे यह देखना चाहिए कि इस समय जैन समाज मे पूजा की जो विभिन्न पद्धतियां है वे इस उद्देश से कहाँ तक सुसगत है। इन पद्धतियों में सब से अधिक चमक-दमक वाली पद्धति श्वेताम्बर मन्दिर मार्गी भाइयों में रूढ है। इस पद्धति में अभिषेक और पूजा के साथ देवमूर्ति को वस्त्र और आभूषण भी पहनाये जाते हैं तथा मूर्ति को भौहों के स्थान पर लाख तथा आँखों में कांच या रत्न लगाये जाते हैं। स्पष्टतः यह पद्धति वीतराग भाव का स्मरण कराने वाली नहीं है। साथ ही इससे मूर्तियो का स्वाभाविक सौन्दर्य भी आच्छादित या विकृत होता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भी भगवान ऋषभदेव तथा भगवान महावीर ने निर्वस्त्र रूप मे दीर्घकाल तक विहार किया था। उन्ही की मूर्तियों को वस्त्र-भूषण पहनाना वस्तुत. सुसंगत नही है। इस पद्धति से कुछ सादी रीति दिगम्बर समाज के बीसपंथी भाइयों में रूढ है। वे मूर्तियों को वस्त्राभूषण नही पहनाते या लाख-कांच नही लगाते। किन्तु पुष्प-हार मूर्तियों के गले मे पहनाते है, चरणो को चन्दन

लगाते हैं, अभिषेक में जल के साथ दूध, दही, घी. फलों के रस तथा कल्कचूर्ण (इलायची, लौंग आदि का चूर्ण) मिले हुए जल का प्रयोग करते हैं एवं अष्टद्रव्य पूजा में तरह तरह के पक्वान्नों एवं फलों का प्रयोग करते हैं। यह पद्धति भी वीतराग भाव की पोषक नहीं कही जा सकती। इससे एक सामाजिक प्रश्न भी उपस्थित होता है। इस रीति में भगवान् को जो फल एव पक्वान्न अर्पित किये जाते हैं वे पूजा के बाद निर्माल्य कहलाते हैं, इस द्रव्य को बहुधा मन्दिर के नौकर (माली) अपने प्रयोग मे लाते हैं, किन्तु निर्माल्य द्रव्य का इस तरह उपयोग करना पाप माना जाता है, अत. मन्दिर के नौकरों को इस पापपूर्ण कार्य के लिए मौका देना कहाँ तक उचित है यह प्रश्न सहज ही उठता है। इस पद्धति मे सचित्त फल, फूल, पक्वान्न आदि का प्रयोग बन्द करके दिगम्बर समाज के तेरापंथी भाइयों ने काफी सादी पूजा पद्धति अपनाई। वे अभिषेक में सिर्फ जल का प्रयोग करते हैं तथा अष्टद्रव्यपूजा में भी मूर्ति को चन्दन या फूल अर्पण नहीं करते, केवल चावल, सूखे फल तथा सूखे खोपरे के टुकड़े ही काम में लाते है। किन्तु इस रीति मे पूजा के जो मन्त्र अभी रूढ़ हैं वे बीसपंथी पद्धति के ही है। इससे कुछ असत्य भाषण का दोष उत्पन्न होता है। चन्दन, पुष्प तथा अक्षत तीनो के मन्त्र अलग-अलग पढ़े जाते है, किन्तु तीनो बार केवल चावल अर्पण किये जाते। हैं इसी तरह नैवेद्य और दीप के मन्त्र अलग २ होने पर भी पदार्थ एक ही (खोपरे का टुकड़ा) अर्पित किया जाता है।

हमारी समझ मे पूजा का सर्वोत्तम तरीका यह होगा कि भगवान की निरावरण मूर्ति के सन्मुख शान्त भाव से खड़े होकर उनके गुणों का पवित्र हृदय से स्मरण किया जाय, उस प्रकार के स्तोत्रों का पठन किया जाय तथा 'मेरी भावना' जैसी उच्च भावनाओं का चिन्तन किया जाय। जैन मूर्तिपूजा का जो वास्तविक उचित उद्देश है उससे यही पद्धति सुसंगत हो सकती है ऐसी पूजा यदि सामूहिक रूप मे की जाय तो उसका प्रभाव अधिक होता है तथा सामाजिक एकता के लिए भी वह बहुत उपयोगी सिद्ध होती है।

संवेग

मुनि श्री नथमल जी

वेग शब्द विज्-धातु से बना है। विज् का अर्थ है दौड़ना, कम्पन करना। वेग दो प्रकार का होता है— शारीरिक और मानसिक। भूख, प्यास, रोना, हँसना, मल, मूत्र, वीर्य आदि शारीरिक वेग हैं। क्रोध, अभिमान, कपट लोभ, काम वासना आदि मानसिक वेग है। शारीरिक वेग को रोकने से हानि होती है और मानसिक वेग को न रोकने से हानि होती है। आयुर्वेद की दृष्टि से भी शारीरिक वेग को रोकना लाभप्रद नही है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—'वच्चमुत्तं न धारए' मल-मूत्र के वेग को मत रोको, उसे रोकने से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

मुत्तं निरोहे चक्खु, वच्चनिरोहे य जीवियं चयति।
उड्ढनिरोहे कोढ, सुक्कनिरोहे भवइ अपुमं॥

मूत्र का वेग रोकने से चक्षु की ज्योति नष्ट होती है। मल का वेग रोकने से जीवनी शक्ति का नाश होता है उर्ध्ववायु रोकने से कुष्ठरोग उत्पन्न होता है और वीर्य का वेग रोकने से पुरुषत्व की हानि होती है।

वेग का अर्थ है—स्फूर्ति या तीव्र गति से उपसर्ग

लगने से उसका अर्थ होता है मोक्ष के प्रति तीव्र अभिलाषा। मुमुक्षु साधु ही नहीं गृहस्थ भी हो सकते हैं, यदि मुमुक्षा के भाव प्रबल हों। गांधी जी एक दिन राजेन्द्र बाबू के घर पर गए। द्वारपाल ने उनकी वेषभूषा देखकर जाने नहीं दिया। दुत्कार कर वापस कर दिया। राजेन्द्र बाबू ने इस अपमान की स्थिति को देख लिया। वे दौड़कर नीचे आये और गांधी जी से माफी मांगने लगे। उत्तर में गांधी जी ने कहा—मान अपमान आत्मा का बन्धन है, मैं तो इससे मुक्त होना चाहता हूं।

ये विचार वही उठते हैं जहां ममता का भाव आता है मन के अनुकूल कार्य में गर्व की अनुभूति होती है और प्रतिकूल स्थिति में हीन भावना सताती है। यह वृत्ति मनुष्य को बार-बार दुःखी बनाती है। निन्दा और प्रशंसा में सम रहना अति कठिन है। किन्तु मुमुक्षु को उनमें सम रहना चाहिए।

लाभा लाभे, सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दा पंससासु. तहा माणावमाणयो॥

लाभ और अलाभ, सुख और दुख जीवन और मरण प्रशंसा और निन्दा, मान तथा अपमान, ये पांच युगल हैं। हर व्यक्ति में मानवीय दुर्बलता होती है। इसीलिए वह पांच युगलों में से लाभ, सुख, जीवन, प्रशंसा और मान को चाहता है, अलाभ, दुख मरण, निन्दा और अपमान को नहीं चाहता। वास्तव में जिन पांचों को व्यक्ति चाहता है वे भी बन्धन हैं और उनसे अधिक गहरे हैं, जिनको वह नहीं चाहता। क्योंकि द्वेष और निन्दा की बात समझ में आ जाती है, पर राग और प्रशंसा की बात समझ में नहीं आती। जब यह समझ में आजायेगा कि ये भी बन्धन हैं तभी साधना सफल होगी। साधु बनने मात्र से जीवन ऊपर उठ जाएगा, यह मानना भूल है। जीवन उन्नत तभी होगा जब इनकी साधना फल वती होगी। गृहस्थ की सामायिक मुहूर्त भर तक होती है, साधु उसे जीवन भर के लिए स्वीकार करता है।

सामायिक का अर्थ है—विषमता का सर्वथा परिहार लाभ और अलाभ दोनों में जीवन की विषमता है। लाभ पहाड़ है तो अलाभ गड्ढा। दोनों का समतल है सामायिक या समता पांचों युगल जीवन की विषमतायें हैं। उनका त्याग ही सामायिक है। साधक में सबसे पहले मुमुक्षा वृत्ति होनी चाहिए उसके सुप्त होने पर सब सुप्त हो जाते हैं। मुमुक्षा वृत्ति का परिणाम है—धर्म के प्रति श्रद्धा या इच्छा उत्पन्न होना। बिना प्रयोजन इच्छा जागृत नहीं होती। बन्धन से मुक्त होने की इच्छा का पहला साधन धर्म है। इसीलिए धर्म के प्रति श्रद्धा होती है फिर उसका आचरण। एक व्यक्ति क्रोध मे जल उठता है। दूसरा क्षमा करता है। क्षमा करने वाला आनन्द की अनुभूति करता है। तब वह निश्चय करता है कि क्षमा का मार्ग सुन्दर है।

संवेग से अनुत्तर धर्म के प्रति श्रद्धा होती है और उससे अधिक सवेग बढ़ता है। धर्म के प्रतिश्रद्धा है या नही इसका सही उत्तर आत्म-निरीक्षण से मिलता है। जिसके मन मे श्रद्धा होती है। वह क्षुद्र व्यवहार नही करता। जहाँ उसके प्रति श्रद्धा का अभाव होता है वहाँ सब कुछ होता है जो नहीं होना चाहिए।

धर्म की वैज्ञानिकता

धर्म वैज्ञानिक तत्त्व है। वैज्ञानिक तत्त्व यह होता है जो देशकाल से अबाधित हो जिसका निष्कर्ष सब देशकाल में समान हो। अमरीका में प्रयोग करने से सफलता मिलती है तो भारत में भी उसका प्रयोग सफल होगा। एक वर्ष पहले प्रयोग में असफलता मिल जाती भी उसमें सफलता मिलेगी सर्वत्र और सर्वदा जो प्रयोग में एक रूप रहता है वह वैज्ञानिकतत्त्व होता है। धर्म इस कसौटी में परम वैज्ञानिकतत्त्व है। धर्म आराधना, लंदन में भारत में या अमरीका में कहीं पर भी करो सबको आनन्द मिलेगा। आज कल और परसों कभी उसकी आराधना करो, उसके परिणाम में कोई अन्तर नही आएगा। धर्म की आराधना करने वाले सब मुक्त हो गए, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे। इसलिए, धर्म प्रायोगिक है, त्रैकालिक है और देश काल से अबाधित है। इसीलिए वह परम वैज्ञानिक तत्त्व है।

पाश्चात्य देशों में नए दार्शनिक यह मानने लगे कि अध्यात्म के बिना शान्ति नहीं मिलती। जैन आगमों में यह उल्लेख है कि शैक्ष साधु साधुत्व में रमण करता

हुआ क्रमशः सुखों में आगे बढ़ता है। एक वर्ष की साधना में वह भौतिक जगत के उत्कृष्ट पौदगलिक (सर्वार्थसिद्ध) सुखो को लाघ जाता है। पाँच दश और पन्द्रह वर्षों तक साधुत्वपालने पर भी यदि आनन्द नही आता, तब प्रश्न उठता है कि—यह सिद्धान्त सही नही है या वह हमारी पकड़ मे नही आया। पहली बात पकड़ की है। वह सही है या नही? इसका निर्णय पकड़ के बाद ही हो सकता है। उसे पकड़ने मे ध्यान केन्द्रित करना जरूरी है। देवताओं का स्तर जैसे-जैसे ऊपर उठता है वैसे-वैसे उनका परिग्रह, ममत्व और शरीर की अवगाहना कम होती जाती है, शान्ति बढ़ती जाती है। निवृत्ति के साथ सुख बढ़ता जाता है। हमें यथार्थ दृष्टि से देखना चाहिए। उसके बिना हम सत्य तक नही पहुच सकते। यथार्थ दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि भौतिक सुख भी क्षणिक सुख है पर दुख इसलिए माना कि उसका परिणाम सुखद है। उसकी प्राप्ति के लिए ही क्षणिक सुख का त्याग किया जाता है। सुख केवल शारीरिक ही नही, मानसिक भी होता है। सब से बड़ा सुख मन की शान्ति है। मनुष्य वाद-विवाद मे थकने पर शान्ति की शरण में जाता है। सबसे बड़ा दुख अशान्ति है। उसका मूल आवेग है। उस पर विजय पाना ही संवेग का मार्ग है।

दिल्लीपट्ट के मूलसंघी भट्टारकों का समयक्रम

शेषांश

डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

पूर्व विवेचन से यह स्पष्ट है कि दिल्ली पट्टाधीश भ० शुभचन्द्र की सुनिश्चित रूप से ज्ञात प्रथम तिथि वि० स० १४७६ है और पूर्ण सभावना इस बात की है कि वह वि० सं० १४७१ मे या उसके कुछ पूर्व भट्टारक पद प्राप्त कर चुके थे। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि उनके पूर्व पट्टधर का देहावसान एव स्वयं उनका पट्टारोहण उस समय तक हो चुका था या नही। यदि उस समय तक नही हुआ था तो १७४१ और १४७६ के मध्य किसी समय हुआ।

उनके पूर्व पट्टधर एवं गुरु भ० पद्मनन्दि का यह काल पट्टावलि के अनुसार वि० सं० १३८५-१४५० लगभग ५६ वर्ष है२। यह भ० प्रभाचन्द के प्रधान शिष्य एव पट्टधर थे पद्मनन्दि के समय तक इस उत्तर भारतीय मूलसघ का पट्ट अविभाजित था। अजमेर, ग्वालियर आदि के जो दो एक शाखा पट्ट बन चुके थे वे भी इस प्रधान पट्ट के ही आधीन थे और उनके भट्टारक अपने समकालीन दिल्ली पट्टाधीश को ही अपना अध्यक्ष एवं गुरु मानते थे, किन्तु भ० पद्मनन्दि के समय मे ही या उनके उपरान्त उनके विभिन्न शिष्यो ने जो कई पट्ट स्थापित किये वे आगे से परस्पर स्वतन्त्र चले, अपनी-अपनी पट्टावलियाँ भी वे सब इन भ० पद्मनन्दि से ही प्रारभ करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल-नन्दि सघ-बलात्कारगण-सरस्वती गच्छ की जो पट्टावलियाँ प्रचलित है और जो भद्रबाहु द्वितीय से प्रारभ होकर इन पद्मनन्दि पर समाप्त होती हैं, उनके मूलरूप का निर्माण इन्हीके समय में हुआ था। शाखापट्टों ने उस मूल पट्टावली प्रायः समान रूप से अपनाकर उसके आगे अपनी-अपनी परम्परा की पट्टावलियाँ उसमें जोड़ दी। जिस एक पट्टावली मे प्रारम्भ से लेकर २० वीं शती वि० के पूर्वार्घ तक के प्रत्येक आचार्य का पृथक २ पट्टारोहण काल प्राप्त होता है वह चित्तौड़-आमेर पट्ट का है। उसमें यह पट्टकाल १६ वीं या १७ वीं शती ई० से

१. देखिए अनेकान्त, वर्ष १७ कि० २ (जून १९६४, पृ० ५४, ५६, ७४

२. वही, पृ० ५४

जोड़े जाने प्रारंभ हुए लगते हैं और प्रायः उसी समय संभवतया पूर्वाचार्यों के पट्टकाल भी अनुश्रुति या अनुमान के आधार पर उसमें दर्ज कर दिये गये प्रतीत होते हैं। अतएव उनकी जाँच अपेक्षित है।

नन्दिसंघ के इन भट्टारकों मे दिल्लीपट्टाधीश पद्मनन्दि का अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान है। वह एक महान प्रभावक आचार्य, उभयभाषाप्रवीण विद्वान एवं साहित्यकार और राजमान्य गुरु थे। एक पट्टावली में उन्हे 'शास्त्रार्थवित एवं तपस्वी' विशेषण दिया है३, दूसरी मे इन्हें 'अध्यात्मशास्त्री एवं यथाख्यात चारित्र का प्रचारक' बताया है४ और एक अन्य में विशुद्धसिद्धांतरहस्यरत्न रत्नाकर' तथा 'शाश्वत प्रतिष्ठा-प्रतिमागरिष्ठ'५। एक पट्टावलि के अन्त में लिखा है कि 'बलात्कारगण के अग्रणी इन गुरु पद्मनन्दि ने उज्जयंत (गिरनार) गिरि पर सरस्वती की पाषाण प्रतिमा को बुलवा दिया था'३। इनके शिष्यों प्रशिष्यों आदि ने भी अपने अभिलेखों एव ग्रन्थप्रशस्तियों में इनका प्रचुर यशोगान किया है। इनकी कृतियों के रूप मे श्रावकाचार सारोद्धार, अनेक स्तोत्र, कई पूजाएं वर्धमान चरित्र आदि प्रसिद्ध हैं इनका शिष्य परिवार भी पर्याप्त विशाल था, जिनमें इनके प्रधान पट्टधर शुभचन्द्र मागवाडा, (बागड) एवं ईडर पट्टों के संस्थापक सकलकीर्ति, सूरत पट्ट के संस्थापक देवेन्द्रकीर्ति, मलखेड पट्ट के रत्नकीर्ति, ग्वालियर पट्ट के त्रिलोककीर्ति या (देवेन्द्रकीर्ति), तथा मदनकीर्ति, विशालकीर्ति, नेमिचन्द्र आर्यिका रत्नश्री कवि जयमित्र हल्ल आदि प्रसिद्ध हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भ० शुभचन्द्र के उल्लेख वि० स० १४७१ के पश्चात् प्राप्त होते हैं। भ० देवेन्द्रकीर्त्ति का पट्टारंभ पट्टावलियों में वि० स० १४४४ और सकलकीर्त्ति का १४५१ पाया जाता है, किन्तु विशेष ऊहापोह से ऐसा लगता है कि सकलकीर्त्ति गुरु पद्मनन्दि के पास नैणवां में वि० स० १४६९ में गये तथा उन्हें आचार्य पट्ट की प्राप्ति १४७१ या १४७७ में हुई। उनके प्राप्त मूर्त्तिलेखों की लिपियाँ भी सं० १४९०, १४९२, १४९७ है७। टोडानगर (संभवतया टोडारायसिंह) में भूगर्भ से निकली २६ जिन प्रतिमाओं पर अंकित लेखों से विदित होता है कि उनकी प्रतिष्ठा सं० १४७० मे पद्मनन्दि के शिष्य विशालकीर्ति ने किन्ही गंगवाल गोत्रीय खडेलवाल श्रावक के लिये की थी८। इसी वर्ष (सन् १४१३ ई०) को इन्हीं विशालकीर्ति द्वारा बिल्हण और उसके पुत्रो के लिये प्रतिष्ठापित मूर्त्तियाँ टोंक में प्राप्तहुई बताई जाती हैं९ १४१५ (वि०सं १४७२) में इन पद्मनन्दि के शिष्य नेमिचन्द ने आपा नामक किसी व्यक्ति के लिये प्रतिष्ठा की थी और स्वयं उन्होंने (?) असपाल नामक किसी व्यक्ति द्वारा उसी वर्ष पार्श्व प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई थी१०। सं० १४७२ को ही फागुन ब० १ को जिन भ० पद्मनन्दि ने हूँबड़ जातीय उत्तरेश्वर गोत्रीय श्रावकों के लिये आदिनाथ पंचतीर्थी की प्रतिष्ठा की थी११। वह भी यही पद्मनन्दि प्रतीत होते हैं। उसी वर्ष एवं तिथि के एक अन्य लेख के अनुसार उसी जाति एवं गोत्र के अन्य श्रावकों ने इन्हीं के उपदेश से मुनिसुव्रत जिनकी प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई थी१२। इस लेख के 'श्री पद्मनन्द्युपदेशा श्री नेमिचन्द्र शिष्य' से ऐसा लगता है कि वह प्रतिष्ठा इन्होंने अपने शिष्य नेमिचन्द्र द्वारा कराई थी। इसी वर्ष एवं तिथि को हूँबड़ श्रावकों के लिये ही पद्मचन्द्र (पद्मनन्दि) शिष्य नेमिचन्द्र द्वारा चित्तौड नगर में प्रतिष्ठा करने का एक अन्य लेख मिलता है१३। सं० १४८० का एक लेख उनके किसी पट्टधर का है (नाम खडित है)१४। यह नेमिचन्द्र वही प्रतीत होते हैं जिनका उल्लेख पद्मनन्दि के प्रपट्ट पर जिनचन्द्र दीक्षा गुरु के रूप मे पाया जाता है।

इस सबसे यही फलितार्थ निकलता है कि भट्टारक पद्मनन्दि की उत्तरावधि वि० सं० १४७२ (सन् १४१५

३. जै० सि० भास्कर भा० १, कि० ४, पृ० ८१-८४
४. वही, शुभचन्द्र गुर्वावलि
५. वही, भाग ६, कि० २, पृ० १०८-११६
६. वही, भा० २२, कि० १, पृ० ५१-५२
७. शोधांक १६, पृ० २०८-२०९
८. जै० प्र० प्रशास्ति संग्रह, भा० १, प्रस्तावना पृ० २१
९. कैलाशचन्द जैन—जैनिज्म इन राजस्थान, पृ० ७५ वीरवाणी ७ के आधार से
१०. पट्टी, पृ० ७५—अनेकांत, १३, १२६ के आधार से
११. बीकानेर जै० ले० संग्रह, नं० १६४७।

ई०) के आसपास है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि वि० सं १४७० और १४७६ के मध्य किसी समय उनका स्वर्गवास हुआ।

वि० सं १४६१ की पद्मनन्दि के गुरु भाई अभयकीर्त्ति की दिल्ली नगर मे ही लिखाई गई एक प्रशस्ति में गुरु प्रभाचन्द्र का तो उल्लेख है किन्तु पद्मनन्दि का कोई उल्लेख नही है। इसी प्रकार वि० स० १४५४ में प्रभाचन्द्र के गृहस्थ शिष्य धनपाल कवि द्वारा रचित बाहुबलिचरित में भी भ० पद्मनन्दि का कोई उल्लेख नहीं है१५। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने चंदवाड़ के चौहान नरेश अभयचन्द्र के मन्त्री सधाधिप वासाधर की प्रेरणा से की थी। प्रशस्ति में वासाधर के आठ पुत्रों का उल्लेख है१६। इन्हीं वासाधर के हितार्थ प्रस्तुत भ० पद्मनन्दि ने अपना श्रावकाचारसारोद्धार (पद्मनन्दि श्रावकाचार) लिखा था। ग्रन्थ में रचनाकाल नहीं दिया दिया है और उसकी प्रशस्ति मे वासाधर के पुत्रों का भी कोई उल्लेख नही है, किन्तु उनके पितामह, पिता और सात भाइयो का वर्णन है और उनके पिता सोमदेव के अवकाश ग्रहण करने की बात भी ऐसे लिखी है जैसे कि वह थोड़े समय पूर्व की ही घटना हो१७। इससे प्रतीत होता है कि पद्मनन्दि के उक्त ग्रन्थ की रचना वि० स० १४५४ से पर्याप्त पूर्व संभव है पद्रह-बीस वर्ष पूर्व हो चुकी वि० सं० १४५० में इन्हीं प्रभाचन्द शिष्य भ० पद्मनन्दि ने चौहान राजा भंडुदेव (जो शायद भदावर प्रान्तके कोई नरेश थे) के पुत्र श्री सुवर के राज्य में गोलाराडान्वयी श्रावकों के लिये धातुमयी आदिनाथ समवसरण की प्रतिष्ठा की थी१८। उपरोक्त के अतिरिक्त इनकी कोई निश्चित तिथि अभी तक ज्ञात नहीं हुई है।

हां, बीकानेर प्रदेश में दो प्रतिमा लेख ऐसे प्राप्त हुए हैं जिनमें 'श्री मूलसंघे भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेव गुरुपदेशेन' रूप में एक पद्मनन्दि का उल्लेख प्राप्त होता है। इन लेखों में से एक संवत् १३७३ का है और दूसरा संवत् १३८७ का है१९। अब प्रश्न यह है कि क्या यह 'मूलसंघी भट्टारक पद्मनन्दि' हमारे दिल्ली पट्टाधीश भ० पद्मनन्दि से अभिन्न हैं जिनका कि अस्तित्व वि० सं० १४७०-७१ तक तो पाया जाता है? यदि ऐसा माना जायेगा तो उनका भट्टारक जीवन या पट्टकाल लगभग एक सौ वर्ष बैठता है जब कि पट्टावलियों के अनुसार भी वह केवल ६५ वर्ष ही है। इसके अतिरिक्त जैसा कि आगे देखेंगे उनके गुरु प्रभाचन्द्र का अस्तित्व वि० स० १४१६ तक संभव है। ऐसी स्थिति में पद्मनंदि का आचार्य काल (भट्टारक जीवन या पट्टकाल) उसके आसपास या कुछ बाद ही प्रारम्भ होना चाहिए। पट्टावलि प्रतिपादित ६५ वर्ष का समय उनके सम्पूर्ण मुनि जीवन का सूचक हो और यह संख्या ठीक हो तो भी वि० सं० १४१६ से पांच-सात वर्ष पूर्व दीक्षित होने पर वह ठीक बैठ जाता है—उसके पूर्व उनका भट्टारक के रूप में अस्तित्व वहां होना असम्भव सा लगता है। सुनिश्चित ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार से जिस प्रकार उनकी उत्तरावधि वि० स० १४५० से बीस या पच्चीस वर्ष आगे खिसकानी पड़ी है उसी प्रकार उनकी पूर्वावधि १३८५ में भी उतनी ही, बल्कि उससे कुछ अधिक वर्षों की वृद्धि करनी पड़ेगी२०। अतएव बीकानेर के उक्त दोनो लेखों की तिथियों के पढ़ने लिखने या छपने में यदि कोई भूल नहीं हुई है तो

---

१५. जै० ग्र० प्रशस्ति संग्रह, भाग २, पृ० ३२-३७

१६. वही। राजा अभयचन्द्र की अंतिम ज्ञाततिथि भी वि०-सं० १४५४ ही है।

१७. जै० ग्र० प्रशस्ति संग्रह, भा० १ पृ० २०-२३

१८. कामताप्रसाद जैन—जै० प्रतिमा लेख संग्रह,

१९. बीकानेर जैन लं० सग्रह, न० २५६ और ३१८

२०. जैसा कथन किया जा चुका है पट्टावलियों में भ० पद्मनदि का पट्टकाल वि० सं० १३८५-१४५० दिया है। किन्तु पं० परमानन्द जी ने (जै० ग्र० प्र० सग्रह भाग १, पृ० १६, २१ पर) न जाने किस आधार पर सं० १३७५ सूचित किया है। इसी प्रकार डा० कैलाशचन्द्र ने जैनिज्म इन राजस्थान, पृ० ७४ पर) भी न जाने किस आधार पर १३२५ ई० (वि० सं० १३८२) कथन किया है।

उनके पद्मनन्दि कोई दूसरे ही पद्मनन्दि हैं—प्रभाचन्द्र के पट्टधर दिल्ली पट्टाधीश पद्मनन्दि नहीं हैं। यदि वे वर्ष (१३७१ और १३८७) शक संवत् के वर्ष हों तो भी उनका अभिप्राय इन पद्मनन्दि से नहीं हो सकता दोनों लेखों को देखने से इसमें भी सन्देह नही लगता कि उनमें उल्लिखित पद्मनन्दि परस्पर में अभिन्न हैं। एक पद्मनंदि (या पंकजनन्दि) भट्टारक ने वि० स० १३६२ मे 'आराधना संग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की थी२१। सम्भव है कि उन लेखों के पद्मनन्दि यह ही हों।

दिल्ली पट्टाधीश पद्मनन्दि के गुरु एवं पूर्व पट्टधर भ० प्रभाचन्द्र और भी महान एवं प्रभावक दिगम्बराचार्य थे। पट्टावली के अनुसार उनका पट्टकाल वि० स० १३१०-१३८५, लगभग ७५ वर्ष है। किन्तु उनकी सर्व प्रथम सुनिश्चित एवं ज्ञात तिथि वि० सं० १४०८ है—उस वर्ष की उनके द्वारा प्रतिष्ठित दो जिन प्रतिमाएँ फफोसा तीर्थ पर विद्यमान बताई जाती है२२। वि० सं० १४१२ में जिन प्रतिष्ठाचार्य प्रभाचन्द्र ने कुछ लंबकञ्चुक श्रावकों के लिए धातुमयी अर्हत् प्रतिमा की प्रतिष्ठा की थी २३। वह यही प्रतीत होते हैं। वि० सं० १४११ और १४१३ के प्रतिमा लेख इन्ही के है२४। वि० सं० १४१६ में इनके शिष्य ब्रह्मनाथूराम ने दिल्ली में ही स्वपठनार्थ आराधना पंजिका की प्रतिलिपि की थी२५। उसकी प्रशस्ति मे उन्होने स्वगुरु प्रभाचन्द्र का जिस प्रकार उल्लेख किया है उससे वह उस समय विद्यमान रहे प्रतीत होते हैं। उसके उपरान्त भी वह विद्यमान रहे या नहीं और रहे तो कितने समय तक यह नहीं कहा जा सकता।

पं० पन्नालाल दूनी वालों के विद्वज्जनबोधक के अनुसार वि० सं० १३०५ में यह प्रभाचन्द्र दिल्ली के बादशाह के निमन्त्रण पर उसके दरबार में गये और उसके कहने पर लाल वस्त्र धारण करके रक्ताम्बर हो गये। बखतराम के बुद्धि विलास के अनुसार यह सं० १३७५ में दिल्ली आये थे और तभी बादशाह फीरोज शाह के दरबार में इन्होंने राघो और चेतन नामक विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था और अपने मन्त्र बल से अमावस्या के दिन चन्द्रमा दिखला दिया था। कुछ अनुश्रुतियों में यह घटनाएं अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में हुई बताई जाती है। श्वेताम्बराचार्य जिन प्रभसूरि (विविध तीर्थकल्प कर्त्ता) के संबंध में भी ऐसी ही दन्त कथाएं प्रचलित हैं—किन्तु उनका सम्बंध मुहम्मद तुगलक के दरबार से रहा बताया जाता है। यह भी कहा जाता है कि प्रभाचन्द्र अजमेर से सम्भवतया सुलतान के निमन्त्रण पर दिल्ली आये थे और फिर अन्त तक यहीं रहे। दिल्ली में इस पट्ट के वही संस्थापक एवं प्रथम पट्टाधीश थे। इनके शिष्य कवि धनपाल ने अपने पूर्वोक्त बाहुबलिचरित (वि० सं० १४५४) में लिखा है कि 'गुर्जर देश के पल्हणपुर नगर में राजा वीसलदेव के शासनकाल में पुरवाडवंशी जिनभक्त राज्यश्रेष्ठि भोवई थे, उनके पुत्र सुहड थे और सुहड के पुत्र यह धनपाल थे। एक बार महागणि श्री प्रभाचन्द्र भ्रमण करते हुए अनेक शिष्यों सहित उस नगर मे पधारे। किशोर धनपाल दर्शनार्थ गये और हाथ जोड़ कर गुरु को नमस्कार किया। उसे देखकर गुरु ने कहा कि यह लड़का मेरे प्रसाद से विचक्षण पुरुष बनेगा। अस्तु धनपाल गुरु की सेवा में रहकर विद्याभ्यास करने लगा और उन्ही के साथ पट्टण, खंभात, धारानगरी, देवगिरि आदि होता हुआ अन्त में योगिनीपुर (दिल्ली) पहुँचा। वहाँ भव्यजनों ने एक सुमहोत्सव किया और प्रभाचन्द्र को रत्नकीर्ति के पट्ट पर अभिषिक्त किया। इन भ० प्रभाचन्द्र ने महमूद साहि के मन को अनुरंजित किया था और अपनी विद्या द्वारा वादियों के मान का भंजन किया था। कुछ समय पश्चात् गुरु की आज्ञा लेकर धनपाल सौरिपुर की यात्रा के लिए गये। मार्ग में चंदवाड नाम का सुन्दर नगर देखा और वहाँ उनकी जिनभक्त वासाधर से भेंट हुई।' उसके उपरान्त वह फिर दिल्ली आ गये प्रतीत होते हैं। और कालान्तर में वासाधर के निमन्त्रण पर चन्द्रवाड में ही आकर रहने

२१. दि० जै० ग्रन्थ कर्त्ता और उनके ग्रन्थ
२२. जैन यात्रा दर्पण, पृ० १६।
२३. कामताप्रसाद जैन—जैन प्रतिमालेख संग्रह
२४. जैन सि० भास्कर, भा० २२, कि० २, पृ० ४-५
२५. ना० रा० प्रेमी—जै० सा० इ०, पृ० ८१ फु० नोट

लगे। वहाँ उन्ही की प्रेरणा से उन्होने अपना बाहुबलि चरित (अपभ्रंश) लिखा जो वि० स० १४५४ में समाप्त हुआ।

उपरोक्त वर्णनों मे उल्लिखित दिल्ली के सुलतानों के तीन नाम प्राप्त होते हैं। फ़ीरोज, अलाउद्दीन और महमूद शाह। खिलजी वश के प्रथम सुलतान जला-लुद्दीन फ़ीरोज ने वि० सं० १३४७ से १३५३ तक राज्य किया। उसके उत्तराधिकारी अलाउद्दीन खिलजी ने वि० सं० १३५३ से १३७३ तक। उसके बाद गयासुद्दीन तुग़लक ने १३७७ से १३८२ तक मुहम्मद बिन तुग़लक (मुहम्मद शाह) ने १३८२ से १४०८ तक और फीरोज शाह तुगलक ने १४०८ से १४४५ तक।

प्रभाचन्द्र की उत्तरावधि को तया धनपाल के कथन को ध्यान में रखते हुए प्रभाचन्द्र का दिल्ली आगमन स० १३०५ में तो हो ही नही सकता। यह शक वर्ष हो अर्थात् वि० सं० १४४०) हों तो वह भी असम्भव है। जलालुद्दीन फीरोज के समय मे आने की भी संभावना कम है। जायसी की पद्मावत के अनुसार राघो चेतन अलाउद्दीन खिलजी का दरबारी था—किन्तु उसके समय की भी यह घटना प्रतीत नही होती। सं० १३७५ की तिथि भी मात्र अनुमान पर आधारित प्रतीत होती है। जिनप्रभसूरि मुहम्मद तुगलक के समय में दिल्ली पधारे थे, उनसे सबधित अनुश्रुति भी सुलतान के दर्बार में उनके द्वारा राघो चेतन की पराजय और अमावस्या को चन्द्रमा दिखाने आदि का वर्णन करती है। अपने आरंभिक शासन काल में यह सुलतान पर धर्म सहिष्णु था, हिन्दू जैन आदि मुसलमानेतर सन्तों का सन्मान करता था और उनके वाद विवादों में रस लेता था। उसने दिल्ली के सरावगियों के हितार्थ एकफर्मान भी जारी किया था[२६]। उसका उत्तराधिकारी फ़ीरोज तुग़लक पर धर्म असहिष्णु कट्टर मुसलमान था। अतएव धनपाल द्वारा उल्लिखित महमूदसाहि जिसने भ० प्रभाचन्द्र का सन्मान किया था, उनसे प्रसन्न था और जिसके दर्बार मे उन्होंने वादियों का मान भजन किया था, उनसे प्रसन्न था यह मुहम्मद बिन तुगलक (वि० सं० १३८२-१४०८) ही प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि वे उसके राज्यकाल के आरम्भ में ही उसके निमन्त्रण पर यह दिल्ली पधारे थे और यहीं पट्टस्थापन करके रह गये। सुलतान की इच्छानुसार इन्होंने रक्ताम्बर भा धारण कर लिया प्रतीत होता है। अस्तु हो सकता है कि १३७५ के लगभग यह अजमेर मे स्वगुरु रत्नकीर्ति के स्वर्गवास के उपरान्त पट्ट पर बैठे हों, १३८२-८३ मे दिल्ली पधारे हों, १३८५ न दिल्ली पट्ट की स्थापना की हो। वि० सं० १३८७ के पश्चात् ही सुलतान की प्रवृत्ति बदलने लगी थी, उसकी नृशंसता एव असहिष्णुता भी बढ़ने लगी थी अतः ऐसी स्थिति में यह देशाटन को निकल गये हों वि० सं० १४०४ के लग-भग धनपाल से भेंट हुई और एक दो वर्ष बाद उसी सुल्तान के अन्तिम वर्षो मे फिर दिल्ली आ गये हों। भव्य जनों ने उनके इस पुनरागमन पर महोत्सव किया हो। वि० सं० १४२० के लगभग धनपाल शौरिपुर आदि की यात्रा के लिए गया हो और फिर स० १४२५ के लगभग गुरु का स्वर्गवास हो जाने पर चन्द्रवाड़ मे ही जाकर रहने लगा हो।

भ० प्रभाचन्द्र के गुरु एवं पूर्व पट्टधर रत्नकीर्ति का पट्टकाल पट्टावली मे वि० सं० १२९६-१३१० दिया है, जो अवश्य ही गलत है किन्तु अवधि १४ या १५ वर्ष ठीक हो सकती है। वह अजमेर मे ही पट्ट पर बैठे और वही शान्त हुए थे, अतः उनका समय वि० सं० १३६०-७५ के लगभग रहा प्रतीत होता है।

उनके पूर्व पट्टधर भ० धर्मचन्द्र थे जिनका काल वि० सं० १२७१-९६ लगभग २५ वर्ष बताया है। इसमे भी तिथियाँ गलत हैं, वर्ष संख्या ठीक हो सकती है। उनका एक बहुधा प्रयुक्त विशेषण—'हम्मीर भूपाल समर्चित पादपद्म' प्राप्त होता है, जिससे स्पष्ट है कि वह हम्मीर नाम के किसी नरेश से सम्मानित हुए थे। रणथभौर के सुप्रसिद्ध चौहान नरेश राणा हम्मीरदेव का समय वि० सं० १३४०-५८ है। और हमारी गणना के अनुसार भ० धर्मचन्द्र का पट्ट काल वि० स० १ ६५-१३६० आता है। अतएव यह दोनो व्यक्ति समकालीन थे और इस बात की पूरी सम्भावना है कि इन्ही हम्मीर भूपाल द्वारा भ० धर्मचन्द सम्मानित हुए थे। रणथंभौर

२६. शोधांक—१९, पृ० ३२४-३२५

भारतीय दर्शनकी तीन धाराएँ

भगवानदास विज, एम० ए० (संस्कृत)

जब से पाश्चात्य विद्वानों ने भारत के प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ किया है तब से भारतीय दर्शन के प्रति कुछ गलत धारणाए जम गई हैं। उदाहरण के रूप में कुछ पाश्चात्य विचारकों का मत है कि समस्त भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का उद्गम उपनिषदों से हुआ है। उनका कहना है कि भारत में प्रचलित समस्त धार्मिक परम्पराएँ 'हिन्दु धर्म' की ही विभिन्न शाखाएँ हैं। कुछ एक तो यहाँ तक पहुँच गये है कि भगवान् महावीर तथा बुद्ध ने उपनिषद् काल के ऋषियों के कार्य को ही आगे बढ़ाया। इसमें उनको वैयक्तिक कोई देन नहीं है। अतः बौद्ध और जैन दोनों परम्पराएँ अपना भिन्न अस्तित्व न रखकर उपनिषद् परम्परा के ही अतिक्रमण रूप हैं। किन्तु ये विचार कहाँ तक तर्क-संगत हैं, यह ब्राह्मण (हिन्दू), बौद्ध, तथा जैन तीनों परम्पराओं के मूलभूत सिद्धान्तों के विवेचन से पता चलता है। प्रस्तुत लेख में तीनों परम्पराओं के मूलभूत सिद्धान्तों का ही स्पष्टीकरण किया जायेगा।

भारतीय दर्शन की तीन महत्वपूर्ण धाराएँ हैं। प्रथम ब्राह्मण परम्परा का मूल आधार है उपनिषदों का आत्मवाद, दूसरी बौद्ध परम्परा का अनात्मवाद और तीसरी जैन परम्परा का स्याद्वाद। 'सत्य' पर पहुँचने के लिए तीनों परम्पराओं के सर्वथा भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। उपनिषद् तथा ब्राह्मण परम्परा का अनुसरण करने वाले अन्य सम्प्रदाय 'सत्य' को आन्तरिक शक्ति अर्थात् आत्मा पर आधारित मानते हैं। ये आत्मा को निर्विकार, निर्विकल्प तथा अस्थिर पदार्थों से सर्वथा भिन्न मानते हैं। इन परम्पराओं का अभिमत है कि 'आत्मा' का बाह्य पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसे 'आत्मवाद' का सिद्धान्त कहते हैं। अपने मौलिक सिद्धान्त के रूप में अद्वैत वेदान्त बाह्य दिखाई देने वाली अस्थिर वस्तुओं को सत्य नहीं मानता, बल्कि उन्हें माया के आवरण के कारण मिथ्या दृष्टि का परिणाम

का यह चौहान वंश अजमेर के ही चौहान वंश की शाखा था और राणा हम्मीर देव सुप्रसिद्ध पृथ्वीराज चौहान के ही वंशज थे।

इस प्रकार इन मूलसंघी भट्टारकों के पट्टकाल निम्न प्रकार स्थिर होते हैं—

धर्मचन्द्र वि० सं० १३३५-१३६० (१२७८-१३०३) ई० लगभग
रत्नकीर्त्ति ,, १३६०-७५ (१३०३-१३१८ ई०) लगभग
प्रभाचन्द्र ,, १३७५-१४२५ (१३१८-१३६८) ई० लगभग
पद्मनन्दि वि० सं० १४२५-१४७५ (१३६८-१४१८ ई०) लगभग
शुभचन्द्र ,, १४७५-१५०७ (१४१८-१४५० ई०) लगभग
जिनचन्द्र ,, १५०७,१५७१ (१४५०-१५१४ ई०) लगभग

इससे स्पष्ट है कि जिनचन्द्र से पूर्व की सब तिथियाँ पट्टावली में १६ वीं वा १७ वीं शती में केवल अनुमान से दर्ज करवा दी गई हैं, वे सही नहीं हैं।

मानता है। 'आत्मा' और परमात्मा में कोई भेद नहीं है, ऐसा शंकराचार्य ने स्वीकार किया है। संक्षेप में अद्वैत वेदान्त आत्मा को परिवर्तन रहित एवं स्वप्रकाश चैतन्य स्वरूप मानता है।

सांख्य दर्शन यद्यपि इतनी दूर तो नहीं जाता, परन्तु फिर भी आत्मा की स्थिरता एव शाश्वतता को स्वीकार करता है। सांख्य मे आत्मा के स्थान पर पुरुष शब्द का प्रयोग किया गया है। न्याय तथा वैशेषिक आत्मा के सत्य स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार आत्मा अद्वितीय है। वे आत्मा तथा उसके गुणों को समान रूप देते है। ये परम्पराएं आत्मा के अस्तित्व को केवल स्वीकार ही नहीं करतीं, बल्कि इच्छा, अनिच्छा सुख-दुःख आदि को आत्मा के ही गुण मानती है। इनके अनुसार आत्मा शाश्वत तथा विनाशहीन है। यह 'विभु' मानी गई है, क्योंकि समय अथवा देश आदि का इस पर प्रभाव नहीं पड़ता है[१]। दोनों परम्पराओं के अध्यात्म शास्त्र ज्ञानशास्त्र तथा आचारशास्त्र का एक मात्र केन्द्र है—आत्मा। ज्ञानशास्त्र में आत्मा ही अनुभव का ऐक्य तथा पूर्णता स्थापित करती है। ये परम्पराएँ दूसरी विचार-पद्धतियों की अपेक्षा, अनुमान, स्मृति तथा वैयक्तिक साम्य का अच्छी तरह से विवेचन करती हैं। यहाँ बन्ध, आत्मा का मिथ्याज्ञान माना गया है अथवा यूँ कह सकते हैं कि अनात्मा का आत्मा के साथ साम्य हो गया है। 'आत्मन्यनात्मा ध्यासे' इसके विपरीत मोक्ष आत्मा तथा अनात्मा का स्पष्टीकरण है। अतः यह स्पष्ट है कि ये सब परम्पराएं आत्मा को मुख्यता देती हैं। इन परम्पराओं का मूल आधार उपनिषद् विचार पद्धति है जहाँ आत्मा को ही परमात्मा माना गया है।

दूसरी परम्परा बौद्धों की है जिसमें आत्मा तथा इससे सम्बन्धित अन्य तत्वों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता। आचार्य शान्तरक्षित के अनुसार नैरात्म्यवाद भगवान् बुद्ध के विचारों को सर्वथा भिन्न मानता है :—

> एतच्च सुगतसेष्टम् भावो नैरात्म्यकीर्तनात्।
> सर्वतोर्थकृतां तस्मात् स्थितो मूर्धनि तथागतः ॥
> टी० एस० ३३४०

इस परम्परा के अनुसार वस्तुओं में कोई निर्विकार तथा निर्विकल्प नाम का आन्तरिक तत्त्व नही है। परन्तु प्रत्येक वस्तु प्रवाह समान है। बौद्धों के लिए अस्तित्व क्षणिक स्वलक्षण तथा धर्मपात्र है। यह नश्वर तथा अमूर्त रूप है। अतः यहाँ आत्मा की शाश्वतता को भ्रान्तिजनक माना गया है जो कि अविद्या के कारण मिथ्या विचारो की उत्पत्ति है। इसे केवल रूप विषयक सत्यता कहा जा सकता है। इस प्रकार से बौद्ध अपने ज्ञानशास्त्र तथा आचार शास्त्र के साथ अध्यात्मविद्या का साम्य स्थापित करते हैं। यही नहीं अनुमान, अनुभव तथा मानसिक रचना का विकल्प भी आत्मा की अस्थिरता पर आधारित है। यहाँ तक कि इस सिद्धान्त का कर्म तथा पुर्नजन्म के सिद्धान्त के साथ भी समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। अविद्या जो कि समस्त दुःखों का मूल कारण है, आत्मा में मिथ्या विश्वास है। ज्ञान का अर्थ है – इस मिथ्या विश्वास का हट जाना तथा इससे उत्पन्न बुराइयों का सर्वथा उन्मूलन।

प्रस्तुत विचार पद्धतियाँ ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों, एक दूसरे का विरोध करती है। जहाँ ब्राह्मण परम्परा आत्मा की नित्यता को स्वीकार करती है, वहाँ बौद्ध परम्परा केवल आत्मा ही नहीं परन्तु दूसरे तत्वों को भी शून्य मानती है। बौद्ध आत्मा की स्थिति को कुछ एक विचार शृंखला के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

तीसरी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक परम्परा है 'जैन' जहां ब्राह्मण परम्परा तथा बौद्ध एक दूसरे का विरोध करती हैं, वहाँ जैन दोनों के विरोध का समन्वय करती है अर्थात् यह आत्मा तथा इसके पर्यायों की समान सत्यता प्रदान करती है। द्रव्य 'आत्मा' के बिना पर्याय का अस्तित्व नही है, तथा पर्याय के

१—न्याय-भाष्य १-१-१०

बिना द्रव्य (आत्मा) का अस्तित्व नहीं है[१]। सत्यता अनेकान्तात्मक है, अत: स्वभाव भी विभिन्न प्रकार का है। एकात्मक होते हुए भी पार्थक्य लिए हुए है, सार्वलौकिक होकर भी विशेष रूप से स्थायी होकर भी परिवर्तनशील है।

इस प्रकार से जैन दार्शनिकों ने अपने ज्ञान-शास्त्र का निर्माण इस विचारपद्धति पर किया तथा स्याद्वाद के तर्क का प्रतिपादन किया। यहाँ स्याद्वाद पर दो शब्द उपयुक्त होगे।

स्याद्वाद अथवा 'प्रत्येक निर्णय सापेक्ष है' का सिद्धान्त जैन परम्परा की आधार-शिला है। इसने ही जैन धर्म को 'सहिष्णु धर्म' के नाम से प्रसिद्ध किया। जैन विचारकों का कथन है कि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं से सम्बन्धित तत्कालीन अथवा कालीन ज्ञान जो हमारे पास है वह यह सिद्ध करता है कि प्रत्येक वस्तु अथवा द्रव्य के अनेक गुण हैं। एक सर्वज्ञ 'केवल ज्ञान' के द्वारा अनेक गुणों वाले द्रव्य का तत्कालीन ज्ञान प्राप्त कर सकता है, परन्तु अज्ञानी तथा अनभिज्ञ ऐसा नहीं कर पाता। अत: दिन प्रतिदिन के जीवन में जो हम किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह केवल विशेष समय तथा परिस्थितियों पर आधारित होता है। अत: हमारा ज्ञान सीमित तथा हितों के विपरीत होता है। हमारे दिन प्रतिदिन के झगड़ों का भी एकमात्र यही कारण है। यहाँ पर चार अन्धों का भी उदाहरण दिया जाता है जिन्होंने हाथी का स्वरूप विभिन्न प्रकार से दिया, क्योंकि उन्होंने हाथी को सम्पूर्ण रूप से न देखकर एक-एक अंग को छूकर देखा।

अतः यह जैन विचार पद्धति तीसरी धारा है जो दो अतियों अर्थात् 'आत्मा है' तथा 'आत्मा नहीं है' के मध्य मार्ग को अपनाती है। अत: यह परम्परा अब्राह्मण तथा अबौद्ध भी कही जाती है। अब्राह्मण इसलिए क्योंकि इस परम्परा ने वेदान्त के आत्मवाद के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से अस्वीकार नहीं किया और अबौद्ध इसलिए क्योंकि इसने बुद्ध धर्म के अनात्मवाद' के सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं किया।

१--द्रव्य पर्याय वियुतं पर्याया द्रव्य वर्जिताः।
क्व कदा केन किं रूपा दृष्टा मानेन केनवा ॥
सन्मतितर्क

२--उमा स्वाति तत्वार्थ सूत्र ५

अनेकान्त के ग्राहक बनें

'अनेकान्त' पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थानों, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों और जैनश्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे 'अनेकान्त' के ग्राहक बनें और बनावें।

देवताओं का गढ़ : देवगढ़

श्री नीरज जैन, सतना

आज से तीस वर्ष पूर्व मेरे पिता जी ने बुन्देलखंड की तीर्थ बन्दना की थी। तब मैं केवल आठ वर्ष का था परन्तु बैलगाडियों पर लम्बे समय तक घूमते रहने के कारण उस यात्रा की अनेक धुंधली परन्तु अमिट स्मृतियाँ आज भी मेरे मस्तिष्क मे सुरक्षित है। देवगढ़ की याद उन सब मे प्रमुख है जहाँ मूर्तियो के अम्बार लगे थे और एक मन्दिर से दूसरे मन्दिर तक जाने के लिए मूर्तियों के टुकड़ों पर से ही होकर जाना पड़ता था। जब तक श्रद्धालु यात्रियों ने दर्शन पूजन का पुण्य लूटा, तब तक हम अज्ञान बालकों ने कलात्मक मूर्ति खण्डों का एक छोटा ढेर ही एकत्र कर लिया था।
इस यात्रा के बाद देवगढ़ में गजरथ की बात सुनी, जीर्णोद्धार के समाचार पढ़े, डाकुओं से आतंक की खबरे सुनी और अंत मे दो तीन वर्ष पूर्व सुना कि देवगढ़ की अनेक महत्वपूर्ण सुन्दर मूर्तियों का सिर काट कर कुछेक नराधम आधुनिक मूर्ति-भंजक तस्करों ने चंगेज खाँ और औरंगजेब को भी मात कर दिया है, पर देवगढ़ दर्शन का सुयोग केवल इसी माह मिल सका।

देवगढ़ की मूर्ति कला समय की अपेक्षा उत्तर गुप्त काल से लेकर १८ वीं शताब्दी तक की मंजिलो से गुजरी है और प्राय. सभी कालो के शिलालेख यहां उपलब्ध है जिनसे भारत मे जैन वास्तु शिल्प के क्रमिक विकास और नागरी लिपि के विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जैन शासन देवताओं का भी जितना वैविध्य-पूर्ण और सांगोपांग अंकन देवगढ़ में पाया जाता है उतना अन्यत्र बहुत कम देखा गया है। यहां अंकित कला की इन विधाओं का विश्लेषण एक छोटे से लेख में कर सकना संभव नही है इस लिए इस विषय पर अलग से लिखने का प्रयास मैंने प्रारम्भ किया है। यहां तो इस महत्व पूर्ण क्षेत्र की साधारण जानकारी कराना ही मेरा अभीष्ट है।

दिल्ली बम्बई रेल मार्ग पर ललितपुर एक प्रमुख स्टेशन है यह एक अच्छा व्यापारिक केन्द्र है और उत्तर प्रदेश झाँसी जिले का एक प्रमुख स्थान भी है। यही से एक पक्की सड़क देवगढ तक जाती है जिस पर प्रतिदिन मोटर बस चलती है, ललितपुर से देवगढ़ केवल १८ मील है। क्षेत्र पर एक चोगान मे धर्मशाला तथा चैत्यालय है और इसी के दो कमरों में कुछ महत्व की मूर्तियों को एकत्र करके एक छोटे संग्रहालय का रूप दे दिया गया है। यहां एक शिलालेख है जिस पर अट्ठारह भाषाओं का अंकन है तथा जिसे "ज्ञान शिला" कहा गया है। यहीं चैत्यालय मे एक उपदेश देते हुए आचार्य की उत्तिष्ठ पद्मासन मूर्ति है जिस पर शिला लेख भी है।

धर्मशाला से लगभग पौनमील की दूरी पर विन्ध्य की शाखा एक सुन्दर पहाड़ी है और उसको अपनी लपेट मे लेती हुई बेतवा नदी एक अद्भुत सुन्दरता का सृजन करती हुई प्रवाहित हो रही है। इसी पहाड़ी पर देवगढ़ के अति प्राचीन मन्दिरों और ध्वंसावशेषों के रूप मे जैन पुरातत्व का अपार भण्डार हमारी उपेक्षा और काल की कठोरता पर हँसता मुसकराता हुआ पड़ा है। एक बड़े परकोटे के अन्दर छोटे बड़े कुल ३१ जिनालय और अनेक मानस्तम्भ भी यहाँ दर्शनीय हैं ही; साथ ही दीवार के सहारे तथा मन्दिरों के पीछे सैकड़ों नही हजारों मूर्ति खण्ड अभी भी उपेक्षित पड़े हुए हैं। जब जमीन के ऊपर की यह दशा है तब देवगढ़ के भूगर्भ में हमारी जो निधियाँ छिपी पड़ी हैं उनकी चर्चा करने को तो—ऐसा मान लेना चाहिए कि—अभी समय ही नहीं आया है।

इस परकोटे के बीचों बीच सबसे विशाल मन्दिर (मंदिर न० १२) स्थित है जिसकी कलात्मक भित्ति, उत्तुंग शिखर और विशालता देखते ही बनती है। इसी मंदिर की बाह्य भित्ति पर चौबीसों तीर्थंकरों की

प्रतिमाओं के नीचे उनकी शासन सेविका यक्षिणियों की मूर्तियां तथा उनके नाम अंकित हैं जो जैन पुरातत्व का एक दुर्लभ और महत्वपूर्ण अंग है। भगवान नेमिनाथ के इस मंदिर का प्रवेश द्वार भी अपनी कलापूर्ण सज्जा और विशाल आकार-प्रकार के कारण अनोखा है तथा इसी मंदिर मे भगवान नेमिनाथ की यक्षी देवी अम्बिका की तदाकार सुन्दर मूर्तियां हैं। प्रथम तीर्थंकर की यक्षी चक्रेश्वरी की सर्व सुन्दर और २४ भुजा वाली अद्भुत मूर्ति भी इसी मंदिर की देव-कुलिकाओं में से एक मे स्थापित है। इनके गर्भगृह मे नेमिनाथ की जो प्रतिमा स्थापित थी वह ग्यारह हाथ ऊँची रही होगी ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं। कालान्तर में वह प्रतिमा नष्ट हो जाने पर जीर्णोद्धार के समय सत्रहवी शताब्दी मे एक आठ फुट ऊँची शांतिनाथ की मूर्ति यहाँ प्रतिष्ठित कर दी गई है जो आज भी प्रसिद्ध है।

इसी मंदिर को घेर कर एक छोटा परकोटा जीर्णोद्धार के समय बना दिया गया था जिसके दोनों ओर लग भग एक हजार प्रतिमाएं बड़ी बेतरतीबी और क्रम हीनता से चिन दी गई हैं, उन तीर्थंकरों तथा अम्बिका, चक्रेश्वरी, धरणेन्द्र- पद्मावती आदि की प्रतिमाएं प्रमुख हैं जो सातवी शती ईसा पूर्व से लेकर सत्रहवीं शती ईसा पूर्व तक की कला का प्रतिनिधित्व करती है। मेरा तो अनुमान है कि इस दीवार के बीच में भी प्रचुर मात्रा में ध्वंशावशेषों का उपयोग किया गया होगा; क्योंकि जीर्णोद्धार के जमाने में वही सबसे सस्ता और सहज सुलभ पाषाण देवगढ़ मे प्राप्य था, साथ ही हम खंडित मूर्तियों के कलात्मक महत्व को भूल चुके थे।

मंदिर नं० २५ में लगी हुई सामग्री संम्भवत: इस क्षेत्र की प्राचीनतम सामग्री है। मेरा विश्वास है कि इस मंदिर में स्थापित जिन बिम्ब तथा गंगा यमुना और इन्द्र, विद्याधर तथा शासन देवियों के गठन से उनका निर्माण काल गुप्त काल का उत्तरी भाग आंकना उचित होगा। इसी मंदिर के मूलनायक भगवान् सन्मति की एक सर्वांग सुन्दर मूर्ति का चित्र इस लेख के साथ दिया जा रहा है। इस मूर्ति की सज्जा, परिकर और इन्द्रादिक तो बोलते से प्रतीत होते हैं तथा मूर्ति की सौम्यता और मनोज्ञता मे अनन्त शान्ति के दर्शन होते हैं। मूर्ति के भामण्डल के चारों ओर अग्नि शिखा का अंकन "ध्यान अग्नि कर कर्म-कलक सबै दहे" का स्मरण दिलाती है और अपने ढंग की अद्वितीय बन पड़ी है।

अन्य मंदिरों तथा स्तम्भों पर यत्र तत्र उत्कीर्णित हजारों तीर्थंकर मूर्तियां, सैकड़ों आचार्य, मुनि, आर्यिका प्रतिमाएं, अनेक शासन देवियों की मूर्तियां और कुछेक विरल कृतियां भी दर्शनीय हैं। ऐसी प्रतिमाओं में शची-सेवित शयन करती हुई तीर्थंकर की माता की प्रतिमा, शास्त्रार्थ करते हुए मुनियों की प्रतिमाएं तथा आचार्यों की मूर्तियां उल्लेखनीय है।

देवगढ़ अपने कोष में अनन्त सौंदर्य के अक्षय भण्डार को लेकर हमारी यश और गौरव गाथा का वाहक—प्रचारक बन कर खड़ा है। हमें इसकी व्यवस्था, उन्नति और प्रचार पर ध्यान देना चाहिए। श्रावक-शिरोमणि, दानवीर साहु शांतिप्रसाद जी द्वारा बुन्देलखंड के अहार, पपौरा, चन्देरी, कन्धार, थूबौन, बानपुर आदि जिन क्षेत्रों पर जीर्णोद्धार का कार्य हो रहा उनमें देवगढ़ भी *शामिल है। और यहाँ काम हो भी रहा है"* अपेक्षाकृत देवगढ की महत्ता को देखते हुए श्री साहु जी के दान के द्रव्य का जो अंश देवगढ़ को चाहिए वह अभी उसे प्राप्त नही हो पा रहा। उनकी ओर से काम कराने के लिए बाबू विशनचंद जी एक ओवरसियर यहाँ रह रहे हैं जो एक उत्साही और पुराने सामाजिक कार्य कर्ता हैं; इस क्षेत्र का निरीक्षण यदि कभी श्रीमान साहु जी करेंगे तो निश्चित ही इस के काम में प्रगति और विशिष्टता हो जायगी।

हम और आप भी क्षेत्र की बन्दना करके उसके उद्धार-यज्ञ में यथा शक्ति आहुति तो छोड़ ही सकते हैं।

———

शोध-कण

परमानन्द जैन शास्त्री

अनेकान्त वर्ष १६ किरण ४ में शोधटिप्पण के अन्तर्गत पंचास्तिकाय की 'एक महत्वपूर्ण प्रति' नामक एक टिप्पण डा० विद्याधर जोहरापुरकर का लिखा हुआ प्रकाशित हुआ है। जिसमें पंचास्तिकाय के टीकाकार जयसेन और ब्रह्मदेव (द्रव्यसग्रह-टीकाकर्ता) दोनों विद्वानों को अभिन्न बतलाने का प्रयास किया है। ब्रह्मदेव को सं० १४६८ से पहले का विद्वान घोषित किया है। इस पर विचार करना ही इस शोध-कण का विषय है।

पचास्तिकाय ग्रन्थ का सटीक प्रकाशन रायचन्द्र शास्त्रमाला में जिस हस्तलिखित प्रति पर से हुआ था वह सं०१३६९ की लिखी हुई थी १। उसमे ब्रह्मदेव का समय स० १४६८ से ही नही किन्तु उससे एक शताब्दी पूर्व सं० १३६९ से भी पूर्ववर्ती है। इससे उक्त संवत् वाली प्रति की कोई महत्ता नही रह जाती, क्योंकि पचास्तिकाय टीका के प्रारंभ में टीकाकार जयसेन ने स्वय अन्यत्र 'सोमश्रेष्ठि निमित्तं द्रव्यसंग्रहादौ' २ वाक्य दिया हुआ है। इस से इतना कहा जा सकता है कि टीकाकार जयसेन ब्रह्मदेव द्वारा सोमश्रेष्ठी के लिये रची गई द्रव्यसंग्रह टीका से परिचित थे। इसी से उन्होने उसका उल्लेख किया है। किन्तु उससे दोनों विद्वानों की अभिन्नता का सम्बन्ध नही जोडा जा सकता, क्योंकि शोधटिप्पण में डा० जोहरापुरकर ने दोनों की एकता के साधक कोई प्रबल प्रमाण या युक्ति बल उपस्थित नही किया। मात्र कथन-शैली या टीका सरणि का अध्यात्म होने के कारण साम्य होना ही अभिन्नता का द्योतक नही है। दोनो ही टीकाकारो के ग्रन्थों की प्रामाणिक जाच करने पर परस्पर कुछ विशेषता अवश्य दृष्टि गोचर होगी। हो सकता है कि एक ही टीकाकार को दूसरे की टीका देखने का अवसर मिला हो या एक ने दूसरे का अनुकरण किया हो।

डा० विद्याधर जोहरापुरकर की यह कल्पना तो और भी विचित्र जान पडती है कि पहले इनका नाम जयसेन होगा बाद मे ब्रह्मदेव हो गया हो। पर इसका क्या प्रमाण है? उसका कोई उल्लेख नही किया। ब्रह्मदेव कोई उपनाम नही है और न उपाधि सूचक ही है, किन्तु ब्रह्मदेव और ब्रह्मदेवी नामों का उल्लेख मिलता है।

एक ब्रह्मदेव मूलसंघ सूरस्थगण के विद्वान थे। उन्हें भानुकीर्ति सिद्धान्तदेव के गृहस्थ शिष्य कलुकणि-नाड के शासक सामन्त-सेविंग नायक ने हेविरदि हुव्वलिंड में एक ऊँचा चैत्यालय बनवाया और पार्श्वजिन की स्थापना कर पूज्य-सेवा, मन्दिर मरम्मत और आहार दान आदि के लिये उक्त ब्रह्मदेव को पाद प्रक्षालन पूर्वक 'अरूहुन-हल्लि' नाम का गाव दान मे दिया था। शिलालेख का काल शक संवत् १०६४ (वि० सं० ११९९) है ३। ब्रह्मदेवी का उल्लेख बघेरा के मूर्तिलेखों में पाया जाता है। जिसने सं० १२४५ मे जिन मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ब्रह्मदेव और ब्रह्मदेवी नाम प्रामाणिक हैं, जयसेन से ब्रह्मदेव हो गया हो ऐसा नही है। यदि ऐसा हुआ है तो उसका सप्रमाण उल्लेख करना चाहिये, केवल कल्पना से यह संभव नही है।

द्रव्य संग्रह के कर्ता नेमिचन्द्र और ब्रह्मदेव दोनों सम सामयिक है। इसकी पुष्टि द्रव्य सग्रह के टीकाकार ब्रह्मदेव की टीका के निम्न उत्थानिका वाक्य से स्पष्ट है:—

"अथ मालव देशे धारानामनगराधिपतिराजा-भोज देवाभिधान-कलिकाल चक्रवर्ती-सम्बन्धिनः श्रीपाल-महामण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्री मुनिसुव्रत-तीर्थंकर-चैत्यालये शुद्धात्मद्रव्य-सवित्ति-समुत्पन्न-सुखामृतरसा-स्वाद-विपरीत-नारकादि दुःखभयभीतस्य पर-

१—वि० सवत् १३६९ वर्षे आश्विन शुद्ध. १ भौमदिने। पचा० टी० पृ० २२५

२—पंचास्तिकाय टीका रायचन्द्र शास्त्रमाला पृ० ६

३—देखो, जैनशिलालेख स० भा० ३ पृ० ४२

त्मभावनोत्पन्न-सुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेद त्नत्रयभावनाप्रियस्य भव्यवरपुण्यरीकस्य भाण्डागा-द्यनेक नियोगाधिकारि सोमाभिघान राजश्रेष्ठिनो नमित्तं श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्त देवैःपूर्वं षड्विंशति गाथा-भिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्वापरिज्ञानार्थं वरचितस्य बृहद्-द्रव्यसंग्रहस्याधिकार शुद्धि-पूर्वकत्वेन त्ति. प्रारभ्यते ।'

इसमें टीकाकार ने मूलग्रन्थ के निर्माणादि का सम्ब-न्ध बतलाते हुए, पहले नेमिचन्द्रसिद्धान्तदेव द्वारा 'सोम' ाम के राज श्रेष्ठि के निमित्त आश्रम नामक नगर के मुनिसुव्रत चैत्यालय मे २६ गाथात्मक द्रव्यसंग्रह के लघु-रूप में रचे जाने, और बाद में विशेष तत्त्व परिज्ञानार्थ उन्ही नेमिचन्द्र के द्वारा बृहद्द्रव्यसग्रह की रचना हुई है, उस बृहद्द्रव्यसग्रह के अधिकारों के विभाजन पूर्वक यह वृत्ति (टीका) प्रारंभ की जाती है। साथ मे यह भी सूचित किया है कि उस समय आश्रम नाम का वह नगर धाराधिपति भोजदेव नामक कलिकाल चक्रवर्ती का सम्बन्धी श्रीपाल नामक महामण्डलेश्वर (प्रान्तीय-शासक) के अधिकार में था, और सोम नाम का राज-श्रेष्ठि भाण्डागार (कोष) आदि अनेक नियोगों का अधि-कारी होने के साथ साथ, तत्त्वज्ञानरूप सुधारस का पिपा-सु था। ब्रह्मदेव का उक्त घटना-निर्देश और लेखनशैली से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये सब घटनाएँ उनके सामने घटी हैं। और नेमिचन्द्र सिद्धांतदेव तथा सोम श्रेष्ठि उस समय मौजूद थे, और उनके समय मे ही लघु तथा बृहत् दोनों द्रव्यसंग्रहों की रचना हुई है। ब्रह्मदेव ने दो स्थानों पर 'अत्राह सोमाभिधानो राजश्रेष्ठि, वाक्यों के द्वारा तथा टीका गतप्रश्नोत्तर सम्बन्ध से उसकी और भी पुष्टि होती है। क्योंकि नामोल्लेख पूर्वक प्रश्न बिना समक्षता के नहीं हो सकते।

यहां नेमिचन्द्र के सम्बन्ध में विचार करना भी अनु-पयुक्त न होगा। नेमिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान हो गये है उनमें कौन से नेमिचन्द्र द्रव्य संग्रह के कर्ता हुए हैं और उनका समय क्या है? यह विचारणीय है।

१—प्रथम नेमिचन्द्र वे हैं, जो पंडित नेमिचन्द्र कहलाते थे और स० ५८ वर्ष में चैत्र वदी २ को धारागज में उक्त नेमिचन्द्र के शिष्य पंचाणचंद की मूर्ति बनी थी१।

२—दूसरे नेमिचन्द्र वे हैं, जो अभयनन्दी आचार्य के शिष्य थे, और जिन्होने वीर नन्दी और इन्द्रनन्दी को भी अपना गुरू बतलाया है। ये सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि से समलंकृत थे। और गोम्मटसार लब्धिसार क्षपणासार, त्रिलोकसार के कर्ता थे। इन्होने गंगवंशी राजा राच-मल्ल के मत्री और सेनापति चामुण्डराय के अनुरोध से गोम्मटसार की रचना की थी। चूंकि चामुण्डराय ने अपना चामुण्डराय पुराण (त्रेसठशलाका पुरुष पुराण) शक सं० ९०० (वि० सं० १०३५) में बनाया था। अतः नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का समय भी विक्रम की ११ वी शताब्दी का पूर्वार्ध है।

३—तीसरे नेमिचन्द्रनयनन्दि के शिष्य थे। जिनके सम्बन्ध मे कोणूर' लेख मे निम्न पद्य दिया हुआ है .—

श्री मुनिमुख्यनशिष्यं श्रीमच्चारित्रचक्रि सुजन विलासं।
भूमियकिरीटताडित कोमलनखरश्मिनेमिचन्द्र मुनि।

इस शिलालेख का समय सन् १०८७ ई० दिया है, यह वि० सं० ११४४ अर्थात् विक्रम की १२ वी शताब्दी के विद्वान है। आचार्य वसुनन्दि ने भी वसुनन्दि श्रावका-चार की प्रशस्ति में नयनन्दि के शिष्य के रूप मे अपने गुरू नेमिचन्द्र का उल्लेख किया है२। बहुत संभव है कि दोनो ही नेमिचन्द्र परस्पर अभिन्न हो।

४—चौथे नेमिचन्द्र वे है जो मूल संघ देशियगण पुस्तकगच्छ कौण्ड कुन्दान्वय के विद्वान नयकीर्ति के शिष्य थे। इनका उल्लेख हलेबीड के शिलालेख में पाया जाता है, जिसका समय सन् ११३३ (वि० सं० ११९०) है ३।

५—पांचवें नेमिचन्द्र वे है जो एक कवि के रूप में प्रसिद्ध है। और जिसने वीर बल्लाल देव और लक्ष्मणदेव इन दो राजाओं की राजसभा मे प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।

६—छटवें नेमिचन्द्र वे हैं। जो प्रवचन परीक्षा के कर्ता हैं, और जिनका समय सन् १३७५ ई० से १४२५ ई० के मध्य बतलाया जाता है।

७—सातवें नेमिचन्द्र वे हैं जो भ० विद्यानन्द के सधर्मा थे। इन्होंने पोम्बुर्च्य में पार्श्वनाथ बस्ती (मन्दिर)

---

१ सं० ५८ वर्षे चैत्र वदी २ सोमे धारागञ्ज प० नेमचन्द्र शिष्य पचाणचन्द मूर्ति। जैन शिलालेख २ भाग पृ० १६

२—देखो जैन शिलाले० सं० भा० २ पृ० ३३७

३—देखो हुम्मच शिलालेख

तीन मंजिल की बनवाई थी। और बड़ी भक्ति के साथ इसकी प्रतिष्ठा की थी ।

८--आठवें नेमिचन्द्र वे हैं, जो धनंजय कवि के द्विसंधान काव्य की टीका 'पदकौमुदी' के कर्ता है, और विनयचन्द्र पंडित के अन्तेवासी देवन के शिष्य थे। जिन्होने त्रैलोक्यकीर्ति के चरण प्रसाद से उक्त टीका की रचना की थी। टीका कर्ता ने टीका मे अपना कोई समय नहीं दिया है। इस लिये इन नेमिचन्द्र का ठीक समय निश्चित करना कठिन है। पदकौमुदी टीका की एक प्रति पार्श्वनाथ मन्दिर भंडार जयपुर मे सं० १५०६ की लिखी हुई ७८ पत्रात्मक मौजूद है। जिसका वेठन नं० ११३ है । इससे नेमिचन्द्र की उत्तरावधि स० १५०६ से पूर्ववर्ती है । हो सकता है कि वे १४वी या १५ वी शताब्दी के विद्वान हों।

९-नौवें नेमिचन्द्र वे है जो गोमम्टसार की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका के कर्ता है, जो मूलसघ, बलात्कारगण, शारदागच्छ और कुन्दकुन्दान्वय नन्दी आम्नाय के विद्वान थे और जो भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे और प्रभाचन्द्र ने जिन्हे आचार्य पद प्रदान किया था। इनका समय ईसा की १६ वी शताब्दी का प्रथम चरण है।

इन सब नेमिचन्द्र नाम के विद्वानो मे से प्रथम और द्वितीय नेमिचन्द्र तो 'द्रव्यसंग्रह' के कर्ता नही हो सकते। प्रथम नेमिचन्द्र तो इसके कर्ता हैं ही नही, किन्तु कुछ विद्वान दूसरे नेमिचन्द्र को द्रव्यसंग्रह का कर्ता बतलाते हैं। यद्यपि उन्होने अपने को द्रव्यसंग्रह का कर्ता कही प्रकट नही किया, और न कोई ऐसा पुरातन उल्लेख ही उपलब्ध हुआ है। जिसमे उनके द्वारा द्रव्यसग्रह के रचे जाने का उल्लेख हो। फिर भी जनसाधारण मे उनके कर्तृत्व का प्रचार है। लघुद्रव्य संग्रह के कर्ता ने अपने को नेमिचन्द्रगणी, और बृहद्द्रव्य संग्रह में उन्होंने तनुसुत्तधरेण, अल्पश्रुतधर बतलाया है। टीकाकार ने उन्हे 'सिद्धान्त देव भी बतलाया है' किन्तु सिद्धान्त चक्रवर्ती नहीं बतलाया।

जब कि गोम्मटसार के कर्ता ने सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि का गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ३९७वें में उल्लेख किया है। दूसरे गोम्मटसार के कर्ता ने भावाश्रव के भेदों मे प्रमाद की परिगणना नही की, और अविरति के १२ भेद भी दूसरी तरह से सग्रहीत किये है१। जब कि द्रव्यसग्रह कार ने भावाश्रव के भेदों मे प्रमाद को गिनाया है और अविरति के पाच भेद भी स्वीकार किये है २। ऐसी स्थिति मे मान्यता भेद के कारण द्रव्यसग्रह के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती नही हो सकते, क्योंकि एक ही ग्रन्थकार अपनी रचना मे इस प्रकार का मत-भेद व्यक्त नही करता।

तीसरे नेमिचन्द्र, जो नयनन्दि के शिष्य थे, और जिनका समय कोगूर शिलालेख मे सन् १०८७ (वि०सं० ११४४) दिया है, या वे नेमिचन्द्र जो श्रीनन्दि के शिष्य नयनन्दि के शिष्य होने के साथ वसुनन्दि के गुरू थे३। दोनो इनमें से कोई एक द्रव्यसग्रह के कर्ता अथवा दोनों के अभिन्न सिद्ध हो जाने पर भी वे द्रव्यसग्रह के कर्ता हो जो बहुत सम्भव है क्योंकि वे सिद्धान्त के पारगामी भी थे और लोक मे विख्यात थे शेष नेमिचन्द्र नाम के विद्वान द्रव्यसग्रह के रचयिता नहीं हो सकते। क्योंकि वे बाद के विद्वान ठहरते है।

ऊपर के इस सब विवेचन पर से स्पष्ट है, कि ब्रह्मदेव का पहला नाम जयसेन नही था, और न वे बाद को ब्रह्मदेव ही बने। किन्तु ब्रह्मदेव और जयसेन दोनो भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। आशा है इससे डा० विद्याधर जोहरा पुरकर का समाधान होगा।

---

१ मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगाय आसवा होंति।
पणवारस पणवीस पण्णरसा होंति तब्भेया ॥
गो० क० ७८६

२ मिच्छत्ता ऽ विरदि-पमा-जोग-कोहादओऽथ विण्णेया।
पण पण पणदह तियचदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ।
द्रव्य स ३०

३ सिस्सो तस्स जिणागम- जलणिहि वेलातरगधोयमणो।
संजाओ सयलजए विक्खाओ णेमिचन्दुत्ति ॥
वसुनन्दि श्रा० प्रशस्ति

कविवर भाऊ की काव्य साधना

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम० ए० पी० एच० डी०

[प्रस्तुत निबन्ध के पहले पैराग्राफ से ऐसा विदित हुआ कि लेखक कवि भाऊ का निश्चित रचना काल बताने जा रहा है; किन्तु द्वितीय पैराग्राफ का अन्तिम वाक्य लिपिकाल ही बता कर मौन हो गया। जिस कवि ने अपनी किसी रचना में निर्माण-काल का सकेत तक न किया हो, उसकी प्राचीन-से-प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर केवल अनुमान ही करना पड़ता है। यदि डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल भाऊ का निश्चित रचना काल खोज सके तो हिन्दी पाठक उनके ऋणी रहेंगे।

मुनि कान्तिसागर ने 'भाऊ' की 'आदित्य-कथा' की प्राचीन प्रति सं० १७२० की लिखी हुई खोजी थी डा० कासलीवाल को स १६२६ की लिखी हुई मिली है और मैंने भाऊ की अन्य कृति 'नेमिनाथरास' की स १६६६ वाली प्रति का उल्लेख अपने ग्रन्थ 'जैन हिन्दी भक्ति काव्य और कवि' मे किया है। तीनों ही उनके रचना काल मापने के पैमाने हैं। निश्चित समय नहीं है।

कवि 'भाऊ' की 'आदित्यवार कथा' और 'नेमिनाथ रास' में दूसरी रचना ही साहित्यिक है, पहली की लोकप्रियता जैन-समाज मे रवि-व्रत के अधिक प्रचलन के कारण थी। मेरी दृष्टि मे 'भाऊ' ऐसे कवि नही थे कि उनकी रचनाओं को 'काव्य-साधना का नाम दिया जा सके।

—प्रेमसागर जैन]

हिन्दी जैन कवियो मे भाऊ कवि का नाम विशेषत उल्लेखनीय है। कवि हिन्दी के अच्छे विद्वान थे और काव्य रचना मे रुचि रखते थे। उन्होने अपने जीवन मे कितनी कृतियां लिखी इसकी निश्चित जानकारी अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। अब तक कवि की दो रचनायें एवं एक पद उपलब्ध हुआ। इन कृतियो मे कवि न उनके रचना काल का उल्लेख नही किया और न किसी समकालीन एव परवर्ती विद्वान ने कवि के सम्बन्ध मे कुछ लिखा है इस लिये कवि के काल के सम्बन्ध मे कितनी ही धारणाये है। अभी नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६७ अक ४ मे मुनि कान्तिसागर जी ने भाउ के सम्बन्ध मे दो स्थान पर अपने विचार लिखे है। पत्रिका के पत्र ३०६ पर कवि को १८ वीं शताब्दी का माना गया है और पृष्ठ ३३३ पर कवि के समय के सम्बन्ध मे कोई निश्चित मत नही लिखा गया। इसी तरह डा० प्रेम सागर जी ने अपनी नवीन कृति 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' मे कवि के समय का कोई स्पष्ट उल्लेख नही किया और प्रतियो के लेखन काल को गिना कर उनके समय का अनुमान करने का काम पाठको पर छोड दिया

कवि की सबसे प्रसिद्ध कृति 'आदित्य वार कथा है। राजस्थान में वह अत्यधिक लोकप्रिय रचना रही है इस लिए उसकी सैकड़ों प्रतिया राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों मे उपलब्ध होती है। अधिकाश प्रतियां गुटकों मे सगृहीत मिलती है अब तक उपलब्ध प्रतियों मे जयपुर के पार्श्वनाथ मन्दिर के शास्त्र भण्डार में संवत् १६२६ की प्रति सबसे प्राचीन है। जो एक गुटके मे सगृहीत है और जिसकी लिपि आमेर मे हुई थी। यदि इस प्रति को कवि के समय का आधार मान लिया जावे तो कवि का समय १६ वी शताब्दी अथवा इससे भी पूर्व का हो सकता है।

परिचय—कवि अग्रवाल श्रावक थे। गर्ग उनका गोत्र था। उनकी माता का नाम कुंवरी तथा पिता का नाम मलूक था। कवि न अपनी ये सभी रचनाये व्यपार व्यवसाय करते हुये लिखी थी। त्रिभुवनगिरि इनका निवास स्थान थ। जिसका उल्लेख आदित्यवार कथा मे निम्नप्रकार है :-

> अग्रवालि यह कीयो बखाण,
> कुंवरी जननि तिहुवण गिरि थान।
> गर्गहि गोत मलुकौ पूत,
> भाउ कवित जन भगति सजूत ॥१५५॥

आदित्यवार कथा—यह कवि की सबसे लोकप्रिय रचना है जिसके पठन पाठन एव स्वाध्याय का किसी समय अत्यधिक प्रचार था। एक प्रति मे इसका दूसरा नाम पार्श्वनाथ कथा भी मिलता है। रचना में रविवार के व्रत का महात्म्य दिया हुआ है। रविवार पार्श्वनाथ का दिन है इसलिये उस दिन विधिपूर्वक व्रत करने से

अपार पुण्य लाभ होता है तथा सम्पदा एवं वैभव की प्राप्ति होती है। कवि ने रविव्रत के महात्म्य को निम्न शब्दों में वर्णन किया है।

पारसनाह रविव्रत सार,
सेवत नव विधि होइ अपार।
नारि पुरुष जो मनु धरि सुनई,
नासइ पाप भाउ कवि भणई ॥
भरो लोह दुख संकट सहै'
कुष्ट व्याधि जो पीड़ा हरे।
विग्रह बेधी होय नरिंद,
सुमिरत सेवइ पास जिणंद ॥१४६॥

रचना २४ तीर्थंकरो के स्तवन से प्रारम्भ होती है। फिर वाराणसी नगरी और उसके नगर सेठ मतिसागर का वर्णन है। सेठ के यहाँ हीरे जवाहरात का काम होता था। वह धन सम्पन्न होते हुए भी प्रतिदिन जिन पूजन करता था और दान देने से तो एक क्षण के लिए भी विमुख नही हुआ।

नगरी धनी बसइ बहु लोग,
कीजइ पान फूल कउ भोग।
मतिसागर कोडी धज साह,
आदर बहुत करइ नर नाह ॥१५॥
वणिजे हीरा पदारथ लाल,
बेचइ मोती सुरग प्रवाल।
कसे कसौटी परखे दाम,
आदर बहुत रायदे ताम ॥१६॥
देव पूज नित भोजन करइ,
राग दोष नवि मनमहि धरइ।
समल कुटंब वहै अपार,
स लहहि विषराय साधार ॥१७॥
विधि सुदान सुपात्रहि देइ,
दश लक्षण को धर्म करेइ।
जीव दया पालइ बहु भाइ,
ताकी उपमा दोजे काइ ॥१८॥

उसी मतिसागर के सात पुत्र थे। सभी पुत्र दयावान एवं बुद्धिमान थे। सबसे छोटे पुत्र को उसने पढने भेजा। व्युत्पन्न मति होने के कारण उसने सभी विद्याएं सीख लीं। एक बार नगर के सहस्रकूट चैत्यालय में जैन संत आये तो नगर के सभी जन उनकी बन्दनार्थ गये। मुनि श्री ने सभी उपस्थित श्रोताओं को धर्मोपदेश दिया तथा ससार की असारता बतलाते हुए रविव्रत पालने के लिए निम्न विधि बतलाई—

सुदि अषाढ़ जब रवि दिन होइ
सत सजम आरम्भहु सोइ।
खीर धार दीजहु मन लाई,
सुपात्तहु दीजिहु दान वोलाई ॥
वरस बरस दिन नव नववार,
नवह वरस करहु इकसार।
अथवा एक वरसि निकताय,
बारह मास करहु मन लाय ॥
धान इक्यासी अ व बिजोर,
नीबू सरस सदाफल और।
सारु सकति चुन फल करउ,
पास जिणद चलण अणुसरउ ॥
इतना फल अइसी विधि जाणि,
नो घर देहु सरावा वाणि।
हरि हरि बरस करहु इच्छ जोग,
दुख कलक न व्यापइ रोग ॥

मतिसागर के घर मे दारिद्र ने डेरा डाल दिया। उसके सब मोती जवाहरात छिन गये। सेठ को बड़ी चिन्ता हुई। उसे अपने कार्यों पर पश्चाताप होने लगा। पौराणिक महापुरुषों के जीवन को याद किया। माता-पिता को दुखी देखकर उनका सबसे छोटा पुत्र विदेश रवाना हो गया लेकिन पुत्र को भी विदेश प्रवास मे अनेक दुख उठाने पड़े। रविव्रत पालने के कारण आखिर उसका सकट दूर हो गया और उसे पहिले से भी अधिक सम्पत्ति प्राप्त हुई। आगे कथा को भाउ कवि ने रोचक ढग से वर्णन किया है।

कवि ने कथा मे धन की बहुत प्रशसा की है इस से कवि के जीवन का भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। कवि के शब्दों मे धन की प्रशंसा पढ़िये—

नासइ बुधि होइ तनु खीण,
कहिये बुरे पुरिष धन हीण।
धन विणु सेवगु सेव नही करइ,
धन विनु नारि पुरिषु परिहरइ।
धन विणु मान महत को होइ,
नही कपूत कहइ सब कोइ।
धन विणु परघरि काम कराइ,
धन विणु भोजन लूखो खाइ ॥

कवि की यह रचना चौपई छन्द मे है। पद्यो की संख्या सभी प्रतियो मे समान नही है। एक प्रति में १५३ हैं तो दूसरी में १५६ है। और इसी तरह अन्य प्रतियों मे भी छन्द सख्या में असमानता है। रचना की भाषा सरल एवं प्रवाह रूप है। कवि ने कहीं कहीं

सूक्तियों का भी प्रयोग किया है । दो उदाहरण देखिये—

(१) जो नर अभाग्यो खेती करई,
बैल मरे कि सूका पडे ।
(२)जब दिन बुरे पड़त हइ आइ,
गुण कहियां औगुण वै भाइ ॥

कथा का आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है —

आदि भाग—

श्री रिसहनाह पण विजइ जिणद,
जा प्रसन्न चित्त होइ आणन्द ।
पणवहु अजित पणासउ पापु,
दुख दालिद भउ हरै सतापु ॥
संभवनाथ तणी थुति करूं,
जह प्रसन्न भव दुत्तरु तरूं ।
अभिनन्दन सेवहु वरवीर,
जा प्रसन्न आरोगि शरीर ॥

अन्तिमछन्द—

कारण कथा करण मति भइ,
तौ यहु धर्मकथा अरठइ ।
मनधरि भाउ सुणौ जो कोइ,
सो नर सुरग देवता होइ ॥१५६॥

नेमिनाथरास—नेमिनाथरास कवि की दूसरी रचना है जिसकी एक मात्र प्रति लेखक को प्राप्त हुई है और जो जयपुर के पाटोदी के मन्दिर के शास्त्र भण्डार मे संगृहीत है। पूरेरास में १५५ पद्य हैं। सभी चौपई छन्द मे है।

नेमिनाथरास की मुख्य कथा में २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवन की संक्षिप्त घटनाओं का वर्णन निहित है। यह एक भावात्मक प्रबन्ध है जिनमे काव्य के नायक के विवाह एवं वैराग्य इन दो घटनाओं को प्रमुख स्थान मिला है। काव्य के सभी वर्णन सुन्दर एवं अनूठे हैं। काव्य में शृगार एवं विरह दोनो ही रसों का समावेश है। जहां एक ओर राजुल के शृगार भाव को पढ़ कर चित्त प्रसन्न होता है वहां उभरी विरह वेदना हृदय को को तडफाने वाली भी है। क्योंकि राजुल और नेमिनाथ के मिलन की वेला विरह एव शोक मे परवर्तित हो गई थी। लेकिन उक्त वर्णन के अतिरिक्त काव्य में नेमिनाथ का वाकित प्रदर्शन आत्मचितन तथा शिवादेवी एव नेमिनाथ का सवाद आदि भी अति रोचक प्रसंग हैं इनमें काव्यत्व की अच्छी झलक मिल सकती है। कवि ने जगत के स्वरूप का हृदयहारी वर्णन किया है—

धन जोवन गरवीयो गवार,
प्रीतम नारि देखि परिवार।
रहटमाल ज्यों यह जीउ फिरइ,
छोड एक एक सौ करइ ॥१५५॥
कबहूँ स्वर्ग देव अवतर,
कबहू नरक घोर सो परै ।
कबहू नरक बहू सिरपच,
निपजै जीव करै परपच ॥५६॥
कबहूं उत्तम कबहूं नीच,
कबहूं स्वामी कबहूं मीच।
कबहूं धणी निरधणी भयौ,
इहि संसार फिरत जमु गयौ ॥५७॥

इधर नेमिनाथ ने भी वैराग्य धारण कर लिया और उधर राजुल जो कुछ समय पूर्व फूली नही समा रही थी, ससार की बात सुनकर मूर्छित होकर गिर पडी, नेमिनाथ के अभाव मे उसका सारा जीवन फीका हो गया। हार शृगार तथा वैभव सभी दुखदाई लगने लगे।

सुणतु कुवरि जोवै चौपासु,
माथौ धुनि धुनि लेइ उसास ॥१००॥
आव तै दई कहा यह कियौ,
जिण बिछोहु मोकहु दुख दियौ ।
जिण विनु घडी वरिस वरजाइ,
जिण विणु घर वाहिर न सुहाइ ॥१०१॥
जिणु बिनु मेरौ फटै हीयौ,
जिन बिनु जनमु अकारथ जियौ
जिन बिनु जोवनु काजे काइ,
जिन बिनु रुप लहु सवनाइ ॥१०२॥
जिणु बिणु नाहिं सबै सिंगार,
जिणु बिनु सूनौ यह संसार।
जिणवर गुणगहि दिसा धरौ,
जिणवर बिना रहि कहां करौ ॥१०३॥

इस प्रकार नेमिनाथरास एक सुन्दर काव्य है जिसके सभी वर्णन सजीव हैं। रास की भाषा ब्रज भाषा के अधिक समीप है। रचना में कवि ने अपने नामोल्लेख

मार्मिक कहानी

....और आंसू ढुलक पड़े

डा० नरेन्द्र भानावत, एम० ए०, पी० एच० डी०, जयपुर

एक

और महावीर लौट पड़े।

अभिग्रह पूरा हुआ। महीनों बीत गये घूमते घामते। प्रतिदिन नई समस्याए सामने आती। कोई कहता यह बड़ा घुमक्कड है। इधर से उधर, उधर से इधर बराबर घूमता रहता है। न कुछ देता है न कुछ लेता है।'

दूसरा प्रतिवाद करता—है बड़ा तपस्वी! सुनते हैं किसी राजा का लडका था पर राजसी ठाठ-बाट को ठोकर मारकर भरी उमर मे यह साधु बनकर निकल पडा।

पास ही खडी स्त्री बोल उठती—'मेरी यह चटोरी जीभ तो उस बूढी काकी की तरह जूठे पातल तक चाटने को लालायित रहती है पर इस युवक मुनि ने तो उस दिन नगर सेठ के छप्पन भोगो को आंख भर के भी नही देखा, है यह कोई न कोई विलक्षण पुरुष।'

महावीर सब सुनते, मुस्कराते और चल देते। जहा भी जाते वहां उनके सासारिक पक्ष के सैकड़ों रिश्तेदार मान-मनुहार करते। कोई खीर-पूड़ी लेकर आता और वात्सल्य भरे शब्दों से कहता—'बेटा भूखा न रह। यह कंचन की काया राख बन जायगी। इसे खीर-पूड़ी की आग में तपा-तपाकर कुन्दन बना।'

वे क्या बोलते? 'तपस्या ही अग्नि है, कष्ट ही कसौटी है' कहकर चुप रह जाते।

कभी घेवर, बर्फी और लड्डू मे थाल सजाकर कोई बहिन कहती—'भैया! रुक जा। यों न भाग। तब तो तू ने मेरी कलाइयों मे राखी बाधकर मेरी रक्षा करने का भार अपने कधो पर लिया था और आज भैया-दूज पर तू बिना कुछ खाये पिये मुंह मोड़कर चला जा रहा है।'

वे कोमल स्वर में इतना ही कहते—'संसार मे कोई किसी का रक्षक नही। स्वय की आत्मा ही रक्षक और भक्षक है।'

मित्र लोग टोलिया बनाकर जगह २ इन्हे घेरने के लिए मोर्चाबन्दी करते। कोई जलेबी उछालकर कहता—याद है वर्द्धमान! इसी तरह बचपन में गेंद उछाल २ कर जलेबी खाई थी।' कोई पत्तल मे गुलाबजामुन लेकर आता और स्नेह भरे शब्दो में कहता—'तुम्हें हो क्या गया महावीर! पांच माह बीत रहे हैं और तुम भूखे प्यासे दौड रहे हो। देखो न ये गोल-गोल रस भरे जामुन। उसी दिन 'डाल कामडी' खेलते २ तुमने पचास-साठ गुलाब जामुन एक २ कर ऊपर से मुंह मे झेले थे।' पर महावीर चुप। कोई प्रतिक्रिया नही।

पच्चीस दिन और गुजर गये। महावीर के पाव एक अट्टालिका की ओर बढ चले। सुनसान वातावरण अट्टालिका की भव्यता और कलात्मकता पर व्यंग कर रहा था। वे प्रकोष्ठ में पहुचे तो उन्हे अपने अभिग्रह का चित्र उभरता सा दिखाई दिया—

ड्योढी के बीच एक अनुपम सुन्दरी खडी है। उसके लावण्य का कटोरा अपने आप मे न समा सकने के कारण फूट २ कर बाहर बह रहा है। उसकी देहस्थली मे कामार्य का वसन्त क्रीड़ा कर रहा है, पवित्रता की कोकिला कूक रही है और शालीनता की बयार रोम-रोम में कंपन भर रही है। वह रूप मे रंभा और शील मे सती है पर उसके हाथो में रग-बिरंगी मोहक चूडियों के स्थान पर कठोर लोहे की हथकड़ियां हैं, पांवों में छुप छनन२ की झंकार पैदा करने वाली पायलों के स्थान पर स्वतन्त्रता की अपहरण करने वाली बेड़ियां हैं। मुखचन्द्र का सुधापान करने वाले 'नीलघन शावक से सुकुमार' घुंघराले रेशमी बालो के स्थान पर सिर मुंडा हुआ है। शरीर पर तारों खचित नील परिधान के स्थान पर वल्कल है। वह निरपराधिनी है। तीन दिन से भूखी है। पारणा के लिए उबाले हुए उड़द के बाकले उसके हाथ में हैं, उन्हें भी

दान देने के लिए वह किसी अतिथि की राह में प्रसन्नता की आंखें गडाये हुए है।

पर यह क्या ? महावीर लौट पड़े। उनका यह अभिग्रह-चित्र अधूरा रहा। प्रसन्नता की आंखों में सात्विक भावों के आंसू वहां छलछलाये नही।

लो आंखों में आंसू ढुलक पडे।

चन्दना का प्रायश्चित ही जैसे पिघल कर बह गया। वह अपने आप को धिक्कारने लगी।

'मेरे भाग्य ही खोटे हैं। भगवान भी मुह मोड़कर चलते बने। जिनसे आशा थी वे भी किनारा कर गये। मैंने कौनसा अपराध किया ? मैं जीवन भर अविवाहित रही। कभी किसी को धोका नहीं दिया। कभी किसी का दिल नही दुखाया। मैं कोई पतित नही, दुष्टा नहीं। फिर भगवान तुम क्यों चले गये ? तुम तो दीनानाथ हो न ? करुणा सागर हो न ? अब कौन तुम्हें इन नामों से पुकारेगा ? मेरे पास राजसी वैभव नही, षटरस व्यंजन नही, मेरे शरीर पर स्वर्णाकार नही, मेरी मूर्त्ति मन मोहिनी नही। पर इनमे क्या ? तुम तो इनसे कोसों दूर हो न, तुम तो स्वय इन्हे लात मारकर निकले हो न ? तुम तो शुद्ध-प्रबुद्ध वीतरागी हो न ? फिर यह कोप-दृष्टि क्यों ? भक्त की यह उपेक्षा क्यो ? भगवन् ······ एक बार फिर··· ·····

दो

दो आंसू और ढुलक पड़े।

चन्दना का चिन्तन रुका नही। पूर्व-जीवन की स्मृतियां एक २ कर उसके आगे उभरने लगी—

'चन्दना राजबाला है। अपने पिता की इकलौती बेटी है। रत्नजटित झूले मे झूल रही है। नन्दन वन की समता करने वाले उद्यान मे फूलों के साथ हंस रही है, मोर के साथ नाच रही है, कोयल के साथ गा रही है। सब उसे प्यार कर रहे है। उसके पाव धरती पर नही टिकते। वह हाथों हाथ उठाई जा रही है।

मन ने अचानक पल्टा खाया। उसके सामने युद्ध का दृश्य आ गया। चम्पा नगरी पर कौशाम्बी के राजा शतानिक ने, उसके ही मौसा ने धावा बोल दिया है। टिड्डी दल की भांति शत्रु टूट पड़े है। खून की नदियां बह चली हैं। दुश्मन नगरी लूट रहे है। श्रीमन्तों की तिजोरियो के ताले तोड़ दिये गये है। गरीबों की झोपड़ियां जला दी गई है। स्त्रियों और बच्चों को बन्दी बना लिया गया है। सैनिक दैत्य बनकर नाच रहे हैं।

यह क्या ? चन्दना चौंक पडी। राजमहल में शत्रु घुस आये ? अन्तःपुर मे हाहाकार मच गया। रथारोही सैनिक चन्दना और उसकी माता धारिणी को लिए बडे वेग से बढा जा रहा है।

घनघोर जंगल आ गया। सैनिक का पशुत्व उभर पड़ा। धारिणी के रूप का लोभी बनकर वह उसके चारों ओर मडराने लगा। धारिणी ने शील की रक्षा के लिए अपनी जीभ खीच ली।

चन्दना काप रही है—वह भी जीभ खीचना चाहती है। पर रथारोही ने आगे बढकर उसका हाथ पकड़ लिया है। वह ग्लानि से भरकर बोल रहा है—'बेटी अब इस महापाप से मुझे कलकित न कर। मैं पापात्मा हूं, दुष्ट हूं। तू सती है, साध्वी है। 'मा पाहि मां पाहि।'

चन्दना ध्यानस्थ हो गई। मन उर्ध्वगामी हुआ। उसने देखा—

सैनिक की पत्नी नागिन बनकर फुफकार रही है। 'तू यह सौत कहा से उठा लाया ? मुझे यह नही चाहिये, मुझे चाहिये हीरे, जवाहरात, सोना, चांदी। इसे बेच आ। नही तो······ ··

और दस मिनट बाद चन्दना बाजार में खडी है। उसे बेजान वस्तु की भांति बेचा जा रहा है। उसकी बोली लग रही है। बीस लाख मुहरों मे वह बिक गई है। एक वेश्या ने उसे खरीदा है।

वह काप गई है। उसने दृढ़ता से कहा—'मैं वेश्या वृत्ति नही करू गी। मेरा विचार आत्मा का विचार है, शरीर का नही। मै रूप की रानी बनकर नहीं रहना चाहती, मैं अरूप की आराधिका बनकर जीना चाहती हूं।'

चन्दना का चेहरा चमक उठा। उस पर दृढ़ निश्चय और आत्म-बल की रेखाएं खिच गई। बन्दरो की एक टोली उसे नजर आई। उसने वेश्या को लहू-

लुहान कर दिया, वह चीख कर भाग खड़ी हुई।

अब चन्दना धनावह सेठ की दासी है। जी तोड़ काम करती है। सेठ उसे बेटी की तरह दुलारता है 'अधिक काम न कर बेटी और चन्दना पिता तुल्य सेठ की सेवा करना अपना परम कर्त्तव्य समझती है।

सेठ थका-मांदा बाहर से लौटा है। चन्दना गर्म पानी लाकर उसके पांवों को धो रही है। उसके लम्बे २ बाल धरती को छू रहे हैं। सेठ वात्सल्य भाव से उन्हें उठा २ कर उसकी पीठ पर रख रहा है।

अचानक चन्दना का हाथ सिर पर गया—लम्बे २ बाल वहां न थे। उसे याद आया—

'अभी तीन दिन ही हुये, सेठानी मूला ने बदला लेने की भावना से उसे कोठरी में बन्द कर रखा है। उसके लम्बे २ बाल कतर डाले हैं, उसके सिर मे घाव कर दिया है हाथ में हथकड़ियां और पैरों मे बेड़ियां डाल दी हैं। वह तीन दिन से भूखी है।' अनायास ही उसकी दृष्टि अपने हाथों की ओर गई। उसने देखा—

उबाले हुए उड़द के बाकले हाथो मे है। वह सोच ही रही थी कि किसी अतिथि का स्वागत कर इन्हे खाऊँ। इतने में उसे भगवान महावीर सामने आते हुए दिखाई दिये। उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। वह अपने को धन्य मानने लगी।

पर यह क्या? महावीर लौट पड़े। इस गरीबनी का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया? उसकी आंखें भर आईं और दो आंसू ढुलक पड़े।

तीन

महावीर ने घूमकर देखा। उसका अभिग्रह-चित्र जो तब तक अधूरा था, आंसुओं की आर्द्रता कोमलता पाकर पूरा हो गया। वे वापिस लौट पड़े। चन्दना के रोते अधरों पर मुस्कराहट फैल गई। उन्होंने उड़द के बाकलों की भिक्षा ली। साभिग्रह छमासी पूरा हुआ। आकाश में 'अहो दान, अहो दान' की दुन्दुभि बज उठी।

चन्दना आत्म-विभोर हो गई। उसकी प्रसन्नता का पारावार उमड़ पड़ा, वह आत्मा के विश्रुत कुंज में इतनी तन्मय होकर नाची, कि सृष्टि का कण २ उसके साथ नाच उठा। उसकी बेड़ियां फूलमाला बन गई। मुंडित मस्तक पर नागिन सी वेणी लहरा उठी। रत्नजटित आभूषणों से शरीर जगमगा उठा।

पर चन्दना ने यह सब कब चाहा था? उसने जो चाहा था वह उसे महावीर के चरणों में मिला। वह छब्बीस हजार साध्वियों की प्रवर्तिनी बनी।

(पृ० १७४ का शेष)

के अतिरिक्त और कोई परिचय नही दिया है। राम मे कवि ने सरस्वती बन्दना के समय अपने नाम का उल्लेख किया है —

सरस्वती माता बुद्धि दाता करह पुस्तकु लेई
उर पहिरि हार करि सिंगार हस चढी वर देई ॥७॥
सेवत सुरनर नवहि मुनिवर छहों दरिसण तोहि।
कवि जंपउ भाउ करि पसाउ बुद्धि फलु मोहि ॥८॥

रचना का आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है—

आरम्भ—प्रथम तीर्थंकर पणउ चौबीस,
सब जिणिन्द जगि लेउ जमीस।
चलण सीस धरि बारम्बार,
तिणि कि सत्ति तिरौ भव पार ॥६॥

अन्तिम भाग—और तिर आपुण तिरै,
बहु सघ जिण रक्षा करौ।
पशु पंखी दीन्हा मुकलाय,
चढि गिरनार कियौ तपु जाइ ॥१४४॥
सुर नर वन्दनीकु जो भयो,
सो श्री नेमिसभा कौ गयो ॥१५६॥

भाउ कवि का एक पद जयपुर के पाटौदी मन्दिर के शास्त्र भण्डार में संगृहीत है। पद "बलि जइयो नेमि-जिनंद की" से आरम्भ होता है। पद स्तुति परक है।

अजीमगंज भंडार का रजताक्षरी कल्पसूत्र

भंवरलाल नाहटा

श्वेताम्बर जैन समाज में कल्पसूत्र का महत्व अत्यधिक है। पर्यूषण के आठ दिनों में इस शास्त्र को हाथी आदि पर आरूढ करके गाजे बाजे के साथ लाकर गुरु महाराज के पास बहुमान के साथ श्रवण करने की प्राचीन प्रथा है। ऐसे शास्त्रों के लिखवाने मे जैन समाज ने प्रचुर द्रव्य राशि व्यय की और स्वर्णाक्षरी, रजताक्षरी गगाजमनी, स्वर्ण व विविध रंग व हांसिये के चित्रों वाले कल्पसूत्र व कालिकाचार्य कथा की प्रतियां लिखवाते रहे। काली स्याही से लिखी सचित्र प्रतिया तो सैकड़ों की संख्या मे उपलब्ध हैं पर स्वर्णाक्षरी, रौप्याक्षरी की प्रतियां तो प्रायः अच्छे अच्छे ज्ञान भडारो में मिल जाती है। भारतीय प्राचीन कला की ओर आकर्षण बढाने से पूर्व ही विदेशी लोग बहुत सी कला सामग्री कौड़ी के मोल मे खरीद कर ले गये और इनके दलालों ने छोटे छोटे गांवों तक मे पहुंच कर जिस किसी प्रकार से तिकड़म बाजी द्वारा भण्डार के भण्डार खाली कर दिये। अज्ञानियो के अधिकार में रही वस्तु तभी सुरक्षित रह सकती है जबकि उनके हृदय में उसके प्रति बहुमान गौरव एवं ज्ञान की आसातना का भय हो। अन्यथा कई जगह ऐसा देखा गया है कि खुले पत्रों को अपूर्ण समझ कर गर्त्त या मकान की नीव में दे दिये गये। कई ग्रन्थ राशि व खण्डित जिन प्रतिमाओं को नदी सरोवरादि में प्रवाहित कर दिया गया। कुछ लोगों ने स्वर्णाक्षरी शास्त्रों को सोना निकालने के लिये जला तक डाले, यहां तक सुना गया है। प्राचीन शास्त्रोंकी यह दशा देखसुनकर हृदय कांप उठता है। अज्ञानी द्वारा शास्त्रों की अवहेलना हुई यह तो हुई पर उसके मर्मज्ञ और ज्ञानी कहे जाने वाले व्यक्तियों ने भी शास्त्र भण्डारों से ग्रन्थों को उड़ाने में कसर नहीं रखी। यदि कोई शास्त्र न उड़ा सका तो उसके कुछ पत्रों को ही चुरा कर ऊंचे दामो में कलाप्रेमी व्यक्तियों को बेच डाले। क्योंकि पूरे शास्त्र के उतने दाम नहीं उठते जितने एकाध पत्र के। सैकड़ों पत्रों के लिए बड़ी भारी धनराशि चाहिए। एकाध चित्र को हर व्यक्ति फ्रेम में जड़वा कर अपने कक्ष की शोभा वृद्धि कर सकता है। इस दुरभिसंधि से ग्रन्थोके चित्रों को निर्दयता पूर्वक कतर कर फ्रेम मे मढवा दिये गए। क्या साधु और क्या श्रावक और क्या दलाल व क्यूरियो के व्यापारी इस पाप कार्य से बच न सके। उनके हृदय में जिनाज्ञा व भव-भ्रमण का भय न रहा और अपनी इस दुष्प्रवृत्ति में भी शुभ कार्य कर रहे है, अनधिकारी-अज्ञानियों के हाथ में न रह कर हम मर्मज्ञ और अधिकारियो के हाथ मे आने से वस्तु का महत्व बढेगा और उत्कर्ष ही होगा। इस स्वकल्पित मान्यता ने बहुत बड़ा अनर्थ कर डाला। प्रसंगवश एतद्विषयक विचारों को प्रगट कर आशा की जाती है कि समाज अपनी पुरातत्व संपत्ति की रक्षा के लिए विशेष उपाय सोच कर प्रबन्ध करेगा।

कल्पसूत्रादि शास्त्रों की विशिष्ट प्रतियों को प्राचीन काष्ठ से ही ज्ञान भंडार के संरक्षकों ने उन्हें सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया था उनमें सांपकी कांचली, मगरेता जड़ी बूटी आदि रख कर जीवजन्तुओं से सुरक्षित किया गया। कई प्रतियों के नष्ट पत्रों को दक्ष व्यक्तियों के पास उसी रंग व कागजादि पर लिखवा कर चिपका कर जीर्णोद्धार कराया गया और जो ग्रन्थ विवेकी व्यक्तियों की नजर में न आये नष्ट भी हो गए। आज के वैज्ञानिक युग मे शास्त्रों को जीर्णोद्धारित कर उन्हें चिरस्थायी किया जा सकता है। और दिल्ली के पुरातत्व बिभागादि द्वारा आगम प्रभाकर पुण्यमूर्ति मुनिराज श्री पुण्य विजय जी महाराज ने शास्त्रोद्धार का बड़ा भारी आदर्श उपस्थित किया है। इसी प्रकार आवश्यकता है कि जिनके पास भी जीर्ण दशा में शास्त्र हों उन्हें जीर्णोद्धारित करवा के चिरस्थायी कर देना चाहिए।

अभी अजीमगंज के भण्डार की एक स्वर्णाक्षरी और एक रौप्याक्षरी प्रति कल्पसूत्र की अवलोकन में आई।

इसमें से स्वर्णाक्षरी प्रति का परिचय एक अन्य लेख में दिया गया है. यहाँ रौप्याक्षरी प्रति का परिचय देना अभीष्ट है। यह प्रति जीर्ण शीर्ण और कुछ पत्र विहीन भी है। यह सचित्र प्रति पत्रांक ४ से ९३ तक की सचित्र है, आदि के ३ पत्र नहीं है अन्त में पत्र ८७ में कल्पसूत्र समाप्त हो जाने के बाद प्राकृत की कालकाचार्य कथा प्रारम्भ होती है जो पत्रांक ९३ तक अपूर्ण रह गई है। इस प्रति को दो कागज मे लिखा गया है और चारों ओर दिये गये बोर्डर (हासिये) मे विभिन्न प्रकार की फूल पत्तियां व हंस, बक, शुकादि की पंक्तियां चित्रित हैं ग्रंथ के अक्षर बहुधा काले पड़ गये हैं व प्रति भी जीर्ण हो गई है। पत्रांक ११, २९, ३०, ३४, ३५ ३६, ४१, ४७ ५३ ५७, ५९, ६०, और ६३ वा शताब्दी पूर्व ही काले अक्षरों से नये लिखा कर डाले गये थे अगले और भी पत्र कम हुए ही है। इस प्रति के चित्र सुन्दर और सुनहरे हैं। पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ कल्पसूत्र और कालकाचार्य कथा के चित्रों की सूची दी जा रही है:—

१ पत्राक १२ मे हरिणेगमेषी देव
२ पत्राक १३ में वीर गर्भापहार
३ पत्राक २१ मे मज्जन शाला में सिद्धार्थ
४ पत्राक २५ मे स्वप्न फल पाठक
५ पत्राक ३१ में भगवान महावीर का जन्म
६ पत्राक ३२ में इन्द्र द्वारा प्रभु का जन्माभिषेक
७ पत्रांक ३७ में महावीर प्रभु की दीक्षा
८. पत्राक ३८ ए में ऊपर दीक्षा नीचे प्रभु के कानों में कीला ठोंकना,
९ पत्राक ३८ बी में ध्यानस्थ प्रभु महावीर
१० पत्राक ४० मे महावीर समवशरण
११ पत्रांक में ४२ में केवली गौतम गणधर
१२ पत्रांक ४६ में पार्श्वनाथ माता के ऊपर १४ स्वप्न और नीचे जन्म
१३ पत्रांक ४८ में पार्श्वनाथ (सप्त फण मंडित) ध्यानस्थ
१४ पत्रांक ५० में पार्श्वनाथ निर्वाण
१५ पत्रांक ५१ में एक तरफ नेमिनाथ सपरिकर प्रतिमा
१६ पत्रांक ५१ में चौदह स्वप्न व नेमिनाथ जन्म
१७ पत्रांक ५१ में नेमिनाथ का विवाह के लिए जाना पशुओं का बाड़ा देख कर रथ मोडना।
१८ पत्राक ५२ में नेमिनाथ दीक्षा
१९ पत्रांक ५४ में नेमिनाथ समवशरण
२० पत्राक ५५ में दस तीर्थङ्कर
२१ पत्राक ५६ मे दस तीर्थंकर
२२ पत्राक ५८ मे ऋषभदेव जन्म व इन्द्र द्वारा अभिषेक
२३ पत्राक ६७ में स्थूलभद्र स्वामी गुफा मे साध्वियों के साथ व सिंह रूप धारी
२४ पत्राक ६७ मे चार वृद्धों के साथ आचार्य महाराज
२५ पत्राक ७२ मे आचार्य महाराज दीक्षार्थी को दीक्षा देते हुए।
२६ पत्राक ८७ मे आचार्य महाराज के समक्ष चतुर्विध संघ कालकाचार्य कथा:—
२७ पत्राक ८८ मे राजा-रानी (कालकाचार्य के माता-पिता)
२८ पत्राक ८९ गर्दभिल्ल, सरस्वती व कालकाचार्य
२९ पत्राक ९० अश्वारोही राजा व कालकाचार्य
३० पत्राक ९२ साही (शाकी) राजा के सामने कालकाचार्य
३१ पत्राक ९२ मे ईंट के भट्टे से कालकाचार्य द्वारा स्वर्ण सिद्धि
३२ पत्रांक ९३ मे गर्दभिल्ल का गर्दभी विद्या साधन व कालकाचार्य का तीर संधान।

इस समय इस प्रति में ३२ चित्र हैं, जो पत्र नष्ट हो गए उनमें भी कतिपय चित्र अवश्य रहे होंगे। पृष्ट भूमि लाल व क्वचित् ब्लू रंगादि भी है। इस कल्पसूत्र की लेखन प्रशस्ति न होने से किस संवत् में व किसके द्वारा लिखी गई यह नहीं कहा जा सकता। पर अनुमानतः यह पद्रहवीं शती में लिखी गई प्रतीत होती है।

— — —

मोक्षमार्ग की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान का निरूपण

सरना राम जैन, बड़ौत

ज्ञान का कार्य पदार्थ को जानना है जैसे दीपक का कार्य प्रकाश करना है।

ज्ञान कुल पांच होते है मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। जिनमे मति, अवधिः, मनःपर्यय तो मोक्ष मार्ग में कोई खास प्रयोजन भूत है नही। श्रुतज्ञान, जब मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है तब सम्यग्ज्ञान हो जाता है। उस समय से मोक्षमार्ग का अंग बन जाता है और जीव का गुणस्थान चौथा हो जाता है। चौथे, पांचवें, छटवें मे जिस जीव के गुणस्थानानुसार जितनी कषाय का अभाव हुआ है उतना तो अन्तरग मे शुद्ध है जो हर समय संवर निर्जरा का कार्य करता हैं और कुछ अंश शुभ राग द्वारा द्वादशाग के सूत्रो के विचार मे प्रयुक्त होता है क्योकि इन तीन (चौथे पांचवे छठे) गुणस्थानों मे शुद्धि के साथ शुभ राग भी है अर्थात् बुद्धिपूर्वक शुभ विकल्प है। इसलिये इसके अखण्ड परिणमन को व्यवहार सम्यग्ज्ञान ही कहते है। इसमें जितने अ श मे शुद्धता है उतने अंश मे सवर निर्जरा है और जितने अंश में राग है उतने अंश में पुण्यबन्ध हैं।

सातवां गुणस्थान जब आता है उस समय उस श्रुत सम्यग्ज्ञान की दशा एक दम पलट जाती है। सूत्रो का बुद्धिपूर्वक विचार बिलकुल समाप्त हो जाता है और सम्पूर्ण प्रयोग निज शुद्ध आत्मा का आश्रय करके उसमे अडोल, अकम्प एवं स्थिर हो जाता है। अबुद्धिपूर्वक कुछ राग रहता है अवश्य, पर वह कोई खास गिनती में नहीं है, क्योंकि उसकी सामर्थ्य इतनी हीन हो गई है कि वह अगले भव की देवायु का बन्ध नहीं कर सकता और बिना बंध के अगला जन्म कैसे हो सकता है? नहीं होता। इसलिये वहां से वह श्रुतज्ञान वीतराग गिना जाता है और उसका फल केवलज्ञान माना जाता है। सातवें से बारहवें गुणस्थान तक इसकी शुद्धि के उत्तम अंश बढ़ते ही रहते हैं पर, दशा इसकी एक ही है—"निज 'शुद्ध आत्मा में स्थिरता।" यह श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है। ज्ञायक का वास्तविक रूप नही है। इसलिये इसकी बारहवें गुण० तक व्यवहार सम्यग्ज्ञान संज्ञा है। सातवें से बारहवें गुणस्थान के सम्यग्ज्ञान का फल केवलज्ञान है; क्योंकि बारहवें के अन्त में इसका व्यय होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

'आद्ये परोक्षम्'—इस सूत्र के अनुसार श्रुतज्ञान परोक्ष ही होता है। वस्तु स्थिति से यह परोक्ष ज्ञान ही है पर द्रव्यानुयोग तथा अध्यात्म की ऐसी कुछ शैली है कि सातवें से बारहवें तक इसकी प्रत्यक्ष संज्ञा भी है। इसके लिये आगम में हेतु यह दिया है कि यहां मुनि को आत्मा का कोई अलौकिक सवेदन होता है और वह इतना परमानन्द रूप है कि उस समय होने वाली किसी परीषह तथा उपसर्ग का भी वेदन नही होने देता। इसलिये इस सातवें से बारहवें गुणस्थान तक के श्रुतज्ञान को वस्तु मर्यादा के अनुसार तो परोक्ष ही कहा जाता है पर आत्मानुभव की अपेक्षा प्रत्यक्ष भी कहते हैं। यह हमने आगम प्रमाण से लिखा है। हमको स्वयं इसका कोई अनुभव नहीं है क्योंकि हम तो अभी अविरत सम्यग्दृष्टी हैं। इस आत्मानुभव मे इतनी ताकत है कि यह दृढ़बद्ध घातिकर्मों को जड़ मूल से नष्ट कर देता है और केवलज्ञान रूपी सूर्य का उदय हो जाता है यहां जीव का मोक्ष इसलिये नहीं हो पाता कि श्रुतज्ञान मे अघाति कर्म को नष्ट करने की सामर्थ्य ही नहीं है। वह सामर्थ्य केवलज्ञान में है।

केवलज्ञान के उत्पन्न होते ही गुणस्थान तेरहवां बन जाता है। ज्ञान परोक्ष से पूर्ण प्रत्यक्ष हो जाता है और व्यवहार सम्यग्ज्ञान से निश्चय सम्यग्ज्ञान बन जाता है। इसका फल अघाति कर्मो का नाश करके सिद्ध पद की प्राप्ति कराना है।

उपरोक्त लेख का सार यह है कि सम्यग्ज्ञान की तीन दशा हैं। पहली दशा चौथा पांचवां छठा गुणस्थान

जहाँ तत्त्वों की जानकारी है। दूसरी दशा सातवें से बारहवां गुणस्थान जहां आत्मा का संवेदन है और तीसरी दशा तेरहवाँ चौदहवां गुणस्थान जहाँ इसकी पूर्ण प्रत्यक्ष आत्म-दशा है। व्यवहार निश्चय की अपेक्षा दो ही दशा हैं। चौथे से बारहवें तक व्यवहार सम्यग्ज्ञान और तेरहवें चौदहवे मे निश्चय सम्यग्ज्ञान। प्रत्यक्ष परोक्ष की अपेक्षा तीन दशा हैं। चौथे पाचवे छठे मे परोक्ष ही है। तेरहवे चौदहवे में प्रत्यक्ष ही है। और सातवे से बारहवे तक कथचित् प्रत्यक्ष और कथचित् परोक्ष हैं। यह मोक्षमार्ग की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान का कथन है।

अध्यात्म मे सबसे पहली विचारणीय बात यह है कि अनादि मिथ्यादृष्टि को इस श्रुत सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो? इसका उत्तर यह है कि जो जीव भव्य पचेन्द्रिय सज्ञी हो और काल आदि लब्धियां जिसकी पक गई हों, उस का काम बनता है ऐसा कुछ वस्तु नियम है। वस्तु की मर्यादा ही ऐसी है। इसमें अपने वस की बात नही है। हां ऐसा समय आ जाने पर इस जीव को क्या पुरुषार्थ करना पड़ता है जिससे इसका मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है वह है स्व-पर का "भेद विज्ञान' जो श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराज ने सम्यग्ज्ञान के इस लक्षण में अंकित किया है।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण (चौथे से बारहवें गुणस्थान तक का)

अधिगमभावो णाणं हेयोपादेयतच्चाण ।५२।।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं ।।५१।।

नियमसार

अर्थ—हेय (पर) और उपादेय (स्व) तत्त्वों के जानने रूप भाव सम्यग्ज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञान संशय विमोह और विभ्रम रहित होता है।

भावार्थ—अपना निज शुद्ध आत्मा (ज्ञायक-अन्तस्तत्व) उपादेय है और शष सब कुछ (बहिस्तत्त्व) हेय है। इस प्रकार संशय विपर्यय, अनध्यवसाय रहित निस्सन्देह निश्चित रूप से जानना सम्यग्ज्ञान है।

उपरोक्त भाव पर से ही द्रव्यसग्रहकार ने यह गाथा रची है—

ससयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहण सम्मण्णाण सायारमणेयभेय तु ।।४२।।

द्रव्य संग्रह

अर्थ—अपनी शुद्ध आत्मा के स्वरूप का और पर के स्वरूप का सशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित आकार सहित (भेद सहित) जानना सम्यग्ज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञान अनेक भेद वाला है।

भावार्थ—साकार कहकर इसे दर्शनोपयोग से भिन्न किया है और 'अनेक भेद' कहकर चौथे से बारहवें गुणस्थान में श्रुतज्ञान को क्षायोपशमिक ज्ञान होने के कारण, जो अनेक तरतम रूप शुद्धि के भेद हैं उनका संकेत किया है। केवल श्रुतज्ञान के अवान्तर शुद्धि के भेदों की बात है सिद्धान्त दृष्टि के भेद प्रभेदों से यहा कुछ प्रयोजन नहीं है और यह अनेकभेद की बात केवलज्ञान मे नही है ऐसा भी इससे प्रगट किया है। जैसे 'साकार' लिखकर इसे निराकार दर्शन से भिन्न किया है ऐसे ही 'अनेकभेद' लिखकर अभेदरूप केवलज्ञान से भिन्न किया है।

इस श्रुतज्ञान का ऐसा कुछ अनादि का विकृत रूप है कि इसमे सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ये तीन दोष रहा करते है। सो स्व के स्वरूप की जानकारी में और पर के स्वरूप की जानकारी मे इतना परिश्रम करना होगा कि ये दोष बिलकुल न रहें। ठोक बजाकर पक्का निर्णय हो। अचल, अकम्प, अडोल जिसको संसार की कोई ताकत इधर उधर न कर सके। हिला भी न सके। तब श्रुतज्ञान सम्यक श्रुतज्ञान नाम पाता है।

अब विचारना यह है कि वह स्व पर क्या वस्तु है जिसका भेदज्ञान करना है वह स्व वस्तु है निज शुद्ध आत्मा जो कि अमूर्तिक है और सिद्ध समान है और शेष सब कुछ पर है। उस आत्मा को मात्र केवलज्ञान ने जाना है। अत; सर्वप्रथम सर्वज्ञ देव जिन भगवान की श्रद्धा करनी होगी और फिर उसके कहे हुए आगम की। वह आगम सर्वथा सर्वज्ञ के वचनानुसार लिखा हुआ होना चाहिए। इसलिये मुमुक्षु को अनेक अप्रामाणिक आगमों को छोड़कर सच्चे प्रामाणिक आगम को ढूंढना होगा। सर्वज्ञ का कहा हुआ अनेकान्तरूप पूर्वापर दोषों से रहित

फिर उसमें से छः द्रव्य, पचास्तिकाय, नवपदार्थों का यथार्थ अनेकान्त स्वरूप जानना होगा। ये तो सब पर द्रव्य हैं। अजीव तत्व है। इनमे रहने वाला एक अनादि अनन्त, स्वसिद्ध अहेतुक शुद्ध जीवास्तिकाय नामा चेतन द्रव्य है जो संसारी जीव के इन ६ पदार्थों में गुप्त रूप से निहित है जिसके ऊपर ये नव तत्त्व तिरते हैं। वह ऐसा लक्ष मे आयेगा जैसा सिद्ध। उसमे और सिद्ध में एक बाल भर का अन्तर नहीं है। बस वह स्व तत्त्व है। निज शुद्ध आत्मा है। उपादेय है जीव तत्त्व है। शेष छः द्रव्य पचास्तिकाय और नव पदार्थ सबकुछ हैं अजीव तत्त्व है पर है। इसको हेय उपादेय और स्व पर कहते है। इनका स्वरूप जैसा कुछ है वैसा ही लक्ष में आना चाहिये। जैसा सर्वज्ञ ने देखा है ठीक वैसा। न कमती, न वेशी, न उल्टा, जैसे का तैसा, सन्देह रहित, पक्के अटल विश्वास को लिए हुए ज्ञान मे आना चाहिए जब वह सशय विपर्यय, अनध्यवसाय रहित ज्ञान मे आ जाएगा तब स्व पर का ज्ञान होगा और तभी सम्यग्दर्शन पूर्वक अनादि का कुश्रुतज्ञान सुश्रुत मे परिणत हो जाएगा। उस समय चौथा गुणस्थान आयेगा और जीव सम्यग्दृष्टी नाम को प्राप्त होगा। फिर पाचवे छठे गुणस्थान मे अणुव्रतों महाव्रतो को धारण करता हुआ इस भेद विज्ञान का निरन्तर अभ्यास करके इसे विशेष उज्ज्वल और दृढ बनाता रहेगा। एक क्षण के लिये भी इसका विरह न होने देगा। इस प्रकार इन तीन गुणस्थानों की दशा को पार करेगा।

शिष्य—यदि जीव उपरोक्त परिश्रम न करे और दिगम्बर भिक्षु हो जाय तो क्या फिर उसका काम न बनेगा? उत्तर गुरु महाराज स्वय गाथा मे देते हैं—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं पर वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।३-३३।

प्रवचनसार

अर्थ—आगमज्ञान रहित श्रमण आत्मा को (निज को) और पर को नहीं जानता है। पदार्थों को नही जानता हुआ साधु कर्मों को किस प्रकार क्षय करे? नहीं कर सकता।

भावार्थ—क्या आप गुरु देव के भाव को समझे? वे यह कहना चाहते हैं कि आगे सातवा गुणस्थान है। उसमें उपयोग को, जिसको पर तत्त्व निश्चय किया है उसमे से बिलकुल हटाना है, और जिसको स्व तत्त्व निश्चय किया है उसमें उपयोग को सर्वथा जोड़कर ध्यान करना है। यह वह कार्य है जो कर्मों को क्षय करता है। इस कार्य को बिना स्व पर के जाने वैसे ही मुनि बना हुआ व्यक्ति कैसे करेगा? तीन काल में नहीं कर सकता। इसलिए स्व पर का जानना अत्यन्त जरूरी है और इतना जरूरी है कि छठा गुणस्थान तो क्या उस स्व पर के जाने बिना चौथा गुणस्थान ही नहीं आता।

शिष्य—यदि पर को न जाने और स्व ही स्व को जान ले तो क्या आपत्ति है?

गुरु—पर को जानने की इसलिये जरूरत है कि उससे से उपयोग को हटाना है और स्व को इसलिए जानने की जरूरत है कि उसमें उपयोग को जोड़ना है। दूसरे इसलिए भी स्व पर को जानने की आवश्यकता है कि पर का कोई अंश स्व में ना आ जावे और स्व का कोई अंश पर मे न चला जाय। यदि जरा भी किसी अंश मे गडबड़ी हो गई तो फिर भेदविज्ञान न होगा। तीसरे भेदविज्ञान हमेशा दो मिले हुए पदार्थों मे ही किया जाया करता है जैसे दूध पानी में। सोना कीट मे आदि। उन दोनों को जानकर फिर भिन्न भिन्न किया जाता है।

शिष्य—उस भेदविज्ञान द्वारा कैसा अपना निज शुद्ध आत्मा हाथ लगेगा जिससे सातवाँ गुणस्थान वाला आत्मध्यान द्वारा अनुभव करेगा? इसका उत्तर स्वयं आचार्य महाराज निम्न गाथा द्वारा देते हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससन्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

समयसार

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टी मुनि आत्मा को अबद्धस्पृष्ट अनन्य, अविशेष, तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त इन पाँच भावों वाला देखता है…अनुभव पूर्वक जानता है वह सम्पूर्ण जिनशासन को देखता है—जानता है कि जो जिन शासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यन्तर ज्ञान रूप भाव श्रुत वाला है।

(१) अबद्धस्पृष्ट—व्यवहार से आत्मा द्रव्यकर्म से बद्ध और नोकर्म से स्पृष्ट होने के कारण बद्धस्पृष्ट है किन्तु निश्चय से इनसे रहित होने से अबद्धस्पृष्ट है।

(२) अनन्य—व्यवहार नय से नर, नारक आदि नाना पर्यायरूप होने से अन्य अन्य है पर निश्चय से इन से रहित होने से अनन्य है।

(३) नियत—व्यवहार से ज्ञान, दर्शन आदि के पर्याय में अविभाग प्रतिच्छेदों की हानि वृद्धि होने से मति ज्ञान आदि ज्ञान तथा चक्षुदर्शन आदि दर्शन रूप परिणमता होने से अनियत है किन्तु निश्चय से ज्ञान और दर्शन आदि से परिपूर्ण होने से नियत एकरूप है।

(४) अविशेष—व्यवहार से ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व आदि गुणों से, अगुरुलघु की पर्यायों से तथा असंख्यात प्रदेशों से विशेषतावाला है क्योंकि इनके साथ उस का लक्ष्य लक्षण भेद है पर निश्चय से सब विशेषताओं से रहित अविशेष है।

असंयुक्त—व्यवहार से मिथ्यात्व, क्रोध आदि राग भावों से संयुक्त होता है पर निश्चय से इन भावों से रहित होने के कारण असंयुक्त है।

ऐसे पाच भावों से युक्त आत्मा को जो अप्रमत्त दशा मे आकर अनुभव करता है मानो वह सारे द्रव्य भावरूप श्रुत का अनुभव करता है क्योंकि सम्पूर्ण श्रुत का मक्खन यह आत्मा ही है। जिसने इनको अनुभव कर लिया उसने सभी आगम को जान लिया।

बिलकुल इसी बात को श्री प्रवचनसार मे भव्य शब्दों मे इस प्रकार कहा है—

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
त सुयेकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥३३॥

समयसार ९, प्रवचनसार ३३

अर्थ—जो श्रुतज्ञान के द्वारा स्वभाव से ज्ञायक (ज्ञायक स्वभावी) आत्मा को जानता है उसे लोक के प्रकाशक ऋषीश्वरगण निश्चय से श्रुतकेवली कहते हैं।

भावार्थ—कुछ विद्वान इस गाथा को चौथे गुणस्थान की कहते हैं पर ऐसा नहीं है। यह गाथा तो सातवें से बारहवें गुणस्थान की है। इसका भाव ऐसा है कि जो सम्यग्दृष्टि मुनि सातवें गुणस्थान में ज्ञायक स्वभावी अपने निज शुद्ध आत्मा को भाव श्रुतज्ञान द्वारा अनुभव करता है वह निश्चय से श्रुतकेवली है। चाहे गणधर भी हो, जो पूर्ण द्वादशांग को जानने वाला है वह जब तक छठ गुणस्थान में है तब तक वह तो व्यवहार से श्रुतकेवली है और जो सारे द्वादशांग को भले न जानता हो किन्तु उसके मक्खन स्वरूप निज शुद्ध आत्मा को अप्रमत्त दशा में अनुभव करता है वह तो निश्चय से श्रुतकेवली है। इतनी इस सम्यक् श्रुतज्ञान की महिमा है। ये सातवें से बारहवें गुणस्थान तक के सम्यक्ज्ञान का निरूपण करता है।

आगे तेरहवें चौदहवें गुणस्थान के सम्यग्ज्ञान का निरूपण इस प्रकार है—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९

नियमसार

अर्थ—व्यवहार नय से केवली भगवान सब को जानते हैं और देखते हैं। निश्चय से केवलज्ञानी आत्मा को (स्वयं—निज शुद्ध आत्मा को) जानते हैं देखते हैं।

शिष्य—बारहवें गुणस्थान से इसमें क्या अन्तर पड़ा?

गुरु—वहाँ छद्मस्थ पुरुषार्थपूर्वक अपने उपयोग को पर से हटाता था और स्व में स्थित करता था। महान् पुरुषार्थ करना पड़ता था जिसको कोई भी छद्मस्थ अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं कर सकता। उसके फलस्वरूप घातिकर्म का नाश होता है और उस घाति कर्म ने जो आत्मा का स्वभाव तिरोभूत कर दिया था वह स्वयं आविर्भूत हो जाता है। इसकी स्वयंभू संज्ञा हो जाती है। फिर वह स्वतः अनन्त काल तक स्व में स्थित रहता है। उपयोग को पुरुषार्थ पूर्वक स्व में जोड़ने की आवश्यकता नहीं रही और इतना ही नहीं। उपयोग को जो पुरुषार्थ पूर्वक पर से हटाता था उसकी भी आवश्यकता नही रही अर्थात् उपयोग लगाकर पर का जानना ही नहीं रहा किन्तु पर स्वतःझलकता है और स्वतः जाना जाता है जिसको केवली का व्यवहार से पर का जानना कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान की अन्तिम उत्कृष्ट दशा है जिसको निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

जैनसमाज के समक्ष ज्वलंत प्रश्न

कुमार चन्द्रसिंह दुधोरिया, कलकत्ता

[श्री दुधोरिया जी ने प्रस्तुत निबन्ध मे, जैन समाज के बिखरे तत्त्वों को एक सूत्र में आबद्ध होने का निमन्त्रण दिया है। एकता की बात नई नहीं पुरानी है, समय-समय पर चली है और चल-चल कर छूटती रही है। यह सच है कि आज की परिस्थितियां कुछ अधिक प्रतियोगात्मक हो गई हैं और हमें एक होना चाहिए। प्रश्न केवल महावीर जयन्ती के अवकाश का ही नहीं है, और भी अनेक हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय में 'बौद्ध चेयर' स्थापित है 'महावीर पीठ' नहीं, आगरा विश्वविद्यालय में जैन दर्शन का कोई स्वतन्त्र प्रश्नपत्र नहीं है, उत्तरप्रदेशीय विश्व विद्यालयों मे प्राकृत-भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन का कोई सुबीता नहीं। यह सब एकता के बल पर ही निर्भर है। हो कैसे ?

—सम्पादक]

जैन-समाज के अतीत और वर्तमान का चित्र जब कभी दृष्टि के सामने खडा होता है तो लार्ड कर्जन के इस कथन की ओर कि—"हिन्दुस्तान की धन-दौलत का अधाँश जैनियों के हाथ से गुजरता है"—ध्यान अनायास ही आकृष्ट हो जाता है। शीघ्रता से बदलने वाली अर्थ-व्यवस्था और धन-सम्पदा के विकेन्द्रीकरण के इस काल में यह कोई बहुत अच्छी मिशाल नहीं मानी जायेगी। फिर भी, इस कथन से कम से कम इतना तो स्थिर हो जाता है कि, लार्ड कर्जन के जमाने में जैनियों की जो स्थिति थी उसमें और आज की स्थिति मे कितना अन्तर आ गया है!

जैन-समाज की उपलब्धियों का एक बड़ा कारण यह रहा है कि, समाज के नेतागण पुरुषार्थी जीवन व्यतीत करने के साथ ही समाज के अधिकार एवं सामूहिक हित के लिए सदा-सर्वदा जागरूक रहते थे। आर्थिक साधनों के अभाव में जो व्यक्ति अपने गुणों और हुनरों का विकास नहीं कर पाते थे, समाज के सम्पन्न व्यक्तियों के ध्यान में यह बात आते ही तत्काल उनकी सहायता की व्यवस्था हो जाती थी। समाज के सुख-दुःख में शामिल होने के साथ ही समाज के उत्थान एवं अभ्युदय की भावनाये उस समय समाज के नेताओं के हृदय में कूट-कूट कर भरी हुई थी।

लेकिन कालान्तर के प्रभाव से हो अथवा वर्तमान पीढी के नेताओं और कर्णधारों की शिथिलता के कारण, आज स्थिति बिल्कुल भिन्न और विपरीत है। समाज आज स्वार्थपरता, फिरकापरस्ती और दलगत भावनाओं से आक्रान्त है, जिसका परिणाम सारे समाज को भोगना पड़ रहा है। जिस जैन-समाज की जन-जीवन के क्षेत्र मे प्रमुखता रही, आज वह परमुखापेक्षी बनता जा रहा है। देश का यह अग्रणी समाज आज लगातार उपेक्षित होता जा रहा है।

देश मे राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के बाद भारत की विभूतियों की जयन्तियाँ एवं पुण्य-तिथियाँ मनायी जाने लगी हैं। दिवंगत विभिन्न नेताओं की जयन्तियों पर विशेष डाक टिकट जारी होने लगे हैं और उन दिनों सरकार की ओर से छुट्टियाँ घोषित की जा रही हैं। लेकिन घोर सन्ताप की बात है कि, सारे संसार को अहिंसा, अपरिग्रह और समभाव का अमूल्य सन्देश देने वाली मानवजाति की महान विभूति—भगवान महावीर की जन्म अथवा निर्वाण-तिथियों पर अखिल भारतीय स्तर पर समारोह करने की बाते तो दूर रही, हम इस परम पावन दिवस पर सरकारी छुट्टी भी स्वीकृत नहीं करा पाये हैं। इसका प्रधान कारण समाज की शिथिलता है।

पुरुषार्थ और बुद्धिकौशल पर आधारित जो जैन-समाज वाणिज्य-व्यवसाय के क्षेत्र में ही नहीं, जन-जीवन

के प्रत्येक क्षेत्र मे अपना प्रमुख स्थान रखता था वह आज क्रमशः पिछड़ता जा रहा है, इसके कारणो की गहराई मे प्रवेश करने की क्या हमने कभी कोशिश की है ?

शायद इसके दो प्रमुख कारण हैं। पहला संगठन का अभाव और दूसरा समाज की इकाइयों तथा परिवार एव व्यक्ति की प्रतिभा, आर्थिक क्षमता मे क्रमशः ह्रास।

जैन समाज को यदि फिर से देश का अग्रणी समाज बनना है, तो उसके लिए उसे अपने संगठन एवं अपनी इकाइयों की शक्ति को दृढ करना होगा और उन्हे वर्तमान वातावरण के अनुकूल मोडना होगा।

हमारे देश मे गणतान्त्रिक प्रणाली का उदय हो रहा है। गणतान्त्रिक प्रणाली मे व्यक्ति का नही, समुदाय का महत्व होता है। व्यक्ति कितना ही गुणशाली एव बडा हो, जब तक उसके पीछे सुसगठित जन-समुदाय की शक्ति नही होती तब तक उसका महत्व नही होता। गणतान्त्रिक शासन प्रणाली के उदय की इस बेला मे जो समाज या समुदाय शिथिल रहेगा, अकर्मण्य रहेगा और अपने सामूहिक अधिकारो के प्रति सजग और जागरूक नही रहेगा, वह अपना महत्व खो देगा। उस समाज की कोई प्रतिष्ठा नही रहेगी। यही बात हमारे जैन समाज पर भी लागू है।

जैन समाज एकबद्ध होकर, एक स्वर मे "महावीर जयन्ती एव निर्वाण दिवस" पर सार्वजनिक छुट्टी के लिए आवाज बुलन्द करे और इसके लिए सुसगठित प्रयास करे तो फिर इस मांग को ठुकराना किसी के वश की बात नही रह जायेगी। सरकार को समाज की सामूहिक मांग पर झुकने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

लेकिन यह तभी सम्भव है, जब हममे समाज के एकीकरण की भावना का उदय हो। वर्तमान युग मे जन-शक्ति और सगठन का बहुत बडा महत्व है। जैन-समाज एक तो अन्य समाजों की तुलना में आकार मे यो ही छोटा है, तिस पर भी, इस समय फिरकापरस्ती का शिकार है।

समाज के विभिन्न फिरके अपनी अलग-अलग डफली बजा रहे हैं और अलग-अलग राग अलाप रहे हैं, जिसके कारण आज समाज विशृङ्खलित है। उसकी आवाज का आज कोई प्रभाव नहीं है। हम चाहे तेरहपंथी हों अथवा स्थानकवासी या मन्दिर मार्गी, श्वेताम्बर हों या दिगम्बर सम्प्रदाय-गत संकीर्ण भावनाओं को त्याग कर एकता के दृढ़ पाश मे आवद्ध हो और एक जैन समाज के रूप मे सोचे और कार्य करे—जैन समाज अस्तित्व कायम रखना चाहता है तो—इसके अतिरिक्त और दूसरा मार्ग नही है।

परिवर्तित परिस्थितियों में सोचने, विचारने और कार्य करने के तौर-तरीके भी बदले हैं और शीघ्रता से बदलते रहेंगे। समाज को एकता के सूत्र मे आबद्ध कर एव उसमे सगठन की भावना जाग्रत करने के लिए समाज के अगुओ और कर्णधारो को नये कार्यक्रम ग्रहण करने होगे। बदली हुई परिस्थितियों में केवल पञ्च कल्याणक पूजन एवं व्याख्यानमालाओं के आयोजन मात्र से ही अपेक्षित एकता का आविर्भाव नही होगा। सामाजिक सगठन एवं प्रगति के लिये हमें आध्यात्मिक क्षेत्र के बाहर भी व्यापक कार्यक्रम बनाने होंगे।

स्वतन्त्रता की उपलब्धि के बाद हमारे देश मे जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नयी उथल-पुथल मची हुई है। प्रत्येक समाज आगे बढ़ने के लिए हाथ पांव फैला रहा है। लेकिन यह साधन सम्पन्न जैन-समाज ही है, जिसमे आज अजीब निर्जीवता छायी हुई है। स्वतन्त्रता के इन १५-१६ वर्षो के बाद भी हमारे समाज के नेताओं एव सामाजिक संस्थाओ के सामने समाज का वास्तविक चित्र नही है। और न इसके लिए उनके पास समय ही प्रतीत होता है।

समाज के अतीत की गुणगरिमा के बखान मात्र मे ही वर्तमान पीढ़ी के कर्णधारों और नेताओं का अधिकाश समय व्यतीत हो जाता है। समाज एव आज के नव-युवकों के सामने क्या क्या समस्याएं है और उनका निराकरण कैसे हो सकता है, उसके प्रति हम उदासीन होते है। न तो सामूहिक रूप से चिंतन, मनन एव विचार विमर्श की कोई व्यवस्था है और न उसकी कोई जरूरत ही महसूस की जाती है।

देश में परिवर्तनों की बाढ़ सी आ गयी है। जिधर दृष्टि जाती है, वहीं परिवर्तनों की भरमार दिखाई देती है। जन-जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं, जो परिवर्तनों के प्रवाह से अछूता हो।

स्वाधीनता लाभ करने के बाद हमारी राष्ट्रीय सरकार की योजनाएँ और गतिविधियाँ भारतीय समाज और उसकी इकाइयों-सम्प्रदायों के ढाँचे को तेज रफ्तार से बदल रही हैं। धन सम्पदा के उत्पादन एवं वितरण की पुरानी प्रणालियाँ शीघ्रगति से परिवर्तित हो रही हैं। साथ ही, सामाजिक आदर्श भी तेजी से बदल रहे है और जीवन के नये मूल्यों का निर्माण हो रहा है।

हमारा नवजात प्रजातन्त्र समाजवादी समाज-व्यवस्था की ओर अग्रसर हो रहा है। दृष्टिकोण एवं जीवन यापन के तरीकों के साथ सयुक्त परिवार का ढाँचा भी बदल रहा है।

यह प्रतियोगिता का युग है। प्रारम्भ से ही व्यक्ति को शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश के लिए, रोजगार के लिए, वाणिज्य व्यवसाय में सफलता के लिए प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है—यहाँ तक कि विवाह के इच्छुक नवयुवकों और नवयुवतियों को भी प्रतियोगिता का शिकार होना पड़ता है।

हमारे देश की वर्तमान शिक्षा एवं प्रशिक्षण पद्धति में आधुनिक प्रतियोगी विश्व की आवश्यकताओं को पूरा करने की सामर्थ्य नहीं है। इसके अलावा, पाठ्यक्रमों मे अनिवार्य सांस्कृतिक एवं सृजनात्मक कार्य-कलापों का समावेश न होना छात्रों के व्यक्तित्व के विकास में भारी बाधक है। और वर्तमान युग मे वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा के बिना जीवन में आर्थिक सफलता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करना बहुत ही कठिन है।

अब समय आ गया है, जबकि प्रत्येक भारतीय नागरिक, कुटुम्ब, सम्प्रदाय निरंतर अपनी योग्यता एवं सक्षमता की जाँच करें कि प्रतियोगिता का वह किस प्रकार सरलतापूर्वक सामना कर सकता है। अतएव, जो समाजसततजागरूकनहींरहेगा, वहअपनेअस्तित्व को ही खो बैठेगा। ऐसी परिस्थितियों में कोई प्रगतिशील सम्प्रदाय सारी जिम्मेदारी सरकार पर छोड़ कर हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठ सकता।

समाज को शीघ्रता से परिवर्तित होनेवाली परिस्थितियों और नये वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए परिपूर्ण जागरुकता औरतैयारी कीपग पग पर आवश्यकता है। हमें सुनियोजित एवं योजनाबद्ध पद्धतियों से अग्रसर होना होगा। तभी हम इन परिवर्तनों का लाभ उठा सकते हैं।

बदली हुई परिस्थितियाँ और अबाध रूप से होने वाले ये परिवर्तन समाज के नेताओं के लिए नया दायित्व लेकर आये है। हमे अपने लिए ही नही, भावी पीढ़ी के प्रति भी अपने गुरुतर दायित्व का निर्वाह करना है

समाज के नेताओं, कर्णधारो, विचारकों और शुभचिन्तकों को परिवर्तनशील स्थितियों के प्रति पूर्णरूप से जाग्रत रहना होगा और इस नये उत्तरदायित्व को ग्रहण करना होगा एवं बदली हुई स्थितियों के अनुरूप समाज का नेतृत्व तथा मार्ग दर्शन करना होगा।

हमारा अतीत जितना गौरवमय रहा हो, आज उसकी गुण गरिमा का बखान करने मात्र से काम नही चलेगा। वर्तमान स्थिति के प्रति आखमूँद कर बैठे रहना समाज के प्रति खतरनाक साबित होगा।

प्रश्न यह पैदा होता है कि, हम समाज को इस घोर प्रतियोगिता के लिए कैसे तैयार करे? इसके लिये हमें कोई भी कार्य प्रारंम्भ करने के पूर्व समाज की वास्तविक स्थिति का पता लगाना होगा। यह देख कर दिल को ठेस लगती है कि, साधन सम्पन्नता के बावजूद भी अपने समाज की वास्तविक स्थिति का सम्पूर्ण चित्र हमारे सामने नही है। इसे जानने के लिए कल्पना या अन्दाज से काम नही चल सकता। इसके लिए हमे आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों को अपनाना होगा। सांख्यिक पद्धतियों द्वारा सामाजिक सर्वेक्षण (Sociological Survey by Statistical Methods) से समाज की स्थिति का वास्तविक चित्र उपलब्ध हो सकता है।

स्वाधीनता की प्राप्ति के पश्चात् प्रजातान्त्रिक ढांचे के अन्तर्गत देश के राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सास्कृतिक एव जन जीवन के अन्य विविध क्षेत्रों में द्रुत

[शेष पृ० १६२ पर]

संत श्री गुणचन्द्र

परमानन्द शास्त्री

भट्टारक गुणचन्द्र मूलसघ सरस्वतिगच्छ बलात्कार-गण के भट्टारक रत्नकीर्तिके प्रशिष्य, और रत्नकीर्ति द्वारा-दीक्षित भ०यशःकीर्ति के शिष्य थे। यशःकीर्ति अपने समय के अच्छे विद्वान थे। यशःकीर्ति का स्वर्गवास भीलोडा (गुजरात) मे स० १६१३ में हुआ था १। और इसी वर्ष सं० १६१३ मे गुणचन्द्र का पट्टाभिषेक सावल गाँव में हुआ था २। यशः कीर्ति सस्कृत और हिन्दी भाषा के अच्छे विद्वान और कवि थे। आपकी दो कृतियाँ सस्कृत भाषा मे उपलब्ध है। अनन्तनाथ पूजा जिसे कवि ने सं० १६३० में हुंबड वशी सेठ हरकचन्द दुर्गादास नामक वणिक की प्रेरणा से, सागवाड़ा के आदिनाथ मंदिर मे रहकर उन्हीं के व्रत उद्यापनार्थ बनाई थी। दूसरी रचना 'मौनव्रत कथा है जिसे उन्होंने संस्कृत मे रचा है ३। आप संस्कृत के साथ हिन्दी भाषा के अच्छे विद्वान थे, आप की अनेक रचनाएं पद्य मे लिखी गई है। अनेक पद भी मिलते हैं। परन्तु उन रचनाओं की भाषा पर राज-स्थानी और गुजराती का भी प्रभाव अंकित मिलता है। अजमेर शास्त्र भडार के एक गुच्छक में आपकी अनेक हिन्दा रचनाए सगृहीत थी, उन्हें देखकर ही कुछ नोट्स लिए थे। उनका सार प्रस्तुत लेख में दिया गया है। भट्टारक यशःकीर्ति ने स० १६५३ में सागवाड़ा में देहोत्सर्ग किया था ४।

उक्त गुच्छक में आपकी निम्न रचनाएं उपलब्ध हैं — राजमति सतुरासु। दयारस रास, आदित्यव्रत कथा, बारह मासा, बारह व्रत, वीनती, स्तुति नेमिजिमैन्द्र, ज्ञानचेतानु-प्रेक्षा, पशु वाणी और पद। इन मे प्रथम रचना २०४ पद्यों मे समाप्त हुई है, और दूसरी रचना ६५ पद्यो में पूर्ण हुई है अन्य सभी रचनाए इनसे परिमाण मे छोटी है।

प्रस्तुत 'राजमतिरास' में जैनियो के २२वें तीर्थङ्कर भगवान नेमिनाथ और राजमति का जीवन-परिचय दिया गया है जब भगवान नेमिनाथ का विवाह सम्बन्ध राजा उग्रसेन की पुत्री राजकुमारी (राजुल) के साथ होना निश्चित हुआ और जब बारात सज धजके चली तब बारात मे नेमिकुमार रथ में बैठे हुए जा रहे थे। मार्ग में एक बाड़े मे घिरे हुए पशु समूह के चीत्कार शब्दो को सुनकर और निरपराध पशु समूह को देखकर नेमिकुमार का हृदय दया से भर गया, नेमिकुमार ने सारथी से रथ रुकवाकर पूछा कि ये पशु क्यों घिरे हुए है ? सारथी ने कहा प्रभो, आपके विवाह मे समागत अतिथियों के लिए इनका वध किया जायगा। इतना सुनते ही नेमिकुमार रथ से उतर पडे और सोचने लगे कि मुझे उस विवाह से क्या प्रयोजन है। जिसके लिए निरपराध पशुओं को सताया जाय। उन्होंने तत्काल ही पशुओं को छुड़वा दिया और हार-ककण मुकुट आदि बहुमूल्य वस्त्राभूषणो को उतार कर फैक दिया, और वे गिरनार पर्वत पर चढ़ गए। और दीक्षा ले तपश्चरण द्वारा आत्म-साधना करने लगे। इधर जब यह समाचार राजमतीको मिला, तब वह मूर्छित होगई, शीतलोप-चार द्वारा जब मूर्छा दूर हुई, तब माता पिता ने पुत्री को बहुत समझाया परन्तु राजुलने उत्तर दिया, कि इस भव के पति देव तो नेमकुमार ही है। अन्य से मुझे प्रयोजन ही क्या है ? मैं भी जिनदीक्षा लेकर तपश्चर्या द्वारा आत्म-साधना करूंगी। उक्त रासा मे कवि ने राजुल और सखी के सवाद तथा प्रश्नोत्तर को कितने सुन्दर शब्दो मे व्यक्त किया है उससे राजुल के सतीत्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

---

१. जैन सि० भा० भा० १३ पृ० ११३।
२. जैन सि० भा० भा० १३—पृ० ११३।
३. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संगृह भा० १ पृ० ३४, ८०।
४. जैन सि० भा० भा० १३ पृ० ११३।

सखी राजकुमारी से कहती है कि वर्षा ऋतु आ गई है, आषाढ का महीना है, देश मे चारों ओर बादल घुमड रहे है, नन्ही-नन्ही बूँद भी पड़ रही है, चातक 'पिउ-पिउ' शब्द सुना रहा है, बिजली जोर से कड़क रही है, जो विरह की ससूचक है। नारी जन पचम स्वर मे पति के गीत गाती हैं, दादुर बोल रहे है, हृदय उमड़ रहा है, वह स्थिर नही रहता। ससार मे भोग भले है राजकुमारी मेरी बात सुनो, दूध भात मीठा है। अन्य जन्मों को कौन देखने गया है, अतएव जब तक हस शरीर में है, तब तक ही यह सब व्यवहार है, हे सखि स्वर्ग नरक कुछ भी नही है, ससार यो ही भूल रहा है। भोगों के किये पति का समागम ही भला है, सो जब तक शरीर मे उच्छ्वास है, तब तक प्रेम का परित्याग न करना चाहिए। जैसा कि कवि के निम्न वाक्यो से प्रकट है—

'तब सखि भणइ न जानसि भावा,
रुति असाढ कामिनि सरुलावा।।
बादर उमडिरहे चहुँ देसा,
बिरहनि नयन भरइ अलिकेसा ।।३७।।
नन्हीं नन्हीं बूँद घनागमु आवा,
चातक पिउ पिउ शब्द सुनावा।
दामिनि दमकित है अति भारी,
बिरह वियोग लहरि अनिवारी ।।३८।।
भामिनि पियगुन लवइ अपारा,
पंचम गति मधुर भुणकारा।
दादुर बोल गहिर अरुमोरा,
हिमउ उमगधरत नहि तोरा ।।३९।।
भोगु भले सुनि राजकुमारी,
हमरी बात सुनहु जगसारी।
दूधभातु मीठउ उमरी मइया,
अवर जनम को देखन गइया ।।४०।।

दोहा— जब लगु हंस सरीर महि,
तब लगु सबु विवहार।
हे सखि सुरग न नरकु कुहइ,
भूला सबु संसारु ।।४१।।

सोरठा—कीजइ भोग विलास,
पिय संगमु सखि हइ भला।
जब लगु रहइ उसासु,
तब लगु पेम न छाडिए ।।४२।।

राजकुमारी सखी की रागरस भरी बातो को सुनकर जो उत्तर देती है वह कितना सुन्दर है और शील की दृढ़ता को व्यक्त करता है। हे सखि तू सती के स्वभाव को नही जानती। अपना पति अमृत के समान है, और पर पुरुष विष के समान। ऋतु अषाढ़ मे हृदय उमड़ता है, तब सती पति के पावन गुणो का स्मरण करती है, उसका मन हर समय पति के गुणों मे अनुरक्त रहता है, वह उनके सुख मे सुखी और दुःख मे दुखी रहती है। सती का मन पति से दूर नही रहता। हे सखि, स्वर्ग और नरक यही पर है, तू इनका विचार क्यों नही करती, जो पर पुरुष से राग करती है वह पाप के फल स्वरूप नरक को जाती है और वहाँ अनेक प्रकार का सताप सहती है, किन्तु जो शील संयमादिका दृढता से पालन करती है वह कभी दुर्गति में नही जाती। और न उसे दुःख ही भोगना पडते है। शील के पालन से देवगति मिलती है। हे बाला! तू शील की महत्ता को नही जानती। नारी का शील ही भूषण है, वही ससार के दुःखों से जीवका सरक्षण करता है। जो शील का पालन नही करते, उन्हें ससार मे व्यर्थ ही भ्रमण करना पडता है। और जन्म भी उनका सफल नही हो पाता है।

यह शरीर हड्डी, मज्जा, चर्बी, खून और पीब आदि मलो से भरा हुआ है, दुर्गंधित है, क्षणभगुर है—विनाशीक है, ऐसे शरीर से भव-भीरु पुरुष कैसे राग कर सकता है? अतएव जब तक आयु नही गलती तब तक धर्म का साधन करो, जब धर्म का पालन होने लगता है तब अनायास ही सुख मिलने लगता है, और मानव जन्म भी सफल हो जाता है। जैसा कि कवि के शब्दों से प्रकट है—

राजमती सुनि बोलत वयना,

पिउ अपना अम्रत रसधारा,
अवर पुरिख विष सम अवधारा ।।

—क्रमशः

साहित्य-समीक्षा

फूल और अंगारे, लेखक··मुनि श्री नथमल जी, प्रकाशक··सेठ चांदमल जी बांठिया ट्रस्ट, पार्श्वनाथ जैन लायब्रेरी, जयपुर पृ०, ८३, मूल्य ३ रु०, वि० सं०—२०१७।

इस अल्पकाय पुस्तक मे मुनिजी की ६१ कविताओं का संकलन है। वे वि० स २००८ से २०१६ के मध्य समय-समय पर लिखी गई हैं। मुनिजी एक माने-जाने ख्यातिप्राप्त विद्वान् है। दर्शन और शोध मे उनकी सहज गति है। वही उनका मुख्य विषय है। मैंने देखा है कि दर्शन की सूक्ष्म परतो मे धंसता दार्शनिक कवि बन जाता है और कविता की अनुभूतियों में रमता कवि दार्शनिक हो उठता है। मेरी दृष्टि मे 'दर्शन' कोरा चिन्तन नही है। उसकी तह में पडी 'दृश्' धातु भावोन्मेष के बिना साधक को दृश्य नहीं बनने देती। इसी कारण जैनाचार्यों ने 'दर्शन' का अर्थ 'श्रद्धान' लिया है। उसका भावना से सीधा सम्बन्ध है। तो मुनि जी का 'दर्शन' जब उमड़ा, कविता के रूप मे बह पड़ा। 'दर्शन' का यह भावपरक प्रवाह जैन परम्परा के अनुकूल ही है। अनेक जैन कवियो ने 'दर्शन' को भावनाओं की थपकियों में सहेजा है मुनिजी ने मानव जीवन के इस सहज सत्य को कि उसमें कठोरता, कोमलता दाहकता शीतलता तथा स्थूलता और सूक्ष्मता का समन्वय होता है, सहज भाव-भीनी भाषा में अभिव्यक्त किया है। उनकी यह कृति मानवदर्शन की सहज अभिव्यक्ति है। 'निर्विकल्प' के साधक की यह कल्पना पाठक को 'निर्विकल्प' मे लीन कर देती है, कोई इसे आश्चर्य माने, मैं तो सहज स्वाभाविक ही कहता हूँ।

मुनि जी की विशेषता है—सरलता और उन्मुक्तता। वह उनकी समूची कविताओं मे झलकती है, चाहे बात अंगारों की हो या कठोरता की। अभी तक तो उन पर किसी 'वाद' का प्रभाव नहीं है। वे काव्यशास्त्र की, रूढियों की और वादों के घेरों की बन्दिशो मे बंधने वाले जीव नही हैं। दूसरी ओर अंग्रेजी कविता के अनुकरण पर हिन्दी मे लय और विदेशी भावनाओं के सहारे नवीनता की डींग भी उन्होने नही हांकी है। उनके विचार सूक्ष्म और मौलिक हैं। उन्हें सहज बोध अभिव्यक्ति देने मे भी वे अकेले हैं। आधुनिक हिन्दी काव्य को उनकी यह देन अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस कृति में उनकी प्रत्येक कविता वन की लहलहाती टहनी-सी खूबसूरत है। 'नीड और विहग' की कतिपय पंक्तियां देखिए—

रंग क्या वह आह मिश्रित, अश्रु कण से घुल न जाए।
ग्रन्थि क्या वह प्रेमके आघात, से जो खुल न जाए।
अश्रु बन मिलते रहो तुम धार बन चलता रहूँगा।
विजय क्या वह हार की, अनुभूति ले जो मुड न जाए?
हृदय क्या यह वेदना के, तार से जो जुड़ न जाए।
नीड़ बन मिलते रहो तुम, विहग बन पलता रहूँगा॥

जैन दर्शन के मौलिक तत्व, प्रथम भाग, लेखक—मुनि श्री नथमल जी, प्रबन्ध सम्पादक—छगनलाल शास्त्री, प्रकाशक—मोतीलाल बेंगानी चेरिटेबल ट्रस्ट, १।४ सी. खगेन्द्र चटर्जी रोड, काशीपुर, कलकत्ता-२, प्रबन्धक—आदर्श साहित्य संघ चूरू (राजस्थान), पृष्ठ संख्या—५४६, मूल्य—१० रु०।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन दर्शन के मौलिक तत्व' का पहला भाग है। इसमें पांच खण्ड हैं—जैन संस्कृति का प्राग्-ऐतिहासिक काल, ऐतिहासिक काल, जैन साहित्य, जैन धर्म का समाज पर प्रभाव तथा संघ व्यवस्था और चर्या। इन खण्डों में ३१ अध्याय हैं। ग्रन्थ में आचार्य तुलसी विरचित 'जैन सिद्धान्त दीपिका' और 'भिक्षु न्याय कर्णिका' का सार है और कुछ विषय अतिरिक्त भी हैं। मुनि जी ने पहले और दूसरे खण्ड को हृदयहारी बना दिया है। इनमें

ऋषभदेव, भरत और बाहुबली से सम्बन्धित घटनाओं का इतिवृत्त है. किन्तु उनके निरूपण में इतिवृत्तात्मकता नहीं है। भावुक स्थलों पर लेखक भी भावुक हो उठा है। इससे इतिहास की रूक्षता का परिहार हुआ है। इसे पढ़ते-पढ़ते पाठक विभोर हो उठेगा और उपन्यास जैसा आनन्द आयगा। ज्ञान और प्रमाण का विवेचन ऐसे सहज तथा विशद रूप में प्रस्तुत किया गया है कि साधारण जन भी आसानी से समझ जाता है। इससे मुनिजी का विषय के साथ तादात्म्य स्पष्ट ही है। विषय पर अधिकार हो, शैली बोधगम्य हो और भाषा में सरलता एवं प्रवाह हो तो दार्शनिक विवेचन कभी भी उबा देने वाला नहीं हो सकता। इस ग्रन्थ का कोई स्थल ऐसा नहीं, जिसे पढ़कर पाठक थकान का अनुभव करे। मुनिजी ने जैनदर्शन का तलस्पर्शी अध्ययन किया है। दूसरी ओर उनका अनुभूति परक दिल अपना है। ग्रन्थ का अभिनन्दन होगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

अन्त में पाँच परिशिष्ट हैं—टिप्पड़ियाँ, जैनागमसूक्त, जैनागम-परिमाण, जैनदार्शनिक और उनकी कृतियां तथा पारिभाषिक शब्दकोष। इन्हें पढ़कर ही विद्वान् समझ सकेंगे कि वे कितने उपादेय और उपयोगी हैं।

सम्बोधि रचयिता—मुनि श्री नथमल जी, अनुवादक—मुनि मीठालाल, प्रकाशक—सेठ चाँदमल बांठिया ट्रस्ट, पार्श्वनाथ जैन लायब्रेरी, जयपुर, पृष्ठ—१७६, वि० सं०—२०१८।

इस पुस्तक में १६ अध्याय और ३४४ श्लोक हैं। श्लोकों की रचना मुनि श्री नथमल जी ने की है। संस्कृत आसान है। प्रारम्भिक ज्ञान रखने वाला भी समझ सकता है। उनका हिन्दी अनुवाद मुनि मीठालाल जी ने किया है। वह मूल के अनुरूप ही है।

पुस्तक का प्रारम्भ एक प्रसिद्ध कथानक से हुआ है। महाराजा श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार ने भगवान महावीर से दीक्षा ले ली। राजपुत्र दीक्षित साधु बन गया। किन्तु पहली रात मुश्किल से बीती। भूमि कठोर थी, वहां निर्ग्रन्थ साधु अधिक थे और वह मार्ग मे सो रहा था, जिससे आने-जाने वाले साधुओं की ठोकरें लगती थीं रात शत-शत प्रहरों को लिए बीती। प्रातः वह भगवान् के पास गया, दीक्षा समाप्त करने का मन लिए। भगवान् ने सम्बोधा। भगवान् की वाणी अनेक आगम ग्रन्थों में संगृहीत है। उनका सार मुनिजी ने लिया। कवि विषय कहीं से ले; किन्तु उसके भाव-अनुभाव भी उसमें घुले मिले बिना नहीं रह सकते। जाने-अनजाने उनका स्वर बज ही उठता है। वाणी भगवान् की है। मुनिजी ने जिस श्रद्धाभाव से उसे अभिव्यक्त किया है वह उनका अपना है। मुनिजी का पुण्य बढ़ा तो पाठकों का भी विकसित हो सकता है। इसी दृष्टि से पुस्तक की उपादेयता सिद्ध है। हम स्वागत करते हैं।

डा० प्रेमसागर जैन

[पृ० १८८ का शेष]

गति से होने वाले परिवर्तनों के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक रहने की आवश्यकता अनुभव की जाती है। क्योंकि अबाधरूप से होने वाले इस परिवर्तनों के प्रति जो समाज या सम्प्रदाय उदासीन रहेगा, वह सदैव के लिए पिछड़ जायेगा।

परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल समाज को मोड़कर ही सामाजिक जीवन को मुखरित एवं समुन्नत बनाया जा सकता है, जिसका लाभ भावी पीढ़ी को भी पहुँचेगा। इस दृष्टि से, जैन समाज के अन्तर्गत विभिन्न समुदायों शाखा प्रशाखाओं, संगठनों, परिवारों एवं व्यक्तियों को परिवर्तित वातावरण के प्रति पूर्णरूप से जाग्रत रखना एवं नव निर्माण के लिए प्रेरित करना समय की एक बड़ी और अपरिहार्य आवश्यकता है। अतएव, देश के विभिन्न भागों में बसे हुए जैन समाज का सांख्यिक पद्धति द्वारा सामाजिक सर्वेक्षण नितान्त आवश्यक है। इस सर्वेक्षण द्वारा जहाँ जैन भाई बहनों की संख्या का सकलन होगा, वहां उनकी वित्तीय, शैक्षणिक, सामाजिक एवं रोजगार की स्थिति का भी जीवित विवरण उपलब्ध होगा।

समाज के प्रति हमारे नेताओं के कर्त्तव्यपालन का मूल्यांकन इस बात से नहीं होगा कि हमने कितने मंदिरों का निर्माण कराया, कितने सभा सम्मेलनों की अध्यक्षता की, कितने सामूहिक भोजों का आयोजन किया। समाज के प्रति वर्तमान नेताओं के कर्त्तव्यपालन को खरी कसौटी तो यह होगी कि, उन्होंने बदलती हुई स्थितियों का सामना करने के लिए किस सीमा तक समाज को तैयार किया।

राजस्थान डायरेक्टरी का प्रकाशन

एक जैन डायरेक्टरी के प्रकाशित करने का आयोजन किया गया है। जिसमें विविध विषयों पर लेख रहेंगे, जैनदर्शन, जैन साहित्य, जैनधर्म के विविध भेद-प्रभेद, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, तीर्थ दर्शन, जैन मन्दिर, शिक्षण संस्थाएँ जैन पत्र, व्यापारिक संस्थान, जैन पदाधिकारी, जैन जागृति के अग्रदूत, विज्ञापन इत्यादि।

इसकी सम्पूर्ण आय परोपकार के कार्यों में व्यय की जावेगी। सभी महानुभाव सुझाव, सन्देश, शुभ कामनाएँ और परिचय लेख आदि भेजें।

निवेदक—डा० ताराचन्द जैन बख्शी
M. Sc. LL. B. धर्मार्थ भवन, न्यू कालोनी, जयपुर।

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रसाद जी जैन
स्वस्तिक मेन्टल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० जैन, सी० कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल, कलकत्ता
१५०) श्री कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) श्री पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) श्री मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री प्रतापमलजी मदनलाल पाड्या, कलकत्ता
१५०) श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) श्री शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) श्री मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) श्री दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) श्री लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) श्री सेठ भवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) बा० शान्ति प्रसाद जी जैन
जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली
१००) श्री बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) श्री रूपचन्द जी जैन, कलकत्ता
१००) श्री जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोग्या
इन्दौर
१००) श्री बाबू नृपेन्द्र कुमार जी जैन, कलकत्ता

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल्य-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्वकी ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा. ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा, साइज सजिल्द १५)

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दीअनुवाद-सहित १॥)

(६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १)

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥)

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्तिकी १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित ॥)

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(१०) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं परमानन्दशास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४)

(११) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१२) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ।)

(१३) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १)

(१४) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡)। (१६) महावीर पूजा। ।)

(१७) बाहुबली पूजा जुगलकिशोर मुख्तार कृत ।)

(१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित १)

(१९) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका महत्वपूर्ण संग्रह ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और उनके परिशिष्टों सहित। सम्पादक पं परमानन्द शास्त्री मूल्य सजिल्द १२)

(२०) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ...५)

(२१) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज, और कपड़े की पक्की जिल्द। २०)

(२२) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजीमें अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० (६

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवामन्दिर के लिए, पवन प्रिंटिंग वर्क्स, ३०१, दरीबा, दिल्ली में मुद्रित

द्वैमासिक

दिसम्बर १९६४

अनेकान्त

देवगढ़ के मन्दिर और मानस्तम्भ

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

★

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

★

अनेकान्त को सहायता

१०) जैन समाज के प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् श्री प० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अपनी ८८वीं जन्म जयन्ति के उपलक्ष मे निकाले हुए दान मे से दस रुपया अनेकान्त को प्रदान किये है इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र है।

५) प० रूपचन्द जी गार्गीय पानीपत के सुपुत्र चि० सुरेश कुमार के विवाहोपलक्ष मे निकाले हुए दान मे से पाच रुपया सधन्यवाद प्राप्त।

५) जयपुर निवासी प० सुग्ज्ञानी चन्द जी न्यायतीर्थ के सुपुत्र श्री भवरलाल जी के विवाहोपलक्ष मे पाँच रुपया डा० कस्तूर चन्द जी कासलीवाल की मार्फत सधन्यवाद प्राप्त हुए।

अनेकान्त के स्थायी सदस्य बनें

अनेकान्त के प्रेमी पाठको से अनुरोध है कि वे अपने मित्रो को ग्राहक बनाये। साथ ही विद्वानो और समाज के कार्यवाहको से निवेदन है कि वे अनेकान्त के स्थायी सदस्य बने। और अपने मित्रों आदि को बनाने का यत्न करे। स्थायी सदस्य फीस १०१) रु० है। आशा है, साधर्मी महानुभाव अनेकान्त के स्थायी सदस्य बनकर जैन धर्म और जैन संस्कृति के विकास मे अपना सहयोग प्रदान करेगे।

—व्यवस्थापक

अनेकान्त

वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज,

दिल्ली।

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपये

एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ न० पै०

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है।

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसिताना विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष १७ किरण-५

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४९१, वि० स० २०२१

दिसम्बर सन् १९६४

श्रीपद्मप्रभ-जिन-स्तवन

बभार पद्मां च सरस्वतीं च ।
भवान् पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः ।।
सरस्वतीमेव समग्र-शोभां ।
सर्वज्ञ-लक्ष्मी-ज्वलितां विमुक्तः ।।२।।

—समन्तभद्राचार्य

आपने प्रतिमुक्ति-लक्ष्मी की प्राप्ति के पूर्व—अर्हन्त-अवस्था से पहले—लक्ष्मी और सरस्वती दोनों को धारण किया है—उस समय गृहस्थावस्था में आप यथेच्छ धन-सम्पत्ति के स्वामी थे, आपके यहाँ लक्ष्मी के अटूट भण्डार भरे थे, साथ ही अवधिज्ञानादि लक्ष्मी से भी विभूषित थे और सरस्वती आपके कण्ठ में स्थित थी। बाद में विमुक्त होने पर—जीवन्मुक्त (अर्हन्त) अवस्था को प्राप्त करने पर—आपने उस पूर्ण शोभा वाली सरस्वती को—दिव्यवाणी को ही धारण किया है, जो सर्वज्ञ-लक्ष्मी से प्रदीप्त थी—उस समय आपके पास दिव्यवाणीरूप सरस्वती की ही प्रधानता थी, जिसके द्वारा जगत के जीवों को उनके कल्याण का मार्ग सुझाया गया है।

भीतर और बाहर

रखता नही तन की खबर, अनहद बाजा बाजिया ।
घट-बीच मंडल बाजता, बाहर सुना तो क्या हुआ ।।१।।

जोगी तो जंगम सेवडा, बहुलाल कपडे पहिरता ।
उस रंग मे महरम नही, कपडे रंगे तो क्या हुआ ।।२।।

काजी किताबें खोलता, नसीहत बतावें और को ।
अपना अमल कीन्हा नही, कामिल हुआ तो क्या हुआ ।।३।।

पोथी के पाना बाचता, घर-घर कथा कहता फिरै ।
निज ब्रह्म को चीन्हा नही, ब्राह्मण हुआ तो क्या हुआ ।।४।।

गाजारु भाग अफीम है, दारू शरावा पीशता ।
प्याला न पीया प्रेम का, अमली हुआ तो क्या हुआ ।।५।।

शतरंज चौपरगंजफा, बहुमर्द खेलैं है सभी ।
बाजी न खेली प्रेम की, ज्वारी हुआ तो क्या हुआ ।।६।।

'भूधर' बनाई बीनती, श्रोता सुनो सब कान दे ।
गुरु का वचन माना नही, श्रोता हुआ तो क्या हुआ ।।७।।

भारतीय संस्कृति में बुद्ध और महावीर

मुनिश्री नथमल

ढाई हजार वर्ष पहले का काल धर्म-दर्शन का उत्कर्ष काल था। उस समय विश्व के अनेक अंचलों में महान् धर्म-पुरुष अवतीर्ण हुए थे।

उसी समय भारतीय क्षितिज पर दो पुरुष अवतीर्ण हुए। दोनों क्षत्रिय, दोनों राजकुमार और दोनों जन-सत्ताक राज्य के अधिवासी। एक का नाम था सिद्धार्थ और एक का नाम था वर्धमान। सिद्धार्थ ने नेपाल की तराई में कपिलवस्तु में जन्म लिया। वर्धमान का जन्म वैशाली के उपनगर क्षत्रिय कुण्डपुर में हुआ। सिद्धार्थ के माता-पिता थे माया और शुद्धोदन। वर्धमान के माता पिता थे त्रिशला और सिद्धार्थ। दोनों श्रमण परम्परा के अनुयायी थे। दोनों श्रमण बने और दोनों ने उसका उन्नयन किया।

सिद्धार्थ का धर्म-चक्र प्रवर्तन

सिद्धार्थ गुरु की शोध में निकले। वे कालाम के शिष्य हुए। सिद्धान्तवादी हुए पर उन्हें मानसिक शान्ति नहीं मिली। वे वहाँ से मुक्त होकर उद्रक के शिष्य बने। समाधि का अभ्यास किया पर उससे भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। वे वहाँ से मुक्त हो गया के पास उरुवेल ग्राम में गए। वहाँ देह-दमन की अनेक क्रियाओं का अभ्यास किया। उनका शरीर अस्थिपंजर हो गया पर शान्ति नहीं मिली। देह-दमन में उन्हें कोई सार नहीं दीखा। अब वे स्वयं अपने मार्ग की शोध में लगे। वैशाखी पूर्णिमा को उन्हें बोधि लाभ हुआ। महाभिनिष्क्रमण के ६ वर्ष बाद बुद्ध बने। सारनाथ में उन्होंने धर्म-चक्र प्रवर्तन किया।

वर्धमान का धर्म-तीर्थ प्रवर्तन

वर्धमान प्रारम्भ से ही अपने निश्चित मार्ग पर चले। उन्होंने कोई गुरु नहीं बनाया न केवल कठोर तप ही तपा और न केवल ध्यान ही किया, तप भी तपा और ध्यान भी किया। उन्हें अपनी साधना-पद्धति से पूर्ण सन्तोष था। महाभिनिष्क्रमण के साढ़े बारह वर्ष पश्चात् उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि हुई। वे वर्धमान से महावीर बन गए। मध्यम पावापुरी में उन्होंने धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया।

भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति श्रमण और वैदिक इन दोनों धाराओं का संगम है। फिर भी कुछ विद्वान् इस विषय में उलझे हुए हैं। श्रमण संस्कृति को वैदिक संस्कृति की शाखा मानने में गौरव का अनुभव करते हैं। लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने लिखा है—जैन तथा बौद्धधर्म भी वैदिक संस्कृति की ही शाखाएँ हैं। यद्यपि सामान्य मनुष्य इन्हें वैदिक नहीं मानता। सामान्य मनुष्य की इस भ्रान्त धारणा का कारण है मूलतः इन शाखाओं के वेद-विरोध की कल्पना। सच तो यह है कि जैनों और बौद्धों की तीन अन्तिम कल्पनाएँ—कर्म-विपाक, संसार का बन्धन और मोक्ष या मुक्ति—अन्ततोगत्वा वैदिक ही है।

हिन्दू संस्कृति को वैदिक संस्कृति का विकास तथा विस्तार मानने में बीसवीं सदी के उन आधुनिक विद्वानों को आपत्ति है जिन्होंने भारतीय संस्कृति और हिन्दू-धर्म का अध्ययन किया है। वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि विद्यमान हिन्दू संस्कृति असल में वैदिक तथा अवैदिक, आर्य और अनार्य लोगों की विविध संस्कृतियों का सम्मिश्रण स्वरूप है। इन मनीषियों के मन में मूर्तिपूजा करने वालों की पौराणिक संस्कृति अवैदिक एवं अनार्य समूहों द्वारा निर्मित संस्कृतियों की उत्तराधिकारिणी है और जैन तथा बौद्धधर्म वैदिकी धर्म के प्रतिद्वन्द्वी है, वैदिकों को परास्त करने वाले प्रबल विद्रोही है। इनके कथनानुसार विद्यमान हिन्दू संस्कृति भिन्न-भिन्न विचारकों की चार धाराओं के मेल से बनी है। पहली धारा है वेदों के पूर्ववर्ती अनार्यों की मूल संस्कृति की, दूसरी वेदों के पूर्ववर्ती काल के भारतीय अनार्यों पर विजय पाने वाले आर्यों द्वारा स्थापित वैदिक संस्कृति की, तीसरी

वेदों के विरुद्ध विद्रोह करने वाले जैनो तथा बौद्धो के द्वारा निर्मित सस्कृति की और चौथी वेद-पूर्व सस्कृति के आविष्कार के रूप मे अवस्थित मूर्तिपूजक पौराणिक धर्म की[1]।

शास्त्री जी ने जिन अन्तिम कल्पनाओं —कर्म-विपाक, ससार का बन्धन और मोक्ष या मुक्ति को अन्ततोगत्वा वैदिक कहा है, वे मूलत अवैदिक हे।

वैदिक साहित्य मे आत्मा और मोक्ष की कल्पना ही नही है। इनके बिना कर्म-विपाक और वन्धन की कल्पना का विशेष अर्थ नही रहता। ए० ए० मैकडोनेल का अभिमत है—बाद मे विकसित पुनर्जन्म के सिद्धान्त का वेदो मे कोई सकेत नही मिलता, किन्तु एक 'ब्राह्मण' मे यह उक्ति मिलती है कि जो लोग विधिवत् सस्कारादि नही करते वे मृत्यु के बाद पुन. जन्म लेते है और बार-बार मृत्यु का ग्रास बनते रहते है[2]।

वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व

वैदिक सस्कृति के मूल तत्त्व है—यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था। यज्ञ के मुख्य प्रकार तीन है—पाक-यज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ[3]।

ऋण तीन प्रकार के माने जाते थे—देव-ऋण, ऋषि ऋण और पितृ-ऋण। यज्ञ और होम मे देव-ऋण चुकाया जाता है। वेदाध्ययन के द्वारा ऋषि-ऋण चुकाया जाता है। सन्तान उत्पन्न कर पितृ-ऋण चुकाया जाता है[4]।

'शतपथ-ब्राह्मण' मे चौथे ऋण—मनुष्य ऋण का भी उल्लेख है। उसे औदार्य या दान मे चुकाया जाता है[5]।

वर्ण-व्यवस्था का आधार है सृष्टि का उत्पत्ति-क्रम। ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य ऊरु से और शूद्र पैरों से[6]।

यज्ञ की कल्पना लौकिक और पारलौकिक दोनों है। उसका लौकिक फल है सुख-शान्ति और पारलौकिक फल है स्वर्ग[7]। ऋण और वर्ण-व्यवस्था इन दोनो का फल है समाज की सस्थापना और सघटना। तीन ऋण ब्रह्मचर्य और गृहस्थ इन दो आश्रमो के मूल है। ब्रह्मचर्य आश्रम मे रहकर वेदाध्ययन किया जाता और गृहस्थ आश्रम प्रविष्ट होकर सन्तान का उत्पादन। वानप्रस्थ और सन्यास जैसे आश्रम उस व्यवस्था मे अपेक्षित नही थे।

वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त ने जातिवाद को तात्त्विक रूप दिया और ऊँच-नीच आदि विषमताओं की सृष्टि की।

श्रमण-संस्कृति के मूल तत्त्व

श्रमण-सस्कृति के मूल तत्त्व है—व्रत, सन्यास और समता। व्रत और सन्यास का मूल है मोक्षवाद। समता का मूल है आत्मवाद। आत्मा का ध्येय है बन्धन से मुक्ति की ओर प्रयाण। श्रमण-सस्कृति मे समाश्वस्त समाज का ध्येय भी यही है। इसीलिए सामाजिक जीवन समानता की अनुभूति से परिपूर्ण हुआ। आर्थिक जीवन को व्रत से नियमित किया गया। वैयक्तिक जीवन को सन्यास से साधा गया। इस प्रकार जीवन के तीनो पक्ष—वैयक्तिक, आर्थिक और सामाजिक—विशुद्धि मे प्रभावित किए गए। इन्ही तत्त्वो के आलोक मे बुद्ध और महावीर ने वैदिक सस्कृति के मूल तत्त्वो—यज्ञ-ऋण और वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया था।

संस्कृति सगम

वैदिक और श्रमण सस्कृति का यह विचार-द्वन्द्व बुद्ध-महावीर कालीन नही था। वह बहुत पहले से ही चला आ रहा था। इसमे कोई सन्देह नही कि भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध ने उस विचार क्रान्ति को इतना तीव्र स्वर दिया कि हिंसा अहिंसा के सामने निष्प्राण बन गई है। 'अहिंसा परमोधर्म' का स्वर प्रबल हो उठा। 'अपुत्रस्यगतिर्नास्ति' के स्थान पर सन्यास की महिमा गाई जाने लगी। जन्मना-जाति का स्वर कर्मणा-जाति के स्वर मे विलीन हो गया। भगवान् पार्श्व के काल मे श्रमण और वैदिक सस्कृति का जो सगम आरम्भ हुआ था, वह अपने पूरे यौवन पर पहुँच गया।

---

१. वैदिक सस्कृति का विकास, पृष्ठ १५, १६

२. वैदिक माइथोलोजी, पृष्ठ ३१६

३. विशद् विवरण के लिए देखिए वैदिक कोष, पृष्ठ ३६१–४२५

४ तैत्तिरीय सहिता ६।३।१०।५

५ शतपथ ब्राह्मण १।७।२।१-६

६. ऋग्वेद सहिता १०।६०।१२
ब्राह्मणोस्य मुख मासीद्, बाहू राजन्य. कृत।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः, पद्भ्या शूद्रो अजायत.॥

७. वैदिक माइथोलोजी, पृष्ठ ३२०

श्रमण परम्परा मुख्यत क्षत्रियो और वैदिक परम्परा ब्राह्मणो की है। क्षत्रियो ने आत्म-विद्या और अहिंसा का विस्तार किया और आगे चल वे दोनो परम्पराओ की सगम स्थली बन गई। क्षत्रियो ने आर्य शब्द वैदिक आर्यो से लिया।

क्षत्रियो ने वैदिक परम्परा या आर्य जाति का महत्व देते हुए आर्य शब्द को अपनाया किन्तु उसका अर्थ अपनी परम्परा के अनुसार किया। वैदिक आर्य यज्ञानुष्ठान मे हिंसा करते थे उसके प्रतिपक्ष मे क्षत्रिय परम्परा मे यह घोष उठा कि प्राणियो की हिंसा करने वाला आर्य नही होता। आर्य वह होता है जो किसी की हिंसा न करे—अर्थात् अहिंसा ही आर्य है[१]। सब प्राण, भूत, जीव और सत्व हन्तव्य है, यह अनार्य वचन है। सब प्राण, भूत, जीवन और सत्व हन्तव्य नही है, यह आर्य वचन है[२]।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति का वर्तमान रूप अनेक धाराओं का सगम है।

बुद्ध-महावीर की भारतीय संस्कृति को देन

व्रत, सन्यास और समता की स्थापना तथा यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था का प्रतिकार बुद्ध और महावीर की देन नही है, वह श्रमण-परम्परा की देन है। उसमे इन दोनो व्यक्तियो का महान् योग है। उन्होने प्राचीन परम्परा की समृद्धि मे केवल योग ही नही दिया किन्तु उसे नए उन्मेष भी दिए।

बुद्ध ने दो नए दृष्टिकोण प्रस्तुत किए—प्रतीत्य-समुत्पादवाद और आर्य-चतुष्टय।

प्रतीत्य समुत्पाद

भिक्षुओ ! जो कोई प्रतीत्य (समुत्पाद) को समझता है, वह धर्म को समझता है जो धर्म को समझता है, वह प्रतीत्य समुत्पाद को समझता है। जैसे भिक्षुओ जो से दूध, दूध से दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी, घी से घीमाण्डा होता है। जिस समय मे दूध होता है, उस समय न उसे दही कहते है, न मक्खन, न घी, न घी का माण्डा। जिस समय वह दही होता है, उस समय न उसे दूध कहते है, न मक्खन, न घी, न घी का माण्डा। इसी प्रकार भिक्षुओ, जिस समय मेरा भूतकाल मे जन्म था उस समय मेरा भूतकाल का जन्म ही सत्य था, यह वर्तमान और भविष्यत् का जन्म असत्य था। जब मेरा भविष्यत् काल का जन्म होगा, उस समय मेरा भविष्यत्काल का जन्म ही सत्य होगा, यह वर्तमान और भूतकाल का और भविष्यत्काल का जन्म असत्य होगा। यह जो अब मेरा वर्तमान मे जन्म है, सो इस समय मेरा यही जन्म सत्य है, भूतकाल का और भविष्यत्काल जन्म असत्य है।

भिक्षुओ यह लौकिक सज्ञा है, लौकिक निरुक्तियाँ है, लौकिक व्यवहार है, लौकिक प्रज्ञप्तियाँ है - इनका तथागत व्यवहार करते है, लेकिन इनमे फसते नही। भिक्षुओ, "जीवन (आत्मा) और शरीर भिन्न-भिन्न हैं" ऐसा मत रहने से श्रेष्ठ-जीवन व्यतीत नही किया जा सकता और जीव (आत्मा) तथा शरीर दोनो एक है, ऐसा मत रहने से भी श्रेष्ठ जीवन व्यतीत नही किया जा सकता।

इसलिए भिक्षुओ, इन दोनो सिरे की बातो को छोड़कर तथागत बीच के धर्म का उपदेश देते है—

अविद्या के होने से सस्कार, सस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नामरूप, नामरूप के होने से छ आयतन, छ आयतन के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जन्म, जन्म के होने से बुढापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दुःख, मानसिक चिन्ता तथा परेशानी होती है।

इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख-स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। भिक्षुओ, इसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहते है[१]।

आर्य चतुष्टय

आर्य सत्य चार है—१. दुःख, २ दुःख समुदाय, ३. दुःख निरोध, ४ दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग।

भिक्षुओ ! दुःख-आर्य सत्य क्या है ?

पैदा होना दुःख है, बूढ़ा होना दुःख है, मरना दुःख

१. धम्मपद धम्मट्ठवग्ग
न तेन अरियोहोति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्ब पाणानं, अरियोति ववुच्चति॥१५॥
२. आचाराग १।४।२ सूत्र

१. बुद्धवचन, पृष्ठ २९-३०

है, शोक करना दुःख है, रोना-पीटना दुःख है, पीडित होना दुःख है, चिन्तित होना दुःख है, परेशान होना दुःख है, इच्छा की पूर्ति न होना दुःख है, थोडे मे कहना हो तो पाँच उपादान स्कन्ध ही दुःख है१।

भिक्षुओ यह जो फिर-फिर जन्म का कारण है, यह जो लोभ तथा राग से युक्त है, यह जो कही-कही मजा लेती है, यह जो तृष्णा है, जैसे काम-तृष्णा, भव-तृष्णा तथा विभव-तृष्णा यह तृष्णा ही दुःख के समुदय के बारे मे आर्य सत्य है२। भिक्षुओ, दुःख के निरोध के बारे मे आर्य सत्य क्या है ? उसी तृष्णा से सम्पूर्ण वैराग्य, उस तृष्णा का निरोध, त्याग, परित्याग, उस तृष्णा से मुक्ति, अनासक्ति—यही दुःख के निरोध के बारे मे आर्य सत्य है३।

अष्टांगिक मार्ग दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला है, जो कि यह है—

१ सम्यक् दृष्टि
२. सम्यक् सकल्प } प्रज्ञा
३. सम्यक् वाणी
४ सम्यक् कमन्ति } शील
५. सम्यक् आजीविका
६. सम्यक् व्यायाम
७. सम्यक् स्मृति } समाधि४
८. सम्यक् समाधि

महावीर ने तीन नए दृष्टिकोण प्रस्तुत किये—१ त्रिपदी, २ रत्नत्रयी, ३ स्याद्वाद।

त्रिपदी—

गौतम ने पूछा—भन्ते! तत्त्व क्या है ?
भगवान् ने उत्तर दिया—उत्पन्न होना।
फिर पूछा—भन्ते! तत्त्व क्या है ?
फिर उत्तर मिला—विपन्न होना।
प्रश्न आगे बढा—तत्त्व क्या है ?
उत्तर मिला—बने रहना।

फलित यह हुआ—जो उत्पन्न और विपन्न होते हुए भी बना रहता है अथवा जो अपना अस्तित्व रहते हुए भी उत्पन्न और विपन्न होता है, वही सत् है और जो सत् है वही तत्व है।

रत्नत्रयी

गौतम ने पूछा—भन्ते! क्या ज्ञानयोग मोक्ष का मार्ग है ?
भगवान्—नही।
तो भन्ते! दर्शन योग (भक्ति-योग) मोक्ष का मार्ग है ?
भगवान—नही।
तो भन्ते! चारित्र-योग (कर्म-योग) मोक्ष का मार्ग है ?
भगवान—नही।
तो फिर मोक्ष का मार्ग क्या है ?
भगवान्—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की समन्विति ही मोक्ष का मार्ग है।

स्याद्वाद

महावीर सत्याश और पूर्ण सत्य—इन दोनो को न सर्वथा अभिन्न मानते थे और न सर्वथा भिन्न। पूर्ण रूप से सर्वथा वियुक्त होकर सत्याश मिथ्या हो जाता है और पूर्ण सत्य से सर्वथा अभिन्न होकर वह वचन द्वारा अगम्य बन जाता है। अत सत्य की उपलब्धि के लिए अनेकान्त और उसके प्रतिपादन के लिए स्याद्वाद अपेक्षित है। एकान्तवादी धारणाएँ इसीलिए मिथ्या है कि वे पूर्ण सत्य से वियुक्त हो जाती है। नित्यता मिथ्या नही है, क्योकि एक बार भी जिसका अस्तित्व प्रमाणित होता है, उसका अस्तित्व पहले भी था और बाद मे भी होगा। अनित्यता भी मिथ्या नही है। क्योकि रूपान्तरण की प्रक्रिया अस्तित्व का अनिवार्य अग है। किन्तु नित्यता और अनित्यता दोनो अविच्छिन्न है। वे सापेक्ष रहकर सत्यांश बनते है और निरपेक्ष स्थिति मे वे मिथ्या बन जाते हैं। खुले रत्न रत्न की कहलाएँगे। एक धागे मे पिरो लेने पर उसका नाम हार होगा। इसी प्रकार जो दार्शनिक दृष्टिया निरपेक्ष रहती है, वे सम्यग् दर्शन नही कहलाती। वे परस्पर सापेक्ष होकर ही सम्यग्-दर्शन कहलाती है१।

महावीर की इस चिन्तन धारा ने सत्य को सर्वसग्राही बना दिया। उसके फलित हुए—सह-अस्तित्व और समन्वय इन तत्त्वो ने भारतीय मानस को इतना प्रभावित किया कि ये भारतीय-सस्कृति के मूल आधार बन गये।

---

१. दीघनिकाय, पृष्ठ २२
२. वही, पृष्ठ २२
३. वही, पृष्ठ २२
४. सयुक्तनिकाय, पृष्ठ २२

१. सन्मति प्रकरण १।२२-२५

अपभ्रंश का एक प्रेमाख्यानक काव्य: विलासवईकहा

डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री

अपभ्रंश-साहित्य के अनुशीलन से अब यह तथ्य स्पष्ट हो गया है कि हिन्दी भाषा में लिखे गए सूफी तथा प्रेमाख्यानक काव्यो की प्रसार-भूमि के लिए पहले से ही भारतीय-साहित्यिक काव्य-परम्परा मे ऐसे रूपों की रचना हो चुकी थी जो इस देश की सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना को विभिन्न विधाओं मे मुखरित कर चुके थे। अपभ्रंश मे ही नही, प्राकृत-साहित्य मे भी बहुत समय पहले ही इस प्रकार की रचनाए लिखी जा चुकी थी। अतएव परवर्ती रचनाओं पर इनका प्रभाव पडना स्वाभाविक ही था। वर्ण्य-विषय, शैली, छंद तथा प्राकृत-अपभ्रंश काव्यों के प्रबन्ध-शिल्प के अनुरूप जो सूफी प्रेमाख्यानक या प्रेमकाव्य लिखा गया उसका मूल स्रोत उक्त काव्य-साहित्य कहा जा सकता है जो चिराचरित प्रबन्धरूप मे भारतीय साहित्य मे प्रतिष्ठित हो चुका था। इसलिए उसके बाद जो साहित्य लिखा गया वह उस माडल के अनुरूप ही छन्दोबद्ध शैली मे रचा गया। अपभ्रंश मे ऐसे कई प्रेमाख्यानक काव्यों की लम्बी परम्परा मिलती है जो प्राकृत के प्रेमाख्यानक काव्यो से विकसित हुए है[१]। इस लेख मे अपभ्रंश के एक ऐसे ही प्रेमाख्यानक काव्य का परिचय दिया जा रहा है जो विषय-वस्तु, शैली और प्रबन्ध-रचना मे सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों से बहुत कुछ समानता रखता है। जन-जीवन मे प्रचलित रहने वाली लोक कथाओं को अपना कर लिखे जाने वाले काव्य मध्ययुगीन-भारतीय साहित्य के विशिष्ट अंग रहे है। उस युग के काव्यो की लगभग सभी विशेषताएँ आलोच्यमान काव्य मे उपलब्ध होती है।

वस्तुत. "विलासवईकहा" या "विलासवती" कथा की ओर अभी तक विद्वानो का ध्यान आकृष्ट नही हो सका है। इसी प्रकार चारण कवि गणपति कृत "माधवानल कामकन्दला" की ओर भी विशेष ध्यान नही है। अपभ्रंश के ये दोनों ही उत्कृष्ट प्रेमाख्यानक काव्य कहे जा सकते है। अभी तक "विलासवईकहा" की केवल दो ताडपत्र प्रतियाँ जैसलमेर के ग्रन्थभण्डार मे उपलब्ध हो सकी है। इस कथाकाव्य का सर्वप्रथम परिचय प० बेचरदास जी दोसी ने "भारतीय विद्या पत्रिका" मे दिया था। तदनन्तर सन् १९५६ मे डा० शम्भूनाथ सिंह ने "हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास" नामक अपने शोध-प्रबन्ध मे इसका अत्यधिक संक्षिप्त परिचय दिया था। तब से कई बार श्री अगरचन्द जी नाहटा प्रभृति विद्वानो ने इसकी चर्चा की, किन्तु आलोचनात्मक दृष्टि से अभी तक इसका अनुशीलन नही किया गया। अपने शोध-प्रबन्ध मे इस प्रेमाख्यानक कथाकाव्य का हमने विस्तृत विवेचन किया है, और इसकी विशेषताओं पर पूर्ण प्रकाश डाला है।

विलासवतीकथा के लेखक श्वेताम्बर जैन साधु सिद्धसेन सूरि थे। उनका गृहस्थ दशा का नाम "साधारण" था। इसलिए उन्हे साधारण सिद्धसेन सूरि कहा जाता है। जैन-साहित्य मे सिद्धसेन नाम के चार विद्वान एवं आचार्यों का पता लगता है। साधारण सिद्धसेन "न्यायावतार" तथा "सन्मति तर्क" के रचयिताओं से सर्वथा भिन्न थे। पहले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर थे, दूसरे सिद्धसेन, तीसरे साधारण सिद्धसेन और चौथे सिद्धसेन सूरि। इस प्रकार साधारण सिद्धसेन दार्शनिक सिद्धसेन सूरि से भिन्न थे। केवल साहित्यिक रूप मे उनकी प्रसिद्धि प्राप्त होती है। कवि ने कुछ स्तोत्र भी लिखे थे पर आज वे उपलब्ध नही होते। परन्तु उस समय उनके बनाए हुए स्तोत्र तथा स्तुतियों को विभिन्न प्रदेशों मे अत्यन्त चाव से लोग पढ़ते थे। कवि का जन्म मूलकुल के वाणिज्य तथा गण कौटिक शाखा के वज्र वश मे हुआ था। कवि काव्यकला के मर्मज्ञ तथा कवियो की सन्तान मे उत्पन्न हुआ था। वह साधारण नाम से ही प्रसिद्ध था। जान पड़ता है कि कवि

---

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य है—"भविसयत्तकहा और अपभ्रंश-कथाकाव्य" शीर्षक लेखक का शोध-प्रबन्ध।

काव्य-रचना में अत्यन्त निपुण था और साधु-दीक्षा लेने के पूर्व ही उसकी प्रसिद्धि फैल चुकी थी। परन्तु 'विलास-वईकहा" की रचना मुनिदशा में ही की गई। भीनमाल (भिल्लमाल) कुल के शिरोमणि लक्ष्मीधरशाह के कहने पर यह कथाकाव्य लिखा गया। गुजरात प्रदेश मे अहमदाबाद के निकट धन्धुका नाम के नगर मे इस प्रेमाख्यानक-काव्य की रचना हुई। काव्य का लेखक गुजरात प्रदेश के ही किसी भाग को अलकृत कर चुका था। गुजरात का यह कवि वास्तव मे अपनी इस सुन्दर रचना के कारण अमर हो गया, इसमे कोई सन्देह नहीं है।

इस कथाकाव्य की रचना वि०स० ११२३ को गुजरात के धन्धुका नाम के नगर में हुई थी१। यह वही नगर है जिसे आ० हेमचन्द्र सूरि और "सुपासचरिय" के लेखक लक्ष्मणगणि जैसे विद्वानो को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। काव्य-ग्रन्थ ३६२० श्लोक रचना प्रमाण है२। यह काव्य सन्धिबद्ध है। इसमे ग्यारह सन्धियाँ है। पहली सन्धि मे सनत्कुमार और विलासवती का समागम, दूसरी मे विनयधर की सहायता, तीसरी में समुद्र-प्रवास मे नौका-भग, चौथी मे विद्याधरी-सयोग, पाचवी मे विवाह-वियोग, छठी मे विद्या-साधना सिद्धि, सातवी मे दुर्मुखवध, आठवी मे अनगरतिविजय और राज्याभिषेक, नवी मे विनयधर-सयोग, दसवी में परिवार समागम और ग्यारहवी मे सनत्कुमार तथा विलासवती के निर्वाण-गमन का वर्णन है। इस प्रकार विलासवती और सनत्कुमार की कथा रोमाचक शैली मे इस समूचे कथाकाव्य मे वर्णित है।

काव्य-रचयिता ने इस महाकाव्य की विषय-वस्तु को आ० हरिभद्र सूरि कृत "समराइच्चकहा" से उद्धृत किया है३। यह कथा ज्यो-की-त्यो उद्धृत की गई है। इसलिए कथा मे कवि की कोई मौलिक उद्भावना नहीं लक्षित होती है। परन्तु हँसी का वियोग-वर्णन वास्तव में कवि की कल्पना प्रसूत है। यथा—

खणे गयणह उड्डहि खणे जलि बुड्डहि विरहजलणसंतावियइ
खणे तीरलयावणे संकमति सुरसरिहि पुलिणे विरलइ भमंति
निसुणेवि सद्दु एवकहि मिलनि पुणु चक्कवाय संकए छलनि
तो गरुय सोय अभिभूययाह हुय मरण बेबि कय निच्छयाइ
सुरसरिहि सौति बुड्डन्ति जाम्व पक्खालिउ कुकुम सयल ताम्व
पेक्खाव परोप्परु धवलकाउ तो दोण्हवि पच्चमि जाणु जाउ

अर्थात्—विरह की ज्वाला से संतप्त हो वह हँसी क्षण भर मे आकाश मे उडती और छिन-छिन मे उस जलाशय मे डुबकी लेती। दूसरे क्षण मे व्याकुल हो वह सरोवर के तीर पर आ जाती और वन मे तथा पुलिनो पर व्यथित हो भ्रमण करती। हस के समान शब्द सुन कर वह चौक पडती। किन्तु फिर चक्रवाक का सशय होने पर वह भ्रम से दुखी हो जाती। इस प्रकार गुरुतर शोक से अभिभूत हो उस हसी ने मरण का निश्चय किया। और वह उसी समय सुरसरिता के सोते मे जा कर जैसे ही डूबी वैसे ही उसका समस्त शरीर कुकुम प्रक्षालित हो गया।

इस प्रकार उक्त पक्तियों मे लेखक ने नाटकीय दृश्य तथा वातावरण प्रस्तुत करते हुए नायक सनत्कुमार की मनोव्यथा को प्रकृति मे अत्यन्त सुन्दर विधि से चित्रित किया है और प्रकृति के माध्यम से अनेक कार्य-व्यापारो का सुन्दर चित्र अकित किया है। समस्त काव्य मे ऐसे कई सुन्दर चित्र अकित हुए है जो बिम्बों से स्फीत तथा सौन्दर्य-बोध से सयुक्त है। प्रत्येक सन्धि मे विविध स्थलो पर कवि ने प्रकृति के संश्लिष्ट वर्णन के द्वारा मनुष्य के आन्तरिक भावो को अभिव्यक्त किया है। काव्य पढते-पढते हठात् बाण भट्ट की समस्त पदावली का स्मरण हो आता है। जैसे कि—

लडियतडविडवनिवडंतसडियफला। कुररकारबंकल-हमकोलाहल। कुचववकायसारसियसदाउला। तवसुमह-ल्लकल्लोलमालाउलविउलविलुलंत संखउलवेलाउल।

प्रकृति के विविध वर्णनों में सौन्दर्य के स्पष्ट चित्र अकित है। शब्द-विन्यास मे कवि की सुष्ठुता विशेषरूप

---

१. एक्कारसहि सएहि गएहि तेवीस वरिसअहियहि।
पोस चउदसि सोमे सिद्धा धधुक्कय पुरम्मि ॥
—अन्तिम प्रशस्ति

२. एसा य गणिज्जंति पाएणा णुट्ठभेण छदेण।
सपुण्णाइ जाया छत्तीस सयाइ वीसाह ॥ वही

३. समराइच्चकहाउ उद्धरिया सुद्धसधिबधेण।
कोऊहलेण एसा पसन्नवयणा विलासवई ॥
६. अन्तिम प्रशस्ति।

मे लक्षित होती है। इसके साथ ही विभिन्न प्रसगो मे कवि ने मानसिक दशाओ का विशेष चित्रण किया है। काव्य मे कई मार्मिक भाव पूर्ण स्थल मिलते है जिनमे कवि की वृत्ति विशेष रूप से रसदशा को अभिव्यक्त करने मे समर्थ हुई है। समुद्र मे नौका भग्न हो जाने पर सनत्कुमार की मन स्थिति का कवि ने अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। कही कही भाषा अत्यन्त सरल और स्फीत है। यथा—

हा सुमित्त हा गुणरयणायर,
भो वसुभूइ कत्थगह सायर।
हा किह जलहिहि मज्भवि वन्नउ,
तह विणु किं करेमि हउं सुन्नउं॥

इसी प्रकार—

कहिंवि आरत्त दीसंत वर विद्दुमं,
कहिंवि लहरीहिं लहल्लंत तीरद्दुमं।
कहिंवि उट्ठंत जावत्त अह दुग्गमं,
कहिंवि अन्नेन जल वन्न नइ संगमं॥

विभिन्न स्थलो पर गीति शैली के दर्शन होते है। काव्य मे कई स्थान उपन्यास जैसे रोचक तथा मधुर है। कादम्बरी की भाँति विभिन्न घटनाएँ प्रकृति-स्थली मे घटित होती है। दैवी सयोग और आकस्मिक घटनाओ की सयोजना से काव्य मे आदि से अन्त तक उत्सुकता और कुतूहल बना रहता है। कथा मे पाये जाने वाले तत्त्व किसी न किसी रूप मे प्रेमाख्यानक काव्यो मे भली-भाँति विकसित मिलते है। अतएव नाटकीय दृश्यो की योजना तथा वातावरण अत्यन्त प्रेरक एव विशद परि-लक्षित होता है। उदाहरण के लिए विलासवती के वियोग मे अत्यन्त व्यथित तथा समुद्रीय नौका के भग्न हो जाने पर अकेला भटकता हुआ सनत्कुमार जब वनस्थली के सघन कुज के निकट पहुँचता है तब वह एक मधुर माधवी लता को बाहु-पाशो मे बद्ध देखता है। नायक के हृदय मे तुरन्त ही स्मृतियो का सचार होने लगता है और वह सह-कार (कलमी आम) वृक्ष के नीचे बैठ जाता है। सगुन होने लगते है। देखता है—उस वन मे सामने से कोई मृगनयनी नीचा मुख किये हुए चली आ रही है। जिसका मन मे चिन्तवन किया था—वही सामने थी। उसके आगमन से वन के सूखे पत्ते बिखर गये थे। मर्मर ध्वनि सुनाई पड रही थी[१]। इस प्रकार कवि ने विभिन्न स्थलो पर कुतूहल तथा उत्सुकता को बढाते हुए नाटकीय दृश्यो की सयोजना की है। उक्त प्रसंग को पढते ही विलासवती के आगमन तथा पूर्ववर्ती घटनाओ के अनेक रगीनी चित्र आँखो के सामने झूलने लगते है। पाठक के मन मे तरह-तरह की कल्पनाएँ उठने लगती है। कवि अलबम की भाँति एक-एक कर सुन्दर चित्रो की झाँकी प्रकृति की रगस्थली मे अकित करता जाता है। विलासवती कथा की यह विशेषता वस्तुत बहुत कम काव्यो मे परिलक्षित होती है।

काव्य सूक्तियो, कहावतो और मुहावरों से बहुत ही सुन्दर बन पडा है। कुछ उदाहरण इस प्रकार है—

अमिलाण कुसुम समु जोव्वणंपि।

अर्थात्—यौवन टटके हुए प्रसूनो की भाँति होता है। वास्तव मे ताजे फूलो मे जो सौरभ और मधुरता होती है वही यौवन मे देखी जाती है। और उसी सौन्दर्य का आकर्षण होता है।

अहवा खयकालि समुट्ठियाहं,
उट्ठंतिय पक्ख पिपीलियाहं।

अर्थात् मृत्यु के समय चीटियो के भी पर निकल आते है।

एक्कहिं दिसि अच्छइ नइ विसालु,
अन्नहिं वि बाघु बाढा करालु।

अर्थात् एक ओर विशाल नदी है और दूसरी ओर विकराल बाघ है।

इस ओर नदी है और उस ओर खाई।

जिह सप्पु मरइ न लट्ठियावि,
भज्जइ तिहि चिंतहि बुद्धि कावि।

अर्थात् जिस प्रकार साप मरे और लाठी भी न टूटे—उस प्रकार विचार कर बुद्धिमान् मनुष्य को कार्य करना चाहिए।

---

१ अन्नहि दियहे भमतएण माहविलय आलिगिउ दिट्ठउ।
अह मणहरु सहयाररुरु तस्स समीवे कुमर उवविट्ठउ।
सामुह हरिणि लोयण वणम्मि,
जा अच्छइ चिंतिउ मणमि।
ता सुक्कह पन्नह वित्थरउ,
आयनिउ मम्मर रव। ५, २६

सांप मरे न लाठी टूटे।

इस प्रकार अनेक स्थलों पर सुभाषित तथा कहावतें मिलती है, जिससे भाषा और भावों मे सजीवता लक्षित होती है। सक्षेप मे, काव्य-कला की दृष्टि से विलासवती-कथा अपभ्रश के प्रेमाख्यानक काव्यो मे उत्कृष्ट रचना है। भाव, भाषा और शैली मे यह अत्यन्त स्फीत तथा प्रसाद गुणोपेत काव्य है। प्राय सभी रसो की सयोजना इस काव्य मे हुई है। परन्तु मुख्य रूप से विप्रलम्भ शृङ्गार की अभिव्यजना परिलक्षित होती है।

'समयसार' नाटक

डा० प्रेमसागर जैन

कवि बनारसीदास ने 'नाटक समयसार' की रचना की थी। वे अपने युग के प्रख्यात साहित्यकार थे। यद्यपि उनका जन्म एक व्यापारी कुल मे हुआ था[१] 'किन्तु वे अपने भावाकुल अन्त मानस को क्या करने, सदैव कविता के रूप मे प्रस्फुटित रहने के लिये बेचैन रहता था। उन्होने १५ वर्ष की आयु मे ही एक नवरस रचना लिख डाली, जिसमे एक हजार दोहे-चौपाइया थी। इस रचना मे भले ही 'आसिखी का विसेस वरनन' था, किन्तु काव्य-कला की दृष्टि से वह एक उत्तम कोटि का काव्य था। एक दिन जब बनारसी ने उस कृति को गोमती मे बहा दिया, तो मित्र हा हा करते हुए घर लौटे। बनारसीदास की दूसरी कृति है नाममाला। एक छोटा- सा शब्दकोश है। इसमे १७५ दोहे है। उसका मुख्य आधार धनञ्जय की नाम-माला है। किन्तु इसमे केवल सस्कृत का ही नही, अपितु प्राकृत और हिन्दी का भी समावेश है, अत. यह एक मौलिक रचना है। ऐसा सरस शब्दकोश अन्य नही है।

आगरा के दीवान जगजीवन ने वि० स० १७०१ मे बनारसीदास की बिखरी ६५ मुक्तक रचनाओ को एक ग्रन्थ के रूप मे सकलित किया था और उसका नाम रक्खा था 'बनारसी विलास।' अब बनारसीदास की कुछ अन्य रचनाये भी प्राप्त हुई है, जो 'बनारसी विलास' मे संकलित नही है। कुछ पद जयपुर के शास्त्र-भडारो मे मिले है। माझा और मोहविवेक युद्ध भी नवीन है। इन सब कृतियो मे अध्यात्म या भक्ति ही प्रमुख है। बनारसीदास ने एक आत्मचरित भी लिखा था जो समूचे मध्य-कालीन साहित्य का एकमात्र आत्मचरित्र है। हिन्दी जगत मे उसकी पर्याप्त प्रशसा हुई है। बनारसीदास ने ही उसका नाम 'अर्धकथानक' रखा था। इसका बम्बई और प्रयाग से प्रकाशन हो चुका है।

बनारसीदास की सर्वोत्कृष्ट कृति 'नाटक समयसार' है। उसकी रचना आगरे मे वि० स० १६९३, आश्विन सुदी १३, रविवार के दिन पूर्ण हुई थी। उस समय बादशाह शाहजहाँ का राज्य था। इस कृति में ३१० सोरठा-दोहा, २४५ सवैया इकतीसा, ८६ चौपाई, ३७ तेईसा सवैया, २० छप्पय, ७ अडिल्ल और ४ कुडियाँ है। समूचे भक्ति-युग में आध्यात्मिक भक्ति का निदर्शन ऐसी अन्य रचना नही है।

नाटक समयसार की पूर्वाधार

'नाटक समयसार' का मूलाधार था आचार्य कुन्द-कुन्द का समयसार पाहुड़। आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम सवत् की पहली शती मे हुए है। उनके रचे हुए तीन ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय अत्यधिक प्रसिद्ध है। जैन परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् की भाँति ही पूजे जाते है। श्री देवसेन ने वि० सं० ९९० में अपने दर्शनसार नाम के ग्रन्थ मे लिखा है कि यदि कुन्दकुन्दा-चार्य ने ज्ञान न दिया होता तो आगे के मुनि जन सम्यक् पथ को भूल जाते। श्रुतसागरसूरि कृत षट्प्राभृत की टीका

---

१. इनके पिता का नाम खडगसेन था, वे हीरा-जवाहरात का व्यापार करते थे : अर्धकथानक।

के अन्त में उनको कलिकाल सर्वज्ञ कहा गया है। चन्द्रगिरि और विन्ध्यगिरि के शिलालेखो मे उनकी अत्यधिक प्रशसा की गई है। समयसार अध्यात्म का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। अपने स्वभाव और गुण-पर्यायो मे स्थिर रहने को 'समय' कहते है। ऐसा होने के कारण ही जैन मान्यतानुसार छ: द्रव्य 'समय' सज्ञा से अभिहित किये गये है। इनमे भी आत्मद्रव्य ज्ञायक होने के कारण सारभूत है। उसका मुख्यतया विवेचन करने से इस ग्रन्थ को समयसार कहते है[1]। इसमे प्राकृतभाषा मे लिखी गई ४१५ गाथाये है। इसका प्रकाशन बम्बई, बनारस और मारौठ आदि कई स्थानो से हो चुका है।

इन प्राकृत गाथाओ पर आचार्य अमृतचन्द्र ने वि० स० की ६ वीं शती मे 'आत्मख्याति' नाम की टीका सस्कृत कलशो मे लिखी। आचार्य अमृतचन्द बहुत बडे टीकाकार थे। उन्होने केवल समयसार की ही नही, अपितु पचास्तिकाय और तत्त्वसार की भी टीकाये लिखी। टीका की विशेषता है कि उसका मूल ग्रन्थ के साथ पूर्ण तादात्म्य होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि अमृतचन्द्र ने आचार्य कुन्दकुन्द की प्रतिभा मे घुस कर ही टीका का निर्माण किया हो। आचार्य अमृतचन्द्र विद्वान् थे और कवि भी, किन्तु आत्मख्याति टीका, समयसार पाहुड़ का सच्चा प्रतिनिधित्व करती है, अत: उसमे दार्शनिकता ही अधिक है, कवित्व कम। आचार्य अमृतचन्द्र ने जिन अन्य ग्रन्थो का निर्माण किया है, वे भी दार्शनिक ही है। 'पुरुषार्थसिद्धय् पाय उनकी मौलिक कृति है।

वि० स० की १७वी शती मे प० रायमल्ल ने 'समयसार' पर बालबोधिनी नाम की टीका लिखी, जो हिन्दी गद्य मे थी। प० रायमल्ल की विद्वत्ता की ख्याति चतुर्दिक् व्याप्त थी। वे हिन्दी और सस्कृत दोनो ही के विद्वान थे। उनका व्यक्तित्व भी आकर्षक और समुन्नत था। विद्वत्ता के समन्वय ने उसे और भी निखार दिया था किन्तु अर्धकथानक मे लिखा है कि इस टीका को पढ़कर बनारसीदास को आत्मा के विषय में भ्रम हुआ था। इसका अर्थ यह हुआ कि प० राजमल जी समयसार का सही अर्थ समझने मे असमर्थ थे। समयसार एक कठिन ग्रन्थ है, बड़े बड़े पण्डित भी चकरा जाते है। प० राजमल ने भी कही कही भूल की हो तो आश्चर्य क्या है। बनारसीदास के नाटक समयसार पर उपर्युक्त तीनो आचार्यो का प्रभाव है।

नाटक समयसार की मौलिकता

नाटक समयसार आचार्य अमृतचद्र के सस्कृत कलशो का अनुवाद भर ही नही, अपितु यथेष्ट रूप से मौलिक भी है। अमृतचद्र की आत्मख्याति टीका मे केवल २७७ कलशे है, जबकि नाटक समयसार मे ७२७ पद्य है। अत का १४वा 'गुणस्थान अधिकार' तो बिल्कुल स्वतन्त्र रूप से लिखा गया है। प्रारम्भ और अत के १०० पद्यो का भी आत्मख्याति टीका से कोई सम्बध नही है। जिनका सम्बध है वे भी नवीन है। उनमे कलश का अभिप्राय तो अवश्य लिखा गया है, किन्तु विविध दृष्टान्तो, उपमा और उत्प्रेक्षाओं से ऐसा रस उत्पन्न हुआ है, जिसके समक्ष कलश फीका जँचता है। तुलना के लिये एक उदाहरण देखिए—

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसौऽसेवक ॥

अमृतचद्राचार्य के इस सस्कृत कलश पर नाटक समयसार का हिंदी पद्य इस प्रकार है—

जैसे निशिवासर कमल रहे पंक ही में,
पकज कहावे पै न वाके ढिग पंक है।
जैसे मन्त्रवादी विषधर सो गहावे गात,
मन्त्र की शकति वाके बिना विष डंक है।
जैसे जीभ गहे चिकनाई रहे रूखे अंग,
पानी में कनक जैसे काई से अटंक है।
तैसे ज्ञानवान नाना भाँति करतूत ठानै
किरिया ते भिन्न मानै याते निकलंक है[1] ॥

1. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ (मारवाड़), फरवरी, १६५३। दूसरी गाथा, अमृतचद्राचार्य की सस्कृत टीका, पृ० ८–६।

1. बनारसीदास नाटक समयसार, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, ७।१५ पृ० १६७–६८। इसी के नीचे फुटनोट मे अमृतचन्द्राचार्य का श्लोक दिया है।
वही, उत्थानका, १६वाँ पद्य, पृ० १७।

यहाँ स्पष्ट है कि "ज्ञानवान नाना कार्यों को करता हुआ भी उनसे पृथक् रहता है" नाम का दार्शनिक सिद्धान्त सस्कृतकलश की अपेक्षा नाटक समयसार मे अधिक सजीव है। उसमे वह उपयुक्त शब्दो के चयन, पंक्तियो के गठन, प्रसादगुण और दृष्टान्तअलकार की सहायता मे भावक्षेत्र का भी विषय बन सका है। सच तो यह है कि समयसार और उसकी टीकाएँ दर्शन मे सम्बन्धित हैं, जब कि बनारसीदास का 'नाटक समयसार' साहित्य का ग्रन्थ है। उसमे कवि की भावुकता प्रमुख है जब कि समयसार मे दार्शनिक का पाण्डित्य। दर्शन के रूखे सिद्धान्तो का भावोन्मेष वह ही कर सकता है, जिसने उन्हे पचाकर आत्मसात् कर लिया हो। कवि बनारसीदास ने अपनी आध्यात्मिक गोष्ठी मे समयसार का भलीभाति अध्ययन, पारायण और मनन किया था। इसमें उन्होने अनेक वर्ष खपा दिये थे। बीच मे गलत अर्थ समझने के कारण उन्हे कुछ भ्रम हो गया था, जो पाण्डे रूपचन्द्र से गोम्मटसार सुनकर दूर हो गया। पाण्डे रूपचन्द की समूची शिक्षा-दीक्षा बनारस मे हुई थी। वे एक ख्याति प्राप्त विद्वान थे। सही अर्थ समझने के उपरान्त बनारसीदास ने अपने साथियो के साथ एक बन्द कोठरी मे नग्न मुनि बनने का अभ्यास समाप्त कर दिया और मनन मे अधिक समय व्यतीत करने लगे। परिणामवशात् अर्थ अधिकाधिक स्पष्ट हो गया। किन्तु केवल अर्थ ज्ञान होना और बात है तथा उसकी अनुभूति दूसरी। अनुभूति तभी हो सकती है जब कि अर्थ को समझा ही नही अपितु पचाया भी गया हो। पचाने का अर्थ है उसका साक्षात् करना। अर्थात् अनुभूति के लिए ज्ञाता ही नही, अपितु द्रष्टा होना भी आवश्यक है। बनारसीदास ने आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की गाथाओ का अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका के माध्यम से अध्ययन किया, आध्यात्मिक गोष्ठी मे मनन किया और एकान्त मे साक्षात् किया। इस भाति जाग्रत हुई अनुभूति ने नाटक समयसार को जन्म दिया। बनारसीदास की दृष्टि मे सच्ची अनुभूति सच्चा ब्रह्म ही है। तज्जन्य आनन्द परमानन्द ही है। वह कामधेनु और चित्राबेलि के समान है[१]। उसका स्वाद पचामृत भोजन जैसा है। नाटक समयसार में यह पंचामृत भोजन पग-पग पर उपलब्ध है। "देह विनाशवान है, उसकी ऊपरी चमक धोखा देती है" इस तथ्य पर बनी बनारसीदास की एक अनुभूति देखिए—

रेत की सी गढ़ी किधौं मढ़ी है मसान के सी,
अन्दर अन्धेरी जैसी कन्दरा है सैल की।
ऊपर की चमक दमक पटभूखन की,
धोखे लगे भली जैसी कली है कनैल की।
औगुन की ओंडी महा भौंडी मोह की कनौडी,
माया की मसूरति है मूरति है मैल की।
ऐसी देह याहि के सनेह याकी संगति सों,
ह्वै रही हमारी मति कोलू के से बैल की।।

'समयसार' की 'नाटक' सज्ञा

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार को नाटक सज्ञा से अभिहित नही किया था। सर्वप्रथम आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार को नाटक कहा। किन्तु केवल कह देने मात्र से कोई ग्रन्थ नाटक नही बन जाता। उसमें तदनुरूप भावोन्मेष की आवश्यकता बनी ही रहती है। आत्मख्याति टीका मे भावोन्मेष नही है। बनारसीदास की भावपरकता ने समयसार की 'नाटक' सज्ञा को सार्थक किया और इसी कारण उनके ग्रन्थ का 'नाटक समयसार' नाम उपयुक्त ही है।

उसमे सात तत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष अभिनय करते है। इनमे प्रधान होने के कारण जीव नायक है और अजीव प्रतिनायक। उनके प्रतिस्पर्द्धी अभिनयो ने चित्रमयता को जन्म दिया है। जीव को अजीव के कारण ही विविध रूपों मे नृत्य करना पडता है। आत्मा के स्वभाव और विभाव को नाटकीय ढग से उपस्थित करने के कारण इसको नाटक समयसार कहते हैं। यह एक आध्यात्मिक रूपक है। इसमे आत्मा रूपी नर्तक सत्तारूपी रंगभूमि पर ज्ञान का स्वाग बना कर नृत्य करता है। पूर्वबंध का नाश उसकी गायक विद्या है, नवीन बंध का संवर ताल तोड़ना है, निःशंकित आठ अंग उसके सहचारी है, समता का आलाप स्वरों का उच्चारण है और निर्जरा की ध्वनि ध्यान का मृदंग है।

१. अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पच अमृत को कौर है।

वह गायन और नृत्य में लीन होकर आनन्द मे सराबोर है—

पूर्वबन्ध नासै सो तो संगीत कला प्रकासै,
नव बन्ध रुंधि ताल तोरत उछरिकै।
निसंकित आदि अष्ट अंग संग सखा जोरि,
समता अलापचारी करै सुर भरि कै॥
निरजरा नाद गाजै ध्यान मिरदंग बाजै,
छक्यौ महानन्द मै समाधि रीझि करिकै।
सत्तारंग भूमि मै मुकत भयौ तिहूं काल,
नाचै शुद्ध दृष्टि नट ग्यान स्वांग धरिकै॥

आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञान तो समुद्र ही है, जब वह मिथ्यात्व की गाठ फोडकर उमगता है, तो त्रिलोक मे व्याप्त हो जाता है। इसी को दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि जब आत्मा मिथ्यात्व को तोडकर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो ब्रह्म बन कर घट-घट मे जा विराजता है। इसी को कवि ने एक रूपक के द्वारा प्रस्तुत किया है। रूपक मे आत्मा को पातुरी बनाया गया है। वह वस्त्र और आभूषणो से सजकर रात के समय नाट्य-शाला मे, पट की आडा करके आती है, तो किसी को दिखाई नही देती, किन्तु जब दोनो ओर के शमादान ठीक करके पर्दा हटाया जाता है, तो सभा के सब लोग उसको भलीभाति देख लेते है। यही दशा आत्मा की है—

जैसे कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
आवति अखारे निसि आड़ौ पट करिकै।
दुहूँ ओर दीवटि संवारि पट दूरि कीजै,
सकल सभा के लोग देखै दृष्टि धरिकै।
तैसे ज्ञानसागर मिथ्याति ग्रंथि भेदि करि,
उमग्यो प्रगट रह्यौ तिहूँ लोक भरिकै।
ऐसो उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
शुद्धता संभारै जग जाल सौ निसरिकै॥

जीव एक नट है और वह वट-वृक्ष के समान है। वट-वृक्ष मे अनेक फल होते है, फल मे बीज होते है और प्रत्येक बीज मे वट-वृक्ष मौजूद रहता है। बीज मे वट और वट में बीज की परम्परा चलती रहती है। उसकी अनन्तता कम नही होती। इसी भाति जीवरूपी नट की एक सत्ता मे अनन्त गुण, पर्याएँ और कलाएँ है। जीव और उसके गुणो-पर्यायो की परम्परा भी आदि काल से चली आ रही है। जीव अपनी गुण पर्यायो को लेकर नृत्य करता है। उसका वह नृत्य विलक्षण है—

जैसे वट वृक्ष एक, तामै फल है अनेक,
फल फल बहु बीज, बीज बीज वट है।
वट माँहि फल, फल माँहि बीज तामै वट,
कीजै जो विचार, तो अनंतता अघट है॥
तैसे एक सत्ता मै, अनन्त गुन पर जाय,
पर्जै मैं अनन्त नृत्य तामैं अनन्त ठट है।
ठट में अनन्त कला, कला में अनन्त रूप,
रूप मै अनन्त सत्ता, ऐसो जीव नट है॥

इस ससार रूपी रंगशाला मे यह चेतन जो विविध भाति के नृत्य करता है, वह अचेतन की सगति से ही। तात्पर्य है कि अचेतन उसे ससार मे भटकाता है। चेतन का ससार मे भटकना ही उसका नाचना है। यदि अचे-तन का सग छूट जाय तो उसका यह नृत्य भी बन्द हो जाय। इसी को कवि बनारसीदास ने लिखा है—

बोलत विचारत न बोले न विचारे कछु,
भेख को न भाजन पै भेख को धरत है।
ऐसो प्रभु चेतन अचेतन की सगति सौं,
उलट पुलट नटवाजी सी करत है॥

जब चेतन अचेतन की सगति छोड देता है, तो वह उस नाटक का केवल दर्शक भर रह जाता है, जो भ्रम-युक्त, विशाल एव महा अविवेकपूर्ण अखाडे मे अनादि-काल से दिखाया जा रहा है। यह अखाड़ा जीव के घट (हृदय) मे ही बना है। वह एक प्रकार की नाट्यशाला है। उसमे पुद्गल नृत्य करता है और वेष बदल बदल कर कौतुक दिखाता है। चिन्मूरति जो मोह मे भिन्न और जड मे जुदा हो चुका है, इस नाटक का देखने वाला है। अर्थात चेतन मोह और जड से पृथक् होकर शुद्ध हो जाता है, अत वह सासारिक कृत्यो को केवल देखता भर है। उनमे सलग्न नही होता। यह रूपक इस प्रकार है—

या घट में भ्रम रूप अनादि,
विशाल महा अविवेक अखारौ।
तामहि और स्वरूप न दीसत,
पुग्गल नृत्य करै अति भारौ।

फेरत भेष दिखावत कौतुक,
सौंजि लिये बरनादि पसारी।
मोह सों भिन्न जुदौ जड़ सों,
चिन्मूरति नाटक देखनहारौ ॥

एक नट जब रंगमंच पर अभिनय करता है, तो अभिनयोपयुक्त वेशभूषा और वातावरण मे अपने को भूल जाता है। किन्तु नाटक की तन्मयता से उभरते ही वह अपने सच्चे रूप मे आ जाता है। उसे विदित हो जाता है कि नाटकीय दशा मेरी वास्तविक अवस्था नही थी। चेतन का भी यही हाल है। वह घट मे बने रंगमच पर अनेक विभावो को धारण करता है। विभाव का अर्थ है कृत्रिम भाव। जब सुदृष्टि खोलकर वह अपने पद को देखता है, तो उसे अपनी असलियत का पता चल जाता है। चेतन रूपी नट के इस कौतुक को देखिये—

ज्यों नट एक धरै बहु भेख,
कला प्रगटै बहु कौतुक देखै।
आपु लखै अपनी करतूति,
वहै नट भिन्न विलोकत पेखै ॥
त्यों घट में नट चेतन राव,
विभाउदसा धरि रूप विसेखै।
खोलि सुदृष्टि लखै अपनो पद,
दुद विचारि दसा नहिं लेखै ॥

चेतन मूर्ख है, वह अचेतन के धोखे मे सदैव फंसा रहता है। अचेतन चेतन को या तो भटकाता है अथवा मोह की नीद मे सुला देता है, अपना रूप नही देखने देता। 'नाटक समयसार' मे चेतन की सुषुप्तावस्था का एक चित्र अंकित किया गया है। वह काया की चित्रसारी मे माया के द्वारा निर्मित सेज पर सो रहा है। उस सेज पर कलपना (तड़पन) की चादर बिछी है। मोह के झकोरो से उसके नेत्र ढंक गये है। कर्मो का बलवान उदय ही श्वास का शब्द है। विषय भोगो का आनन्द ही स्वप्न है। इस भाति चेतन मस्त होकर सो रहा है। वह मूढ़-दशा मे तीनो काल मस्त रहता है। भ्रम-जाल मे फंसा रहता है। उससे कभी उभर नही पाता—

काया चित्रसारी में करम परजंक भारी,
माया की संवारी सेज चादर कलपना।
शैन करै चेतन अचेतनता नींद लिये,
मोह की मरोर यहै लोचन को ढंपना ॥
उदै बल जोर यहै श्वास को शबद घोर,
विषै सुखकारी जाकी दौर यहै सुपना।
ऐसी मूढ़ दशा में मगन रहै तिहुँ काल,
धावै भ्रम-जाल में न पावे रूप अपना ॥

'नाटक समयसार' मे वीररस के अनेक चित्र है, जिनमे से एक मे आस्रव और ज्ञान का युद्ध दिखाया गया है। कर्मो के आगमन को आस्रव कहते है। वह बहुत बडा योद्धा है, अभिमानी है। ससार में स्थावर और जगम के रूप मे जितने भी जीव है, उनके बल को तोड फोडकर आस्रव ने अपने वश मे कर रक्खा है। उसने मूछों पर ताव देकर रणस्तम्भ गाड दिया है। अर्थात् उसने अपने को अप्रतिद्वन्द्वी प्रमाणित करने के लिए अन्य योद्धाओ को चुनौती दी है। अचानक उस स्थान पर ज्ञान नाम का एक सुभट, जो सवाये बल का था, आ गया। उसने आस्रव को पछाड दिया, उसका रण-थभ तोड दिया। ज्ञान के शौर्य को देखकर बनारसीदास नमस्कार करते है—

जेते जगवासी जीव थावर जंगम रूप,
ते ते निज बस करि राखे बल तोरि के।
महा अभिमानी ऐसो आस्रव अगाध जोधा,
रोपि रन थंभ ठाढ़ो भयो मूंछ मोरिके।
आयो तिहि थानक अचानक परम धाम,
ज्ञान नाम सुभट सवायो बल फोरिके।
आस्रव पछार्‌यो रनथंभ तोरि डार्‌यो ताहि,
निरखि बनारसी नमत कर जोरिके ॥

नाटक समयसार में भक्ति-तत्त्व

निष्कल और सकल अर्थात् निर्गुण और सगुण की उपासना का समन्वय जैन भक्ति की विशेषता है। कोई जैन कवि ऐसा नही जिसने दोनो की एक साथ भक्ति न की हो। जैन सिद्धान्त मे आत्मा और जितेन्द्र का एक ही रूप माना गया है, अतः वह शरीरी हो अथवा अशरीरी, जैन भक्त को दोनों ही पूज्य है। नाटक समयसार में इस परम्परा का पालन किया गया है। कवि बनारसीदास ने यदि एक ओर निष्कल ब्रह्म की आराधना की है, तो

दूसरी ओर 'सकल' के चरणो मे भी श्रद्धा के पुष्प चढाये है।

निष्कल का दूसरा नाम है 'सिद्ध'। कर्मों के आवरण से मुक्त आत्मा को सिद्ध कहते है। नाटक समयसार मे शुद्ध आत्मा के प्रति गीतो की भरमार है। एक स्थान पर कवि ने लिखा है कि शुद्धात्मा के अनुभव के अभ्यास से ही मोक्ष मिल सकता है, अन्यथा नही ?१ उनका यह भी कथन है कि आत्मा के अनेक गुण-पर्यायो के विकल्प मे न पडकर शुद्ध आत्मा के अनुभव का रस पीना चाहिए२। अपने स्वरूप मे लीन होना और शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही श्रेयस्कर है। सिद्ध शुद्धात्मा के ही प्रतीक है। उनके विशेषणो का उल्लेख करते हुए कवि ने उनकी जै जैकार की है। वह पद्य देखिए—

अविनासी अविकार परमरस-धाम है,
समाधान सरवंग सहज अभिराम है।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त है,
जगत शिरोमनि सिद्ध सदा जयवन्त है।

एक दूसरे स्थान पर कवि ने शिवलोक में विराजमान 'शिवरूप' की बन्दना की है। उनका कथन है कि जो अपने आत्मज्ञान की ज्योति से प्रकाशित है, सब पदार्थों में मुख्य है, निष्कलक है, सुख-सागर मे विश्राम करता है, संसार के सब जीव और अजीवो के घट-घट का जानने वाला है और मोक्ष का निवासी है, उसे भव्य जीव सदैव नमस्कार करते है। भक्त के वन्दनीय को 'शिवरूप' तो होना ही चाहिए, साथ ही तेजवान भी, किन्तु तेज भौतिक न होकर दिव्य हो, वह तभी हो सकता है जबकि सासारिक कलक निकल जाय। तभी उसे अनत सुख और केवलज्ञान उपलब्ध हो सकता है। वह सिद्ध-लोक का शाश्वत निवासी भी तभी बन सकता है। ऐसे भगवान के भक्त का भक्तिपरक मापदण्ड निश्चय रूप से ऊँचा है।

जो अपनी दुति आप विराजत,
है परधान पदारथ नामी।
चेतन अंक सदा निकलंक,
महासुख सागर को बिसरामी॥
जीव अजीव जिते जग मै,
तिनको गुन ज्ञायक अन्तरजामी।
सो सिवरूप बसै सिवथान,
ताहि विलोकि नमै सिवगामी॥

निर्गुनिये सन्तो की भाति ही बनारसीदास ने यह स्वीकार किया कि जिनराज घट-मन्दिर मे विराजमान रहता है। उसमे ज्ञान-शक्ति विमल आरसी की भाति जाग्रत हो जाती है। उसके दर्शन मे महारस उपलब्ध होता है। महारस वह है, जिसमे एक ओर मन की चपलता नही रहती, तो दूसरी ओर योग मे भी उदासीनता आ जाती है। अर्थात् आत्मा सहजयोगी का रूप धारण कर लेती है। सहजयोगी का तात्पर्य है कि परम महारस के प्राप्त हो जाने से योगी को योग की दुरूह साधना मे स्वत निवृत्ति मिल जाती है। वह साधना के बिना स्वाभाविक ढग से ही योगी बना रहता है। बनारसीदास की 'सहजता' मे वज्रयानियो के सहजयानी सम्प्रदाय का 'सहज' नही है, इसमे आत्मा का स्वाभाविक रूप ही प्रमुख है। अर्थात् बनारसीदास पहले महारस प्राप्त करते है, तब सहजता स्वाभाविक ढग से आ ही जाती है। सहजयानी पहले सहजता प्राप्त करते है फिर महारस की ओर आँख लगाते है। कुछ भी हो बनारसीदास घट मे शोभायमान सहजयोगी चेतन की बन्दना करते है१।

उद्धरण

१. शुद्ध परमातम कौ अनुभौ अभ्यास कीजै,
यहै मोख-पथ परमारथ है इतनौ।
—नाटक समयसार, बम्बई, १०।१२५, पृ० ३८८।

२. गुन परजै मे द्रिष्टि न दीजै,
निरविकलप अनुभौ रस पीजै।
आप समाइ आप मे लीजै,
तनुपौ मेटि अपनुपौ कीजै॥
—वही, १०।११७, पृ० ३८३।

१. जामैं लोकालोक के सुभाव प्रतिभासे सब,
जगी ग्यान सकति विमल जैसी आरसी।
दरसन उद्योत लीयौ अन्तराय अत कीयौ,
गयौ महामोह भयौ परम महारसी॥

जैन आचार्यों ने परम महारस मे डूबी आत्मा को ब्रह्म कहा है। बनारसीदास ने भी उसे ब्रह्म कहा और उसके स्याद्वादरूप का विवेचन किया। उन्होंने लिखा है कि वह एक भी है और अनेक भी, अर्थात् वह आत्म-सत्ता मे एकरूप है और परसत्ता मे अनेक रूप। वह ज्ञानी है और अज्ञानी भी, अर्थात् शुद्ध रूप मे ज्ञानी और कर्म संगति मे अज्ञानी है। इसी भांति वह प्रमादी है और अप्रमादी भी। वह जब अपने रूप को भूल जाता है तो प्रमादी और जब अपने रूप को जाग्रत होकर स्मरण करता है तो अप्रमादी। अपेक्षाकृत दृष्टि से ही वस्तु का वास्तविक निरूपण हो सकता है, अन्यथा नही। इस दृष्टि को ही स्याद्वाद कहते है। यह सिद्धान्त आत्मा पर भी घटित होता है। आत्मा का ऐसा निष्पक्ष और सत्य विवेचन अन्यत्र दुर्लभ ही है। बनारसीदास ने उस आत्म-ब्रह्म की प्रशसा की है :—

देखु सखी यह ब्रह्म विराजित,
याकी दसा सब याहीं को सोहै।

एक में अनेक अनेक में एक,
दुंदु लियें दुविधामह वो है॥

आपु संभारि लखै अपनो पद,
आपु विसारि कै आपुहि मोहै।

व्यापक रूप यहै घट अन्तर,
ग्यान मै कौन अग्यान मै को है॥

बनारसीदास ने 'सकलब्रह्म' के भी गीत गाये। सकल ब्रह्म वह है, जो केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भी आयु कर्म के अवशिष्ट रहने से विश्व मे शरीर सहित मौजूद रहता है। अर्थात् उसके घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है, अत उसकी आत्मा मे ब्रह्मत्व तो जन्म ले ही लेता है, किन्तु आयु के क्षीण होने तक उसे ससार मे रुकना पड़ता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने के उपरान्त अर्हन्त की यह ही दशा होती है। उन्हें जीवन्मुक्त कहा जा सकता है। वे सशरीरी ब्रह्म है। आचार्य 'जोइन्दु' ने उन्हे 'सकल ब्रह्म' की सज्ञा से अभिहित किया है। सूर और तुलसी ने ऐसे ब्रह्म को सगुण कहा है। बनारसी-दास ने सकल ब्रह्म की भक्ति से भक्त का निर्भय होना स्वीकार किया है। भगवान् पार्श्वप्रभु का शरीर सजल-जलद की भांति है। उनके सिर पर सप्तफणियों का मुकुट लगा है। उन्होने कमठ के अहंकार को दल डाला है। ऐसे जिनेन्द्र की भक्ति से भक्त के सब डर भाग जाते है[१]। फिर तो वह यमराज से भी डरता नही। भगवान् उसके पापो को हरण कर लेता है, इतना ही नही उसे भव-समुद्र से भी पार लगा देता है। वह भगवान् काम-देव को भस्म करने के लिए रुद्र के समान है। भक्त जन सदैव उसकी जै जै के गीत गाते है[२]। जिनेन्द्र की भक्ति की सामर्थ्य का बखान करते हुए लिखा है कि जिनेन्द्र की भक्ति कभी तो सुबुद्धि रूप होकर कुमति का हरण करती है, कभी निर्मल ज्योति बन कर हृदय के अन्धकार को दूर भगाती है, कभी करुणार्द्र होकर कठोर हृदयो को भी दयालु बना देती है, कभी स्वय प्रभु की लालसा रूप होकर अन्य नेत्रो को भी तद्रूप कर देती है। कभी आरती का रूप धारण कर भगवान् के सन्मुख आती है और मधुर भावो को अभिव्यक्त करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति भक्त को प्रभु की तद्रूपता का आनन्द

सन्यासी सहज योगी जोग सो उदासी जामे,
प्रकृति पचासी लगि रही जरि छारसी।
सोहै घट मन्दिर मैं चेतन प्रगट रूप,
ऐसो जिनराज ताहि बन्दत बनारसी॥
—*नाटक समयसार, बम्बई, १९२९, पृ० ५९।*

१. मदन-कदन-जित परम-धरमहित,
सुमिरत भगति भगति सब डरसी।
सजल-जलद-तन मुकुट सपत-फन,
कमठ-दलन जिन नमत बनारसी॥
—वही, मगलाचरण, पृ० २।

२. पर अघ-रजहर जलद,
सकल जन-तन भव-भय-हर।
जमदलन नरकपद-छयकरन,
अगम अतट भव जल तरन॥
वर-सकल-मदन-वन-हरदहन,
जय जय परम अभय करन॥
—वही, मंगलाचरण, पृ० ३।

देती है। वह पद्य देखिए :—

कबहूँ सुमति ह्वै कुमति को विनास करै,
कबहूँ विमल ज्योति अंतर जगति है।
कबहूँ दया ह्वै चित्त करत दयाल रूप,
कबहूँ सुलालसा ह्वै लोचन लगति है।।
कबहूँ आरती ह्वै कै प्रभु सनमुख आवै,
कबहूँ सुभारती ह्वै बाहरि बगति है।
धरै दसा जैसी तब करै रीति तैसी ऐसी,
हिरदै हमारे भगवन्त की भगति है।।

एक स्थान पर भक्त कवि ने जिनेन्द्र की मूर्ति अथवा बिम्ब का विवेचन करते हुए लिखा है कि—उसे देखकर जिनेन्द्र की याद आती है। उनके गुणों को प्राप्त करने की चाहना उत्पन्न होती है। जिनेन्द्र मे कुछ ऐसा सौन्दर्य होता है, जिसके समक्ष इन्द्र का वैभव तुच्छ-सा प्रतिभासित होता है। उनके यश का गान हृदय के तमस को भगा कर प्रकाश मे भर देता है। अर्थात् जिनेन्द्र का यशोगान एक मन्त्र की भांति है, जिसमें 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की पूर्ण सामर्थ्य है। उससे बुद्धि की मलिनता शुद्धता में परिणत हो जाती है। इस भांति जिनेन्द्र बिम्ब की छवि की महिमा स्पष्ट ही है१।

बनारसीदास ने केवल निष्कल और सकल ब्रह्म की ही नही, अपितु उन सब साधुओ की भी वन्दना की है, जो सदगुणो से युक्त है। उन्होने लिखा है कि मुनिराज ज्ञान के प्रकाश के प्रतीक तो होते ही हैं, वे सहज सुख-सागर भी होते है। अर्थात् ज्ञान के उत्पन्न होते ही उन्हें परम सुख स्वत. ही उपलब्ध हो जाता है। उसके लिए उन्हें कोई प्रयास ही करना पड़ता। वे शरणागतों की रक्षा करते हैं, शरणागत भले ही पापी हों। उन्हें मौत का डर नही सताता। वे धर्म की स्थापना और भ्रम का खण्डन करते हैं। वे कर्मो से लडते है किन्तु विनम्र होकर, क्रोध और भावावेश के साथ नही। ऐसे मुनिराज विश्व की शोभा बढ़ाते है बनारसीदास उनका दर्शन कर नमस्कार करते है१।

भक्त आराध्य की वाणी मे भी श्रद्धा करता है। उसकी महिमा के गीत गाता है। जिनवाणी जिनेन्द्र के हृदयरूपी तालाब से निकलती है और श्रुत-सिन्धु मे समा जाती है, अर्थात् वह एक सरिता के समान है। इस वाणी के द्वारा सत्य का वास्तविक रूप प्रगट हो जाता है। सत्य अनन्त नयात्मक है। अनेक अपेक्षाकृत दृष्टियों से वह विविध रूप है। उसका कोई एक लक्षण नहीं, एक रूप नही। उसे समझने के लिए भी सात्विकता से युक्त सामर्थ्य चाहिए। अर्थात् सम्यग्दृष्टी ही उसे समझ सकता है, अन्य नही। बनारसीदास का कथन है कि वह जिन-वाणी सदा जयवन्त हो :—

तासु हृदै-द्रह सों निकसी,
सरिता सम ह्वै श्रुत-सिन्धु समानी।
यातें अनन्त नया तम लच्छन,
सत्य स्वरूप सिद्धन्त बखानी।
बुद्ध लखे न लखै दुरबुद्ध,
सदा जगमांहि जगै जिनवानी।।

कवि बनारसीदास ने नवधा भक्ति का निरूपण किया है। उन्होंने लिखा है, "श्रवण, कीरतन, चितवन, सेवन, वेदन ध्यान। लघुता, समता, एकता नौधा भक्ति प्रवान।" नाटक समयसार मे इस नौधा भक्ति के उद्धरण बिखरे हुए है।

नाटक समयसार की भाषा

कवि बनारसीदास ने अपने अर्धकथानक की भाषा को 'मध्य देस की बोली' कहा है। डा० हीरालाल जैन ने उसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि—बनारसीदास जी ने अर्धकथानक की भाषा मे ब्रजभाषा की भूमिका लेकर उस पर मुगलकाल मे बढ़ते हुए प्रभाव वाली खड़ी

---

१. जाके मुख दरस सौं भगत के नैननि कौं,
थिरता की बानि बढ़ै चचलता विनसी।
मुद्रा देखि केवली की मुद्रा याद आवै जहाँ,
जाके आगै इन्द्र की विभूति दीसै तिनसी।।
जाको जस जपत प्रकास जगै हिरदे मैं,
सोइ सुद्धमति होइ हुती जु मलिन सी।
कहत बनारसी सुमहिमा प्रगट जाकी,
सोहै जिनकी छवि सुविद्यमान जिनसी।।
—वही, १३।२, पृ० ४६८।

१. वही, मंगलाचरण, प० ६।

बोली की पुट दी है और इसे ही उन्होंने 'मध्य देस की बोली' कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि यह मिश्रित भाषा उस समय मध्य देस मे काफी प्रचलित हो चुकी थी१। डा० माताप्रसाद गुप्त का कथन है 'यद्यपि मध्यदेस की सीमाएँ बदलती रही है, पर प्राय सदैव ही खड़ी बोली और व्रजभाषी प्रान्तो को मध्यदेस के अन्तर्गत माना जाता है और प्रगट है कि अर्धकथानक की भाषा मे व्रजभाषा के साथ खड़ी बोली का किंचित् सम्मिश्रण है। इसलिए लेखक का भाषा विषयक कथन सर्वथा सगत जान पडता है२।" यह सत्य है कि अर्धकथानक में खडी बोली और व्रजभाषा का समन्वय है। इस भांति यह जनसाधारण की भाषा है। प० नाथूराम प्रेमी ने 'बोली' को बोलचाल की भाषा कहा है। 'मध्यदेस' की बोली ही मध्यदेस की बोलचाल की भाषा थी।

बनारसीदास ने अर्धकथानक बोलचाल की भाषा मे लिखा, किन्तु उनके अन्य ग्रन्थ साहित्यिक भाषा मे है। साहित्यिक का तात्पर्य यह नही है कि उसमे खडी बोली और व्रजभाषा निकल कर दूर जा पडी हो। रही दोनो किन्तु संस्कृत निष्ठ हो जाने से उन्हे साहित्यिक की सज्ञा से अभिहित किया गया। अर्धकथानक मे प्रत्येक स्थान पर 'श' को 'स' किया गया है, जैसे 'शुद्ध' को 'सुद्ध', 'वश' को 'वस' और 'पार्श्व' को 'पास'। किन्तु नाटक समयसार मे अधिकाशतया श' का ही प्रयोग है, जैसे—चेतना, अशुभ, शशि, विशेष, निशिवासर और शिवसता आदि। अर्धकथानक में 'ष' स्थान पर 'स' का आदेश देखा जाता है, किन्तु नाटक समयसार मे सब स्थानो पर 'ष' का ही प्रयोग है। उस समय 'ष' का 'ख' उच्चारण होता था, अतः लिपि मे वह 'ख' लिखा हुआ मिलता है, किन्तु फिर भी अधिकांशरूप में 'ष' का ही प्रयोग हुआ है। विषधर, भेष, दोष, विशेष और पिऊष में ष तथा पोख अभिलाख, विशेखिये में 'ख' देखा जाता है।

अर्धकथानक मे 'ऋ' कही कही ही सुरक्षित रह पाया है, किन्तु नाटक समयसार मे उसका कही पर भी स्वरादेश नही हुआ है। वहाँ अर्धकथानक की भाँति दृष्टि को दिष्टि नही किया गया है, अपितु 'दृष्टि' ही सुरक्षित है। इसी भाँति कृपा, कृपाण, मृषा आदि शब्द भी ऋकारान्त ही है।

सस्कृत के सयुक्त वर्णों को स्वरभक्ति या वर्णलोप के द्वारा आसान बनाने की प्रवृत्ति नाटक समयसार मे भी पायी जाती है। जैसे—निहचै (निश्चय), हिरदै (हृदय), विवहार (व्यवहार), सुभाव (स्वभाव), शकति (शक्ति), सासत (शाश्वत), दुन्द (द्वन्द्व), जुगति (युक्ति), थिर (स्थिर), निरमल (निर्मल), मूरतीक (मूर्तिक), सरूप (स्वरूप), मुकति (मुक्ति), आभअन्तर (आभ्यन्तर), अध्यातम (अध्यात्म), निरजरा (निर्जरा), विभचारिनी (व्यभिचारिनी), रतन (रत्न) और आचारज (आचार्य), आदि। नाटक समयसार मे 'य' के स्थान पर पूर्णरूप से 'ज' का ही प्रयोग हुआ है, जैसे—जथा (यथा), जथारथ (यथारथ), जथावत (यथावत), जोग (योग), विजोग (वियोग) आदि। कोई स्थान ऐसा नही जहाँ 'य' का प्रयोग हुआ हो।

तदभव परक प्रवृत्ति के होते हुए नाटक मे सस्कृत-निष्ठा को कोई व्याघात नही पहुँचा है। भले ही परपरणति कर दिया गया हो, किन्तु शब्द तो सस्कृत का ही है। निर्मल को निरमल और निर्जरा को निरजरा कर देने से न तो वह 'चलताऊ' बना और न उर्दू-फारसी का। इसके अतिरिक्त सस्कृत के तत्सम शब्दो का भी बहुत अधिक प्रयोग हुआ है, जैसे—ज्ञानवन्त, कलावत, सम्यक्त्व मोक्ष, विचक्षण और निर्विकल्प आदि। अर्धकथानक मे उर्दू-फारसी के शब्द भरे पड़े है, किन्तु समूचे नाटक समयसार मे बदफैल और खुराफाती जैसे शब्द दो चार से अधिक नही मिलेगे। बनारसीदास उर्दू-फारसी के अच्छे जानकार थे। उन्होने जौनपुर के नवाब के बड़े बेटे चीनी किलिच को उर्दू-फारसी के माध्यम से ही सस्कृत पढ़ाई

---

१ अर्धकथानक : संशोधित संस्करण, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई, भूमिका, अर्धकथानक की भाषा, डा० हीरालाल जैन लिखित, पृ० १६।

२. अर्धकथा. हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय इलाहाबाद, डा० माताप्रसाद गुप्त लिखित, भूमिका, पृ० १४–१५।

थी। किन्तु नाटक समयसार का विषय ही ऐसा था, जिसके कारण वे फारसी के शब्दो का प्रयोग नहीं कर सके। बनारसीदास ने विषयानुकूल ही भाषा का प्रयोग किया है। यह उनकी विशेषता थी।

भाषा का सौन्दर्य उसके प्रवाह मे है, सस्कृत अथवा फारसी-निष्ठा मे नहीं। प्रवाह का अर्थ है भाव का गुम्फन के साथ अभिव्यक्तीकरण। नाटक समयसार के प्रत्येक पद्य मे भाव को सरसता के साथ गूथा गया है। कहीं विशृंखलता नही है, लचरपन नही है। यह एक गुलदस्ते की भाँति सुन्दर है। दृष्टान्तों की आकर्षक लड़ियों ने उसके सौन्दर्य को और भी पुष्ट किया है। विचारों की अनुभूति जब भावपरक होती है तो उसका प्रकट करना आसान नही है, किन्तु बनारसीदास ने सहज में ही प्रकट कर दी है। इसका कारण है उनका सूक्ष्मावलोकन। उन्हें बाह्य ससार और मानव की अन्तःप्रकृति दोनो का सूक्ष्म-ज्ञान था। इसी कारण वे भावानुकूल दृष्टान्तो को चुनने और उन्हे प्रस्तुत करने मे समर्थ हो सके। एक उदाहरण देखिए :—

जैसे निशिवासर कमल रहै पंकहि में,
पंकज कहावै पै न वाके ढिग पंक है।
जैसे मन्त्रवादी विषधर सों गहावै गात,
मन्त्र की सकति वाके बिना विष डंक है॥
जैसे जीभ गहै चिकनाई रहै रूखे अंग,
पानी में कनक जैसे काई सों अटंक है।
तैसे ज्ञानवन्त नाना भाँति करतूति ठानै,
किरिया को भिन्न मानै याते निकलंक है॥

दृष्टान्तों के अतिरिक्त उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपकों की छटा भी अवलोकनीय है। अनुप्रासो मे सहज सौन्दर्य है। बनारसीदास को अलकारो के लिए प्रयास नही करना पड़ा। वे स्वतः ही आये है। उनकी स्वाभाविकता ने रस-परकता को अभिवृद्ध किया है। बनारसीदास एक भक्त कवि थे। उनके काव्य मे भक्तिरस ही प्रमुख है। उनकी भक्ति अलकारों की दासता न कर सकी, अपितु अलकार ही भक्ति के चरणों पर सदैव अर्पित होते रहे। वे रस स्कूल के विद्यार्थी थे। रस प्रमुख रहा और अलंकार गौण। शरीर की विनश्वरता दिखाने के लिए उत्प्रेक्षा के लालित्य के साथ रस का सौन्दर्य देखिये :—

थोरे से धका के लगे ऐसे फट जाय मानो,
कागद की पुरी किधौं चादर है चैल की॥

छन्दो पर तो बनारसीदास का एकाधिपत्य था। उन्होंने नाटक समयसार मे सवैया, कवित्त, चौपाई, छप्पय, अडिल्ल, कुण्डलिया और दोहा-सोरठा का प्रयोग किया है। सवैया तो वैसे भी एक रोचक छन्द है, किन्तु बनारसी दास के हाथो मे वह और भी अधिक सुन्दर बन गया है। दोहा-सोरठा के बाद उन्होने सबसे अधिक सवैया लिखे और उनमे भी 'सवैया इकतीसा'। सवैया तेईसा भी है किन्तु कम। जैसे भैया भगवतीदास को कवित्तों का राजा कहते है, वैसे बनारसीदास को सवैयो का। समूचे मध्य-कालीन हिन्दी साहित्य मे ऐसे सवैये अन्य नही रच सके।

कहने का तात्पर्य यह है कि बनारसीदास ने जैन आध्यात्मिक विचारो का हृदय के साथ तादात्म्य किया अर्थात् उन्होंने जैन मन्त्रो को पढा और समझा ही नही, अपितु देखा भी। इसी कारण मन्त्रद्रष्टाओं की भाँति वे उन्हे चित्रवत् प्रकट करने मे समर्थ हो सके। ऐसा करने में उनकी भाषा सम्बन्धी शक्ति भी सहायक बनी। वे शब्दो के उचित प्रयोग, वाक्यो के कोमल निर्माण और अलकारो के स्वाभाविक प्रतिष्ठापन में निपुण थे। उनकी भाषा भावों की अनुवर्तिनी रही, यही कारण था कि वह निर्गनिए सन्तो की भाँति अटपटी न बन सकी।

मगध और जैन-संस्कृति

डा० गुलाबचन्द चौधरी एम. ए. पी. एच. डी.

प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र मगध देश का गौरवपूर्ण नाम इतिहास के पृष्ठों मे स्वर्णाक्षरो मे अंकित है। यहाँ का इतिहास, नि सन्देह, न केवल भारत में, बल्कि विश्व मे बेमिशाल रहा है। ऐसे विरले ही देश होगे, जहाँ से एक साथ साम्राज्यचक्र और धर्मचक्र की धुराएँ अपने प्रबल वेग से शताब्दियो तक जगती-तल पर चलती रही हो। मगध को ही श्रमण-संस्कृति के लिए जीवनदान, संवर्धन एव पोषण करने का श्रेय प्राप्त है तथा विश्व में उसके परिचय देने और प्रसार का कार्य यहीं से सम्पन्न हुआ था। भारत के विशाल भूभाग को एकछत्र के नीचे लाने वाले साम्राज्यवादरूपी नाटक के अनेक दृश्य यही खेले गए थे। वर्धमान महावीर और तथागत बुद्ध की सर्वप्रथम अमरवाणी सुनने का सौभाग्य इसी स्थल को मिला था और जैन तथा बौद्धधर्म के उत्कर्ष के दिन इसी भूमि ने देखे थे। इतना ही नही, आजीवक आदि अनेक सम्प्रदायों और दर्शनो को जन्म देने और उन्हे सदा के लिए इतिहास की वस्तु बना देने का गौरव भी इसी क्षेत्र को प्राप्त है। इसी महीखण्ड पर आध्यात्मिक विचारधारा और भौतिक सभ्यता ने गठ-बन्धन कर भारतीय राष्ट्रवाद की नीव डाली थी। प्रतापी राजा बिम्बसार श्रेणिक एव अजातशत्रु, नन्दवशी राजा, सम्राट् चन्द्रगुप्त और उसका पौत्र प्रियदर्शी अशोक शुगवशीय सेनानी पुष्यमित्र तथा पीछे गुप्त साम्राज्य के दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त और उनके वशजो ने इसी प्रदेश से ही विस्तृत भूभाग पर शासन कर इसे विश्व की सारी कला, नाना ज्ञान-विज्ञान और अनेक भौतिक समृद्धि का केन्द्र-स्थल बनाया था। यहाँ के कलाकारो, मेधावियो और राजनीतिज्ञो की जगत् मे प्रशसा होती थी। प्रसिद्ध कवि अश्वघोष, महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य और कामन्दक, महावैयाकरण वररुचि और पतजलि, छन्दकार पिङ्गल, महान् ज्योतिर्विद् आर्यभट्ट और तार्किक धर्मकीर्ति, शांतिरक्षित आदि विद्वान् इस प्रान्त की विभूतियाँ थे। ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी से लेकर छठवीं शताब्दी पश्चात् तक यहाँ से राज्यधुरा का चक्र परि-चालित होता रहा। पीछे बंगाल के पाल और सेनवशी राजाओं की अधीनता मे पहुँचने पर यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से इस क्षेत्र का महत्व कुछ कम हो गया हो, पर सभ्यता और संस्कृति की गरिमा की दृष्टि से इसे जो अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त थी उसमें तनिक भी कमी नही हुई। नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों द्वारा मगध ने अपना अन्तर्राष्ट्रीय उत्कर्ष पाया। इन विश्वविद्यालयों में ७-८ सौ वर्षों तक भारतीय दर्शनों की, धर्म और साहित्य की, कला और सगीत की तथा भैषज्य एवं रसायन शास्त्र की शिक्षा देश-विदेश के विद्यार्थियो को बिना किसी भेदभाव के साथ दी जाती थी। मगध के इतिहास का पृष्ठ यदि राजगृह और पाटलिपुत्र के उत्थान के साथ खुलता है तो वह नालन्दा के पतन के साथ बन्द हो जाता है। इतना विशाल गौरव पाने का श्रेय बिरले ही देशों को मिला होगा। इसी कारण से सारा प्रान्त आज विहार नाम मे पुकारा जाता है। इस प्रदेश की महिमा न केवल भारतीय विद्वानों ने बल्कि अनेक विदेशी यात्रियो—प्लुटार्क, जस्टिन, मेगस्थनीज, फाहियान, ह्वानच्वाग आदि—ने मुक्तकण्ठ से गायी है।

श्रमण-संकृति का केन्द्र

भारतवर्ष सनातनकाल मे ही अनेक सस्कृतियो का सगमस्थल रहा है। उन सस्कृतियो मे एक बहुत प्राचीन सस्कृति श्रमणधारा का क्षेत्र पूर्वीय भारत था। मगध के इतिहास की यदि हम सास्कृतिक पृष्ठभूमि टटोले तो हमे सुदूर अतीत से ही यह श्रमण-सस्कृति का केन्द्र मालूम होता है। तथाकथित वैदिक सकृति के प्रभाव से यह एक प्रकार से मुक्त था। इसकी अपनी भाषा, साहित्य और कला-कौशल था। प्राचीन मगध की राजधानी राजगृह के

आस-पास की खुदाई से प्राप्त पकी मिट्टी (टेसाकटा) के खिलौनों से, जिनमें स्त्री, पुरुष, राक्षस और पशुओं के चित्र हैं, मालूम होता है कि इस क्षेत्र का सम्बन्ध मोहे-जो-दारो और हरप्पा आदि की प्राचीन सस्कृतियो से अवश्य रहा है। आर्यो के आगमन के पहले के कुछ अवैदिक तत्त्वो से मालूम होता है कि यहाँ पापाणयुगीन पुरुषो के वशज रहते थे। यहीं कृष्णागों (नेगरिट) और आग्नेयों (अस्टरिक) की सस्कृति का सम्मिश्रण हुआ था। आर्य और आर्येतर सस्कृतियों का आदान-प्रदान विशेषत. इसी प्रान्त में हुआ था। आर्यो ने यहाँ के विद्वानों से कर्मसिद्धात, पुनर्जन्म और योगाभ्यास की शिक्षा ली और अपनी होम विधि के मुकाबले मे उनकी पूजा विधि अपनाई। वेदों मे यहाँ के निवासियों को व्रात्य नाग, यक्ष आदि नामो से कहा गया है। ऋग्वेदादि ग्रन्थो मे व्रात्यों की निन्दा और स्तुति के अनेक प्रसग मिलते है। अथर्ववेद के पन्द्रहवे काण्ड में व्रात्य शब्द का अर्थ और व्रात्य प्रजापति का सुन्दर वर्णन प्राय: श्रमण नामक ऋषभदेव को लक्ष्य कर कहा गया लगता है। वहाँ यह भी लिखा है कि व्रात्य की नारी श्रद्धा थी, 'मागध' उनका मित्र था और विज्ञान उसके वस्त्र थे। यहाँ मगध-मागधवासी शब्द इस प्रसंग मे ध्यान देने योग्य है। मगध बासियो के नेतृत्व में पूर्वीय जन समुदाय ने आर्यो की दासता से बचने के अनेक प्रयत्न किये थे। ब्राह्मण-सस्कृति के पुरातन ग्रन्थो मे श्रमण सस्कृति के अनुयायी मगधवासी एव पूर्वीय जनवर्ग तथा उनके भू भाग को बहुत ही हेयता और घृणा के भाव से देखा गया है। ऋग्वेद से लेकर मनुस्मृति तक के अनेक ग्रन्थो मे इस बात के प्रमाण भरे पड़े है। मागध (मगध-जनवासी) शब्द का अर्थ ब्राह्मण कोषो मे चारण या भाट है। सभव है, जीविकार्जनार्थ कुछ लोग मगध से चारण, भाटो का पेशा करते हुए आर्य देशो मे जाते हो, जहाँ उन्हे मगध शब्द से कहते-कहते पीछे उसी अर्थ मे मागध शब्द की रूढि हो गई हो। मनुस्मृति मे गिनाए गये ब्रह्मर्षि देशो मे मगध का नाम शामिल नही है। वहाँ मगध शब्द का अर्थ वर्ण सकर से है। इस क्षेत्र वासियों ने पुरोहितों और वैदिक देवताओ की सर्वोच्च सत्ता प्राय न के बराबर स्वीकारी थी। इसलिए पुरोहित वर्ग इस क्षेत्र को अपवित्र मानते है और यहाँ तक कि इस क्षेत्र मे प्राण-त्याग भी पाप गिनते है—'मगह मरे सो गदहा होय'। आज भी मिथिला के ब्राह्मण गगा पार मगध की भूमि मे मृत्यु के अवसर को टालते है। श्रौत-सूत्रों से यहाँ रहने वाले ब्राह्मण को ब्रह्म बन्धु कहते है, जिसका अर्थ जातिमात्रोपेत ब्राह्मण है, शुद्ध ब्राह्मण नही। आज कल भी यहाँ ब्राह्मण 'बाबाजी' नाम से पुकारे जाते है और किसी काम के बिगड जाने व किसी वस्तु के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर उसे भी उपहास रूप 'यह बाबाजी हो गया' कहते है। यद्यपि महावीर और बुद्ध के उदय होने के काफी पहले से मगध आर्यो के अधीन हो गया था, पर यहाँ पुरोहित वर्ग को वैसा सम्मान कभी नही मिला, जैसा उसे आर्य देशों में मिला है। वैदिक सस्कृति एक प्रकार से यहाँ के लिए विदेशी थी, इसीलिए पीछे महावीर और बुद्ध के काल में, वहाँ उसका जो थोडा-बहुत प्रभाव था, वह भी उठ गया।

मगध से जैनधर्म की प्राचीनता और विकास :

मगध से जहाँ तक जैनधर्म और सस्कृति का सम्बन्ध है वह साहित्यिक आधारो पर भगवान् महावीर से पहले जाता है। बौद्ध ग्रथ दीघनिकाय के सामञ्जफल सूत्रों में भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के चातुर्याम सवर (अहिसा, सत्य, अस्तेय एव अपरिग्रह) का उल्लेख है। उत्तराध्ययन के केशी गौतम सवाद मे और भगवती-सूत्र मे पार्श्वापत्यो (पार्श्वपरम्परा के मुनियो) के सम्वाद से मालूम होता है कि मगध मे भगवान पार्श्वनाथ की शिक्षाओ एव उनके समय के व्यवहारो का प्रचलन था। भगवान् महावीर का समकालीन आजीवक मक्खलि गोसाल अपने समय के मनुष्य समाज के छह भेद करता है, जिसमे तीसरा भेद 'निर्ग्रन्थ' समाज था। इससे विदित होता है कि निर्ग्रन्थ सगठन पहले से ही एक उल्लेखनीय सग-ठन रहा है। आचाराग सूत्र से मालूम होता है कि भग-वान् महावीर के माता-पिता श्रमण भगवान् पार्श्व के उपासक थे। इन तथा अन्य सबल प्रमाणों से सिद्ध है कि मगध मे जैनधर्म भगवान् महावीर से बहुत पहले से था। मगध की राजधानी राजगृह मे जैनो के बीसवे तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ के—गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान—ये चार कल्याणक हुए थे।

भगवान् महावीर ने दीक्षा काल से निर्वाण प्राप्ति तक के बयालीस वर्षों में १४–१५ चतुर्मास इसी मगध मे नालन्दा, राजगृह और पावापुरी में बिताए थे। यहाँ की पावनभूमि को ही सौभाग्य प्राप्त है कि उन्हें केवल-ज्ञान इस क्षेत्र की एक नदी ऋजु कुला (वर्त० कि ऊल) नदी के किनारे जृंभक गाँव (वर्तमान जमुई का क्षेत्र) मे प्राप्त हुआ था और उनका प्रथम उपदेशामृत राजगृह या पावापुरी में मगध की जनता को सुनने को मिला था। बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध के समय मगध मे जैनो के कई केन्द्र थे, जिसमें नालन्दा, राजगृह और पावा प्रमुख थे। मज्झिम निकाय के अनुसार नालन्दा मे ही अनेक धनी जैन रहते थे। मगध के कई प्रभावक जैन श्रावक और श्राविकाओं का नाम बौद्धग्रन्थों मे मिलता है, जैसे राजगृह का सचक, नालन्दा का उपालि गृहपति आदि।

भगवान् महावीर के समय राजगृह अनेक विद्वानो और प्रसिद्धवादियो का केन्द्र था। उनके प्रथम उपदेश को समझने और धारण करने वाला प्रथम शिष्य इन्द्र-भूति, जो गौतम गणधर नाम से प्रसिद्ध हुआ, इसी स्थान का एक विशिष्ट ब्राह्मण था भगवान् के ग्यारह गणधरों मे छह तो इसी प्रदेश के थे। कहते है कि राजगृह से भगवान् महावीर का जन्म-जन्मान्तरो से सम्बन्ध था। और पवित्र पाँच पर्वतों से घिरा हुआ यह नगर अनेक महापुरुषों की लीला-भूमि तथा मुक्ति-प्राप्ति का स्थान रहा है। केवलज्ञान प्राप्ति के समान ही भगवान् महा-वीर को निर्वाण पद देने का सौभाग्य मगध की पावन-भूमि को ही प्राप्त है। ईसापूर्व ५२७ मे 'पावा' से वर्धमान मोक्ष प्राप्त हुए थे। पटना के कमलदह (गुल-जार बाग) नामक स्थान से महाशीलवान् सुदर्शन सेठ ने समाधि पाई थी।

महाभारत और पुराणों से विदित होता है कि प्रागैतिहासिक-युग में मगध के प्रतापी नरेश जरासन्ध ने समस्त भारत पर राज्य स्थापित किया था। वह भगवान् नेमिनाथ का युग था। पुनः ईसा की छठवीं शताब्दी पूर्व श्रेणिक बिम्बसार के नेतृत्व में मगध ने ऐसे साम्राम्य वाद की नीव डाली जो पीछे जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के संरक्षकत्व मे सारे भारत पर छा गया था। जैन शास्त्रों के अनुसार श्रेणिक भगवान् महावीर का अनुयायी हो गया था। उसकी रानी चेलना और उसके अनेक पुत्र जैन-मुनियो के परम भक्त थे। जैनागमो का कुणिक और श्रेणिक का उत्तराधिकारी-अजात-शत्रु जैनधर्मानुयायी था। उसका बेटा उदयभद्र अपने पिता के समान ही पक्का जैन था। पाटलिपुत्र को प्रकर्ष देने का श्रेय उदायि को ही है। जैनागम ग्रन्थ आवश्यक सूत्र के अनुसार उसने नई राजधानी के मध्य एक जैन चैत्य गृह बनवाया था और अष्टमी चतुर्दशी को प्रोषध का पालन करता था। उदायि ने अनेकों बार उज्जैन के राजा को पराजित किया था।

उदायि के बाद मगध का साम्राज्य अनेक राज-नीतिक एवं धार्मिक प्रतिद्वंद्विताओ का शिकार बन गया, पर जन-हृदय पर जैनधर्म के प्रभाव की धारा कम ही क्षीण हो सकी। जैन-ग्रन्थो मे उदायि के बाद और नव-नन्दो के आविर्भाव के बीच के राजाओ का नाम नही मिलता। नन्द राजा और उनके मन्त्रीगण भी जैन थे। उनका प्रथम मन्त्री कल्पक था, जिसकी सहायता से नन्दों ने क्षत्रिय राजाओ का मान-मर्दन किया था। नवमे नन्द का मन्त्री शकटाल भी जैन था, जिसके दो पुत्र थे—स्थूलभद्र और श्रीयक। स्थूलभद्र तो जैन साधु हो गया, पर श्रीयक ने मन्त्रि-पद ग्रहण किया। नन्द राजा जैन धर्मा-नुयायी थे, यह बात मुद्राराक्षस नाटक से भी मालूम होती है। नाटक की सामाजिक पृष्ठभूमि मे जैन प्रभाव स्पष्ट काम कर रहा है। नन्दो के जैन होने के अकाट्य प्रमाण सम्राट् खारवेल का शिलालेख है, जिसमे उल्लेख है कि नन्द राजा कलिंग देश से आदिनाथ की प्रतिमा अपनी विजय के चिन्ह स्वरूप मगध ले आया था। नन्दों के समय मगध का साम्राज्य चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था।

नन्दों के बाद भारत की विदेशी आक्रमणों से रक्षा करने वाला, सारे भारत को एकछत्र के नीचे लाने वाला सम्राट् चन्द्रगुप्त निर्विवाद रूप से जैन था। बौद्ध अनु-श्रुति मे उसे मोरिय नामक व्रात्य क्षत्रिय जाति का युवक बताया है। जैन ग्रन्थ 'तिलोय पण्णत्ति' मे उसे उन सम्राटों में अन्तिम कहा गया है, जिन्होने जिन-दीक्षा

लेकर अन्तिम जीवन जैन मुनि के रूप मे व्यतीत किया था। वह श्रुत-केवली भद्रबाहु की परम्परा का अनुयायी था और ई० पू० २६० के लगभग दक्षिण भारत मे कर्नाटक देश के श्रवणबेल गोला स्थान मे उसने समाधि मरणपूर्वक देहत्याग किया था। आचार्य हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व के अनुसार सम्राट् चन्द्रगुप्त का महाराजनीतिज्ञ मन्त्री चाणक्य भी अपने जीवन के शेष दिनो में जैनधर्म की शरण आया था। उसके अन्तिम दिनो का वर्णन इसी लिए हमे जैन शास्त्रों के अतिरिक्त कहीं नही मिलता।

आगमों का संग्रह

जैनागमो का सर्वप्रथम सकलन इसी मगध देश की राजधानी पाटलिपुत्र मे आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व मे हुआ था। उस सकलन की एक रोचक कहानी है। भगवान महावीर का जो उपदेश इस मगध की धरा पर हुआ था, वह उनके शिष्यो द्वारा १२ अग और १४ पूर्वो मे विभक्त किया गया था, जो श्रुत परम्परा से चल कर शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा कालान्तर मे विस्मृत होने लगा था। यह बात नन्द-मौर्य साम्राज्य के सक्रमण काल की है। इस समय तक बौद्धो ने अपने आगमो को राजगृह और वैशाली की दो सगीतियो द्वारा बहुत कुछ व्यवस्थित कर लिया था। पर जैनों की ओर से कोई सामूहिक प्रयत्न नही हुआ था। नन्द-मौर्य राज्यतन्त्र के सक्रमण काल मे जैन सघ के प्रमुख आचार्य भद्रबाहु थे। हेमचन्द्राचार्य के परिशिष्ट-पर्व के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस समय मगध मे बारह-वर्ष-व्यापी भयकर दुर्भिक्ष पडा था। उस दुष्काल मे जब साधुओ को भिक्षा मिलना कठिन हो गया था, तब साधु लोग निर्वाह के लिए समुद्र-तट की ओर चले गए और उन्होने बारह वर्ष के महाप्राण नामक ध्यान की आराधना की थी। दिगम्बर अनुश्रुति के अनुसार भद्रबाहु दक्षिण की ओर अपने संघ सहित चले गये थे। मगध मे कुछ जैन मुनि आचार्य स्थूलभद्र की प्रमुखता में रह गये थे। भीषण दुर्भिक्ष के कारण मुनि संघ को अनेक विपत्तियाँ झेलनी पड़ीं। अन्त में आगम ज्ञान की सुरक्षा के हेतु आ० स्थूलभद्र के नेतृत्व मे एक परिषद् का सगठन हुआ जिसमे अवशिष्ट आगमों का सकलन हुआ। भद्रबाहु के अनुगामी मुनिगण जब मगध लौटे, तो उन्होने सकलित आगमों की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया और तत्कालीन साधु-सघ जो श्वेत वस्त्र का आग्रह करने लगा था, को मान्यता प्रदान नही की। इस तरह इस मगध की धरा पर ही दिगम्बर और श्वेताम्बर नाम से जैन सघ के स्पष्ट दो भेद हो गये। यहाँ जो आगम सग्रह किया गया, उसे दो भागो मे बाँटा गया—एक तो वे जो महावीर से श्रमण-परम्परा मे प्रचलित थे, इसलिए उन्हें पूर्व कहा गया और महावीर के उपदेश को '१२ अग' नाम से सगृहीत किया गया।

आगमों की भाषा

मगध देश की भाषा मागधी या मगही कहलाती है। इसका जैन आगमो की भाषा पर खासा प्रभाव है। जैनागमो की भाषा अर्धमागधी कही जाती है। अर्धमागधी का अर्थ उस भाषा से है, जो आधे मगध में बोली जाती थी अथवा जिसमे मागधी भाषा की आधी प्रवृत्तियाँ पाई जाती थी। हो सकता है कि मगध की भाषा को ही अधिक समुदाय के लिए बोधगम्य बनाने के हेतु उसमे पडौस के कोशल शूरसेन आदि प्रदेशो के प्रचलित शब्द शामिल कर लिये गये हों, भाषाविदो के अनुसार मागधी भाषा की मुख्यत. तीन विशेषताएँ थी—(१) 'र' का उच्चारण 'ल' होना (२) तीनो प्रकार के ऊष्म 'श स, ष' वर्णो के स्थान पर केवल तालव्य 'श' पाया जाना, (३) अकारान्त कर्तृकारक एक वचन का रूप 'ओ' के स्थान पर 'ए' प्रत्यय होना। इन तीन मुख्य प्रवृत्तियो मे अन्तिम प्रवृत्ति अर्धमागधी मे बहुलता से पाई जाती और र का ल होना कही-कही पाया जाता है। इसकी शेष प्रवृत्तियाँ शौरसेनी प्राकृत से मिलती है, जिससे अनुमान होता है कि इसका रूपान्तर मगध के पश्चिम देशो मे हुआ होगा। जो हो, जैनो ने पूर्वी भाषा (मागधी) का कुछ परिवर्तन सस्कार तो अवश्य किया पर बहुत हद तक वे उसे ही पकडे रहे। उनके आगम जिस अर्धमागधी भाषा मे है, उसमे बौद्धागमो की भाषा पालि से मगध की भाषा के अधिकतत्त्व पाये जाते है। जैन, प्राकृतो के 'एगो, दुगो' आदि अनेक शब्द मगध मे आज भी बोले जाते हैं। वर्तमान जैन आगमो मे अर्धमागधी भाषा के अनेक स्तर परिलक्षित होते है। उनमे आचा-

राग आदि कुछ तो प्राचीनतम स्तर वाले हैं पर अधिकांश ग्रन्थों मे मध्य युगीन आर्य भाषा के दूसरे स्तर की प्रवृत्तिया—समीकरण, सरलीकरण एवं वर्ण लोप आदि प्रवेश कर गई है। सम्भवतः ये उन आगमो की मौखिक परम्परा के कारण ही काल क्रम से घुस गई है।

मगध में चोदह वर्ष व्यापी दुर्भिक्ष की घटना जैन-धर्म के इतिहास की वह भयकर घटना थी, जिसने सघ भेद के साथ-साथ जैन धर्म के पैर मगध की भूमि पर कमजोर कर दिये। वह धीरे-धीरे इस भूमि के जन मानस से विस्मृत-सा होने लगा और अपने विस्तार का क्षेत्र पश्चिम और वाराणसी मथुरा की तरफ, पूर्व मे वगाल दक्षिण पूर्व कलिग तथा दक्षिण भारत मे ढूढने लगा। पर मगध के वक्ष स्थल पर जैन इतिहास की जो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी थी, उससे वह जैनो की पुण्यभूमि तो बन चुका था। आज भी राजगृह की पच पहाडियाँ, नालन्दा, पावा, गुणावा और पाटलिपुत्र एक साथ जैनो के ये पांच तीर्थ स्थान इसी मगध की पुण्यभूमि है और इसके पडौसी प्रदेश हजारीबाग मे सम्मेदशिखर, कोलुआ पहाड़ तथा मानभूम जिले के अनेक ध्वंसावशेष जैनधर्म के गौरव को उद्घोषित कर रहे है।

उपसंहार

मौर्य वंश के बाद मगध पर शुङ्ग और कण्ववश का का राज्य हुआ। इन वशो के नरेश ब्राह्मण धर्म के अनुयायी एवं पोषक थे। इनके समय मे मगध हतप्रभ था और विदेशियो को भारत मे राज्य स्थापना करने का मौका मिल गया। पर मगध की श्रमण-संस्कृति का प्रभाव व्यर्थ नही गया। उसने अन्य संस्कृतियों से समन्वय कर उनके रूप निखारने में सहयोग दिया। नवीन ब्राह्मण वर्ग को उसने देवी-देवताओं की भक्ति, उपासना, मूर्ति पूजा एवं जीव दया आदि बातें प्रदान की और वैदिक धर्म के पुनरुद्धार काल में वह शक्तिहीन एवं अवनत हो गया और कुछ अंश उनमें समा गया।

इतना सब होने पर भी जैन जनता युगों-युगों मे मगध से अपना सम्बन्ध बनाये रही। जैन कवियो ने उसे अपनी पुण्यभूमि को तीर्थ रूप में सदा स्मरण किया है। इस बात का प्रकाश हमें नालन्दा बडगाँव के जैन मन्दिर से पाल वशी राजा राज्यपाल के समय (१०वी शताब्दी का पूर्वार्ध) के एक लेख से मिलता है। लेख मे मनोरथ का पुत्र वणिक श्रीवैद्यनाथ अपनी तीर्थ-वन्दना का उल्लेख करता है।

आज मगध के प्रमुख स्थानों मे जैन जनता वाणिज्य के लिए बसी है। मगध के जैन सास्कृतिक केन्द्र उनकी सहायता की राह देख रहे है। चारों ओर विकास की योजनाएँ लागू हो रही हैं। क्या वह मगध जिसने जैन संस्कृति को जन्म क्षण से पाला पोसा है, आज फिर उसके विकास के लिए पात्र नहीं हो सकता? तीर्थ-यात्रा के नाम पर जैन जनता हजारो रुपये इस भूमि पर आकर खर्च करती है, पर जैन-संस्कृति के प्रसार सबधी उपादानो से, यह प्रान्त आज भी वचित है, जो बड़े खेद की बात है।

प्राचीन मथुरा के जैनों की संघ-व्यवस्था

[डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ]

उत्तर प्रदेश का प्रसिद्ध मथुरा नगर चिरकाल पर्यन्त जैनधर्म और उसकी संस्कृति का एक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। मौर्य काल के प्रारम्भ से लेकर गुप्त काल के अन्त पर्यन्त लगभग एक सहस्त्र वर्ष का काल मथुरा जैन संघ का स्वर्ण युग था और उसमे उसकी मध्यवर्ती तीन शताब्दियाँ (लगभग १०० ईसा पूर्व से सन ई० २०० तक) उसका चरमोत्कर्ष काल था। साहित्यिक अनुश्रुतियों के अतिरिक्त मथुरा नगर के विभिन्न भागो तथा उसके आसपास के प्रदेश मे पुरातात्त्विक शोध खोज मे प्राप्त विपुल सामग्री, और उसमे भी विशेष रूप मे बहुसंख्यक शिलालेख इस बात के जीवन्त प्रमाण है।

मथुरा से अब तक लगभग अढाई सौ शिलालेख प्राप्त हो चुके है जिनमे से दो तिहाई के लगभग जैनो से संबंधित है। उनमे ८० शिलालेख ऐसे है जिनमे विविक्षित धर्मकार्यों के प्रेरक साधु और साध्वियो के नाम भी अंकित है। इस प्रकार उस काल मे मथुरा मे विचरने वाले लगभग ८५ विभिन्न जैन मुनियों और २५ आर्यिकाओ के नाम प्राप्त होते है। साधु साध्वियो के नामांकित शिलालेखो मे ६५ ऐसे है जिनमे उल्लिखित साधु साध्वियो के गण, शाखा, कुल आदि का भी निर्देश है, इन शिलालेखो मे से ५१ तिथियुक्त भी है।

जिन लेखो मे केवल दान देने वाले श्रावक या श्राविका का ही उल्लेख है वे इन लेखो मे सर्वाधिक प्राचीन मान्य किये जाते है और उनमे से अधिकतर संभवतया मौर्य-शुग काल लगभग (३००-१०० ईसापूर्व) से सम्बन्धित हैं। जिनमे साधु साध्वियो के नाम तो है किन्तु उनके गण, शाखा, कुल आदि का कोई उल्लेख नही है वे प्राय: ईस्वी सन् के पूर्व और पश्चात् की दो शतियों के अनुमान किये जाते है। प्रथम शती ई० के अभिलेखों मे कही केवल 'गण' का, कही 'कुल' का और कहीं मात्र 'शाखा' का उल्लेख भी पाया जाता है। किन्तु जिन अभिलेखो मे गण, शाखा और कुल, तीनों के ही स्पष्ट नाम साथ-साथ मिलते है वे निश्चित रूप मे कुषण कालीन, अर्थात् सम्राट कनिष्क चतुर्थ राज्य वर्ष (सन ८२ ई०) के उपरान्त के है।

इससे प्रतीत होता है कि उससे पूर्व के मथुरा के जैन साधुओ मे गण-गच्छ-शाखा-कुल आदि का विशेष मोह नही था। यह भेद उनकी उदार एव समन्वयात्मक विचारधारा के अनुकूल नही थे, भेदभाव के ही पोषक थे। वह सब तो मात्र जैन साधु थे और मथुरा के थे। इस प्रत्यक्ष तथ्य की घोषणा करना भी निरर्थक था। भेदभावो को प्रोत्साहन या प्रश्रय देने वाले दक्षिणी एव पश्चिमी, दोनो ही दलो से वे पृथक थे।

किन्तु जैसे जैसे मथुरा मे जैनधर्म का प्रभाव बढ़ता गया और उत्कर्ष होता गया उत्तर भारत के अन्य जैन केन्द्रो के साधुगण भी उसकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगे और यहाँ आकर अपने-अपने अधिष्ठान या केन्द्र स्थापित करने लगे। उच्चनगर, वरण (संभवतया वरन जिसे उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर मे चीन्हा जाता है, इसी का एक भाग उच्चनगर भी कहलाता था), कोल (उ० प्र० में अलीगढ के निकट कोल या कोइल), अहिच्छत्रा (जिला बरेली का रामनगर), संकिशा (जिला फर्रुखाबाद मे), माध्यमिका (राजस्थान मे चित्तौड के निकट नगरी), व्रजनगरी, हस्तिनापुर, राढ (बगाल) इत्यादि मे आकर मथुरा मे स्थायी हो जाने वाले इन साधुओ को पृथक् पृथक् चीन्हने के लिए उन्हे अथवा उनकी शिष्य परम्परा को संभवतया उक्त स्थानो के नाम सहित पुकारा जाने लगा। शनै शनै इन साधु सघो म ये नाम रूढ होने लगे। और संभवतया उन सबसे स्वय को भिन्न सूचित करने के लिए ठेठ मथुरा वाले साधुगण अपने आपको 'स्थानिय कुल' का कहने लगे।

प्रथम शताब्दी ई० के मध्य के उपरान्त इस भेद सूचक प्रवृत्ति ने अधिक बल पकड़ा दीखता है जो अकारण नही था। इस समय के लगभग तक दक्षिणापथ के जैनाचार्यो ने अपनी परम्परा में सुरक्षित आगम ज्ञान के बहुभाग को कसाय पाहुड, पट्खडागम, मूलाचार, कुन्दकुन्द प्रणीत पाहुड ग्रन्थों आदि के रूप मे यथावत या सार रूप सकलित एव लिपिबद्ध कर लिया था। इसमे सभवतया मथुरा का सरस्वती आन्दोलन भी पर्याप्त प्रेरक रहा था। दूसरी ओर पश्चिमी एव मध्य भारत का साधुदल इस प्रकार आगम सकलन एव लिपिबद्धीकरण तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रणयन का भी विरोधी ही बना हुआ था। इसी समय के लगभग एक वृद्धमुनि सम्मेलन मे दक्षिणापथ के सघाध्यक्ष आचार्य अर्हद्‌बलि ने उक्त सघ को, जिसे मूलसघ कहा जाने लगा था, नदि सिंह, देव, सेन, भद्र, आदि उपसघों मे सगठित होने की अनुमति दे दी थी मूल सघ मे यह उपसघीकरण उसके कुछ पूर्व ही अस्तित्व मे आ चुका होगा, तभी तो उसे उक्त सम्मेलन मे मान्यता प्रदान की गई। दक्षिणापथ के साधुओ के इन दोनो कार्यो (शास्त्र लेखन एव सघ-सगठन) का ही यह परिणाम हुआ प्रतीत होता है कि वि० स० १३६ (सन् ७९ ई०) मे गुजरात की बलभी नगरी मे उस केन्द्र के साधु सघ ने स्वय को दक्षिणी साधु सघ से पृथक् स्वतन्त्र घोषित कर दिया। या तो उन्होने स्वय अथवा दक्षिणी साधुओ ने उन्हे प्राय. उसी काल से श्वेताम्बराम्नायी कहना प्रारम्भ कर दिया था१। सभवतया इसी की प्रतिक्रिया के रूप मे महावीर निर्वाण स० ६०९ (सन् ८२ ई०) मे दक्षिण के मूलसघी साधुओ ने भी, विशेषकर रथवीरपुर मे स्वय को श्वेताम्बरों से भिन्न सूचित करने के लिए दिगम्बराम्नायी के नाम से घोषित कर दिया२।

इस समय श्वेताम्बर संघ के नायक वज्रस्वामि के पट्टधर वज्रसेन थे जिनका निधन ९३ ई० मे हुआ। इन्ही आचार्य वज्रसेन ने नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति एव विद्याधर *नाम के चार उपसंघों की स्थापना की बताई जाती है, और कहा जाता है कि उनके शिष्य चन्द्रसूरि ने चन्द्र* गच्छ को और प्रशिष्य सामन्तभद्र ने बनवासीगच्छ की स्थापना की थी। वज्रसेन के पूर्व भी—शुग-शककाल में—शायद कुछ एक गणगच्छ आदि स्थापित हो चुके थे, ऐसा कतिपय पट्टावलियो से ध्वनित होता है, किन्तु किसी भी पट्टावली में उन पूर्ववर्ती गणगच्छादि की उत्पत्ति एवं विकास का कोई इतिहास, या सक्षिप्त सूचनाएँ भी, उपलब्ध नही होते। मथुरा के इन शिलालेखो मे अवश्य ही उनमें से कुछ के नाम प्राप्त होते है।

वस्तुतः प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध मे जैन संसार मे घटित होने वाली उपरोक्त क्रान्तिकारी घटनाओ के प्रभाव से मथुरा के जैनी अछूते नहीं रह सकते थे। क्या आश्चर्य है जो उन्होने भी अपने गण-शाखा-कुल आदि उन नामो के आधार पर जिन्हे वे सुविधा के लिए विशिष्ट स्थानो से आने वाले का विशिष्ट गुरु की परम्परा मे होने वाले साधुओ को चीन्हने के लिये सौ दो सौ वर्ष से ही प्रयुक्त करना प्रारम्भ कर चुके थे अब (प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध मे) ही विधिवत व्यवस्थित एव सगठित किया हो।

मथुरा के इन शिलालेखों मे तीन गण—कोटिय, वारण और उद्देहकिय; ९ शाखा—वइरी, उच्चैनगरी, विद्याधरी, मज्झमिका, हरितमालगढ़ीय, पचनागरी, वज्रनागरी, साकिष्य और पोतपुत्रिका, तथा १४ कुल—स्थानीय, ब्रह्मदासीय, चेटिय (चेतिय), वच्छलिका, सतिनिक, पेतिवामिक, हट्टिकिय, कन्यस्त (या अय्यभ्यस्त), कन्यासिका, पुष्यमित्रीय, नाडिक, मौहिक, नागभूतिय और परिधासिका—के नाम उपलब्ध होते है। इनके अतिरिक्त दसवी-ग्यारहवी शती ई० के तीन मूर्तिलेखो मे से एक मे 'भोधाय गच्छ' का और दो में (९८१ ई० और १०७७ ई० के मे) श्वेताम्बर माथुर सघ का उल्लेख प्राप्त होता है। १०२३ ई० मे एक प्रतिमा सर्वतोभद्रिका दिगम्बर आम्नाय की भी यहाँ प्रतिष्ठित हुई थी, किन्तु उसमे किसी गण-गच्छ का उल्लेख नहीं है। 'भोधायगच्छ' का श्वेताम्बर परम्परा के ८४ गच्छो अथवा दिगम्बरो के अनेक सघ-गण-गच्छों मे से किसी के साथ समीकरण

---

१. दर्शनसार, भावसग्रह, भद्रबाहु चरित आदि में निबद्ध दिगम्बर अनुश्रुति।

२. तपागच्छ पट्टावली, विशेषावश्यक भाष्य आदि मे निबद्ध श्वेताम्बर, अनुश्रुति।

नही बैठता। श्वेताम्बर माथुर संघ के ये उल्लेख भी विरल हैं, अन्यत्र कहीं इस संघ का उल्लेख पाया गया नही जान पडता। दिगम्बर परम्परा के माथुर सघ की स्थापना मुनि राममेन ने मथुरा नगर मे वि० सं० ६५३ मे की थी ऐसा देवमेन कृत दर्शनसार से सूचित होता है। यह तिथि कुछ सदिग्ध हो सकती है किन्तु उक्त सघ के उल्लेख मथुरा के निकटवर्ती आगरा आदि स्थानो मे ११-१२वी शती से मिलने प्रारम्भ हो जाते है अन्यत्र भी। अतएव ऐसा लगता है कि १०वीं शती ई० के मध्य लगभग दोनों ही परम्पराओं ने मथुरा मे अपने सस्थानो के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया था—प्राप्त अवशेषो से सिद्ध होता है उस काल में, प्राय: तभी निर्मित एक दिगम्बर तथा श्वेताम्बर मन्दिर ककाली टीला स्थित प्राचीन स्तूप के आस-पास विद्यमान थे। अतएव यह कहना तो कठिन है कि किसने किसका अनुकरण किया, सभव है दोनो ने सहयोग सद्भाव पूर्वक ही यह पुनरुद्धार कार्य किया हो और उसी उपलक्ष में इस कार्य का नेतृत्व करने वाले उभय सम्प्रदाय के आचार्यों मे अपना-अपना माथुर सघ स्थापित किया हो। एक बात और ध्यान देने की है कि मथुरा में इसके पूर्व दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद लक्षित नही होता। और जबकि उससे प्राचीन शिलालेखो से अकित (तथा लेख रहित भी) सभी जिन प्रतिमाएँ पूर्णतया दिगम्बर है, उन लेखों मे उल्लिखित उपरोक्त गण-गच्छादि में से अनेक का उल्लेख केवल श्वेताम्बर अनु-श्रुतियों मे ही प्राप्त होता है, किसी दिगम्बर ग्रन्थ में अभी तक नही हुआ है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की पट्टावालियो-गुर्वावालियो आदि मे कल्पसूत्र थेरावली और नदीसूत्र पट्टावली ही सर्वप्राचीन मानी जाती है। इन दोनो के मूल रचयिता श्वेताम्बर आगमों के सकलन एव पुस्तकारूढ़ कर्ता देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण (४५३-४६६ ई०) बताये जाते है। कतिपय निर्युक्तियो (छठी शती ई०), वसुदेव हिंडि (६-७वी शती), हरिभद्रीय विशेषावश्यक भाष्य (८वी शती ई०) भद्रेश्वर की कथावली (११वीं शती) और हेमचन्द्राचार्य के परिशिष्टपर्व (१२वी शती) मे उक्त दोनो पट्टावलियो मे उल्लिखित प्राचीन गुरुओ के सबन्ध मे अनेक सूचनाएँ एव कथाएं मिलती है, और तेरहवी से लेकर १६वी शती तक लिखी जाने वाली जो दर्जनो पट्टावलियाँ उपलब्ध है उनमे महावीर निर्वाण से लेकर आगमो की संकलना तक, लगभग १००० वर्ष के बीच होने वाले श्वेताम्बर परम्परा सम्मत गुरुओं के विवरण उन दोनो पट्टावलियो के आधार पर ही निबद्ध हुए है। इन प्राचीन पट्टावलियो (थेरावलियों) की प्राचीनतम उपलब्ध प्रतियाँ भी १२वी शती से अधिक प्राचीन नहीं प्राप्त होती, अतएव उनके आधार पर उनके मूलपाठ की वास्तविक प्राचीनता निश्चित करना भी कठिन है। यह सभव है कि वे देवर्द्धिगणी के उपरान्त भी कई बार परिवर्तित, सशोधित, सवर्धित आदि हुई हो।

जिस रूप मे भी ये उपलब्ध है, नन्दी सूत्र की पट्टा-वली मे तो गण-शाखा-कुलो का कोई उल्लेख ही नही है। कल्पसूत्र थेरावलि के दो सस्करण प्राप्त होते है—एक 'सक्षिप्त वाचना', दूसरी 'विस्तार वाचना'। सक्षिप्त वाचना मे भगवान् महावीर ११ गणधरो के नाम और गोत्र तथा उनके उपरान्त सुधर्म से लेकर वज्रसेन पयन्त १५ थेरो के नाम और गोत्र अनुक्रम से दिये है। उसमे ६वे नम्बर पर सुहस्ति के शिष्य युगल-सुस्थित और सुप्रतिबद्ध का नाम दिया है और उनका समुच्चय विशेषण 'कोडिय काकदण' बताया है। इन दोनो का थेर पद स क्त रहा सूचित होता है। अतिम थेर वज्रसेन के चार शिष्यों—नाइल, पोमिल, जयन्त और तापस से नाइली, पोमिला, जयन्ती और तपस्वी नामक चार शाखाओ के चल निकलने का निर्देश करके यह पट्टावली समाप्त हो जाती है। किन्तु इसके उपरान्त 'विस्तार वाचना' मे उपरोक्त १५ थेरो के सम्बन्ध मे कतिपय अन्य सूचनाएँ भी दी है जिनमें प्राचीन गण, शाखा, कुलो आदि की उत्पत्ति की कथाएँ उल्लेखनीय एव इस प्रसग मे महत्त्वपूर्ण हैं।

(क्रमश:)

जैन समाज के लिए तीन सुझाव

आचार्य श्री तुलसी

विगत दो ही दशकों मे हम सबने सामाजिक और राष्ट्रीय स्थितियो मे इतने विराट परिवर्तन देख लिए है, जितने हमारे पूर्वज शताब्दियों और सहस्राब्दियो मे देखा करते थे। शासन-तन्त्र बदला है, अर्थ-तन्त्र बदला है व नाना सामाजिक मूल्य बदले है। वर्तमान स्थितियों मे उस वर्ग व उस समाज के लिए स्वाभिमान का जीवन जी लेना कठिन है, जो केवल अपने ढर्रे पर ही अवलम्बित रहता है।

आज मजदूर, किसान व हरिजन सभी अपने संगठन के बल पर आगे बढ़ रहे है, अपने आचार-विचार व रहन-सहन की पद्धतियाँ बदल रहे है और विभिन्न क्षेत्रों मे प्रभाव अर्जित कर रहे है। जैन समाज तो सदा से ही दूरदर्शी समाज रहा है। देश-काल के साथ उसने सदा ही सामजस्य बैठाया है। वह जितना अर्थ-प्रधान है उतना बुद्धि-प्रधान भी है। इस समाज के आचार्य व मुनि भी युग-द्रष्टा रहे है। देश-काल के अनुरूप अनुसूचन वे सदा से ही समाज को देते रहे है। नाना वादो व नाना भौतिक विचार-सरणियो से सकुल वर्तमान युग मे उनका दायित्व और बढ जाता है कि वे यथासमय यथोचित मार्ग-दर्शन समाज का करे। वर्तमान युग मे जीने की और विकासोन्मुख बने रहने की पहली शर्त है—संगठन। जैन समाज अनेक शाखाओ व उप-शाखाओ मे बँटा है। बीसपथ और तेरापथ—ये दो उपशाखाएँ दिगम्बर समाज की हैं तथा मूर्तिपूजक, स्थानकवासी व तेरापथ—ये तीन उपशाखाएं श्वेताम्बर समाज की है। कुछ अन्य भी अवान्तर शाखाएँ होगी। सभी शाखा-प्रशाखाओं मे मौलिक भेद बहुत कम है। जो है उसे और कम करना, आज हमारा सबका कर्तव्य है। इस दिशा मे आगे बढ़ने के लिए मैं वि० स० २०२१ तथा वीर निर्वाण स० २४९१ के वीर निर्वाण दिवस-दीपावली पर्व पर समग्र जैन समाज के सम्मुख तीन सुझाव प्रस्तुत करता हूँ।

संवत्सरी पर्व

जैन-समाज की भावात्मक एकता के लिए अत्यन्त अपेक्षित है कि समग्र जैन समाज का संवत्सरी पर्व एक हो। इससे जैन-समाज मे एक नया उल्लास व नया बल आयेगा, ऐसा विश्वास है। विगत के इतिहास को देखते हुए यह कार्य कठिन लगता है, किन्तु वर्तमान की अपेक्षाओ को समझते हुए हमे इसे सरल बना लेना चाहिए। आग्रह हर समन्वय को कठिन बनाता है और उदारता उसे सरल। श्वेताम्बरो मे सम्वत्सरी सम्बन्धी मतभेद चतुर्थी या पचमी बस इतने मे समा जाते है। दिगम्बरो मे दश लाक्षणिक उसी पचमी से प्रारम्भ होते है। श्वेताम्बर परम्पराए यदि चतुर्थी या पचमी के विकल्प से केवल पचमी के विकल्प को अपना लेती है तो वे परस्पर मे एक हो ही जाती है साथ ही दिगम्बर समाज को भी वे एक-सूत्रता मे जोड़ लेती है। उस स्थिति मे दिगम्बर समाज का भी नैतिक दायित्व हो ही जाता है कि वह अपने दश लाक्षणिक पर्व के अन्तिम दिन की तरह आदि को भी आध्यात्मिक महत्व देकर जैन एकता की कडी को और सुदृढ करे।

इस परिकल्पना मे न किसी परम्परा की न्यूनता है, न किसी परम्परा विशेष की अधिकता। यत् किंचित् सभी को बदलना पड़ता है और बहुत कुछ सभी का सुरक्षित रह जाता है। प्रश्न रहता है चिरतन परम्पराओ मे यत्किंचित् भी परिवर्तन करने का हमारा अधिकार रहता है क्या ? इसका उत्तर परम्पराएँ हा स्वय दे देती है। इतिहास ऐसी अनगिनत परम्पराएँ हमारे सामन रखता है जो देश-काल के साथ बनती है और देश-काल के साथ बदलती रही है। शास्त्रीय परम्पराओं की भी समय-समय पर नवीन व्याख्याएँ बनी है। एकान्तवादिता से हटकर सोचने से ऐसे अनेक मार्ग सहज ही मिल सकते है जो शास्त्र और परम्परा से अवरोध रहकर हमे रास्ता दे सकते है।

अखिल भारतीय जैन प्रतिनिधि संगठन

समग्र जैन समाज के प्रतिनिधित्व के लिए एक सुदृढ अखिल भारतीय जैन प्रतिनिधि सगठन की नितांत अपेक्षा है। सभी प्रमुख सम्प्रदायो अथवा सम्प्रदायो की प्रतिनिधि सस्थाओ द्वारा प्रेषित प्रतिनिधि सयुक्त रूप से जैनधर्म के सार्वभौम हितो के सरक्षण व विकास पर विचार कर सके व तदनुकूल प्रवृत्त हो सके, यह उस सगठन का ध्येय हो। सयुक्त राष्ट्रसघ इस बात का उदाहरण है कि परम्परा विरोधी राष्ट्र भी एक सगठन मे आ सकते है तथा मानव-हित की अनेक प्रवृत्तियाँ सयुक्त रूप से वे चला सकते है। जैन शाखा-प्रशाखाओ के तो मतभेद ही नगण्य है। स्याद्वाद सबका आधार है। जैनत्व के सरक्षण और विकास मे सबका रस है। ऐसी स्थिति मे यह जरा भी असम्भव नही लगता कि ऐसा सर्वमान्य सगठन जैन समाज बना ही नही सकता व उसकी उपयोगिता से लाभ उठा ही नही सकता। अपेक्षा है कुछ ही सक्रिय लोगो के आगे बढ कर कदम उठाने की।

भगवान महावीर की २५वी निर्वाण-शताब्दी

यह सुविदित है कि आज से ठीक १० वर्ष बाद महावीर-निर्वाण के २५०० वर्ष पूर्ण हो रहे है। सभी जैन परम्पराएँ एतद् विषयक काल-गणना मे एक मत है। जैनधर्म की प्रभावना का यह सुन्दर अवसर है। बौद्धों ने सिहली परम्परा के ग्रन्थ 'महावश की काल-गणना के अनुसार कुछ ही वर्ष पूर्व बुद्ध निर्वाण के २५०० वर्ष उल्लेखनीय समारोह से मनाये थे। सब बौद्ध परम्पराएं महावश की इस काल गणना से सहमत नही थी, फिर भी उस समारोह को अन्तर्राष्ट्रीय रूप देने के लिए साथ दिया। विश्व के कोने-कोने मे एक साथ बुद्ध का सन्देश प्रतिध्वनित हुआ। जैन समाज के सामने भी ऐसा ही अवसर है। काल-गणना मे जिस प्रकार समस्त जैन-मान्यताएँ एक है, उसी प्रकार यदि समग्र जैन समाज सगठित होकर २५वी महावीर-निर्वाण शताब्दी विशेषकर त्याग और तपस्या से मनाएँ तो सचमुच ही जैनधर्म को एक नव-जीवन मिल सकता है। उसका गौरवपूर्ण इतिहास, उसका स्याद्वाद मूलक दर्शन व अहिंसा मूलक आचार एक साथ विश्व के सामने आ सकता है। त्याग, तपस्या व धर्म-प्रभावना मूलक आयोजनो से जैन समाज कृतार्थ हो सकता है। अपेक्षा है व्यवस्थित व योजनाबद्ध उपक्रम की।

इस समारोह की सफलता के लिए यथासमय अखिल भारतीय जैन प्रतिनिधि सगठन बनने की तथा सवत्सरी पर्व भी तब तक हमारा एक होने की अपेक्षा है। इस स्थिति मे हम सभी को अविलम्ब इस दिशा मे दत्तचित्त हो जाना चाहिए।

सक्षेप मे मैंने ये तीन बाते जैन समाज को सुझाई है। आशा है, सभी शाखा-प्रशाखाओं के आचार्य, उपाध्याय, मुनि तथा प्रतिनिधि सगठन इन पर सहृदयता से विचार करेगे। इस अपेक्षाशील युग मे भी यदि जैन समाज ने कुछ करके नही बताया तो आने वाली पीढी वर्तमान पीढी की अकर्मण्यता व अदूरदर्शिता पर अनुताप करेगी।

जैन शिखर सम्मेलन

उक्त सारी परिकल्पनाओ को साकार रूप देने के लिए समग्र जैन आचार्यों व प्रभावशाली मुनियों का एक शिखर-सम्मेलन शीघ्र ही आयोजित होने की अपेक्षा है, जिसमे सभी समाजो के अग्रणी श्रावको का सम्मिलित होना उचित होगा। यह सम्मेलन कहाँ हो, कब हो, और कैसे हो, ये सभी प्रश्न विचारणीय है। अपेक्षा है, सभी मुनि व अग्रणी श्रावक इस विषय पर विचार करे व अपने-अपने सुझाव प्रस्तुत करे। इस प्रकार का शिखर सम्मेलन हम सब मिलकर कर सके तो जैन-शासन के लिए सचमुच ही वह एक स्वर्णिम घटना होगी।

दशवैकालिक के चार शोध-टिप्पण

मुनिश्री नथमल जी

दशवैकालिक सूत्र मे अनेक शब्द ऐसे है जो प्राचीन परम्पराओ और संस्कृति के द्योतक है। हम यहा 'धूव-णेति', 'हड', 'सिणाण' और 'पदमग' इन चार शब्दों की मीमांसा प्रस्तुत करते है। इसका आधार अगस्त्यसिह स्थविर तथा जिनदास चूर्णि द्वय और हरिभद्रसूरि की टीका है।

१. धूम-नेत्र (धूव-णेत्ति)

शिर-रोग से बचने के लिए धूम्र-पान करना अथवा धूम्र-पान की शलाका रखना अथवा शरीर व वस्त्र को धूप खेना—यह अगस्त्यसिह स्थविर की व्याख्या है१। जो क्रमशः धूम, धूम-नेत्र और धूपन के आधार पर हुई है।

धूम-नेत्र का निषेध उत्तराध्ययन में भी मिलता है२। यद्यपि टीकाकारो ने धूम और नेत्र को पृथक् मानकर व्याख्या की है पर वह अभ्रान्त नही है। नेत्र को पृथक् मानने के कारण उन्हे उसका अर्थ अजन करना पडा३, जो कि बलात् लाया हुआ-सा लगता है।

जिनदास महत्तर के अनुसार रोग की आशंका व शोक आदि से बचने के लिए अथवा मानसिक आह्लाद के लिए धूप का प्रयोग किया जाता था४।

निशीथ में अन्य तीर्थिक और गृहस्थ के द्वारा घर पर लगे धूम को उतरवाने वाले भिक्षु के लिए प्रायश्चित का विधान किया है५। भाष्यकार के अनुसार दद्रु आदि की औषधि के रूप मे धूम का प्रयोग होता था६।

यह उल्लेख गृह-धूम के लिए है किन्तु अनाचार के प्रकरण मे जो धूमनेत्र (धूम-पान की नली) का उल्लेख है, उसका सम्बन्ध चरकोक्त वैरेचनिक, स्नैहिक और प्रायोगिक धूम से है। प्रति दिन धूम-पानार्थ उपयुक्त होनेवाली वर्ति को

---

१. अगस्त्य चूर्णि।
धूम पिबति 'मा सिररोगातिणो भविस्संति'
आरोगपडिकम्म, अहवा "धूमणे" त्ति धूमपानसलागा, धूवेत्ति वा अप्पाणं वत्थाणि वा।

२. उत्तराध्ययन, १५।८
·········वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च त परिचाय परिव्वए स भिक्खू॥

३. उत्तराध्ययन १५।८ नेमिचन्द्रिया वृत्ति, पत्र २१७।
नेत्तं ति नेत्रशब्देन नेत्तसंस्कारकमिह समीरांजनादि गृह्यते।

४. जिनदास चूर्णि पृ० ११५
धूवणेत्ति नाम आरोग्यपडिकम्म करेइ धूमपि, इमाए सोगाइणो न भविष्सति, अहवा अन्न वत्थाणि वा धवेई।

५. निशीथ १।५७, जे भिक्खू गिहधूम अण्णउत्थिएण वा गारित्थएण वा परिसाडावेंत वा सातिज्जति।

६. (क) निशीथ भाष्य गाथा ७९८
घरधूमोसहकज्जे, दद्दु किडिभेदकच्छुअगतादी।
घरधूमम्मि णिबधो, ताज्जातिअ सूयणट्ठाए॥

(ख) चरकसहिता सूत्र ३।४-६, पृ० २९
कुष्ठ, दद्रु, भगन्दर, अर्श पामा आदि रोगों के नाश के लिए कई योग बतलाए है। उनमे छठे योग में और वस्तुओं के साथ गृह-धूम भी है—
मन शीलाले गृहधूम एला काशीसमुस्तार्जुनरोध्र-सर्जा.॥४॥
कुष्ठानि कृच्छाणि नवं किलासं सुरेन्द्रलुप्त किटिमं सदद्रु।
भगन्दराशस्यपची सपामां हन्युः प्रयुक्तास्त्वचिरान्नराणाम ॥६॥

प्रायोगिकी वर्ति, स्नेहनार्थ उपयुक्त होनेवाली वर्ति को स्नैहिकी-वर्ति और दोष-विरेचन के लिए उपयुक्त होने वाली वर्ति को वैरेचनिकी वर्ति कहा जाता है। प्रायोगिकी वर्ति के पान की विधि इस प्रकार बतलाई गई है—घी आदि स्नेह से चुपड कर वर्ति का एक पार्श्व धूम-नेत्र पर लगाए और दूसरे पार्श्व पर आग लगाए। इस हितकर प्रायोगिकी-वर्ति द्वारा धूम-पान करे१।

उत्तराध्ययन के व्याख्याकारों ने धूम को मेनसिल आदि से सम्बन्धित माना है२। चरक मे मेनसिल आदि के धूम को शिरो-विवेचन करने वाला माना गया है३।

धूम-नेत्र कैसा होना चाहिए, किसका होना चाहिए और कितना बडा होना चाहिए तथा धूम-पान क्यो और कब करना चाहिए, इनका पूरा विवरण प्रस्तुत प्रकरण में है। सुश्रुत के चिकित्सा-स्थान के चालीसवे अध्याय मे धूम का विशद वर्णन है। वहाँ धूम के पाँच प्रकार बतलाए है।

चरकोक्त तीन प्रकारो के अतिरिक्त 'सद्न' और 'वामनीय' ये दो और है।

सूत्रकृताग मे धूपन और धूप-पान दोनो का निषेध है४। शीलाक सूरि ने इसकी व्याख्या मे लिखा है कि मुनि शरीर और वस्त्र को धूप न दे और खासी आदि को मिटाने के लिए योग-वर्ति-निष्पादित धूम न पीए५।

सूत्रकार ने धूप के अर्थ में 'धूवण' का प्रयोग किया है और सर्वनाम के द्वारा धूप के अर्थ मे उसी को ग्रहण किया है। इससे जान पडता है कि तात्कालिक साहित्य में धूप और धूम दोनो के लिए 'धूवण' शब्द का प्रयोग प्रचलित था। हरिभद्र सूरि ने भी इसका उल्लेख किया है।

प्रस्तुत श्लोक मे केवल 'धूवण' शब्द का ही प्रयोग होता तो इसके धूप और धूम ये दोनो ही अर्थ हो जाते, किन्तु यहाँ 'धूप-णेत्ति' शब्द का प्रयोग है इसलिए इसका सम्बन्ध धूम-पान से ही होना चाहिए। वमन, विरेचन और वस्तिकर्म के साथ 'धूम-नेत्र' का निकट सम्बन्ध है६। इसलिए प्रकरण की दृष्टि से भी 'धूपन' की अपेक्षा 'धूम-नेत्र' अधिक उपयुक्त है।

अगस्त्यसिह स्थविर ने 'धूवणेत्ति' पाठ को मूल माना है७ और 'धूमणेत्ति' को पाठान्तर। हरिभद्र सूरि ने मूल पाठ 'धूवणेत्ति' मानकर उसका संस्कृत रूप धूपन किया है और मतान्तर का उल्लेख करते हुए उन्होने इसका अर्थ धूम-पान भी किया है८। अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर चूर्णिकारो के अनुसार मुख्य अर्थ धूम-पान है और धूप-खेना गौण अर्थ है। टीकाकार के अभिमत में धूप-खेना मुख्य अर्थ है और धूम-पान गौण। इस स्थिति मे मूलपाठ का निश्चय करना कठिन होता है, किन्तु इसके साथ जुडे हुए 'इत्ति' शब्द की अर्थ-हीनता और उत्तराध्ययन मे प्रयुक्त 'धूमणेत्त' के आधार पर ऐसा लगता है कि मूल-'धूमणत्त' या 'धूवणेत्त' रहा है। बाद मे प्रतिलिपि होते-होते यह 'धूवणे' त्ति के रूप में बदल गया—ऐसा सम्भव है। प्राकृत के लिग अतन्त्र होते है, इसलिए सम्भव है कि यह 'धूवणेत्ति' या 'धूमणेत्ति' भी रहा हो।

बौद्ध-भिक्षु धूम पान करने लगे तब महात्मा बुद्ध ने उन्हे धूम-नेत्र की अनुमति दी९। फिर भिक्षु सुवर्ण, रौप्य

१. चरक सूत्रस्थानम् ५।२१
शुष्कां निगर्भां तां वर्ति धूमनेत्रार्पितां नरः।
स्नेहाक्तामग्निसम्प्लुष्टां पिवेत्प्रायोगिकीं सुखाम्॥

२. उत्तराध्ययन १५।८ नेमिचन्द्रिया वृत्ति, पत्र २१७
धूम—मनः शिलादिसम्बन्धि।

३ चरक सूत्रस्थानम् ५।२३
श्वेता जोतिष्मती चैव हरितालं मनःशिला।
गन्धाश्चागुरुपत्राद्या धूमः शीर्षविरेचनम्॥

४. (क) सूत्रकृताग २।१।१५ पत्र २९७
णो धूवणे, णो तं परिआविएज्जा।

५. (ख) वही, २।४।६७, पत्र ३७०
णो धूवणित्ति पिआइते।

६. सूत्रकृताङ्ग ।१।१५, टीका पत्र २६६
तथा नो शरीरस्य स्वीयवस्त्राणां वा धूपनं कुर्यात्
नापि कासाद्यपनयनार्थं धूपं योगवर्तिनिषदितमा-
पिबेदिति।

७. चरक सूत्रस्थान ५।१७।३७

८. अगस्त्यसिंह चूर्णि—धूवणेत्ति सिलोगो।

९. हारिभद्रीय टीका, पत्र ११८
धूपनमित्यात्मवस्त्रादेरनाचरितम्, प्राकृतशैल्या
अनागतव्याधिनिवृत्तये धूमपानमित्यन्ये व्याचक्षते।

आदि के धूम-नेत्र रखने लगे१। इससे पता लगता है कि भिक्षुओं और सन्यासियों में धूम पान के लिए धूम-नेत्र रखने की प्रथा थी, किन्तु भगवान महावीर ने अपने निर्ग्रन्थों मे इसे रखने की अनुमति नही दी२।

२ हट (हडो)

सूत्रकृताङ्ग में 'हड' को 'उदक-संभव' वनस्पति कहा गया है। वहाँ उसका उल्लेख उदक, अवग, पणग, सेवाल, कलम्बुग के साथ किया गया है३। 'प्रज्ञापना' सूत्र में जलरुह वनस्पति के भेदों को बताते हुए उदक आदि के साथ 'हढ' का उल्लेख मिलता है४। इसी सूत्र में साधारण शरीरी बादर-वनस्पतिकाय के प्रकारो को बताते हुए 'हढ' वनस्पति का नाम आया है५। आचाराङ्ग निर्युक्ति मे अनन्त-जीव वनस्पति के उदाहरण देते हुए सेवाल, कत्थ, भाणिका, अवक, पणक, किण्णव आदि के साथ 'हढ' का नामोल्लेख है६। इन समान लेखो से मालूम होता है कि 'हड' वनस्पति 'हढ' नाम से भी जानी जाती थी।

हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ एक प्रकार की अबद्धमूल वनस्पति किया है७। जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ द्रह, तालाब आदि मे होने वाली एक प्रकार की छिन्नमूल वनस्पति किया है८। इसमे पता चलता है कि 'हड' बिना मूल की जलीय वनस्पति है।

सुश्रुत में सेवाल के साथ 'हट' तृण पद्मपत्र आदि का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि सस्कृत मे 'हड' का नाम 'हट' प्रचलित रहा। यही हट से आच्छादित जल को दूषित माना है९। इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकलता है कि 'हड' वनस्पति जल को आच्छादित कर रहती है। 'हढ' को सस्कृत मे 'हट' भी कहा गया है१०।

'हड' वनस्पति का अर्थ कई अनुवादो में घास११ अथवा वृक्ष१२ किया गया है। पर उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि

---

१. देखो पृष्ठ ९३, पाद-टिप्पण नं० ८

२. विनयपिटक. महावग्ग ८।२।७ :
भिक्खू उच्चावचानि धूमनेत्तानि—सोवण्णमय रूपिमय।

३. सूत्रकृताङ्ग २।३।५४, पत्र ३४९
अहावर पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेण तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुगत्ताए— विउट्टन्ति

४. प्रज्ञापना १।४५, पृष्ठ १०५
से कि तं जलरुहा ?, जलरुहा अणेग विहा पन्नत्ता। तजहा—उदए, अवए, पणए, सेवाले, कलबुया, हढेय।

५. वही, १।४५, पृष्ठ १०८, १०९
से कि तं साहारणसरीरबादरवणस्स इकाइया ? साहारणसरीरबादरवणस्स इकाइया अणेगविहा पन्नत्ता। तजहा—किमिरासि भद्दमुत्था णागलई पेलुगा इय। किण्हे पउले य हढे हरतणुया चेव लोयाणी।

६. आचाराग निर्युक्ति, गाथा १४१, पृष्ठ ५४
सेवालकत्थभाणियअवए पणए य किनए य हढे।
एए अणन्तजीवा भणिया अण्णे लोयाणी॥

७ हारिभद्रीय टीका, पत्र ९७
अबद्धमूलो वनस्पति विशेष।

८ जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ८९
हढो णाम वणस्सइविसेसो, सो दहतलागादिषु छिण्णमूलो भवति।

९. सुश्रुत (सूत्रस्थान) ४५।७
तत्र यत् पकशैवालहटतृणपद्मपत्रप्रभृतिभिरवच्छन्न शशिसूर्य्यकिरणानिर्लैर्नाभिजुष्ट गन्धवर्णा सोपसृष्टञ्च तादृव्यापन्नमिति विद्यात्।

१०. आचाराग निर्युक्ति, गाथा १४१, पत्र ५४
सेवालकत्थभाणिका वकपनककिण्वहठादयो नन्तजीवा गदिता।

११. (क) Das. (का० वा० अभ्यङ्कर) नोट्स, पृ० १३
The writer of the Vritti explains it as a kind of grass which leans before every breeze that comes from any direction.
(ख) समीसाजनो उपदेश (गो०जी० पटेल) पृ० १६
ऊंडां मूल न होवाने कारणे वायुथी आम तेम फेंकाता 'हड' नामना घास—।

१२. दशवैकालिक (जी० घेलाभाई), पत्र ६
हड नामा वृक्ष समुद्रने कीनारे होय छे। तेनुं मूल बराबर होतूं नथी, अने माथे भार घणो होय छे अने समुद्रने कीनारे पवननु जोर घणु होवाथी ते वृक्ष उखडीने समुद्रमा पडे अने त्यां हेराफेरा कर्या करे।

ये दोनो अर्थ अशुद्ध है ।

'हृट' का अर्थ जलकुम्भी किया गया है१ । इसकी पत्तिया बहुत बड़ी, कड़ी और मोटी होती है । ऊपर की सतह मोम जैसी चिकनी होती है । इसलिए पानी मे डूबने की अपेक्षा यह आसानी से तैरती रहती है । जल-कुम्भी के आठ पर्यायवाची नाम उपलब्ध है२ ।

३. गन्ध-चूर्ण (सिणाणं)

दशवैकालिक ६।६३ मे 'सिणाण' शब्द आया है । उसका अर्थ गन्ध-चूर्ण है । टीकाकार ने 'स्नान' को उसके प्रसिद्ध अर्थ अग-प्रक्षालन मे ग्रहण किया है३ । वह सही नही है । चूर्णिद्वय मे इसकी विशेष जानकारी नही मिलती फिर भी उससे यह स्पष्ट है कि यह कोई उद्वर्तनीय गन्ध द्रव्य है४ । उमास्वाति ने इसको घ्राणेन्द्रिय का विषय बतलाया है५ । उससे भी इसका गन्ध-द्रव्य होना प्रमाणित है । मोनियर-मोनियर विलियम्स ने भी अपने सस्कृत-अग्रेजी कोष मे इसका एक अर्थ सुगन्धित चूर्ण किया है६ ।

१. सुश्रुत (सूत्रस्थान) ४५।७, पाद-टिप्पणी न० १ में उद्धृत अश का अर्थ—
हृट जलकुम्भिका, अभूमिलग्नमूलस्तृणविशेष: इत्येके ।

२. शालिग्राम निघण्टु भूषण, पृष्ठ १२३०
कुम्भिका वारिपर्णी च, वारिमूली खमूलिका ।
आकाशमूली कुतृणं, कुमुदा जलवल्कलम् ।।

३ हारिभद्रीय टीका, पत्र २०६
'स्नान' पूर्वोक्तम् ।

४. अगस्त्य चूर्णि
सिणाण सामायिगं उवण्हाण अथवा गन्धवट्टवो ।

५. (क) प्रशमरति प्रकरण ४३
स्नानाङगरागवर्तिकवर्णकधूपाधिवासपटवासै: ।
गन्धभ्रमितमनस्को मधुकर इव नाशमुपयाति ।।
(ख) प्रशमरति प्रकरण ४३
स्नानामंगलप्रक्षालनं चूर्णम् ।

6. A Sanskrit English Dictionpry. Page 1266: Anything used in ablution (E. G. water, Perfumed Powder)

४. पद्म-केसर (पउमगाणि)

अगस्त्य चूर्णि७ के अनुसार 'पद्मक' का अर्थ 'पद्म-केसर' अथवा कुकुम, टीकाकार८ के अनुसार उसका अर्थ कुकुम और केसर तथा जिनदास चूर्णि९ के अनुसार कुकुम है । सर मोनियर-मोनियर विलियम्स ने भी इसका अर्थ एक विशेष सुगन्धित द्रव्य किया है१० ।

पद्मक का प्रयोग महाभारत मे मिलता है—तुलाधार ने जाजलि से कहा "मैंने दूसरो के द्वारा काटे गये काठ और घास-फूस से यह घर तैयार किया है । अलयतक (वृक्ष विशेष की छाल), पद्मक (पद्माख), तुगकाष्ठ तथा चन्दनादि गन्ध-द्रव्य एव छोटी-बड़ी वस्तुओ को मैं दूसरो से खरीद कर बेचता हूँ११ ।" सुश्रुत मे भी इसका प्रयोग हुआ है—न्यग्रोधादि गण में कहे आम्र से लेकर नन्दी वृक्ष पर्यन्त वृक्ष की त्वचा, शंख, लाल चन्दन, मुलैहठी, कमान, गैरिक, अजन (सुरमा), मंजीठ, कमलनाल, पद्माख—इनको बारीक पीस कर, दूध मे घोल कर, शर्करा मधु मिला कर, भली प्रकार छानकर ठण्डा करके जलन अनुभव करते रोगी को बस्ति देवे१२ ।

७. अगस्त्य चूर्णि
'पउम' केसर कुकुम वा

८. हारिभद्रीय टीका, पत्र २०६
पद्मकानि च कुकुमकेसराणि ।

९. जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २३२
पउम कुकुम भण्णइ ।

10. A Sanskrit English Dictionary. Page, 584. Padmaka—A Particular Substance.

११. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६२, श्लोक ७
परिच्छिन्नै: काष्ठतृर्णैर्मयेद शरण कृतम् ।
अलक्त तुङ्ग गन्धाश्चोच्चावचास्तथा ।।

१२. सुश्रुत, उत्तर भाग ३९, १४८
आम्रादीना त्वचं शंख चन्दनामलकोत्पलै: ।।
गौरिकांजनमंजिष्ठामृणालान्यथ पद्मकम् ।
श्लक्ष्णापिष्टं तु पयसा शर्करामधुसयुतम् ।।

नेमिनाह चरिउ

श्री अगरचन्द नाहटा

उत्तर भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओ की जननी अपभ्रंश भाषा मे ८वी शताब्दी से लेकर संवत् १७०० तक में जो विशाल साहित्य का सृजन हुआ, उसमें कतिपय सिद्धों तथा 'सन्देश रासक' के अतिरिक्त जितना भी साहित्य है वह सभी जैन विद्वानों की रचना है। श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों सम्प्रदाय के कवियों ने विविध प्रकार का और बहुत बड़ा साहित्य अपभ्रंश मे रचा है। उसमे से दि० अपभ्रंश साहित्य की जानकारी तो काफी प्रकाश में आ चुकी है; पर श्वेताम्बर अपभ्रंश साहित्य की जानकारी बहुत ही थोड़ी प्रगट हो सकी है। क्योंकि कुछ रचनाएँ तो प्राकृत और सस्कृत ग्रन्थों में सम्मिलित है और बहुत-सी रचनाएँ अब भी अप्रकाशित अवस्था में ही पड़ी है। उन रचनाओ का इतना अधिक प्रचार भी नहीं हुआ, इसलिए दि० अपभ्रंश रचनाओं की तरह उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी अधिक नही मिलती। महत्वपूर्ण रचनाओ की भी एक-दो प्रतियाँ ही किसी भंडार में प्राप्त है, उदाहरणार्थ प्रस्तुत लेख में श्वे० अपभ्रश साहित्य के सबसे बड़े काव्य का सक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। इसकी एक प्राचीनतम ताड़-पत्रीय प्रति जैसलमेर भण्डार मे है। इसी तरह 'विलास-वइ-कहा' नामक बहुत ही सुन्दर कथा-ग्रन्थ की २ ताड-पत्रीय प्रतियाँ भी जैसलमेर भण्डार में ही है। 'सयम मजरी टीका' की भी एकमात्र प्रति भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना में है। इसी तरह जिन-प्रभसूरि की कई अपभ्रंश रचनाएँ है पर उनकी ताड़पत्रीय प्रतियाँ केवल पाटण के जैन भण्डार में ही प्राप्त है। दि० अपभ्रंश साहित्य मे बड़े-बड़े काव्य अधिक है। श्वे० अपभ्रंश साहित्य मे नेमिनाह चरिउ' और 'विलास-वई-कहा' के ,अतिरिक्त सभी छोटी-छोटी रचनाओ के रूप मे है। 'विलास-वई-कहा' की कथा और प्रतियों का सक्षिप्त परिचय मैंने अपने अन्य लेख में दिया है, जो उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से प्रकाशित 'त्रिपथगा' नामक पत्रिका में छपने भेजा हुआ है। इस काव्य का परिमाण ३६२० श्लोक का है जब कि प्रस्तुत लेख मे जिस 'नेमिनाह चरिउ' का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है उसका परिमाण ८०३२ श्लोक का है। अर्थात् 'विलास वई कहा' से दुगनी से भी अधिक है। रायपुर के डा० देवेन्द्रकुमार जैन को मैंने 'विलासवई कहा' की प्रतिलिपि अहमदाबाद से प्राप्त करने की सूचना दी थी१। तदनुसार उन्होंने उसको मगाकर पढ़ा तो उनका कहना है है कि समूचे अपभ्रंश कथा साहित्य मे 'विलासवई कहा' सबसे सुन्दर है। उन्होंने इस कथा का विशेष परिचय अपने शोध प्रबन्ध मे दिया है।

नेमिनाह चरिउ बड़गच्छ के श्रीचन्द्र सूरि के शिष्य हरिभद्र सूरि की रचना है। इसका सर्वप्रथम परिचय डा. हरमन जाकोबी को प्राप्त हुआ था। उन्होंने उस काव्य के ३४३ रड्डा पद्यो वाले सनतकुमार चरित को सन् १९२१ मे सम्पादित करके जर्मनी से प्रकाशित किया था। खेद है कि ४३ वर्ष बीत जाने पर भी इस महत्वपूर्ण महाकाव्य के प्रकाशन की बात तो दूर पर उसको पढ़ कर आवश्यक विवरण प्रकाशित करने का भी आजतक किसी ने कष्ट नही उठाया, यद्यपि सन् १९२३ में प्रकाशित जैसलमेर जैन भाण्डागारीय जैन ग्रन्थानाम सूचीपत्रम् के पृष्ठ २७–२८ मे इस काव्य के आदि और अन्त के कुछ पद्य भी प्रकाशित हुए थे। फिर भी अपभ्रंश साहित्य पर स्वतन्त्र शोध प्रबन्ध लिखने वाले डा० हरिवश कोछड़ ने अपने 'अपभ्रंश साहित्य' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ २२३-२२६ में सनतकुमार चरित्र का तो परिचय दिया है पर 'नेमिनाह चरिउ' का केवल कोष्ठक में नामोल्लेख के अतिरिक्त

---

१. डा० याकोबी के सन् १९१५ के लगभग उक्त प्रति राजकोट के एक मुनि के पास मिली वह प्रति वे साथ ले गये थे। अन्यत्र भी जरूर होगी।

कुछ भी विवरण नहीं दिया है। पं० परमानन्द जैन शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'जैन-ग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह' की प्रस्तावना के पृष्ठ ४१ में 'सनतकुमार चरिउ' के अतिरिक्त हरिभद्र के नेमिकुमार चरिउ का अलग से उल्लेख किया है और उसे मुद्रित लिख दिया है, पर पता नही उनके 'मुद्रित' का आधार क्या है।' सनतकुमार चरिउ 'नेमिनाह चरिउ' का ही अश है, सम्भव है इसकी उन्हें जानकारी न हो। इसलिए दोनो के नाम अलग-अलग दे दिये और प्रकाशित है तो सनतकुमार चरिउ पर उसके आगे मुद्रित न लिखकर नेमिकुमार चरिउ के आगे मुद्रित शब्द गलती से लिख दिया होगा या छप गया होगा।

सन् १६२६ मे प्रकाशित स्व० मोहनलाल देसाई के जैन गुर्जर कवियो प्रथम भाग के प्रारम्भ मे 'जूनी गुजराती नो इतिहास' ३२० पृष्ठो मे दिया गया है, उसके पृष्ठ ७२ मे नेमिनाह चरिउ का सक्षिप्त विवरण देते हुए लिखा है कि इसे डा० जाकोबी प्रकाशित करने वाले है। इसके प्रथम भाग मे नेमि-राजमति के नव पूर्व भवों का विस्तृत वर्णन है और द्वितीय भाग मे तीर्थङ्कर चरित्र के साथ-साथ श्रीकृष्ण और पाण्डवो का चरित्र भी दिया गया है। ग्रन्थ की एक ही प्रति प्राप्त होने के कारण इस महाकाव्य को देखने और पढने का अवसर अब तक सुलभ न हो सका इसीलिये श्वे० अपभ्रंश साहित्य का सबसे बडा काव्य होने पर भी विद्वद् जगत इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ से अज्ञात-सा रहा।

'नेमिनाह चरिउ' के रचयिता बड़गच्छीय हरिभद्र सूरि बहुत बडे कवि और विद्वान थे। 'चन्द्रप्रभ चरित्र' के उल्लेखानुसार इन्होंने २४ तीर्थङ्करो के चरित्र बहुत विस्तार से और सुन्दर रूप मे बनाये थे१ पर खेद है अब तो उनके रचित चन्द्रप्रभ, मल्लिनाथ और नेमिनाथ इन तीन तीर्थङ्करो के चरित्र ही प्राप्त है। इनमे से चन्द्रप्रभ चरित्र की एकमात्र ताड़-पत्रीय प्रति पाटण के जैन भडार मे है, जो सवत् १२२३ की लिखी हुई थी। उसका ग्रन्थ परिमाण में भी ८०३२ श्लोको का ही है। पता नही नेमिनाह चरिउ और चन्द्रप्रभ चरित्र दोनों के परिमाण में एक भी श्लोक का अन्तर कैसे नही आया? मल्लिनाथ चरित्र का परिमाण भी ९००० श्लोकों का जिन-रत्न कोष में बतलाया है। इस तरह उपलब्ध तीनों तीर्थङ्कर करीब २५००० श्लोक परिमित है। इससे श्री मोहनलाल देसाई ने अपने 'जैन साहित्य नो इतिहास' पृष्ठ २७६ मे यह विचार व्यक्त किया है कि इस हिसाब से यदि २४ तीर्थङ्करों का चरित्र उन्होने लिखा हो तो उन सब का परिमाण २ लाख श्लोक के करीब का आयेगा। चन्द्रप्रभ और मल्लिनाथ चरित्र प्राकृत भाषा मे है और नेमिनाह चरिउ अपभ्रंश मे। जिन-रत्न कोषादि मे कही-कही इसे प्राकृत और अपभ्रंश दोनों भाषा का भी बतलाया है। अत. इसमे प्राकृत का कितना अश है और अपभ्रंश का कितना अंश है यह तो पूरे ग्रन्थ को पढने पर ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है पर प्रधानतया यह अपभ्रंश का ही लगता है।

इस महाकाव्य की रचना सवत् १२१६ कार्तिक १३ को अश्विनी नक्षत्र सोमवार को हुई थी। प्राग्वाट ज्ञातीय सरस्वती वरलब्ध महामति पृथ्वीपाल की अभ्यर्थना मे यह काव्य ८०३२ श्लोकों मे रचा गया। इन सब बातो का उल्लेख ग्रन्थ की प्रशस्ति मे दिया हुआ है। उपलब्ध तीनो चरित्र ग्रन्थ पृथ्वीपाल के लिये ही रचे गये अतः उसके वश की विस्तृत प्रशस्ति तीनो ग्रन्थो के अन्त मे कवि ने दी है। जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी बहुत ही महत्वपूर्ण है। चन्द्रप्रभ चरित्र की प्राकृत भाषा की प्रशस्ति पाटण भण्डार सूची के पृष्ठ २५२ से २५६ में प्रकाशित हो चुकी है। नेमिनाह चरिउ की प्रशस्ति का थोडा-सा अश जैसलमेर भण्डार सूची मे छपा था पर अभी मुनि पुण्यविजय जी ने जैसलमेर भण्डार का उद्धार करते समय पूरी प्रशस्ति की नकल पूरी कर ली थी अत. इस लेख मे प्रारम्भ के तीन पद्य तो जैसलमेर सूची से दिये जा रहे है और अन्त की पूरी प्रशस्ति मुनि पुण्यविजय जी सम्पादित, पर अभी तक, अप्रकाशित जैसलमेर-सूची से उद्धृत करके दी जा रही है।

जैन विद्वानों ने अनेक ऐतिहासिक साधनों का निर्माण किया है, उनमें ग्रन्थ की रचना और लेखन की प्रशस्तियाँ

१. चउवीसइ जिणपुगवसुचरियरयणाभिराम सिंगारो।
एसो विणेयदेसो जाओ हरिभद्द सूरि त्ति ॥

कल्पसूत्र : एक सुझाव

कुमार चन्द्रसिंह दुधोरिया, कलकत्ता

सम्वत्सरी की परम पावन तिथि पर जैन समाज मे आचार्य श्रीमद् भद्रबाहु द्वारा विरचित कल्पसूत्र के वाचन एवं श्रवण की परम्परा है। परन्तु कालान्तर के प्रभाव से इनके प्रति सर्वसाधारण जैन जनता के आग्रह-भाव मे क्रमश. ह्रास होता जा रहा है, जिसे कदापि शुभ नही माना जा सकता है।

जैन धर्म और जैन दर्शन की वह अमूल्य निधि —कल्पसूत्र, अर्धमागधी किंवा प्राकृत भाषा मे है और इसी भाषा मे—जो अब मतप्राय है—इसका वाचन होता है जिसे युवा पीढी समझ नही पाती। यही कारण है कि इस अनमोल सूत्र के प्रति नवयुवको मे उदासीनता बढती जा रही है। मेरे इस कथन के पीछे इस सूत्र के वाचन एवं श्रवण की प्रचलित परिपाटी के प्रति किसी प्रकार की अनास्था अथवा अश्रद्धा का भाव कदापि नही है। मैं तो इस तथ्य की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि जिस काल मे आचार्य भद्रबाहु महाराज ने इस महान सूत्र को विरचित किया, उस समय अर्धमागधी ही सर्वसाधारण की भाषा थी। संस्कृत को छोड कर अर्धमागधी मे कल्पसूत्र को विरचित करने के पीछे भी आचार्य महाराज की यही भावना प्रतीत होती है कि वह इस सूत्र को सर्वसाधारण के लिए अधिकाधिक बोधगम्य एव व्यापक बनाना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने इस सूत्र की तत्कालीन लोकभाषा मे रचना की। अतएव इस कल्पसूत्र का हिन्दी एवं अन्य प्रादेशिक भाषाओं मे रूपान्तर करने की ओर जब हमारी दृष्टि जाती है तो वह आचार्य श्रीमद् भद्रबाहु महाराज के दृष्टिकोण एव भावनाओं के सर्वथा अनुरूप ही है। इस अमूल्य सूत्र की सार्थकता वस्तुत इसे अधिकाधि सरल एवं बोधगम्य बनाने मे है।

यदि समय रहते इस अनमोल कल्पसूत्र को बोधगम्य न बनाया गया तो उसमे निहित भावनाओं एवं आदर्शो की जानकारी के अभाव में पर्यूषण एवं क्षमायाचना का हमारा यह पर्व केवल एक परम्परागत रीति के रूप मे ही रह जायगा और जिस महान आदर्श एवं लक्ष्य को यह अपने मे सजोये हुए है वह शनै. शनैः विलुप्त होता जायेगा।

वर्तमान वस्तुवादी युग और सभ्यता की चकाचौध मे धर्म एवं धार्मिक विषयो के प्रति लोगों की आस्था, निष्ठा एव रुचि मे यो ही कमी होती जा रही है। ऐसी स्थिति मे कल्पसूत्र का वाचन अर्धमागधी या प्राकृत भाषा मे किया जाना नवयुवको को उससे विमुख करने मे सहायक ही होगा।

अतएव, आज समस्त जैन समाज और उनके मनीषियो, आचार्यो, विचारको एव शुभ-चिन्तको से मेरा यह हार्दिक आग्रह है कि वे जमाने के तकाजे या समय की माँग से विमुख न होकर कल्पसूत्र को बोधगम्य बनाने की दिशा मे ठोस एव निश्चित कदम उठायें जिससे इस कल्याणकारी सूत्र को सर्वसाधारण के द्वारा सरलता-पूर्वक हृदयगम किया जा सके। आचार्य श्रीमद् भद्रबाहु ने हम सभी पर जो असीम उपकार किया है और कल्प-सूत्र जैसे महान् सूत्र एवं उसमे निहित अनमोल सन्देशो को प्रदान किया है उस महान् सूत्र को बोधगम्य बनाकर उनके उन दिव्य सन्देशो को जन-जन तक पहुँचा कर हम कुछ अश तक उस उपकार के ऋण से उऋण हो सकते है।

———

जैन संघ के छः अंग

डा० विद्याधर जोहरा पुरकर, जावरा

प्राचीन समय में जैन सघ के चार भाग किये जाते थे—मुनि, आर्यिका, श्रावक व श्राविका। किन्तु जो व्यक्ति श्रावक और मुनि की सीमारेखा पर होते हैं उनका इस विभाजन में ठीक तरह से वर्णन नही हो पाता। उदाहरणार्थ—वर्तमान समय में जो क्षुल्लक अथवा ऐलक पद के व्यक्ति है वे आचार-ग्रन्थो की दृष्टि से श्रावक हैं किन्तु व्यवहारतः वे साधुवर्ग मे समाविष्ट समझे जाते है। मध्ययुग मे जब दिगम्बर मुनि नहीं के बराबर थे तब यह समस्या विशिष्ट रूप मे सामने आती रही होगी। इस विषय पर करीब चार शताब्दी पूर्व की एक रचना अभी हमारे अवलोकन मे आई, जिसे पाठको के लाभार्थ उद्धृत किया जाता है। इस रचना का शीर्षक 'सघाष्टक' है। इसमे छप्पय छद के दस पद्य है। इसके रचयिता ब्रह्म ज्ञानसागर है जो काष्ठासघ-नन्दीतटगच्छ के भ० श्रीभूषण के शिष्य थे। विक्रम की सत्रहवी सदी मे उनका समय निश्चित है। ज्ञानसागर ने जैन संघ का विभाजन इस प्रकार किया है—१. श्रावक, २. श्राविका, ३. पडित, ४. व्रती, ५. आर्यिका, ६. भट्टारक। भट्टारक के आदर्श का कवि का वर्णन पठनीय है। यदि सभी भट्टारक इस आदर्श को प्राप्त करने का यत्न करते तो शायद भट्टारक-विरोधी तेरापथ-सम्प्रदाय का उद्भव ही न हुआ होता। अस्तु, कवि की मूल रचना इस प्रकार है :

संघाष्टक

सेवे जिनवर देव धर्म दशलक्षण धारे।
गुरुसेवे नित साधु व्यसन कषाय निवारे॥
दान च्यार नित देत बारे व्रत नितपाले।
रत्नत्रय मन धरत पंच मिथ्यामति टाले॥
सामायिक नवकार गुरु क्रिया सकल पाले सदा।
श्रावक ते जाणो निपुण ब्रह्मज्ञान बोले मुदा॥१॥

वरजं तीन मकार पंचउबर परित्यागे।
व्यसन सात गत दूर दयाभाव अनुरागे॥
देव शास्त्र गुरु भाव निशिभोजन परिहारी।
जल प्रासुक पीवंत सप्त तत्त्व मन धारी॥
दशविध धर्मामृत पियो मिथ्या पंचमनथें त्यजे।
ब्रह्म ज्ञानसागर बदति सो श्रावक जिनमत भजे॥२॥

श्रावकनी जग कही पतिसहित व्रत पाले।
आराधे जिनदेव पंच मिथ्यामति टाले।
देत दान नित च्यार जिनवर पूज रचावं।
करे पर उपकार भावना हृदयमां भावै॥
धरे सम्यक्त्व पाले दया गुरु वंदे पातक त्यजे।
ब्रह्म ज्ञानसागर वदति सो श्रावकनी पद भजे॥३॥

सामायिक मन शुद्ध मुख नवकारह जंपे।
थावर जगम जीव तास घात मन कंपे॥
धर्मध्यान नित करत देव शास्त्र गुरु वंदे।
प्रतिमा पालत आठ आस्रव सकल निकंदे॥
व्यवहार धर्म पाले सदा शुद्ध भाव मनमां धरे।
श्रावकनी ते जाणिये ब्रह्म ज्ञान इम उच्चरे॥४॥

पडित कहिये सोहि जोहि व्याकरण बखाणे।
पंडित कहियें सोहि जोहि आगम गुण जाणे॥
पंडित कहिये सोहि हस्त क्रिया जिस आवे।
पडित कहिये सोहि जोहि संयम व्रत पावे॥
महाभिषेक शांतिक बडुं होम मत्र जप उच्चरे।
ब्रह्म ज्ञान सागर वदति सो पडित पूजा करे॥५॥

ब्रह्मचार सोहि जाण जोहि जिनवाणी रत्ता।
प्रतिमा आठ धरंत व्रत सामायिक जुत्ता॥
इंद्रिय करे निरोध क्षमावंत गुणधारी।
मदन कषाय निरोध व्यसन सात परिहारी॥
करे तीर्थ समता धरे परम साधु पासे रहे।
ब्रह्मचार ते जाणिये इस विध ज्ञानसागर कहे॥६॥

कहिये बाइ सुजाण जेह व्रत पूरण पाले ।
श्वेत वस्त्र पेहरंत धर्मध्यान अजुआले ॥
संयम निर्मल धरत दयाभाव बहु राखे ।
जिनवर गुण ध्यायत पंचेंद्रिय दम शोषे ॥
जाप जपे जिनराजको परमरय पद संचरे ।
बाइ कहावत सो भली ब्रह्म ज्ञान इम उच्चरे ॥७॥

पंच महाव्रत सहित मूलगुण निर्मल पाले ।
पढ़त पढ़ावत शास्त्र राग द्वेषमद टाले ।
विहरत देश अनेक धर्मध्यान प्रगटावे ।
करे धर्म उद्योत सकल सज्जन मन भावे ॥
क्रिया सकल मुनिवर तणी विविध प्रकारे आचरे ।
बड़ा व्रती ते जाणिये ब्रह्म ज्ञान इम उच्चरे ॥८॥

भट्टारक सोहि जाण भ्रष्टाचार निवारे ।
धर्म प्रकाशे बोइ भविक जीव बहु तारे ॥
सकल शास्त्र संपूर्ण सूरिमंत्र आराधे ।
करे गच्छ उद्धार स्वात्मकार्य बहु साधे ॥
सौम्यमूर्ति शोभाकरण क्षमाधरण गंभीरमति ।
भट्टारक सोहि जाणिये कहत ज्ञानसागर यति ॥९॥

श्रावक गुण भंडार श्रावकनी अरु पंडित ।
ब्रह्मचार व्रतधर्म आर्जिका पापविखंडित ॥
पंच महाव्रत धीर वीर चारित्र निधानह ।
भट्टारक गुणपूर पावत त्रिभुवन मानह ॥
सकल धर्म उद्योतकरण संघाष्टक पावनमति ।
भावसहित नित सेविये कहत ज्ञानसागर यति ॥१०॥

[पृ० २२६ का शेष]

वर-वारि-तुरग-करि-रयणविसयलक्खण विसिट्ठिण,
तयणु लिहाविवि पुत्थयह, सइहि सयल सिद्धंत ।
आराहिवि तित्थाहिवह चलण जणियजम्मत ॥
समणुमघु वि विविहवत्थहि पडिलाहिवि
अप्पु कयकिच्चु करिवि सहम्मकम्मिण ।
नियजणणी जणयइ वि धम्महेउ जिणनाहभत्तिण ।
पुहइप्पाल महाइह अब्भत्थणह वसेण ।
इहु हरिभद्दमुणी सरिण, चरिउ रइउ लेसेण ॥
यह न तारिसु वयणविन्नाणु न य मत
ततप्फुरणु जइ वि तह वि पहुभत्ति जोगिण ।
इहु नेमिजिणेसरहचरिउ रइउ मइ गुरु पसाइण ।
इय इहु भुवणमुहावउणउ सुयणहु सुणहु चरित ।
अहव सयं पि हु ते विबुह, चिंतामणि सुरवि ॥
कुमरवालह निवह रज्जम्मि अणहिल्लवाडइ
नयरि अनणुमुयणबुहयणह सगमि ।
सोलुत्तर बारसई १२१६ कत्तियम्मि तेरसि समागमि
अस्सिणि रिक्खिण सोमदिणि, सुप्पवित्ति लग्गम्मि ।

एहु समत्थिउ कह वि नियपरियणसाहज्जम्मि ।
पच्चक्खरगणणाए, सिलोगमाणेण इह पबंधम्मि ।
अट्ठेव यस्सहस्सा, बत्तीस ८०३२ सिलोगया होंति ॥
ज किंचि मए अणुचियमुवइट्ठ तुच्छमइविसेसाओ ।
त पसिउ मह सुयणा, सोहतु कयप्पसाय त्ति ॥
यस्याहिद्वयनखमणिमयूखसक्रातसुरपतिश्रेणी. ।
निजलघुतामिव कथयति, वपुषाऽपि जयत्वसौ नेमि ॥
यावच्चन्द्रो यावद् दिवाकरो यावदमरगिरिरत्र ।
राजति तावज्जीयात् श्रीनेमिजिनेन्द्रचरितमद. ॥
उद्यल्लक्षण शास्त्रसचयनिधीन् सद्धर्म मुद्रावधीन्,
सिद्धान्तैकसहस्त्रपत्रतरणीन् सद्वादि चूडामणीन् ।।
तर्काब्धिवन्यतरून् मनोभववधूवैधव्यदीक्षागुरून्,
साहित्यामृतसागरान् मुनिवरान् श्रीचन्द्रसूरीन् स्तुवे ॥

इति श्री चन्द्रसूरिक्रमकमलभसल श्री हरिभद्रसूरि
विरचित नवभवोपनिबद्ध श्री नेमिनाथ
चरितं समाप्तम् ॥६॥

जैन संत भ० वीरचन्द्र की साहित्य-सेवा

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम. ए. पी-एच डी; जयपुर

चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दी से राजस्थानी जैन सन्तो ने साहित्य-रचना मे विशेप रुचि ली। इन सन्तो के प्रमुख थे भट्टारक सकलकीर्ति (सं० १४४३–१४९९), जिन्होने साहित्य सेवा को विशेप लक्ष्य बनाया। भट्टारक सकलकीर्ति के पश्चात् बागड एव गुजरात प्रदेश मे जितने भी भट्टारक हुए उन्होने सस्कृत एव हिन्दी मे सैकड़ो कृतियाँ लिखी एव उनके प्रचार में अत्यधिक योग दिया। इन सन्तो की रचनाएँ राजस्थानी के अधिक समीप है और जिसकी भाषा एवं शैली पर गुजराती का पूरा प्रभाव है। इन सन्तो की साहित्य सेवा का अभी तक उचित मूल्याकन नही हो सका है। इसलिए इस ओर विशेप खोज की आवश्यकता है। कुछ विद्वानो की इतनी अधिक साहित्य सेवा है कि उस पर एक-एक शोध-प्रबन्ध लिखा जा सकता है और ऐसे विद्वानो मे भ. सकलकीर्ति, ब्रह्म जिनदास, भ० शुभचन्द्र, भ० कुमुदचन्द, रत्नकीर्ति, सोमकीर्ति एव भ वीरचन्द आदि है। इन्होने साहित्य-सेवा के अतिरिक्त भारतीय पुरातत्व की बहुत सेवा की। प्रस्तुत लेख मे भट्टारक वीरचन्द की साहित्य-सेवा पर प्रकाश डाला जा रहा है।

भट्टारकीय बलात्कार गण शाखा के सस्थापक भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति थे जो सन्त शिरोमणि एव भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्यो मे से थे। जब देवेन्द्रकीर्ति ने सूरत मे भट्टारक गादी की स्थापना की थी, उस समय भट्टारक सकलकीर्ति का राजस्थान एव गुजरात मे जबरदस्त प्रभाव था। सम्भवत. इसी प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से देवेन्द्रकीर्ति ने एक नई भट्टारक सस्था को जन्म दिया। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के पीछे एवं वीरचन्द्र के पहिले तीन और भट्टारक हुए जिनके नाम है—विद्यानन्दि (सवत् १४९९–१५३७), मल्लिभूपण (१५४४–५५) और लक्ष्मीचन्द्र (१५५६–८२)। वीरचन्द्र भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य थे और इन्ही की मृत्यु के पश्चात् ये भट्टारक बने थे। यद्यपि इनका सूरत गादी से सम्बन्ध था लेकिन ये राजस्थान के अधिक समीप थे और बागड प्रदेश मे खूब विहार किया करते थे।

सन्त वीरचन्द्र प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। व्याकरण एव न्यायशास्त्र के प्रकाड वेत्ता थे। छन्द, अलकार, सगीत शास्त्र मे उनकी विशेप गति थी। वे जहाँ जाते अपने भक्तो की संख्या बढा लेते एव विरोधियो का सफाया कर देते। वाद-विवाद मे उनसे जीतना बडे-बडे महारथियो के लिये भी सहज नही था। वे साधु-जीवन को पूरी तरह निभाते और गृहस्थो को सयमित जीवन रखने का उपदेश देते। एक भट्टारक पदावली में उनका निम्नप्रकार परिचय दिया जाता है :—

"तद्वशमण्डन-कदर्पदर्पदलन विश्वलोक हृदयरजन महाव्रतीपुरन्दराणा नवसहस्रप्रमुखदेशाधिप महाराजाधिराज महाराज श्री अर्जुनजीवराज सभामध्यप्राप्तसन्मानाना षोडशवर्षपर्यन्तशाकपाकपक्वान्नशाल्योदनादिसर्पि प्रभृति सरसाहार परिवर्जिताना दुर्वादिवादिसगपर्वतीचूर्णीकरण वज्रायमान प्रथमवचनखण्डनपण्डिताना व्याकरणप्रमेय-कमलमार्त्तण्ड छन्दोलकृतिसार साहित्य-सङ्गीत-सकलतर्क सिद्धान्तागम शास्त्रसमुद्रपारगताना सकलमूलोत्तर गुणगण मणिमण्डितविबुधवर श्री वीरचन्द्र भट्टारकाणा······।"

उक्त प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि वीरचन्द्र ने नवसारी के शासक अर्जुन जीवराज से बहुत सन्मान पाया तथा सोलह वर्ष तक नीरस आहार का सेवन किया। वीरचन्द्र की विद्वत्ता का इनके बाद होने वाले कितने ही विद्वानो ने उल्लेख किया है। भट्टारक शुभचन्द्र ने अपनी कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा की सस्कृत टीका मे इनकी प्रशसा मे निम्न पद्य लिखा है —

भट्टारक पदाधीशः मूलसंघे विदांवराः।
रमा वीरेन्दु-चिद्रूप-गुरवो हि गणेशिनः ॥१०॥

भ. सुमतिकीर्त्ति ने इन्हे वादियो के लिए अजेय स्वी-

कार किया है और वादियों रूपी पर्वत के लिए इन्हें वज्र के समान माना है। अपनी प्राकृत पचसग्रह की टीका में इनके यश को जीवित रखने के लिए निम्न-पद्य लिखा है—

दुर्वार दुर्वादिकपर्वतानां वज्रायमानो वरवीरचन्द्रः।
तदन्वये सूरिवरप्रधानो ज्ञानादि भूषो गणि गच्छराजः॥

इसी तरह भ. वादिचन्द ने अपनी सुभग सुलोचना चरित में वीरचन्द्र की विद्वत्ता की प्रशसा की है और कहा है कि कौनसा मूर्ख उनके शिष्यत्व को स्वीकार कर विद्वान् नही बन सकता :—

वीरचन्द्रः समाश्रित्य के मूर्खा न विदो भवत्।
तं (श्रये) त्यक्त सर्वान्न वीप्त्या निर्जित काञ्चनम्॥

इस प्रकार उक्त उद्धरणो से वीरचन्द्र की प्रतिभा, विद्वत्ता एवं लोकप्रियता का सहज ही मे आभास मिलता है।

वीरचन्द्र जबरदस्त साहित्य-सेवी थे। वे सस्कृत, प्राकृत एव हिन्दी गुजराती के पारगत विद्वान् थे। यद्यपि उनकी अब तक केवल ६ रचनाएँ ही उपलब्ध हो सकी है लेकिन वे हो उनकी विद्वत्ता का परिचय देने के लिये पर्याप्त है। इनकी रचनाओ के नाम निम्न प्रकार है —

(१) वीर-विलास फाग (२) जम्बू स्वामी वेलि (३) जिन आतरा (४) सीमधर स्वामी गीत (५) सबोध सत्ताणु (६) चित्त-निरोध कथा।

१. वीर-विलास फाग

वीर-विलास फाग एक खण्ड-काव्य है जिसमे २२वे तीर्थङ्कर नेमिनाथ के जीवन की एक घटना का वर्णन किया गया है। फाग मे १३७ पद्य है। इसकी एक हस्त-लिखित प्रति उदयपुर के खण्डेलवाल जैन-मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सगृहीत है, यह प्रति सवत् १६८६ मे भ. वादिचन्द के शिष्य भ. महीचन्द के उपदेश से लिखी गई थी। ब्र. ज्ञानसागर इसके प्रतिलिपिकार थे।

रचना के प्रारम्भ मे नेमिनाथ के सौन्दर्य एव शक्ति का वर्णन किया गया है इसके पश्चात् उनकी होने वाली पत्नी राजुल की सुन्दरता का वर्णन मिलता है। विवाह के अवसर पर नगर की शोभा दर्शनीय हो जाती है तथा वहाँ विभिन्न उत्सव मनाये जाते है। नेमिनाथ की बारात बड़ी सज-धज के साथ आती है लेकिन तोरण द्वार पर पहुँचने के पूर्व ही नेमिनाथ एक चौक में बहुत से पशुओं को घिरा हुआ देखते है और जब उन्हे सारथी द्वारा यह मालूम होता है कि वे सभी पशु बरातियों के भोजन के लिए एकत्रित किये गये है तो उन्हे तत्काल वैराग्य हो जाता है और वे ककण तोड़कर गिरनार पर चले जाते है। राजुल को जब उनके वैराग्य लेने की बात मालूम होती है तो वह घोर विलाप करती है, बेहोश होकर गिर पड़ती है। वह स्वय भी अपन सब आभूपणो को उतार कर तपस्वी जीवन धारण कर लेती है। रचना के अन्त मे नेमिनाथ के तपस्वी जीवन का भी अच्छा वर्णन मिलता है।

फाग सरस एव सुन्दर है। कवि के सभी वर्णन अनूठे है और उनमे सजीवता एवं काव्यत्व के दर्शन होते हैं। नेमिनाथ की सुन्दरता का एक वर्णन देखिए :—

केलि कमलदल कोमल, सामल वरण शरीर।
त्रिभुवनपति त्रिभुवन तिलो, नीलो गुण गंभीर॥
माननी मोहन जिनवर, दिन दिन देह दिपत।
प्रलब प्रताप प्रभाकर, भवहर श्री भगवत॥८॥
लीला ललित नेमीश्वर, अलवेश्वर उदार।
सहसित पकज पखडी, अखंडी रूपि अपार॥९॥
अति कोमल गल कदल, प्रविमल वाणी विशाल।
अंगि अनोपम निरुपम, मदन······निवास॥१०॥

इसी प्रकार राजुल के सौन्दर्य वर्णन को भी कवि के शब्दो मे पढिये :—

कठिन सुपीन पयोधर, मनोहर अति उतंग।
चंपकवर्णी चन्द्राननी, माननी सोहि सुरंग॥१७॥
हरणी हरावी निज वपणीड, वपणीड साह सुरंग।
दंत सुपंती दीपंती, सोहंती सिरवेणी बध॥१८॥
कनक केरी जसी पूतली, पातली पदमनी नारि।
सतीप शिरोमणि सुन्दरी, भवतरी अवनि मझारि॥१९॥
ज्ञान विज्ञान विचक्षणी, सुलक्षणी कोमल काय।
दान सुपात्रह पोखती, पूजती श्री जिनवर पाय॥२०॥
राजमती रलीयामणी, सोहामणी सुमधुरीय वाणी।
अंभरम्भोली भामिनी, स्वामिनी सोहि सुराणी॥२१॥
रूपि रंभा सु-तिलोत्तमा, उत्तम अगि आचार।
परणितुं पुण्यवंती तेहनि, नेहकरी नेमिकुमार॥२२॥

फाग के अन्य सुन्दरतम वर्णनों मे राजुल बिलाप भी

एक उल्लेखनीय स्थल है : वर्णन के पढने के पश्चात् पाठकों के आँसू बह निकलते है। इस वर्णन का एक स्थल पर देखिये :—

कनकीय कंकडा मोडती, तोडती मणिमि हार।
लूंचती केश कलाप, विलाप करि अनिवार ॥
नयणि नीर काजलि गलि, टलवलि भामिनी भूर।
किम करूं कहि रे साहेलडी, विहि नडि गयो मझ नाह ॥

काव्य के अन्त मे कवि ने अपना जो परिचय दिया है वह निम्न प्रकार है :—

श्री मूल संघि महिमा निलो, जती निलो श्री विद्यानन्द।
सूरी श्री मल्लिभूषण, जयो जयो सूरी लक्ष्मीचद ॥१३५॥
जयो सूरी श्री वीरचंद गुणिंद रच्चो जिणि फाग।
गातां सांभलता ए मनोहर सुखकर श्री वीतराग ॥१३६॥
जीहां मेदनी मेरु महीधर, दीपसायर जगि जाम।
जिहां लगि ए चंदो नंदो सदा फाग ए ताम ॥१३७॥

कवि ने फाग मे रचनाकाल का कही भी उल्लेख नही किया है। लेकिन यह रचना सवत् १६०० के पहले की मालूम होती है।

२. जम्बू स्वामी वेलि—

यह कवि की दूसरी रचना है। इसकी एक अपूर्ण प्रति लेखक को उदयपुर (राजस्थान) के खण्डेलवाल जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार मे उपलब्ध हुई थी। जो एक गुटके मे सग्रहीत है। प्रति जीर्ण अवस्था मे है और उसके कितने ही स्थलो के अक्षर मिट गये है। इसमे अन्तिम केवली जम्बू स्वामी का जीवन चरित वर्णित है। जम्बू स्वामी का जीवन जैन कवियों के लिये आकर्षक रहा है। इसलिये संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी एव अन्य भाषाओ मे उनके जीवन पर विविध कृतियाँ उपलब्ध होती है।

वेलि की भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है जिस पर डिगल का प्रभाव है। यद्यपि वेलि काव्यत्व की दृष्टि से उतनी उच्चस्तर की रचना नही है किन्तु भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अच्छी रचना है। इसमे दोहा त्रोटक चाल छन्दो का प्रयोग हुआ है। रचना का अन्तिम भाग जिसमे कवि ने अपना परिचय दिया हुआ है जो निम्न प्रकार है :—

श्री मूलसंघे महिमा निलो अने देवेन्द्रकीरति सूरिराय।
श्री विद्यानंदि वसुधा निलो, नरपति सेवे पाय ॥१॥
तेह पाटें उदयो जति, लक्ष्मीचंद्र जेण प्राण।
श्री मल्लिभूषण महिमा घणो, नमे ग्यासुदीन सुलतान ॥२॥
तेह गरु चरण कमल नमी, ऊनें वेलि रची छे रसाल।
श्री वीरचन्द्र सूरीवर कहें, गांता पुण्य अपार ॥३॥
जंबू कुमर केवली हवा, अमे स्वर्ग मुक्ति दातार।
जे भवियण भावें भाव से, ते तरसे संसार ॥४॥

कवि ने रचना काल का कोई उल्लेख नहीं किया है।

३. जिन आंतरा

यह कवि की लघु रचना है जो उदयपुर के उसी गुटके मे सग्रहीत है। इसमे २४ तीर्थकरों के एक के बाद दूसरे तीर्थकर के होने मे जो समय लगता है उसका वर्णन किया गया है। काव्य सौष्टव की दृष्टि से रचना सामान्य है। भाषा भी वही है जो कवि की अन्य रचनाओ की है। दो वर्णन देखिये :—

"उणा अउढ मासे करी वरस हुंता जब च्यार।
श्री आदिनाथ तब शिव गया त्रीजा काल मझार ॥१॥
सत्तर पथ ओहों वरस, सुहनों त्रीयो काल।
श्री वर्द्धमान सिद्धोतरा, भंजनी भव जंजाल ॥२॥
जेणे आंतरे जिन जेहवा, तेह नूं तेह मांहे आप।
सागरोपम कोडाकाडि एणी पेरें पुरो थाप ॥३॥"

रचना का अन्तिम भाग निम्न प्रकार है :—

"सत्यशासन जिन स्वामीनूं जेहने तेहनो जग।
हो जावे वशे भला, ते नर चतुर सुचग ॥६॥
जगे जनम्यूं धन्य तेहनूं तेहनूं जीव्यूं सार।
रग लागे जेहने मने, जिन शासनह मझार ॥७॥
श्री लक्ष्मीचन्द्र गुरु गच्छपती तिस पाटे सार शृंगार।
श्री वीरचन्द्र गोरे कह्या, जिन आंतरा उदार ॥८॥"

४. संबोध संताणु भावना

यह एक उपदेशात्मक कृति है जिसमे ५७ पद्य है तथा सभी दोहो के रूप मे है। उसकी प्रति भी उदयपुर के उसी गुटके मे सगृहीत है जिसमे कवि की अन्य रचनायें लिखी हुई है। भावना के अन्त मे कवि ने अपना जो परिचय दिया है वह निम्न प्रकार है :—

"सूरि श्री विद्यानंदि जयो, श्री मल्लिभूषण मुनिचन्द्र।
तस पाटे महिमा निलो, गुरु श्री लक्ष्मीचन्द्र ॥९६॥
तेह कुल कमल दिवसपति जंपती जाति वीरचन्द्र।
सुणतां भणतां ए भावना, पामीए परमानन्द ॥९७॥"

भावना मे सभी दोहे शिक्षाप्रद तथा सुन्दर भावों से परिपूर्ण है। कवि के कहने की शैली सरल एवं अर्थगम्य है। कुछ दोहों का आस्वादन कीजिए :—

"धर्म धर्म नर उच्चरे न धरे धर्मनो मर्म।
धर्म कारण प्राणि हणे, न गणे निष्ठुर कर्म ॥३॥

\+ + + +

धर्म धर्म सहु को कहो, न लहे धर्म नूं नाम।
राम राम पोपट पढ़े, बूझे न तो जिम राम ॥६॥
धनपाले धनपाल ते, धनपाल नामें भिखारी।
लाछि नाम लक्ष्मी तणूं, लाछि लाकडां वहे नारी ॥१७॥

\+ + + +

दया बीज विण जे क्रिया, ते सघली अप्रमाण।
शीतल संजन जन भरधा, जेम चडाल न वाण ॥१९॥

\+ + + +

धर्म मूल प्राणी दया, दया ते जीवनी माय।
भाट भ्रान्ति न आणीए, भ्रान्ति धर्म जो पाय ॥२१॥
प्राणि दया विण प्राणी नें: एक न इक्ष्यूं होय।
तेल न वेलू पीलतां, तृप न तोय विलोय ॥२२॥
कंठ विहूणूं गान जिम, जिम विण व्याकरणें वाणि।
न सोहे धर्म दया बिना, जिम पोषण विण पाणि ॥
नीचनी संगति परि हरो, धरो उत्तम आचार।
दुर्लभ भव मानव तणो, जीव तूं आलिम हार ॥४१॥"

४. सीमधर स्वामी गीत :

यह एक लघु गीत है जिसमे सीमधर स्वामी का स्तवन किया गया है।

५ चित्त निरोध कथा

यह १५ पद्यो की लघु कृति है जिसमे चित्त को वश मे रखने का उपदेश दिया गया है। यह भी उदयपुर वाले गुटके मे ही सग्रहीत है। अन्तिम पद्य निम्न प्रकार है—

"सूरि श्री मल्लिभूषण, जयो जयो श्री लक्ष्मीचंद्र।
तास वंश विद्यानिलु, लाड नीलि शृंगार।
श्री वीरचन्द्र सूरी भणी, चित्त निरोध विचार ॥१५॥"

इस प्रकार भ० वीरचन्द की अब तक छः कृतिया उपलब्ध हुई है, जो इनके साहित्य प्रेम के दर्शन प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है। राजस्थान एव गुजरात के शास्त्र भण्डारो की पूर्ण खोज होने पर अभी और भी रचनाये प्रकाश मे आवेगी ऐसी आशा की जाती है।

तृतीय विश्व-धर्म-सम्मेलन

डा० बूलचन्द जैन

विश्वधर्म सगम की महासभा ने यह निश्चय किया है कि तृतीय विश्वधर्म सम्मेलन का आयोजन दिल्ली मे आगमी २६, २७ और २८ फरवरी सन् १९६५ को किया जाय।

विश्व धर्म संगम का उद्देश्य

विश्व धर्म संगम एक पंजीकृत संस्था है। जिसके प्रवर्तक हैं—मुनि श्री सुशीलकुमार जी महाराज। इस सस्था का उद्देश्य विभिन्न धर्मों में परस्पर सहिष्णुता की भावना का विकास करना और विश्व-बन्धुत्व के द्वारा विश्व-शान्ति के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करना है।

विश्व धर्म सम्मेलन क्यों ?

मानव-मानव के बीच जो तत्त्व-भेद तथा संघर्ष का निर्माण कर रहे है, उनका निराकरण समस्त धर्मों की

मयुक्त नैतिक शक्ति को सयोजित करने से सभव है। विश्व धर्म सम्मेलन का आयोजन इसका साधन है।

विश्व धर्म सम्मेलन के आयोजन का एक शुभ परिणाम यह भी होगा कि विभिन्न धर्मों का, सास्कृतिक पृष्ठभूमि का, तथा ज्ञान-विज्ञान का समन्वयात्मक अध्ययन का योग्य अवसर प्रतिनिधियो को उपलब्ध हो सकेगा। जिससे अन्ततोगत्वा धर्म के सारभूत तत्त्वो पर मानव की श्रद्धा तथा निष्ठा जमेगी और विश्वबन्धुत्व की स्थापना मे सहायता मिलेगी। इस तरह धार्मिक शक्तिया विश्व-शान्ति की स्थापना की दिशा मे सक्रिय रूप से उपकारक सिद्ध होगी। एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब धर्म के नाम पर होने वाले सघर्ष एवं पृथकतावादी तत्त्व समाप्त होगे। इस अर्थ मे विश्व धर्म सम्मेलन अहिंसा, सत्य और भातृभाव पर आधारित विश्व-शान्ति का एक पावन अभियान है।

विश्व धर्म सगम द्वारा आयोजित विश्व धर्म सम्मेलनो मे भाग लेने वाले भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रतिनिधि अपने ही धर्म का गुणगान नही करते बल्कि वह इस बात पर बल देते है कि उनका धर्म किस प्रकार समूचे विश्व मे मानव कल्याणकारी शक्तियो का सयोजित करने मे उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

प्रथम सम्मेलन

प्रथम विश्व धर्म सम्मेलन सन् १९५७ मे दिल्ली मे हुआ था। जिसमे भिन्न-भिन्न धर्मों के कोई २०२ प्रतिनिधियो ने लगभग २८ देशो से आकर भाग लिया था। खुले अधिवेशन मे ५ लाख से अधिक नागरिको ने उपस्थित होकर सम्मेलन की कार्यवाहियो मे सहयोग प्रदान किया था। भारत के महामहिम राष्ट्रपति जी तथा उपराष्ट्रपति जी, प्रधान मन्त्री, शिक्षा मन्त्री जी तथा अनेकों धार्मिक पुरुषो एव राजनेताओ ने उपस्थित हो, सम्मेलन के उद्देश्यो को बल प्रदान किया था।

द्वितीय-विश्व-धर्म सम्मेलन कलकत्ते मे फरवरी १९६० मे हुआ था। इस सम्मेलन मे विश्व के अनेक देशो के २५० से भी अधिक प्रतिनिधियो ने भाग लिया था।

तृतीय विश्व धर्म सम्मेलन

इस बार तृतीय विश्व धर्म सम्मेलन पुन दिल्ली मे करने का निश्चय जागतिक परिस्थितियो को ध्यान मे रख कर किया गया है। यह आशा की जा रही है कि इस बार सम्मेलन मे बाहर से बहुत बडी सख्या मे प्रतिनिधि तथा गणमान्य महानुभाव पधारेगे।

यह प्रसन्नता की बात है कि विश्व धर्म सगम के प्रवर्तक मुनि श्री सुशील कुमार जी महाराज जिन्होंने पहले दोनो सम्मेलन कराये थे, तृतीय विश्व धर्म सम्मेलन को अपना पुनीत आशीर्वाद प्रदान करने की अनुकम्पा की है।

इस सम्मेलन को सफल बनाने के लिए अनेक महापुरुषो, राजनेताओ एव विशिष्ट जनो की एक स्वागत-समिति गठित की गई है। प्रबन्ध के लिये अनेक सक्षम समाज-सेवको के सहयोग से विभिन्न उपसमितियो का निर्माण किया गया है। तृतीय विश्व धर्म सम्मेलन मे भाग लेने वाले समस्त अतिथियो, प्रतिनिधियो तथा आगन्तुक महानुभावो के स्वागत, सत्कार का यथेष्ठ प्रबन्ध होगा।

खुला आमन्त्रण

तृतीय विश्व धर्म सम्मेलन मे भाग लेने के लिये समस्त उन नागरिको एव सस्थाओ को साग्रह निमन्त्रण है—जो धार्मिक, विश्व-बन्धुत्व की भावना के विस्तार मे विश्वास रखते है। और इसको प्रसारित करने मे अपना योगदान देना चाहते है। इसका प्रतिनिधि शुल्क ५०) रुपया रखा गया है। सदस्यता के लिये एक आवेदन-पत्र प्रेषित करना होगा।

मुनि श्री सुशीलकुमार जी का भाषण

हम विश्वास करते है कि विश्व के सभी देशो, सभी राष्ट्रो एव सभी जातियो का विकास, धर्म एव सस्कृति के आधार पर ही हुआ है। धर्म ने ही मनुष्य को राष्ट्रभेद, भाषाभेद, भौगोलिक एव रहन-सहन के भेदो से ऊचा उठा कर कौटुम्बिकता के धागे मे पिरोया है।

ससार की कोई विचारधारा और विश्व का कोई दूसरा वाद बिना धर्म के मानव जाति को एक नही कर सकता। धर्मिक एकता के आए बिना मानव-जाति के

पिछड़ेपन और वैचारिक दरिद्रता को हम मिटा नहीं सकते।

विश्व-धर्म सम्मेलन के द्वारा हमें सारे संसार की धार्मिक-शक्तियों को, समूचे मनुष्य समाज के दुःख और दैन्य को मिटाने के लिए उन्मुख करना है। युद्धजनित पीड़ाएं और धर्महीन समाजवादी पैशाचिक व्यवस्थाए मनुष्य को सदा के लिए जड़ता की ओर धकेल देगी। लाखों वर्षों के चिन्तन के बाद मनुष्य-समाज केवल धरती और धन के बटवारे मे ही मिट्टी, पानी, अग्नि के समवाय मे ही उलझा रहे, इससे ऊपर उठकर अपने आत्मा के शाश्वत अस्तित्व को मान ही न सके—इससे बड़ा ससार के लिए अभिशाप और क्या हो सकता है।

धरती और धन जैसी प्रकृति वस्तुओं पर मनुष्य का एकाधिकार धर्म की दृष्टि से निषिद्ध है। ससार के किसी भी धर्म के द्रष्टा या धर्म-प्रवर्तक ने किसी भी प्रकार के सग्रह और शोषण को प्रश्रय नही दिया। यह तो केवल राजनीतिक महत्वकाँक्षाओं और सामाजिक कुरीतियों का दुष्परिणाम है—जो आज ससार मे विषमता के रूप मे दिखाई दे रहा है।

हमे आश्चर्य होता है कि जब धर्महीन समाजवादी सत्ताधीश मानव-जाति की आध्यात्मिक सस्कृति को नष्ट करने पर उतारू होते है—यह सस्कृति एव धर्म के लिए बड़ा सकटकाल है। हमे पूर्ण विश्वास के साथ ससार की समस्त धार्मिक शक्तियों को इकाई और समष्टि की शाश्वत एकता, अखण्डता और पूर्ण विकास की सुरक्षा के लिए विश्व-व्यापी मोर्चा बनाने जा रहे है।

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आज से बारह वर्ष पूर्व विश्व-धर्म सम्मेलन का सूत्रपात बहुत छोटे से रूप मे बम्बई से हुआ था। सन् १९५७ के विश्व-धर्म सम्मेलन का विराट् रूप आज देख चुके है। कलकत्ता के द्वितीय विश्व-धर्म सम्मेलन के बाद विश्व के भूखण्डो मे इस धर्म सम्मेलन ने आशातीत प्रगति की है—यह हमारे लिए गौरव का विषय है।

ससार के पचास राष्ट्रों का विश्व-धर्म सम्मेलन को सहयोग प्राप्त हो चुका है। हम विश्वास करते है कि आगामी २६, २७ और २८ फरवरी १९६५ को होने वाले तृतीय विश्व-धर्म सम्मेसन मे साठ देशो का प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा।

एशिया के भूखण्डो से उठे इस धर्म के प्रकाश ने सारी मानव-जाति को सास्कृतिक एवं आध्यात्मिक चेतना मे आबद्ध किया है। हम इस अभियान को ऐसे समय चलाने जा रहे है—जब कि भारत पर चारों ओर से धर्म-हीन-समाजवादी व्यवस्थाएं, सस्कृति नष्ट करने पर—आक्रमण के लिए सन्नद्ध हो रही है।

हम समझते हैं कि यह नास्तिकता का आक्रमण भारत पर ही नहीं—मानवीय धर्म और सस्कृति पर है। अगर धार्मिक शक्तियाँ ऐसे सकट के समय पर भी एक नही हो सकती तो मानव-जाति को सर्वनाश से बचाए रखना अत्यन्त कठिन है।

हम विश्व-धर्म सम्मेलन को मानवीय धार्मिक चेतना को बचाए रखने का सजग प्रहरी समझते है—और इसी पवित्र विश्वास के आधार पर हम इस धर्म-आन्दोलन को ससार की सभी धार्मिक शक्तियों के सहारे से एवं मानव-के सहयोग से एव प्रभु की पवित्र-प्रेरणा से ही इस काम मे जुटे है। हम आशा करते है कि हमारा यह प्रयास समाजवाद के अन्तःस्थल मे भी धर्म को प्रतिष्ठित करने मे सहायक हो सका तो राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, जर-थुस्थ, मूसा, ईसा, मोहम्मद, नानक और गाँधी तक की निर्दिष्ट मानवता का पूर्ण रूप ससार मे निखर उठेगा।

ईराक के प्रेजीडेण्ट का सन्देश

"The cornerstone of Islam is belief in one God. This makes the faithful join in the worship of God and God alone. They are, without regard to race or colour, equal before him and the subjects of his mercy and forgiveness."

The message further says "The Quoran enjoins Muslims to help the needy, the stranger and those cut off from their lands, who have no means to live with. Islam prohibits murder, vice, robbery aud marauding. It commends humbleness and forgiveness. It does not believe in compulsion in spreading its tenets, though it is ready to sanction force in self-defence.........

"Islam" says the Field Marshal president, "is against aggression. We seek peace and like to see people living in amity and no one trespassing on another."

साहित्य-समीक्षा

१. दिगम्बर जैन मन्दिर मूर्ति-लेख संग्रह—संग्रह-कर्ता अने प्रकाशक, मूलचन्द किसनदास कापडिया, कापडिया भवन गांधी चौक, सूरत। पृष्ठ ३३४ बिना मूल्य ६ पैसे पोष्टेज भेजने पर प्राप्त।

शिलालेखो की तरह मूर्तिलेख भी इतिहास मे उपयोगी होते है। प्रस्तुत पुस्तक मे सूरत और सूरत जिले के मन्दिर और मूर्तिलेखो का सग्रह किया गया है। इससे अनेक ज्ञातव्य बातो पर प्रकाश पड़ता है। इन मूर्तिलेखो से भट्टारको, आचार्यो, विद्वानो और श्रावक-श्राविकाओ आदि के इतिवृत्त का सकेत मिलता है, साथ ही सामयिक, धार्मिक कार्यों की जानकारी भी प्राप्त होती है। ये लेख ऐतिहासिक तथ्यो के निर्णय मे सहायक होते है। इनसे विविध जातियो के इतिहास पर भी प्रकाश पडता है। इस सग्रह मे विक्रम की १२वी शताब्दी से २०वी शताब्दी तक के मूर्तिलेखों का सग्रह किया गया है।

श्री कापडिया जी अपनी लगन के एक ही व्यक्ति है, जो इतनी वृद्धावस्था म भी समाज-सेवा के कार्यो मे दिलचस्पी रखते है। जैन समाज मे अनेक रिटायर्ड पेन्सन-याफ्ता व्यक्ति है जो आजीविकादि कार्यो से पेन्सन पा गये है और अपना शेष जीवन धार्मिक एव सास्कृतिक कार्यो में व्यतीत करना चाहते है। उन्हें ऐसे धार्मिक और साहित्यिक कार्यो मे सहयोग देना चाहिए। भारत मे जैन मन्दिर और मूर्तियाँ प्रचुर मात्रा में है। यदि उन सबके लेखो का सकलन हो जाय, तो जैन इतिहास के निर्माण मे बहुत कुछ सहयोग मिल सकता है। आशा है समाज इस पर ध्यान देगी। पुस्तक सुन्दर और सग्रहणीय है।

२. समाधि मरणोत्साह-दीपक—मूलकर्ता गणि सकलकीर्ति, अनुवादक प० हीरालाल जैन सिद्धान्त शास्त्री, प्राक्कथथन प० जुगलकिशोर मुख्तार, सम्पादक और प्रस्तावना लेखक प० दरबारीलाल जैन कोठिया एम. ए., न्यायाचार्य प्राध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, प्रकाशक मन्त्री वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, २१ दरियागज दिल्ली–६। पृष्ठ संख्या १६६, मूल्य दो रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे व्रती जीवन के अन्त मे होने वाले समाधि-मरण का सुन्दर विवेचन किया गया है। मूलग्रथ भ. सकलकीर्त्ति गणि की एक अप्रकाशित कृति है जिसे प्रकाश मे लाया गया है। ग्रथ सस्कृत के २१५ पद्यो मे समाप्त हुआ है। पुस्तक मे मानव जीवन की सफलता-सूचक सलेखना के साथ देहोत्सर्ग करने का विधि-विधान अकित करते हुए उसकी महत्ता पर प्रकाश डाला गया है अनुवाद मूलानुगामी है। ग्रन्थ की जो बाते अनुवाद मे स्पष्ट नही हो सकी, उनको स्पष्ट करने के लिए सम्पादक ने विशेषार्थ द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है और उसे दूसरे बारीक टाइप मे छपाया है।

वयोवृद्ध विद्वान श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने अपने प्राक्कथन मे सल्लेखना के स्वरूप, उसका प्रयोजन तथा सल्लेखना की विधि का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। और सम्पादक ने अपनी प्रस्तावना मे भ० सकलकीर्ति और उनकी कृति का ऐतिहासिक परिचय कराते हुए सल्लेखना के सम्बन्ध मे अच्छा प्रकाश डाला है, मरण के १७ प्रकारो का उल्लेख करते हुए, समाधि-मरण कराने वाले साधुओ की सख्या और उनका कर्तव्य भगवती आराधना के अनुसार बतलाया है। समाधिमरण की आवश्यकता और प्रयोजन का उल्लेख करते हुए समाधि-मरण कराने मे कम से कम दो व्यक्तियो के सहयोग का निर्देश किया है। साथ ही परिशिष्टो द्वारा हिन्दी के समाधि-विषयक अन्य पाठो को भी सङ्कलित कर दिया है। जो समाधि के इच्छुक व्यक्ति के लिये उपयोगी है। इससे ग्रन्थ की उपयोगिता अधिक बढ गई है। समाधि-मरण के इच्छुको को चाहिये कि वे इस ग्रन्थ को मगाकर अवश्य पढे और अपने इष्ट-मित्रो को पढने की प्रेरणा करे। इस सुन्दर सस्करण के लिये सयोजक, सम्पादक और प्रकाशक धन्यवाद के पात्र है।

३. कुण्डलपुर— रचयिता श्री नीरज जैन, सुषमा

प्रकाशन सतना (म० प्र०)। पृष्ठ संख्या ६२ मूल्य चालीस पैसा।

प्रस्तुत पुस्तक में श्रीनीरज जी ने मध्य प्रदेश के अतिशय क्षेत्र कुण्डलपुर का परिचय, इतिहास और पूजन दी है, जो सर्व साधारण के लिए उपयोगी है। वहाँ के मन्दिर में विराजमान मूर्ति जिसके कारण वह अतिशय क्षेत्र बना, और जिसे लोग बड़े बाबा के नाम से पुकारते है तथा उसे महावीर स्वामी की मूर्ति बतलाते है। लेखक ने अपनी प्रस्तावना में उसे आदिनाथ की मूर्ति सप्रमाण बतलाई है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत मूर्ति आदिनाथ की ही जान पडती है।

इस पुस्तक में नीरज जी की तीन कविता और पूजन दी हुई है, जो महावीर की मूर्ति को लक्ष्य करके लिखी गई है पूजन यदि आधुनिक स्तर पर लिखी जाती तो अधिक उपयुक्त होती। अस्तु, कविता सुन्दर है, भावपूर्ण है, और चित्ताकर्षक है। कविता के कारण पुस्तक बोल उठी है। उसमें क्षेत्र का वैभव साकार हो उठा है। नमूने के कुछ पद्य देखिये।

धर्मानुरक्त नृप छत्रसाल, क्या कभी भुलाया जावेगा।
उसका यश गौरव घर-घर में, सदियों तक गाया जावेगा॥
वह महावीर का परमभक्त, जिन शासन का अनुयायी था।
'औ' दीन-हीन दुखियों का वह रक्षक भी था सुखदायी था॥
प्रभु के ढिग आकर एक बार बोला, चरणों में झुका शीश।
मै आज मांगने आया हूँ, यह वर मुझ को दीजे मुनीश॥

... ...

क्षण-भर में ही कुछ यवन वहाँ वेदी पर चढ़से टूट पड़े,
दर्शक-पूजक हत-बुद्धि हुए औ' विस्मित से रह गये खड़े।
सबसे आगे खुद बादशाह, कर में टांकी लेकर आया,
पर जाने क्यों कर अकस्मात उसका तन औ' मन थर्राया।
वह वीतराग छवि निर्निमेष अब भी वैसी मुस्काती सी,
थी अटल शांत पर लगती थी—उसको उपदेश सुनाती सी।
सुन पड़ा शाह के कानों में ''मिट्टी के पुतले सोच जरा,
यह अहंकार धन-धान्य सभी कुछ रह जावेगा यहीं धरा।''
जीवन की धारा में अब भी, तू परिवर्तन ला सकता है,
अब भी अवसर है अरे मूढ़! तूं मानव कहला सकता है।

नीरज जी उदीयमान लेखक और कवि है। उनसे समाज को बडी आशाएँ है। पुस्तक सुन्दर है, लेखक से मंगाकर पढना चाहिए।

परमानन्द शास्त्री

एक महत्त्वपूर्ण पत्र

वीर सेवामन्दिर दिल्ली से प्रकाशित हुआ मासिक अनेकान्त पत्र का एक अंक मिला । मै उसे आद्योपात पढ गया । जैनसमाज का यह ऐतिहासिक पत्र सुन्दर निकल रहा है, इसमें पाठक को पढने और अनुसधान करने के लिए बहुत सामग्री रहती है । सभी लेख महत्त्वपूर्ण और पठनीय होते है । दुर्भाग्य है कि जैन-समाज ऐसे प्रभाविक और महत्त्वपूर्ण पत्र को अपना सहयोग प्रदान करती मालूम नही होती, अन्यथा यह पत्र 'कल्याण' के समान प्रगति करता । जैनसमाज के धनिक वर्ग को चाहिए कि वह आर्थिक सहयोग प्रदान करे, जिससे सचालकगण इसे और भी ऊँचा उठा सकें । मै पत्र की उन्नति का इच्छुक हूँ ।

सुरेशचन्द सक्सेना एम ए.
लुधियाना ।

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्ति प्रसाद जी जैन
जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर
१००) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उदधृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यो की सूची। सम्पादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५)

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १॥)

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १॥)

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि महित। ... ॥)

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित ॥)

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह—सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो की और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ... ... ४)

(११) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१२) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ।)

(१३) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १)

(१४) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡), (१६) महावीर पूजा ।)

(१७) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत ।)

(१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित १)

(१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोकी प्रशस्तियोका महत्वपूर्ण संग्रह ५५ ग्रन्थकारोके ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और उनके परिशिष्टों सहित। स० पं० परमानन्द शास्त्री सजिल्द १२)

(२०) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-सघ प्रकाशन ... ५)

(२१) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठो मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०)

(२२) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजीमे अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० ६)

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज दिल्ली से मुद्रित

द्वैमासिक फरवरी १९६५

अनेकान्त
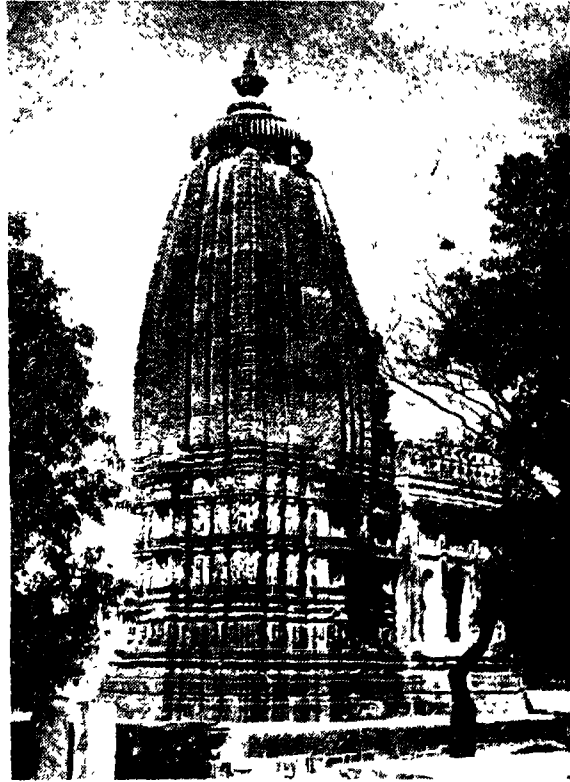
खजुराहो का आदिनाथ जिनालय
(१२ वीं शती)
छाया—नीरज जैन

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ**

★

★

अनेकान्त को सहायता

११) श्रीमान् सेठ भगवानदास शोभालाल जी जैन चमेली चौक सागर, (म० प्रदेश) ने निसई जी तीर्थ क्षेत्र मल्हारगढ पर कलशारोहण और स्वाध्याय भवन के उद्घाटन के समय निकाले हुए दान में से ग्यारह रुपया धन्यवाद सहित प्राप्त हुए।

—व्यवस्थापक
'अनेकान्त'

स्थायी सदस्यों की आवश्यकता

अनेकान्त जैसे प्रतिष्ठित और ख्यातिप्राप्त शोधपत्र के लिए हमे २५१) या १०१) रुपया प्रदान करने वाले ३१ स्थायी सदस्य बन हुये। समाज के प्रतिष्ठित धर्मात्मा धनी महानुभावो मे प्रार्थना है कि वे अनेकान्त के स्थायी सदस्य बने, और अपने मित्रो को बनाएँ। जिसमे अनेकान्त को और भी ऊँचा उठाया जा सके।

—व्यवस्थापक
अनेकान्त
वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज,
दिल्ली।

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पै०

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं।

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष १७ किरण-६ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | फरवरी
वीर निर्वाण सवत् २४६१, वि० स० २०२१ | सन् १६६५

श्रीसुपार्श्व-जिन-स्तवन

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां ।
स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।,
तृषोऽनुषंगान्न च तापशान्ति—
रितीद माख्यद्भगवान् सुपार्श्वः ।।१।।

—समन्तभद्राचार्य

'यह जो आत्यन्तिक स्वास्थ्य है—वह विभाव परिणति से रहित अपने अनन्तज्ञानादिमय स्वात्म-स्वरूप मे अविनश्वरी स्थिति है—वही पुरुषों का—जीवात्मा का—सच्चा स्वार्थ है—निजी प्रयोजन है, क्षणभगुर भोग—इन्द्रिय-विषय—सुख का अनुभव—स्वार्थ नही है, क्योंकि इन्द्रिय-विषय-सुख के सेवन से उत्तरोत्तर तृष्णा की—भोगाकाक्षा की—वृद्धि होती है और उससे ताप की—शारीरिक तथा मानसिक दुःख की—शान्ति नही होने पाती। यह स्वार्थ और अस्वार्थ का स्वरूप शोभनपार्श्वो—सुन्दर शरीराङ्गो के धारक (और इसलिए अन्वर्थ-सज्ञक) भगवान सुपार्श्व ने बतलाया है।

भावार्थ—इस पद्य मे आचार्य समन्तभद्र ने सातवे तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ का स्तवन करते हुए स्वार्थ और अस्वार्थ का जो स्वरूप निर्दिष्ट किया है, वह महत्वपूर्ण है। ज्ञानी जीवो का स्वार्थ स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति है। वे उसी की सम्प्राप्ति का निरन्तर प्रयास करते है। क्षणभंगुर इन्द्रिय-विषयों की ओर उनका झुकाव नही होता, क्योंकि वे सन्ताप बढाने वाले हैं, शान्ति के घातक हैं, अतएव वह ज्ञानी जनो का अस्वार्थ है। भगवान सुपार्श्व ने उसी सम्यक् स्वार्थ को प्राप्त किया, और जगत् को उसी की सम्प्राप्ति का मार्ग भी बतलाया है।

होय्सल नरेश विष्णुवर्धन और जैनधर्म

के० भुजबली शास्त्री, मूडबिद्री

[होय्सल नरेश महाराजा विष्णुवर्धन वैष्णव थे, किन्तु जैनधर्म पर भी उनका अगाध प्रेम था, यह बात विद्वान लेखक ने प्रामाणिक उद्धरणों से सिद्ध की है। अन्त में एक किंवदन्ती का उल्लेख है कि दारसमुद्र के ७५० मनोज्ञ जैन-मन्दिरों को विष्णुवर्धन ने ही, वैष्णव होने के उपरान्त नष्ट करवाया था। शायद लेखक इससे सहमत नहीं है। अच्छा हो कि कोई अन्य विद्वान इसे अपनी खोज का विषय बनायें। —सम्पादक]

पश्चिमी घाट की पहाडियों मे कडूर जिले के मूडगेरे तालुका मे 'अगडि' नामक एक स्थान है। इसका प्राचीन नाम शशकपुर था। यही स्थान होयसलो का उद्गम स्थान है। यहाँ पर आज भी वासन्तिकादेवी का पुराना मन्दिर मौजूद है। क्योकि इस समय यह मन्दिर वैदिको के अधिकार मे है। पर मैने अपने एक लेख मे इस वासन्तिकादेवी को पद्मावतीदेवी सिद्ध किया है। वासतिका पद्मावती का ही अपर नाम है। जैन मन्दिर होने के कारण ही मुनि सुदत्त यहाँ पर रहा करते थे। आज भी देखने पर वासन्तिका की मूर्ति पद्मावती की मूर्ति से ज्यो की त्यो मिलती है।

एक रोज यही पर 'सल' नामक एक सामन्त ने एक व्याघ्र से सुदत्त मुनि की रक्षा करने के हेतु 'पोय्सल' नाम प्राप्त किया था। यही 'पोय्सल' नाम आगे चल कर 'होय्सल' बना। इस वश के भावी नरेशों ने अपने को 'मलपरोल्गण्ड' अर्थात् पहाडी सामन्तो मे प्रधान कहा है। इससे सिद्ध होता है कि प्रारम्भ मे होय्सल वश पहाडी था। इस वश मे आगे विनयादित्य, बल्लाल आदि कई प्रतापी नरेश हुए है। बल्कि बल्लाल ने ही अपनी राजधानी शशकपुर से 'बेलूर' मे हटा ली। हाँ उनकी राजधानी 'बेलूर' के सिवा द्वारसमुद्र या वर्तमान हलेबाडु मे भी रहने लगी। बल्लाल के उत्तराधिकारी विष्णुवर्धन के समय मे होय्सल नरेशो का प्रभाव बहुत बढ़ गया। गगवाडि का पुराना राज्य सब उनके अधीन हो गया और विष्णुवर्धन ने कई अन्य प्रदेश भी जीते।

अधिकाश विद्वानो का मत है कि प्रारम्भ में विष्णुवर्धन जैनधर्मावलम्बी थे, पर बाद मे वैष्णव हो गये थे। किन्तु इस विषय मे मै निम्नलिखित बातो पर विद्वानो का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। पहली बात यह है कि विष्णुवर्धन की 'सम्यक्त्व-चूडामणि' उपाधि स्वय उन्हे जैनधर्म-श्रद्धालु सिद्ध करती है। दूसरी बात है कि विष्णुवर्धन के द्वारा मन्दिरो के जीर्णोद्धार और मुनियों के आहार दानार्थ शल्य आदि ग्रामो का दान देना भी उन्हे स्पष्ट जैनधर्म का प्रेमी प्रकट करती है[1]। तीसरी बात है कि गगराज, हुल्ल, भरत और मरियण्ण आदि कट्टर जैनधर्मावलम्बियो को सचिव, सेनानायक जैसे दायित्वपूर्ण सर्वोच्च पदों पर स्थापित करना भी जैन धर्मानुयायियो से विष्णुवर्धन का अटूट अनुराग व्यक्त करता है।

खासकर गगराज पर विष्णुवर्धन को बड़ा गर्व था। नरेश प्रधान सेनानायक गगराज को बहुत मानते थे। श्रवण बेलगोल के लेख न० ९० (२४०) मे पाया जाता है कि "जिस प्रकार इन्द्र का वज्र, बलराम का हल विष्णु का चक्र, शक्तिधर की शक्ति और अर्जुन का गाण्डीव उसी प्रकार विष्णुवर्धन नरेश के गगराज सहायक थे।" गगराज जन्म से ही सेनानायक-परम्परा के रहे। आप नृपकाम के विश्वासपात्र महासेनानी एच के सुयोग्य पुत्र थे। अपने शौर्य, साहस एव राजनिष्ठा के कारण गगराज द्रोहघरट्ट' —द्रोहियो को चूर-चूर करने वाले इस समुन्नत उपाधि से विभूपित थे। विष्णुवर्धन अपने को पितृ तुल्य मानने पर भी गगराज उन्हे बड़ी गौरव-दृष्टि से देखते रहे। गगराज वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध एव समरविद्या पारङ्गत थे। उन्हे जैन

---

१. श्रवणबेल्गोल लेख न० ४९३ (शक १०४८) देखे।

धर्म पर अचल श्रद्धा रही। तलकाड के गङ्ग-नरेशो की परम्परा मे जन्म लेने वाले स्वाभिमानी तथा राष्ट्रप्रेमी गंगराज शक्ति, साहस, युद्धनैपुण्य, देशनिष्ठा आदि सदगुणो के मूर्तस्वरूप थे।

गगराज शौर्यनिधि एवं उत्तुग पराक्रमी होने के कारण उनके समय मे होय्सलों को सर्वत्र विजय ही विजय प्राप्त हुई। साथ ही साथ पर्याप्त कीर्ति भी। पुनीश, भरत आदि अन्य जैन सेनानायकों को भी गंगराज पर बडा अभिमान था। खासकर तलकाड और चोलों के युद्ध में गगराज को इन सेनानायको ने सकल सहयोग प्रदान किया था। गगराज धर्मात्मा थे। अत विजित राज्यो की प्रजाओ को किसी भी प्रकार का कष्ट नही देते थे। 'शरणागतवत्सल' उनकी यह उपाधि सार्थक थी। अपने सेनापट्टाभिषेक के शुभावसर पर गगराज नरेश के द्वारा सहर्ष प्रदत्त 'बिडिगेन विले' ग्राम को अपने उत्तराधिकारियो को न सौंप कर तुरन्त श्रद्धेय स्वगुरु शुभचन्द्रदेव के चरणों मे समर्पित करते है। देखिये गगराज की नि स्वार्थ धार्मिक वृद्धि ! वस्तुत गगराज आदर्श मन्त्री, प्रतापी सेनानायक, अनन्य स्वामिभक्त, असीम प्रजानुरागी एव अप्रतिम देशभक्त थे। ऐसे महान् व्यक्तियो पर जैनधर्म आज भी गर्व कर रहा है।

चौथी बात है कि प्रधान महिषी शातला का अन्त तक जैनधर्म पर अचल रहना भी एक विचारणीय गम्भीर बात है। अगर विष्णुवर्धन जैनधर्म के कट्टर विरोधी होते तो शातलादेवी जैनधर्म की पक्की अनुयायिनी नही हो सकती थी। नरेश शांतला के जैनधर्म सम्बन्धी किसी भी धार्मिक कार्य मे बाधक नही बने है। बल्कि शातला के प्रत्येक धार्मिक कार्य मे सहायक ही रहे है। शातलादेवी ने श्रवण बेल्गोल में 'सवतिगन्धवारणवस्ति' के नाम से एक सुन्दर जिनालय निर्माण करा कर उसमें स्वनामानुकूल शातिनाथ भगवान् की प्रतिमा स्थापित की थी। 'सवतिगन्धवारण' शातलादेवी की अन्यतम उपाधि थी।

रानी शातला के श्रद्धेय गुरु प्रभाचन्द्र एव प्रगुरु नेमिचन्द्र त्रैविद्यदेव उस समय के प्रमुख आचार्यों मे से थे। शातला रूप, शील, दया, भक्ति आदि मानवोन्नित सभी गुणों से अलकृत थी। रानी के पिता शैव होने पर भी माता माचिकब्बे कट्टर जिनभक्ता रही। उन्होंने अत समय मे प्रभाचन्द्र, वर्धमान और रविचन्द्र के तत्वावधान में विधिवत् सल्लेखना स्वीकार कर एक माह के उपरान्त श्रवणबेल्गोल मे शरीर त्याग किया। शातला के मातृगृह वाले भी शुद्ध जैनधर्मानुयायी ही रहे।

शातलादेवी आदर्श गृहिणी थी। साथ ही साथ वीर-पत्नी भी। महाराज विष्णुवर्धन के राज्य-कार्यों मे भी शातला बराबर भाग लेती थी। एक बार प्रधान सेनानायक गगराज को भी उन्होने ललकारा था। हाँ, बाद में उन्हे इसके लिए पश्चाताप अवश्य हुआ। यो तो शातलादेवी गगराज को बहुत मानती थी। एक बार गंगराज के द्वारा रानी 'माता' के नाम से पुकारी जाने पर वह सविनय कहने लगी कि "अमात्य जी, भविष्य मे कभी भी मुझे आप इस नाम से सम्बोधित न करें। मै आपकी बेटी हूँ, माता नही हूँ। शातला वाद्य, गीत और नृत्य इन तीनो मे बडी विदुषी थी। इस प्रकार रानी अनुकूल पत्नी, आदर्श राजकारिणी, प्रजावत्सला एव उत्तमकुलपरिशुद्धा होने के कारण भारतीय श्रेष्ठ नारी-मणियो की पहली पक्ति मे शामिल होने की योग्यता रखती थी।

अन्त मे शांतलादेवी ने शक १०५० मे बेंगलूर से करीब ३० मील दूरी पर स्थित 'शिवगंगे' में समाधिमरणपूर्वक शरीर त्याग किया था। बेंगलूर के के० बी० अय्यर नामक लेखक ने 'शांतला' नामक अपनी रचना मे शातला की इस मृत्यु को 'आत्महत्या' लिख मारा है। मैने उसका विरोध किया था। बल्कि हाल ही मे मैसूर विश्वविद्यालय के कन्नड प्राध्यापक डा० चिदानन्दमूर्ति ने अपने महाप्रबन्ध मे मेरे ही मत का समर्थन किया है। उनका भी कहना है कि शिलालेख मे स्पष्ट "मुडिवि स्वर्गते या दलु—मरकर स्वर्गासीन हुई।" लिखा है। ऐसी विवेकशीला एव धर्मात्मा महिला की मृत्यु को आत्महत्या कहना निरी भूल है। शांतला वस्तुत. एक आदर्श महिला थी।

पाँचवी बात है कि गगराज के पुत्र बोप्पदेव ने अपने पूज्य पिता की स्मृति मे द्वारसमुद्र पर जो विशाल एव सुन्दर जिन-मन्दिर निर्माण कराया था, उसकी प्रतिष्ठा के बाद पुजारी लोग शेषाक्षत लेकर महाराजा विष्णुवर्धन के

पास बंकापुर गये। उसी समय महाराज ने मसन नामक शत्रु को वधकर उसका देश प्राप्त किया था और उनकी रानी लक्ष्मी महादेवी को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। नरेश ने उन पुजारियों की वन्दना की और भक्ति से गन्धोदक एवं शेषाक्षत अपने मस्तक में लगाये। उस समय विष्णुवर्धन ने कहा कि "इन भगवान् की प्रतिष्ठा के पुण्य से ही मैंने विजय एवं पुत्र का जन्म पाया। इसलिए मैं इन भगवान् को 'विजयपार्श्वनाथ' नाम से पुकारूंगा। और मैं अपने पुत्र का नाम 'विजय नरसिंहदेव' रक्खूंगा। साथ ही साथ महाराज ने मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए 'जावगल्लु' नामक ग्राम भेंट किया था। न० १२४ सन् ११३३ का यह लेख बस्तिहल्ल (हलेबाडु) मे पार्श्वनाथ मन्दिर के बाहरी भीत पर एक पाषाण मे अकित है।

छठी बात है कि जिस समय विष्णुवर्धन के बड़े भाई बल्लाल एक असाध्य रोग से विशेष पीड़ित थे तब विष्णुवर्धन के आग्रह से ही श्रवणबेलगोल के तत्कालीन मठाधीश श्री चारुकीर्ति जी का इलाज किया गया और उस इलाज से बल्लाल स्वस्थ हो गये थे। बल्कि इसी के उपलक्ष्य में भट्टारक जी को 'बल्लाल जीवरक्षक' की उपाधि भी दी गई थी जो कि शिलालेखों में भी इस बात का उल्लेख पाया जाता है। अगर विष्णुवर्धन को जैनधर्म एवं जैन गुरु पर भक्ति नही होती तो वह चारुकीर्ति जी के इलाज के लिये आग्रह ही क्यों करते ?

सारांश यह है कि महाराज विष्णुवर्धन कारणात से वैष्णव होने पर भी जैनधर्म पर उन्हें प्रेम तथा अभिमान कम नही हुआ था। इस बात को स्पष्ट करने के लिये उपर्युक्त प्रमाण पर्याप्त है। हाँ, एक किंवदन्ती है कि द्वारसमुद्र माहलेबीडु मे विष्णुवर्धन के समय मे लगभग ७५० विशाल एव मनोज्ञ जैन मन्दिर थे और वैष्णव होने के उपरान्त विष्णुवर्धन ने ही उन सब मन्दिरो को नाश कराया। आज हलेबीडु मे दृष्टिगोचर होने वाले मन्दिरो के भग्नावशेषो से भी मन्दिरो के विनाश की बात यथार्थ मालूम होती है। पर यह विनाश-कार्य कब और किससे हुआ यह बात अनिश्चित है। इस विषय मे अनुसन्धान की आवश्यकता है। तब ही इस बात की सच्चाई प्रकट हो सकती है।

'अनेकान्त' के स्वामित्व तथा अन्य ब्योरे के विषय में—

प्रकाशन का स्थान	वीर सेवा मन्दिर भवन, २१ दरियागज, दिल्ली
प्रकाशन की अवधि	द्विमासिक
मुद्रक का नाम	प्रेमचन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागज, दिल्ली
प्रकाशक का नाम	प्रेमचन्द, मन्त्री वीर सेवा मन्दिर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागज, दिल्ली
सम्पादक का नाम	डा० आ. ने. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्, कोल्हापुर डा० प्रेमसागर, बडौत यशपाल जैन, दिल्ली
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	मार्फत वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली
स्वामिनी संस्था	वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली

मैं, प्रेमचन्द घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

१७-२-६४

ह० प्रेमचन्द
(प्रेमचन्द)

श्रीपुर में राजा ईल से पूर्व का जैन मन्दिर

नेमचन्द धन्नुसा जैन, न्यायतीर्थ

[श्रीपुर 'अंतरिक्ष पार्श्वनाथ' का अधिष्ठान रहा है। इसे अतिशय क्षेत्र कहते हैं। इसके मन्दिर में 'प्रभु पार्श्वनाथ' की प्रतिमा अधर में स्थित है। इसका उल्लेख वि० स० पहली शताब्दी के कुन्दकुन्दाचार्य की 'निव्वाणभत्ती' में प्राप्त होता है। इस मन्दिर का निर्माण राजा ईल से पूर्व खरदूषण ने करवाया था। लेखक ने परिश्रमपूर्वक अन्वेषणबुद्धि से एतद् सम्बन्धी ऊहापोह किया है। —सम्पादक]

आम तौर पर समझा जाता है कि श्रीपुर पार्श्वनाथ क्षेत्र का निर्माण राजा ईल ने ही किया है। लेकिन उपलब्ध जैन साहित्य, ताम्रपत्र तथा दतकथाओं के आधार पर यह सिद्ध हो सकता है कि श्रीपुर मे ही खरदूपण राजा के समय से इस सातिशय प्रभु की स्थापना हो गयी थी। श्रीपुर का उल्लेख सातिशय क्षेत्रों में हमेशा हुआ है। हाँ इतना तो जरूर मानना पडता है कि ईल राजा के कुछ पहले इस क्षेत्र का विध्वस हो गया हो और प्रभु जी को हस्ते-परहस्ते जल प्रवेश करना पड़ा हो। उसके बाद ईल राजा ने यहाँ धर्म प्रभावना के साथ क्षेत्र का उद्धार किया, उस समय भी यह प्रतिमा अधर (अतरिक्ष) रहने से इसका नाम तभी से अतरिक्ष पडा। 'तस श्री अतरिक्ष कहा' यह उल्लेख इसका साक्षी है।

अब सवाल यह पैदा होता है—प्राचीन मन्दिर था, तो क्या श्रीपुर नगर भी प्राचीन है? मन्दिर कहाँ था, और पहले प्रतिमाजी कैसी विराजमान थी?

इस सातिशय प्रतिमा को राजा खरदूपण ने ही निर्माण किया, इस बाबत सब दिगम्बर साहित्य एकमत है। लेकिन श्वेताम्बर साहित्य में दो मत है। प्राचीन श्वेताम्बर आचार्य माली-सुमाली को निर्माता मानते है, तो लावण्य विजय से लेकर बाद के सब श्वेताम्बर आचार्य भी खरदूषण को निर्माता मानते हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि इनके ऊपर दिगम्बरी साहित्य का प्रभाव पड़ा है।

श्रीपुर की प्राचीनता—चारुदत्त श्रेष्ठी (भ० नेमिनाथ के समकालीन) धन कमाने के इरादे से इस भाग मे जब आया था, तब उसका आगमन श्रीपुर मे हुआ था। (देखो चारुदत्त चरित्र) तथा कोटीभट श्रीपाल—भ० नेमिनाथ के समकालीन—वत्सनगर (वाशीम जिला अकोला) आया था तब वह इस नगर के बाहर उद्यान मे स्थित एक विद्याधर को विद्यासाधन में सहायक हुआ था। 'वत्सगुल्म (वाशीम) महात्म्य' इस किताब मे बताया है कि, पौराणिक काल मे वाशीम का विस्तार १२ कोस का था। अत. हो सकता है—उस श्रीपाल के जमाने मे श्रीपुर का स्थान वासम नगरी के बाहर नजीक उद्यान जैसा हो। अन्यथा गाँव के हलकल्लोल मे विद्यासाधना नही हो सकती।

श्रीपुर का सातिशय क्षेत्र में उल्लेख—(१) इसका उल्लेख करने वाले पहले आचार्य श्री कुन्द कुन्द (ई० सन् की पहली शताब्दी) के है। वह 'निव्वाण भत्ती' में यहाँ के पार्श्वनाथ को वदन करते है। देखो 'पास सिरपुरि वदमि। होलगिरी शख दीवम्मि।

(२) दूसरा उल्लेख (जैन शिलालेख संग्रह भाग २ पृष्ठ ८५) राजा चालुक्य जयसिह के ताम्रपत्र मे है। ई० स० (४८८) मे इस क्षेत्र को कुछ भूमि दान दी गई थी। तथा अकोला जिले के १९११ के गजेटियर मे लिखा है कि 'आज जहाँ मूर्ति विराजमान है उसी भोयरे में यह मूर्ति संवत् ५५५ ई० स० ४९८ के वैसाख शुद्ध ११ को स्थापित की गई थी। वहाँ राजा का नाम गंगसिह है, जो जयसिह भी हो सकता है।

इस पर से विश्वास होता है कि यह गजेटियर लिखते समय उनके पास कोई प्रबल प्रमाण जरूर होगा, नही तो

वह निश्चित तिथि और जगह नही देते। अतः इस उल्लेख से हमे विश्वास आता है कि प्राचीन मन्दिर गाँव मे है उसी जगह होगा। इसका समर्थन नीचे के प्रमाण से भी होता है।

(३) जैन शिलालेख संग्रह भाग २ पृष्ठ १०६ मे बताया है कि, "मुनिश्री विमलचन्द्राचार्य के (ई० स० ७७६) उपदेश से पृथ्वी निर्गुन्दराज की पत्नी कुंदाच्ची ने श्रीपुर के उत्तर मे 'लोकतिलक' नाम का मन्दिर बनवाया था। तथा इसकी मरम्मत, नई वृद्धि, देवपूजा आदि के लिए एक ग्राम दान दिया था।" इन श्रीविमलचन्द्राचार्य की प्रतिष्ठित और भी छोटी-छोटी धातु तथा पाषाण की प्रतिमाएं श्रीपुर मे सलेख पाई जाती है।

इस पर से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि, वह मन्दिर श्रीपुर के उत्तर दिशा मे बनाया गया था। मन्दिर श्रीपुर के उत्तर भाग मे ही है। तथा उत्तर दिशा नकशे मे अग्रभाग मे ही रहने से या सिद्धस्वरूपी त्रिलोकीनाथ यहाँ विराजमान होने से इस मन्दिर का 'लोकतिलक' ऐसा नाम रखा होगा।

(४) आठवी सदी के श्वेताम्बर विद्वान् हरिभद्रसूरि समराइच्चकहा मे पृष्ठ ३९८-३९९ पर श्रीपुर का उल्लेख करते है। उस श्रीपुर का खुलासा अनेकात जून १९६२ मे पृष्ठ ८६ पर इस प्रकार आया है—'४९ श्रीपुर—विविध तीर्थ कल्प के अनुसार श्रीपुर मे अतरिक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की गई है। श्रीपुर का निर्माण माली सुमाली ने किया है।

इसका सीधा अर्थ यह है कि श्वेताम्बरो के प्राचीन साहित्य मे भी श्रीपुर का अस्तित्व मालीसुमाली के जमाने से माना जाता है।

(५) श्री जिनसेनाचार्य (ई० स० ७८४) हरिवंश पुराण अध्याय ५७ श्लोक ११०–१२३ मे श्रीपुर, अचलपुर (अचलसपुर) आदि ८५ नगरो को दिव्य नगर कहा है। और आगे कहा है कि 'वहाँ के जिन मन्दिर मे स्थित प्रतिमाएँ यद्यपि अपने-अपने स्थान पर स्थित है, तथापि सामने खडे होकर देखने वालो को ऐसी दिखाई देती है मानो उन स्थानो से निकलकर आकाश मे ही विद्यमान हो।। श्लोक १३९।।

इसमे श्रीपुर की जिन प्रतिमा अंतरिक्ष में अधर स्थित होने की स्पष्ट सूचना मिलती है तथा उसकी ऊँचाई भी स्पष्ट बताई है कि सामने खडे होने वाले व्यक्ति के ऊँचाई से निकलकर अर्थात् कुछ अधिक ऊँचाई पर वह प्रतिमा स्थित थी।

श्वेताम्बर विद्वान् श्री जिनप्रभसूरि, सोमधर्मगणी तथा लावण्यविजय सूरि भी इस बात की पुष्टि करते है कि श्रीपुर में पहले एक पुरुष से अधिक ऊँचाई पर प्रतिमा अधर स्थित थी।

देखो—जिनप्रभसूरि—'श्रीपुर मे पहले पानी भरने वाली स्त्री (मूर्ति के नीचे) से निकल जायगी इतनी अधर प्रतिमा थी।' (श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ कल्प) सोमधर्मगणी—'एक स्त्री अपने मस्तक पर घट-पर-घट रख कर उस बिब के नीचे से पहले निकल जा सकती थी। ऐसा श्रीपुर के वृद्ध लोग कहते है।' (उपदेश सप्तति श्लोक (२१–२२)। लावण्य समय—'प्रतिमा के नीचे से पहले एक असवार निकल जा सकता था' आदि। (श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ छद) साथ मे ये तीनो श्वेताम्बर विद्वान एक आवाज मे कहते है कि 'अब यह प्रतिमा एक अगुल भर ही अधर है।'

आचार्य श्री विद्यानन्दी (ई० स० ९४०) का श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र' सूचित करता है कि, ईल राजा के पहले श्रीपुर मे सातिशय पार्श्वनाथ की मूर्ति तथा मन्दिर था।

बाबू कामताप्रसाद जी लिखते है कि 'श्रीपुर मे पार्श्वनाथ भगवान का समवशरण आया था' (स० जैन इ० भाग १ पृ० ८८)

इसके बाद का तथा श्रीपाल ईल राजा के पहले का कोइ और साहित्यिक उल्लेख दृष्टि मे नही आया। हाँ, जो आया है उस पर अगर विश्वास रखे कि वह वादिराज मुनि का ही है तथा श्रीपुर सबन्धी ही था तो श्रीवादिराज के (ई० स० ८६०–७०) जमाने मे श्रीपुर के मन्दिर का विध्वंस हो गया होगा। और मूर्ति जलकूप मे विराजित हुई होगी। यह जलकूप वह ही जान पड़ता है, जो पौली मन्दिर के बाजू मे ही है। [ऐसा आज भी अनुभव होता है, कि उस कुएँ का जल एक मास तक सेवन करे तो उससे सब उदर रोग चले जाते हैं।] भानुविजयगणी के (वि० स० १७१५) के कथनानुसार भी, यह कूप इमली

के पेड़ के नीचे ही आता है। जहाँ ईल राजा ने विश्रांति ली थी। और हाथ-मुह धोकर जल पान किया था। तथा श्वेताम्बर वि० विजयराज (स० १७३७) लिखते हैं— 'एक दिन राजा घूमते हुए बगीचे मे गया। वहाँ उसको मुड़े जल का प्रवाह मिला। राजा घोड़े पर से नीचे उतरा। वह वहाँ बैठा और हाथ-पाँव धोये तथा अपने महल को लौटा' आगे फिर कुएँ को जाने का तथा कुएँ से मूर्ति निकलने का वर्णन है।

अत. राजा ईल ने इस कूप मे सयत्न यह मूर्ति निकाल कर प्रथम वहाँ के तोरणद्वार (महाद्वार) मे स्थापना की और पूजी तथा राजधानी की तरफ उसे ले जाते समय वह अपनी पुराणी जगह आ गई और रुक गयी। राजा ने पीछे देखा तो प्रतिमाजी स्थिर हो गयी। या मान लो योगायोग राजा ने वहा कहो पीछे देखा तो, मूर्ति वहाँ से न हटी। तब राजा ने जोशी लोगो से जाना कि, मूर्ति राजधानी एलिचपुर नही चलेगी, तो उसने सोचा होगा कि अच्छा हो जहाँ से इसे लाया वहाँ पर ही विराजमान करदू। इसी विचार से पौली मन्दिर का निर्माण हुआ। इसमे भट्टारक रामसेन (ई० स० ६८० से १०३५) का पूरा सहयोग था। स्थानीय लोग उनके हाथ मे प्रतिष्ठा होना पसन्द नही करते थे। इसलिए वाद उपस्थित होने लगा तो रामसेन ने भी अधूरे मन्दिर मे जल्दी से प्रतिमा विराजमान कर बाद मे शेष काम (शिखर आदि) करने का विचार किया होगा। किन्तु योग के अनुसार प्रतिमा वहाँ से न हटी। तब मन्दिर को अधूरा ही छोड़कर रामसेन वहाँ से अलग हो गये है।

फिर राजा की अनुमति से मलधारि पद्मप्रभ को बुलाया गया। उन्होंने 'लक्ष्मी महातुल्य सती...' स्तोत्र से प्रभु की स्तुति कर धरणेंद्र को प्रसन्न किया। और धरणें से प्रतिमाजी वहाँ से न हटाने का समाचार जानकर (गाँ मे) वहाँ ही प्रतिमा के ऊपर मन्दिर निर्माण कराया। हो सकता है राजा को काष्ठासघीय समझकर या सघ आम्ना भेद का झगडा फिर खडा न हो। इसलिए ग्राम जनत को भी आर्थिक और श्रमिक मदद देकर मन्दिर निर्मा का उपदेश दिया हो।

यहाँ पौली मन्दिर निर्माण मे राजा को गर्व होने क सवाल ही पैदा नही होता, अत: यह भ्रामक कल्पना बा मे शामिल की होगी। क्योकि श्वेताम्बर जिन प्रभसू सोमधर्मगणि आदि विद्वान भी प्रतिमा के ऊपर ही मन्दि का निर्माण मानते है। (अचीकरच्च प्रोत्तुगं प्रासादं प्रतिम परि।) आदि।

इस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि खरदूषण राजा आजतक श्रीपुर ही अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ भगवान क अधिष्ठान है। ऐसा नहीं होता तो, दिगम्बर या श्वेताम्ब साहित्य मे उस अन्य जगह का जरूर उल्लेख मिलता।

कुछ लोग एलोरा का इस मूर्ति के प्रथम स्थान मम्बन्ध लगाते है, लेकिन वह भ्रात है, क्योकि एलोरा गुफा निर्माण करने से ही ईल राजा का उससे सम्बन्ध है न कि मूर्ति वहाँ से लाने से। ऐसा नही होता तो एलोर और श्रीपुर सम्बन्धी लिखने वाले ब्रह्मज्ञानसागर ज (१७वी सदी) इसका जरूर उल्लेख करते। इति अलम्

हो सकता है इसमे मेरी भी भूल हो गयी हो तो विद्वान लोग इस पर अधिक प्रकाश डाले।

"बादल सागर का क्षार (खारा) जल पीकर और उसे मीठा एवं स्वादिष्ट बना कर लोक हित की दृष्टि से बरसा देता है। उसी तरह सज्जन पुरुष भी दुर्जनों के दुर्वचनों को सुनकर और उनके परिताप को सह कर उत्तर में मधुर, हितकारी और प्रिय सद्वचन ही बोलते हैं।"

वाग्भट्ट के मंगलाचरण का रचयिता

श्री क्षुल्लक सिद्धसागर

[सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास (प्रथम भाग पृ० २५४) में तीन वाग्भटों का उल्लेख मिलता है। पहले वाग्भट जैन थे, और उन्होने 'वाग्भटालंकार' का निर्माण किया था। उस पर पाँच टीकाएँ उपलब्ध हैं। टीकाकार सिंह गणि ने उन्हें कवीन्द्र, महाकवि और राज-मंत्री कहा है। दूसरे वाग्भट अजैन थे, उनके पिता का नाम सिंहगुप्त था, उन्होंने एक वैद्यक ग्रन्थ का निर्माण किया था। इसी ग्रन्थ के मंगलाचरण को दार्शनिक पहलू से आंक कर क्षुल्लक सिद्धसागर ने जैन सिद्ध किया है। प्रतीत होता है कि उनका कथन प्रामाणिक है। —सम्पादक]

रागादिरोगान् सततानुषक्ता-
नशेषकायप्रसृतानशेषान् ।
औत्सुक्यमोहारतिदाञ्जघान
योऽपूर्ववैद्याय नमोस्तु तस्मै ॥

जो लोग जीव के अस्तित्व को नही समझते है, उनके [म]त मे जीव के न होने वाले रागादिको का अस्तित्व [स]म्भव नही हो सकता है। तथा जो जीव को सर्वथा [नि]त्य या शुद्ध ही मानते है, उनके मन्तव्य के अनुसार भी [न] भाव रागादि हो सकते है और न द्रव्य ही। ऐसी कोई [व]स्तु नही, जो सर्वथा नित्य ही हो और अनित्यता उसमे [न] हो। इसका कारण है कि वस्तु सत् है तथा परिणामी [नि]त्य है। इसके विपरीत जो सर्वथा क्षणिक ही है, जिसमे [नि]त्यता किसी प्रकार भी नही है, उस वस्तु का अस्तित्व [भ]ी नही हो सकता। वस्तु सत् स्वरूप होती है और सत् [उ]त्पाद्-व्यय-ध्रौव्ययुक्त होता है।

रागादि रोग उत्पन्न हो तथा वे जीव मे कुछ काल [त]क कायम रहें तभी तो उसका रत्नत्रय रूप त्रिफला से [दू]र करने का उपाय भी बन सकता है। किन्तु जिसके [म]न्तव्य के अनुसार उनका होना तथा कुछ काल तक [भ]ी संसारी जीव के उनका बना रहना असम्भव है, उसके [म]त मे उनका निराकरण भी सम्भव नही है।

जो लोग सदा से अनादि से ही जिस ईश्वर विशेष को [र]ागादि रहित मानते है उनका यह कहना कि उसने [र]ागादि रोगो को नष्ट किया है स्ववचन बाधित है, अतः इस मंगलाचरण का रचयिता न तो सर्वथा नित्यवादी ही हो सकता है और न क्षणिकवादी बौद्ध ही। तथा जो ईश्वर को सर्वव्यापक तथा अनादि शुद्ध मानते है, उनके मत से रागादि का उसके उत्पन्न होना तथा रागादि रोगो का नष्ट किया जाना सम्भव नही हो सकता है, अत यह सिद्ध होता है कि उक्त वाग्भट्ट कृत मगलाचरण परिणामी नित्य वस्तु को मानने वाले किसी आर्हत् मतानुयायी का रचा हुआ है।

जिसके मत मे न ईश्वर के कोई शरीर है और न वह सर्वव्यापक होने से कोई परिस्पन्दवती क्रिया ही करता है, वह जीवो के रागादि तथा आनुषङ्गिक और काय मे होने वाले रोगो को कैसे दूर कर सकता है? वह शरीर के बिना जीवो को मोहादिक रोगों को दूर करने के उपाय को बताने वाला अपूर्व वैद्य कैसे हो सकता है?

हाँ, जो पहले संसारी जीव होता है तथा जो अपने मोहादिक को दूर कर, अठारह दोष रहित, निर्दोष सकल परमात्मा बनता है, वह परमौदारिक निरोग शरीर मे स्थित परमात्मा, जिसके दिव्य-वाणी पाई जाती है, वह अपने और दूसरे के रागादि रोगो को दूर करने वाला हो सकता है।

"स्थित्युत्पत्तिलयान् गच्छति, इति जगत्।" इस कथन के अनुसार सम्पूर्ण विश्व या जगत् परिणामी नित्य है तथा उस मन्तव्य के अनुसार जीव के रागादिक रोग तथा काय में होने वाले रोगों का होना तथा उनका

निदान आदि करके निराकरण किया जाना सम्भव है।

शरीर में या जीव में होने वाले रोगों के प्रकार अनेक है। तथा उनके उपाय भी अनेक हैं। एक रोगके लिए अनेक औषधियां हो सकती हैं तथा अनेक रोगो के लिए एक औषधि भी उपयोगी हो सकती है। इस प्रकार रोगी, रोग, उनके कारण और शमन के उपाय आर्हत् मतानुसार अनेकान्तमय है।

जीव के रागादिक रोग होते हैं, वे निष्कारण नही हो सकते हैं। जीव, शरीर और कर्म से बँधा हुआ है। उस बंध के हेतु मोहादिक है। यदि नवीन अपराध, मोह, हिंसा आदि रूप से न किया जावे तथा कर्मोदयादि से होने वाले पुराने रोगों का अन्त करने के लिये इच्छा-निरोध रूप तप करके उनको आंशिक रूप से समाप्त किया जावे, तो फिर पूर्णरूप से मुक्ति भी असम्भव नही है। जो निर्दोष सर्वज्ञ हैं उनके शरीर में मोहादि का अभाव होने से कोई रोग और उपसर्ग नही होता है।

यदि जीव को काया से सर्वथा अबद्ध माना जावे तो काय मे उत्पन्न होने वाले रोगो का असर ससारी जीव मे क्यो हो ? अन्य के शरीर के समान निजी शरीर के रोग मे भी उसे वेदना नही होनी चाहिये ? किन्तु पीड़ा का अनुभव मोही जीव को होता है। वह राग जीव का परिणाम है। वह रागादिक रोग निष्कारण नही होता है। जीव विवेकरहित होकर अपराध कर कर्म बन्ध कर उसके फल पाता है। इसीलिये आचार्य धनञ्जय ने कहा है कि—

"नरक यान्य मेधश ।"

उक्त कथनों पर से यह फलित होता है कि—जीव अजीव के साथ अपराध करने से बँधा हुआ शरीर रूपी कारागार मे पड़ा हुआ है। वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी भगवान् अपूर्व वैद्य है—जैसा कि वैद्यक ग्रथों मे स्वयंभू प्रजापति या आदिदेवरूप धनवन्तरी को रागादि रोगों को दूर करने वाला वैद्य प्रतिपादित किया है। जीवका स्वरूप जानना देखना है या उपयोग है, तथा अजीव अचेतन रूप है, अपराध आश्रव है, तथा उससे कर्म बन्ध होता है, जब जीव अपराध को नही करने रूप (सम्यक्त्व सहित) संवर को करता है, तथा रागादि रोगों के कारण कर्म को अंश रूप से निर्जरारूप करते हुए पूर्णरूप से जब उसे खिरा देता है, मुक्त होता है।

चार्वाक नास्तिक इस मंगलाचरण का रचयिता नहीं हो सकता है, क्योंकि वह पुद्गल से अलग जीव का अस्तित्व नहीं मानता, उसके मत मे जीव के रागादिक का होना सम्भव नही है।

आर्हत् मत के सिवाय किसी भी मन्तव्य के अनुसार उपर्युक्त मंगलाचरण का रचा जाना संभव नही है। जो क्षणिकवादी है, वह मगलाचरण के रचने के विचार के समय ही चल बसेगा। अत. वह तो उसे रच ही नही सकता है। तथा जो सर्वथा नित्य है, वह मगलाचरण रचने के पहले जैसे नित्य मंगलाचरण रचने के विचार से रहित था, वैसे ही रहने से मंगलाचरण रचने के नवीन कार्य को नही करा सकता है।

जो द्रव्य दृष्टि से वस्तु को ऊर्ध्व सामान्य या अन्वय की अपेक्षा से कथञ्चित् नित्य तथा पर्याय अपेक्षा से कथञ्चित् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त मानता है उस आर्हत् मत की अपेक्षा से उस मगलाचरण का रचा जाना सम्भव है। "असद् का उत्पाद् नहीं होता है तथा सत् निर्मूल नही होता है।" इस कथन के अनुसार समस्त वस्तुएँ अनादि निधन है। जो वस्तु है उसी में कुछ उत्पाद व्यय आदि होते रहते है। जो कुछ भी नही है उसमे न कोई उत्पाद है न व्ययादिक है। जो वस्तु है, वही परिणामी नित्य है, वही वस्तु हो सकती है। इस प्रकार वस्तु उभयान्वय से और अविनाभाव से सहित है।

यदि रोग का कारण सर्वथा नित्य है, तो रोग का उपचार व्यर्थ होता है। यदि रोग क्षणिक है, वह स्वत. नष्ट होता है, तो भी उसका उपाय व्यर्थ है। जो रोग निष्कारण प्रति क्षण उत्पन्न हो तथा नष्ट हो, उसके मत मे आयुर्वेद शास्त्र कार्यकारी नही हो सकता है। किन्तु जो रोग के आधार रोग के कारण, रोग तथा रोग के उपचार को, आर्हत् मत मे कहे हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सहित परिणामी नित्य, मानता है, उसके मत में ही आयुर्वेद शास्त्र तथा मगलाचरण-प्रणयन आदि की सफलता सम्भव है।

यदि औषधि रूप से पाये जाने वाले द्रव्य सर्वथा नित्य हैं, तो वे कोई असर नही कर सकते तथा क्षणिक

[शेष पृष्ठ २५२ पर]

रइधू कृत 'सावयचरिउ' 'समत्तकउमुइ' ही है

प्रो० राजाराम जैन, आरा

[रइधू अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने 'समत्तकउमुइ'' का निर्माण किया था। उनकी रचना 'सावयचरिउ' का ही दूसरा नाम 'समत्तकउमुइ' था। पं० परमानंद और प्रो० राजाराम दोनों की ऐसी मान्यता है। श्री अगरचंद नाहटा ने 'भूल की पुनरावृत्ति' कहकर उसका खण्डन किया है। किन्तु प्रस्तुत निबंध में प्रो० राजाराम ने नाहटा जी के कथन को नितान्त भ्रामक प्रमाणित कर दिया है। अच्छा होता यदि नाहटा जी अपने 'खण्डन' को अखण्ड न मानते। —सम्पादक]

अनेकान्त के वर्ष १७ किरण १ (अप्रैल १९६४) मे सिद्धान्ताचार्य श्री बाबू अगरचन्द्र जी नाहटा ने एक लेख लिखकर महाकवि रइधू कृत ''सावयचरिउ'' का ''समत्तकउमुइ'' नाम अनुपयुक्त माना है। उन्होंने अपने मत का समर्थन करते हुए भिक्षु स्मृति ग्रंथ (कलकत्ता १९६१) मे प्रकाशित ''अपभ्रंश-भाषा के सन्धिकालीन महाकवि रइधू'' नामक मेरे निबन्ध एवं श्री प० परमानन्द जी शास्त्री द्वारा सम्पादित 'प्रशस्ति संग्रह द्वि० भाग की प्रस्तावना (पृ० १०२) मे उल्लिखित रइधूकृत ''समत्तकउमुइ'' नामकोभी'' ''ठीक नहीं'' बतलाया है। किन्तु जिसे श्री नाहटा जी ने ''भूल की पुनरावृत्ति'' कहा है, मेरे दृष्टिकोण मे सत्य का समर्थन वस्तुतः उसी से होता है।

''सावयचरिउ'' के आद्योपान्त अध्ययन से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि 'सावयचरिउ' एवं 'समत्तकउमुइ' एक ही रचना के दो नाम है। रइधू-साहित्य का विद्यार्थी होने के कारण मुझे रइधू का प्रायः समस्त उपलब्ध साहित्य देखने का अवसर मिला है तथा उसकी कई विशेषताओ में से एक यह विशेषता भी दृष्टिगोचर हुई है कि लेखक ने नायकों, भट्टारकों एवं रचनाओं के कई-कई पर्यायवाची नाम अपनी रचनाओं मे प्रस्तुत किये हैं। जैसे—

रविपहु—अर्ककीर्त्ति (पासणाह० ३।११।१),
हयसेणु—अश्वसेन (पासणाह० ३।१।४, ३।२।१४),
सत्तुदमन—अरिदमन (सिरिबाल० ३।२),
हरिन्रह—मृगरथ (सिरिवाल० २।१) आदि नायकों,

सुरसेन—देवसेन (मेहेसर० १।६) आदि लेखकों,
कजकित्ति—कमलकीर्त्ति (णेमि० अन्त्यप्रशस्ति) आदि माथुर-गच्छीय पुष्करगणशाखा के भट्टारकों, एवं
रामचरित—पउमचरिउ एवं बलहद्दचरिउ,
मेहेसरचरिउ—आदिपुराण,
सम्मइजिणचरिउ—वीरचरिउ एवं वड्ढमाणचरिउ,
सिरिवालचरिउ—सिद्धचक्कमाहप्प एवं सिद्धचक्कविहि,
वित्तसार—चरित्तसार, तथा
णेमिणाहचरिउ—अरिट्ठणेमिचरिउ एवं हरिवंशपुराण आदि स्वचरित रचनाओं के नाम-नामान्तरों के प्रयोग उपलब्ध होते है। यही नही, उसने स्वयं अपने नाम के भी नाम-नामान्तर प्रस्तुत किये है। जैसे उसने 'रइधू' इस नाम का तो प्रयोग किया ही किन्तु कहीं-कहीं 'सिंहसेन' (सम्मइ० १।५।१०-११; मेहेसर० १।३।८-९) का भी प्रयोग कर लिया तो सन्धियों के अन्त्य घत्तों मे रइ, (सम्मइ० १।१९।११, २।१६।१७, ३।३८।१७, ४।२१।१५, ५।३८।१२; ६।१७।१३, सावय० ३।२९) रइधर (सावय० १।१३) जैसे नामान्तरों के उल्लेख भी किये हैं। ठीक इसी प्रकार 'सावय चरिउ' के भी कवि ने कई नामो के उल्लेख किये है। जैसे ''कौमुदी कथा प्रबन्ध'' (जीवन्धर० १।३); 'कौमुदी प्रबन्ध' (णेमि० १।२) 'कौमुदी कथा' (जीवन्धर० १।४ तथा उसकी अत्यन्त प्रशस्ति) 'सम्मत्त कउमुइ' (सावय० अन्त्य पुष्पिका) एवं 'सावय चरिउ'। उपर्युक्त उदाहरणो से यह भी स्पष्ट अवगत होता है कि

कवि रइधू ने 'सावय चरिउ' मे ही 'सावय चरिउ' का नामोल्लेख किया है किन्तु अपनी अन्य रचनाओं मे पूर्ववर्ती स्वरचित रचनाओ के उल्लेखो के प्रसंग मे सर्वत्र 'कौमुदी कथा' आदि के नाम से ही उसका स्मरण किया है, 'सावय चरिउ' के नाम से नही। फिर 'सावय चरिउ' की चतुर्थ सन्धि की पुष्पिका मे 'सम्मत्त कहतर' एव उसीकी अन्त्य पुष्पिका मे 'सम्मत्तकउमुइ' का स्पष्ट नामोल्लेख मिलता ही है, तब पता नही उसे 'सावयचरिउ' के कहलाने का ही आग्रह श्री नाहटा जी क्यों करते हैं ?

जहाँ तक विषयवस्तु का प्रश्न है 'सावयचरिउ' एव 'समत्तकउमुइ' मे कोई अन्तर नही। सस्कृत की सम्यक्त्व-कौमुदी ही इसका मूलाधार है अथवा यदि चाहे तो यह भी कह सकते है कि सस्कृत की सम्यक्त्व कौमुदी का यह कुछ थोड़े से हेर-फेर के साथ अपभ्रंश-सस्करण ही है। इसके उदितोदय एव सुयोधन राजा, सुबुद्धि मत्री, रूपखुर एव सुवर्णखुर चोर, अर्हद्दास सेठ तथा उसकी मित्रश्री आदि आठ सेठानियाँ दोनो ही ग्रथो मे समान है। कथानक भी वही है। दोनों ही ग्रन्थों में 'कौमुदी-महोत्सव' कथानक-विस्तार का मूल कारण है। इस आधार पर यह स्पष्ट है कि 'सावय चरिउ' एव 'समत्तकउमुइ' एक ही रचना के दो नाम है।

श्री नाहटा जी ने 'सावयचरिउ' का ग्रन्थ प्रेरक सेउ साहू के पुत्र कुसराज को माना है। मैं इससे भी सहमत नही। 'सावयचरिउ' के प्रणयन की मूल प्रेरणा वस्तुत. टेक्कणि साहु ने ही की। यथा—

आयमचरिउपुराणवियाणे। टेक्काणिसाहु गुणेणपहाणे॥
पडितच्छतेण विणत्तउ। करमउलेप्पिणु वियसियवत्तउ॥

घत्ता

भो भो कइयणवर दुक्कियरयहर
पइकइत्त भरु वहिउ मिरि।
णिसुणहि णिम्मलमणरजिय
बुहयण सव्व सुहायर सच्चगिरि॥
सावय० १।२।१७-२०

············तह सावइ चरिउ भणेहु इच्छ॥
सावय० १।३।४

कवि टेक्कणिसाहु की प्रार्थना सुनकर अपनी कुछ असमर्थता दिखलाता है। वह कहता है—

ता कइणा पडिउत्तरुपउत्तु।
तुह कहिउ करमि हउ सुहु णिरुत्तु॥
परणियमिणसोयाणरपहाणु।
जो सच्छभानु उव्वहइ जाणु॥
जाचहिणउ कोवि महत्तु होइ।
ता किम विच्छरइ ससच्छु लोइ॥
सावय० १।३।५-८

प्रतीत होता है कि टेक्कणि साहु की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी न थी तथा कवि बिना आश्रय प्राप्त किए रचना कर सकने मे असमर्थ था। अतः उक्त साहु ने तुरन्त ही गोपाचल के श्री कुशराज का परिचय कवि को दिया तथा समय पाकर एक दिन वह कुशराज को लेकर स्वय कवि के पास पहुँचे तथा कुशराज की पूर्व चार पीढ़ियो का परिचय देते हुए। कुशराज के विषय मे कहा—

एयाह मज्झि कुल-भवण-दीउ।
कुसराज महासइणिरुविणीउ॥
तुहु पुरु सठिउ विण्णवइ एहु।
सत्थत्थज्जाणु किण्णउ मुणेहु॥
इहु णिव्वाहइ सकइत्त भारु।
इय मुणिवि करहि किण चरिउ चारु॥
इहु कवियण मणभत्तउ पहाणु।
तुम्हह कीरेसइ अहिऊ माणु॥
सावय० १।४।१३-१६

टेक्कणि साहु से कुशराज का परिचय प्राप्त कर रइधू ग्रन्थ प्रणयन की स्वीकृति देते हुए कहते हैं :—

इहु सच्चु कइत्तहु भरु वहेइ।
णिम्मलु जस पसरु विइह लहेइ॥
साहम्मिय वच्छल गुण पवितु।
कि कि ण करमि एयहु पउत्तु॥
सावय० १।४।१८-१९

इसके बाद रइधू एव कुशराज का परस्पर मे कुछ वार्तालाप होता है और रइधू अपना कार्यारम्भ कर देते है। इन प्रसगो से यह बिल्कुल स्पष्ट ही है कि कुशराज ग्रंथप्रेरक नही बल्कि आश्रयदाता है। ग्रंथप्रेरक तो वस्तुत. टेक्कणि साहु ही है, क्योकि टेक्कणि साहु यदि कवि से

परिचित न होते अथवा कुशराज से कवि का परिचय न कराते तब 'सावयचरिउ' के लिखे जाने का कोई प्रश्न ही न उठता। रइधू की अन्य रचनाओं में भी यही परम्परा उपलब्ध होती है कि ग्रन्थ-प्रणयन की प्रेरणा कोई अन्य करता है जबकि आश्रयदाता वही अथवा अन्य दूसरा कोई होता है।

सावयचरिउ अथवा समत्त कउमुइ के विषय में जो कुछ भ्रान्त धारणाएं जगी है, उसका मूल करण यथार्थ में नागौर शास्त्र-भण्डार के अधिकारी भट्टारक एवं वहाँ की प्रबन्ध समिति ही है। मध्यकालीन राजनैतिक, साम्प्रदायिक एव धार्मिक उथल-पुथल के समय जब जैन साहित्य, कला एवं सस्कृति अवनति के कगारे पर खड़ी एक धक्के की प्रतीक्षा कर रही थी। उसी समय भट्टारकों ने उनके संरक्षण के लिये जो कुछ किया वह भारतीय वाङ्मय का एक अद्भुत अध्याय है। उनकी कृपा से साहित्य-प्रणयन का जो एक तूफान आया उसी का यह फल है कि भारतीय जैन शास्त्र भण्डार उनसे भरे-पड़े है। शत-प्रतिशत भट्टारक प्रायः साहित्यकार थे, जिन्होंने विशाल साहित्य लिखा, साथ ही उन्होंने जैन-जैनेतर विद्वानों से भी साहित्य-सृजन का कार्य कराया। भट्टारक यशः कीर्ति की प्रवृत्ति हिन्दी के भारतेन्दु बाबू की भाँति थी। उन्होने साहित्य एव साहित्यकार दोनों का ही निर्माण किया। एक ओर साहित्य-प्रणयन का ऐसा उत्साह-भरा वातावरण था तो दूसरी ओर नागौर शास्त्र-भण्डार का द्वार साहित्य-जिज्ञासुओं के लिए बन्द रहता है, दोनों प्रवृत्तियों मे कोई मेल नही।

[पृ० २४६ का शेष]

द्रव्य एक क्षण मे गुण-रहित हो जाता है, तो वह रोग और रोगी पर अपना प्रभाव कैसे डालेगा?

यदि सब द्रव्य एक रूप ही हैं तो एक ही औषधि से सब रोग दूर हो जावेगे। शेष औषधियों से भी वैसा ही होगा किन्तु इस विषय मे कोई एकान्त नियम नही पाया जाता है। अनेक औषधियाँ भी एक रोग को दूर करने के निमित्त होती है तथा एक औषधि भी अनेक रोगो को दूर करती है, अतः प्रत्येक द्रव्य अनेकान्तात्मक तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है।

औषधि की मात्राओ मे जो भिन्नता पाई जाती है, वह वस्तु की शक्तियो की भिन्नता की द्योतक है। जब वस्तु को स्वत. अनेकान्त रुचिकर है तो हम आर्हत् मत को कैसे टाल सकते है?

वस्तुओं के क्षेत्र के अनुसार भी भिन्नता होती है तथा अनेकता होती है। भिन्न-भिन्न देशों की प्रकृतियों का उल्लेख आयुर्वेद में प्रतिपादित है तथा उसके अनुसार रोग का निदान उपचार आदि यथासम्भव करना उचित है।

भिन्न-भिन्न कालों या ऋतुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगों के कारण रोगी और उपाय पाये जाते है अत. काल की अपेक्षा भी द्रव्य का विचार किया जाता है।

किस वस्तु मे कौन-सा गुण या विटामिन कितनी मात्रा में पाया जाता है तथा किसमे किस प्रकार की शक्ति कम मात्रा में मौजूद है और कौन-सी अधिक मात्रा में विकसित है, यह सब वस्तु को 'अनेकान्तात्मक' सिद्ध करती है।

जैन-दर्शन में सप्तभंगीवाद

उपाध्याय मुनि श्री अमरचन्द

[सप्तभंगीवाद जैनदर्शन के 'स्याद्वाद' का विश्लेषण है। जैन आचार्यों ने स्याद्वाद को सात रूपों में विभक्त कर समझाने का सफल प्रयास किया है। इन सात रूपों को ही सप्तभंग कहते हैं। नैयायिकों ने अपनी भाषा में उलझा कर इसे दुरूह बना दिया, परिणामतः विद्वान् भी 'सप्तभंगी' का नाम सुन कर घबड़ाते है। इस निबन्ध में मुनि अमरचन्द जी ने 'सप्तभंगी' को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। आशा है कि पाठक न ऊबेंगे न उकतायेंगे, अपितु उनकी जिज्ञासा वृत्ति को आनन्द प्राप्त होगा —सम्पादक]

सांख्यदर्शन का चरम विकास प्रकृति पुरुष-वाद मे हुआ, वेदान्तदर्शन का चिद् अद्वैत मे, बौद्ध दर्शन का का विज्ञानवाद मे और जैन दर्शन का अनेकान्त एव स्याद्वाद मे। स्याद्वाद जैनदर्शन के विकास की चरम-रेखा है। इसको समझने के पूर्व प्रमाण एव नय को समझना आवश्यक है। और प्रमाण एव नय को समझने के लिए सप्तभगी का समझना भी आवश्यक ही नही परम आवश्यक है। जहा वस्तुगत अनेकान्त के परिबोध के लिए प्रमाण और नय है, वहा प्रतिपादक वचन-पद्धति के परिज्ञान के लिए सप्तभगी है। यहाँ पर मुख्य रूप मे सप्तभगीवाद का विश्लेषण ही अभीष्ट है। अत प्रमाण और नय की स्वतन्त्र परिचर्चा मे न जाकर सप्तभगी की ही विवेचना करेंगे।

सप्तभंगी—

प्रश्न उठता है कि सप्तभगी क्या है? उसका प्रयो-जन क्या है? उसका उपयोग क्या है? विश्व की प्रत्येक वस्तु के स्वरूप-कथन में सात प्रकार के वचनो का प्रयोग किया जा सकता है, इसी को सप्तभगी कहते है[1]।

वस्तु के यथार्थ परिबोध के लिए जैनदर्शन ने दो उपाय स्वीकार किये है—प्रमाण[2] और नय। ससार की किसी भी वस्तु का अधिगम (बोध) करना हो तो वह बिना प्रमाण और नय के नही किया जा सकता।

अधिगम के दो भेद है—स्वार्थ और परार्थ[3]। स्वार्थ ज्ञानात्मक होता है, परार्थ शब्दात्मक। भग का प्रयोग परार्थ (दूसरे को बोध कराने के लिए किया जाने वाला शब्दात्मक अधिगम) मे किया जाता है, स्वार्थ (अपने आपके लिए होने वाला ज्ञानात्मक अधिगम) मे नही। उक्तवचन-प्रयोग रूप शब्दात्मक परार्थ अधिगम के भी दो भेद किये जाते है—प्रमाण-वाक्य और नय-वाक्य। उक्त आधार पर ही सप्तभगी के दो भेद किये हैं—प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभगी। प्रमाण वाक्य को सकलादेश और नय वाक्य को विकलादेश भी कहा गया है। वस्तुगत अनेक धर्मो के बोधक वचन को सकला-देश और उसके किसी एक धर्म के बोधक-वचन को विकलादेश कहते है। जैनदर्शन मे वस्तु को अनन्त धर्मात्मक माना[4] गया है। वस्तु की परिभाषा इस प्रकार की है—जिसमे गुण और पर्याय रहते है, वह वस्तु है[5]। तत्त्व, पदार्थ और द्रव्य ये वस्तु के पर्यायवाची शब्द है।

---

१. सप्तभि प्रकारैर्वचन-विन्यासः सप्तभंगीतिगीयते।
—स्याद्वाद मजरी, का० २३ टीका।

२. प्रमाण नयैरधिगम.—तत्त्वार्थागम सू० १-६।

३. अधिगमोद्विविध. स्वार्थ. परार्थश्च, स्वार्थोज्ञानात्मक. परार्थ शब्दात्मक। स च प्रमाणात्मको नयात्मकश्च······इयमेव-प्रमाणसप्तभगी च कथ्यते।
—सप्तभगीतरंगिणी, पृ० १

अधिगमहेतु द्विविध.·········तत्त्वा० रा० १-६-४

४. अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्
अन्ययोग व्यवच्छेदिका का० २२

५. वसन्ति गुण-पर्याया अस्मिन्नितिवस्तु—धर्माधर्मा-ऽऽकाश पुद्गल-काल जीवलक्षणं द्रव्य षट्कम्।
—स्याद्वादमजरी, कारिका २३ टीका।

सप्तभगी की परिभाषा करते हुए कहा गया है, कि—"प्रश्न उठने पर एक वस्तु मे अविरोध-भाव से जो एक धर्म-विषयक विधि और निषेध की कल्पना की जाती है, उसे सप्तभगी कहा जाता है[१]।" भंग सात ही क्यों हैं ? क्योंकि वस्तु का एक धर्म-सम्बन्धी प्रश्न सात ही प्रकार से किया जा सकता है। प्रश्न सात ही प्रकार का क्यो होता है ? क्योकि जिज्ञासा सात ही प्रकार से होती है। जिज्ञासा सात ही प्रकार से क्यों होती है ? क्योंकि संशय सात ही प्रकार से होता है। अत किसी भी एक वस्तु के किसी भी एक धर्म के विषय मे सात ही भग होने से इसे सप्तभंगी कहा गया है। गणित-शास्त्र के नियमानुसार भी तीन मूल वचनो के सयोगी एवं असयोगी अपुनरुक्त भग सात ही हो सकते है कम और अधिक नही। तीन असयोगी मूल भग, तीनद्वि-सयोगी भंग और एकत्रिसंयोगी भंग। भग का अर्थ है—विकल्प प्रकार और भेद।

सप्तभंगी और अनेकान्त—

वस्तु का अनेकान्तत्त्व और तत् प्रतिपादक भाषा की निर्दोष पद्धति स्याद्वाद, मूलतः सप्तभगी मे सन्निहित है। अनेकान्त दृष्टि का फलितार्थ है, कि प्रत्येक वस्तु मे सामान्य रूप से और विशेष रूप से, भिन्नता की दृष्टि से और अभिन्नता की दृष्टि से, नित्यत्व की अपेक्षा से और अनित्यत्व की अपेक्षा से तथा सद्रूप से और असद्रूप से अनन्त धर्म होते है। सक्षेप मे—"प्रत्येक धर्म अपने प्रति-पक्षी धर्म के साथ वस्तु मे रहता है।"—यह परिबोध अनेकान्त दृष्टि का प्रयोजन है। अनेकान्त स्वार्थाधिगम है, प्रमाणात्मक-श्रुतज्ञान है। परन्तु सप्तभगी की उप-योगिता इस बात में है कि वह वस्तु-गत अनेक अथवा अनन्त धर्मों की निर्दोष भाषा मे अपेक्षा बताए, योग्य अभिव्यक्ति कराये। उक्त चर्चा का साराश यह है कि अनेकान्त अनन्तधर्मात्मक वस्तु स्वरूप की एक दृष्टि है, और स्याद्वाद अर्थात् सप्तभगी उस मूलज्ञानात्मक दृष्टि को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा-सूचिका एक वचन-पद्धति है। अनेकान्त एक लक्ष्य है, एक वाच्य है और सप्तभंगी स्याद्वाद एक साधन है, एक वाचक है, उसे समझने का एक प्रकार है। अनेकान्त का क्षेत्र व्यापक है, जबकि स्याद्वाद का प्रतिपाद्य विषय व्याप्य है, दोनों में व्याप्य व्यापक-भाव सम्बन्ध है। अनन्तानन्त अनेकान्तों मे शब्दात्मक होने से सीमित[१] स्याद्वादो की प्रवृत्ति नही हो सकती, अत स्याद्वाद अनेकान्त का व्याप्य है व्यापक नही।

भंग कथन पद्धति—

शब्द शास्त्र के अनुसार प्रत्येक शब्द के मुख्य रूप मे दो वाच्य होते है—विधि और निषेध। प्रत्येक विधि के साथ निषेध है और प्रत्येक निषेध के साथ विधि है। एकान्त रूप से न कोई विधि है, और न कोई निषेध। इकरार के साथ इन्कार और इन्कार के साथ इकरार सर्वत्र लगा हुआ है। उक्त विधि और निषेध के मब मिलाकर सप्तभंग होते है। सप्तभगो के कथन की पद्धति यह है :—

१. स्याद्स्ति, २. स्याद्नास्ति, ३. स्याद् अस्ति-नास्ति, ४. स्याद् अवक्तव्य, ५ स्याद् अस्ति अवक्तव्य, ६. स्याद् नास्ति अवक्तव्य, ७. स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य।

सप्तभगी मे वस्तुतः मूलभग तीन ही है—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। इसमे तीन द्विसयोगी और एक त्रि-सयोगी—इस प्रकार चार भंग मिलाने से सात भंग होते है। द्विसंयोगी भंग ये है अस्ति-नास्ति, अस्तिअवक्तव्य और

---

१. प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि- प्रतिषेध विकल्पना सप्तभगी। (तत्वा० रा० वा. १,६,५१।)

१. अभिलाप्पभाव, अनभिलाप्यभावो के अनन्तवे भाग है—पण्णवणिज्जाभावा, अणन्तभागो दु अणभिल-प्पाण। गोम्मटसार—अनन्त का अनन्तवां भाग भी अनन्त ही होता है। अत वचन से भी अनन्त है। तत्त्वार्थश्लो० १,६,५२ के विवरण में कहा है—"एकत्र वस्तुनि अनन्तानां धर्माणामभिलापयोग्यना-मुपगम।दनन्ता एक वचन मार्गा स्याद्वादिना भवेयु। यह ठीक है कि वचन अनन्त है फलत स्याद्वाद भी अनन्त है, परन्तु वह अनेकान्तधर्मो का अनन्तवाँ भाग होने के कारण सीमित है, फलत व्याप्य है।

नास्ति अवक्तव्य। मूलभग तीन होने पर भी फलितार्थ रूप से सात भगो का उल्लेख भी आगमों मे उपलब्ध होता है। भगवती सूत्र मे जहाँ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध का वर्णन आया है वहाँ स्पष्ट रूप से सात भंगों का प्रयोग किया गया है१ ? आचार्य कुन्दकुन्द ने सात भंगों का नाम गिनाकर सप्तभग का प्रयोग किया है२। भगवती सूत्र में अवक्तव्य को तीसरा भंग कहा है३। जिन भद्रगणी क्षमाश्रमण भी अवक्तव्य को तीसरा भग मानते हैं४। कुन्दकुन्द ने पचास्तिकाय मे इसको चौथा माना है, पर अपने प्रवचनसार में इसको तीसरा माना है५। उत्तरकालीन आचार्यों की कृतियो में दोनों क्रमो का उल्लेख मिलता है।

प्रथम भंग:—स्याद् अस्तिघट

उदाहरण के लिए घट गत सत्ता धर्म के सम्बन्ध मे सप्तभगी घटाई जा रही है। घट के अनन्त धर्मों मे एक धर्म सत्ता है, अस्तित्व है। प्रश्न है कि वह अस्तित्व किस अपेक्षा से है ? घट है, पर वह क्यो और कैसे है ? इसी का उत्तर प्रथम भग देता है।

घट का अस्तित्व स्यात् है, कथ-चित् है, स्वचतुष्टय की अपेक्षा से है। जब हम चाहते है कि घडा है, तब हमारा अभिप्राय यही होता है, कि घड़ा स्वद्रव्य स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की दृष्टि से है। यह घट के अस्तित्व की विधि है, अत यह विधिभग है। परन्तु यह अस्तित्व की विधि स्व की अपेक्षा है, परकी अपेक्षा से नहीं है। विश्व की प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व स्वरूप से ही होता है, पर रूप से नही। "सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च।" यदि स्वयं से भिन्न अन्यसमग्र पर स्वरूपो से भी घट का अस्तित्व हो, तो घट फिर एक घट ही क्यों रहे, विश्व रूप क्यो न बन जाए ? और यदि विश्व-रूप बन जाए, तो फिर मात्र अपनी जलाहरणादि क्रियाएँ ही घट में क्यों हो, अन्य पटादि की प्रच्छादिनादि क्रियाएँ क्यो न हो ? किन्तु कभी ऐसा होता नही है। एक बात और है। यदि वस्तुओं में अपने स्वरूप के समान पर स्वरूप की सत्ता भी मानी जाय१, तो उनमे स्व-पर विभाग कैसे घटित होगा ? स्व-पर विभाग के अभाव में सकरदोष उपस्थित होता है, जो सब गुड़-गोबर एक कर देता है। अत. प्रथम भग का यह अर्थ होता है कि घट की सत्ता किसी एक अपेक्षा से है, सब अपेक्षाओ से नहीं। और वह एक अपेक्षा है स्व की, स्वचतुष्टय की।

द्वितीयभंग:—स्याद् नास्ति घट

यहाँ घट की सत्ता का निषेध पर-द्रव्य, परक्षेत्र, पर काल और परभाव की अपेक्षा से किया गया है। प्रत्येक पदार्थ विधिरूप होता है, वैसे निषेध रूप भी। अस्तु घट मे घट के अस्तित्व की विधि के साथ घट के अस्तित्व का निषेध–नास्ति भी रहा हुआ है। परन्तु वह नास्तित्व अर्थात् सत्ता का निषेध, स्वाभिन्न अनन्त पर की अपेक्षा से है। यदि पर की अपेक्षा के समान स्व की अपेक्षा से भी अस्तित्व का निषेध माना जाए, तो घट नि स्वरूप हो जाये२। और यदि नि स्वरूपता स्वीकार करे, तो स्पष्ट ही सर्वशून्यता का दोष उपस्थित हो जाता है। अतः द्वितीय भंग सूचित करता है कि घट कथचित् नही है, घटभिन्न पटादि की, परचतुष्टय अपेक्षा से नही है। स्वरूपेण ही सदा स्व है, पर रूपेण नही।

तृतीय भंग : अस्ति नास्ति घट

जहाँ प्रथम समय मे विधि की और द्वितीय समय में निषेध की क्रमश· विवक्षा की जाती है, वहाँ तीसरा भंग होता है। इसमे स्व की अपेक्षा सत्ता का और पर की अपेक्षा असत्ता का एक साथ, किन्तु क्रमश· कथन किया गया है। प्रथम और द्वितीय भग विधि और निषेध का स्व-तन्त्ररूप से पृथक्-पृथक् प्रतिपादन करते है, जबकि तृतीय भंग एक साथ, किन्तु क्रमश विधि-निषेध का उल्लेख करता है।

चतुर्थ भंग : स्याद अवक्तव्य घट

जब घटास्तित्व के विधि और निषेध दोनों की युगपत् अर्थात् एक समय में विवक्षा होती है, तब दोनो को एक

---

१. भगवती सू० श० १२, ३. १०, प्र० १९-२०। २. पंचास्तिकाय गाथा १४, ४। ३. भगवती सू० श० १२, ३०, १० प्र० १९-२०। ४. विशेषावश्यक भाष्य गा० २, ३२। ५. प्रवचनसार ज्ञेयाधिकार गा० ११५।

१. स्वरूपोपादानवत् पररूपोपादाने सर्वथा स्वपर-विभागा-भाव प्रसंगात्। स चायुक्तः।
—तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक १,६,५२

२. पररूपापोहनवत् स्वरूपापोहने तु निरुपाख्यत्व-प्रसंगात्।
—तत्त्वार्थश्लो० वा० १,६,५२

कालावच्छेदेन एक साथ अक्रमश: बताने वाला कोई शब्द न होने से घट को अवक्तव्य कहा जाता है। शब्द की शक्ति सीमित है। जब हम वस्तुगत किसी भी धर्म की विधि का उल्लेख करते है, तो उसका निषेध रह जाता है, और जब निषेध कहते हैं तो विधि रह जाती है। यदि विधि-निषेध का पृथक्-पृथक् या क्रमश: एक साथ प्रतिपादन करना हो तो प्रथम तीन भगों मे यथाक्रम 'अस्ति-नास्ति' और अस्ति-नास्ति शब्दों के द्वारा काम चल सकता है, परन्तु विधि-निषेध की युगपद् वक्तव्यता मे कठिनाई है, जिसे अवक्तव्य शब्द के द्वारा हल किया गया है। स्याद् अवक्तव्य भग बतलाता है कि घट वक्तव्यता क्रम मे ही होती है, युगपद् मे नही। स्याद् अवक्तव्य भग एक और ध्वनि भी देता है। वह यह कि घट के युगपद् अस्तित्व नास्तित्व का वाचक कोई शब्द नही है। अत. विधि-निषेध का युगपतत्त्व अवक्तव्य है। परन्तु वह अवक्तव्यत्व सर्वथा सर्वतोभावेन नही है। यदि सर्वथा सर्वतोभावेन अवक्तव्यत्व माना जाये, तो एकान्त अवक्तव्यत्व का दोष उपस्थित होता है, जो जैन दर्शन में मिथ्या होने से मान्य नही है। अत. स्याद् अवक्तव्य सूचित करता है कि यद्यपि विधि निषेध का युगपत्व विधि या निषेध शब्द से वक्तव्य नही है, अवक्तव्य है, परन्तु वह अवक्तव्य सर्वथा अवक्तव्य नही है 'अवक्तव्य' शब्द के द्वारा तो वह युगपत्व वक्तव्य ही है।

पञ्चम भंग स्याद् अस्ति अवक्तव्य घट

यहाँ पर प्रथम समय मे विधि और द्वितीय समय मे युगपद् विधि-निषेध की विवक्षा करने से घट को स्याद् अस्ति अवक्तव्य कहा गया है। इसमे प्रथमाश अस्ति, स्वरूपेण घट की सत्ता का कथन करता है और द्वितीय अवक्तव्य अश युगपद् विधि-निषेध का प्रतिपादन करता है। पचम भग का अर्थ है—घट है, और अवक्तव्य भी है।

षष्ठ भंग : स्याद् नास्ति अवक्तव्य घट

यहाँ पर प्रथम समय मे निषेध और द्वितीय समय मे एक साथ युगपद् विधि निषेध की विवक्षा होने से घट नही है, और वह अवक्तव्य है—यह कथन किया गया है।

सप्तम भंग : स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य घट

यहाँ पर क्रम से प्रथम समय मे विधि और द्वितीय समय में निषेध तथा तृतीय समय एक साथ मे युगपद् विधि-निषेध की अपेक्षा से—'घट' है, घट नही, घट अवक्तव्य है" यह कहा गया है।

चतुष्टय की व्याख्या

प्रत्येक वस्तु का परिज्ञान विधिमुखेन और निषेधमुखेन होता है। स्वात्मा मे विधि है और परमात्मा से निषेध है, क्योंकि स्वचतुष्टयेन जो वस्तु सत् है वही वस्तु परचतुष्टयेन असत् है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इसको चतुष्टय कहते है। घट स्व-द्रव्यरूप मे पुद्गल है, चैतन्य आदि पर द्रव्यरूप मे नही है। स्वक्षेत्र रूप मे कपालादि स्वावयवो मे है, तन्त्वादि पर अवयवो मे नही है। स्वकालरूप मे अपनी वर्तमान पर्यायो मे है। पर पदार्थों की पर्यायो मे नही है। स्वभाव रूप मे स्वय रक्तादि गुणो मे है, पर पदार्थों के गुणों में नही है। अतः प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भाव से सत् है, और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, पर-भाव से असत् है। इस अपेक्षा से एक ही वस्तु के सत् और असत् होने मे किसी प्रकार की बाधा अथवा किसी प्रकार का विरोध नही है। विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय की अपेक्षा से है, और परचतुष्टय की अपेक्षा से वह नही भी है।

स्यात् शब्द की योजना

सप्तभगी के प्रत्येक भग में स्व-धर्म मुख्य होता है। और शेष धर्म गौण अथवा अप्रधान होते है। इसी गौण-मुख्य विवक्षा की सूचना 'स्यात्' शब्द करता है। "स्यात्" जहाँ विवक्षित धर्म की मुख्यत्वेन प्रतीति कराता है, वहाँ

---

१ जिसमे घटबुद्धि और घट शब्द की प्रवृत्ति (व्यवहार) है, वह घट का स्वात्मा है, और जिसमें उक्त दोनों की प्रवृत्ति नही है, वह घट का पटादि परात्मा है।
"घटबुद्ध्यभिधान प्रवृत्ति लिङ्ग स्वात्मा, यत्र तयोरप्रवृत्ति. स परात्मा पटादि।
—तत्त्वार्थ राजवार्तिक १, ६, ५ पृ. ३३

२. अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्क च।
द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथाऽथवापि भावेन ॥
—पचाध्यायी १, २६३

३. स्याद्वाद मजरी (का० २३) मे घट का स्वचतुष्टय क्रमशः पार्थिव, पाटलिपुत्रकत्व, शैशिरत्व और श्यामत्व रूप छपा है, जो व्यवहार प्रधान है।

अविवक्षित धर्म का भी सर्वथा अपलापन न करके उसका गौणत्वेन उपस्थापन करता है। वक्ता और श्रोता यदि शब्द-शक्ति और वस्तु स्वरूप की विवेचना मे कुशल है१ तो 'स्यात्' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नही रहती। बिना उसके प्रयोग के भी अनेकान्त का प्रकाशन हो जाता है। 'अहम् अस्मि' मैं हूँ। यह एक वाक्य प्रयोग है। इस मे दो पद है—एक 'अहम्' और दूसरा 'अस्मि'। दोनों मे से एक का प्रयोग होने पर दूसरे का अर्थ स्वत ही गम्यमान हो जाता है, फिर भी स्पष्टता के लिये दोनों पदों का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार 'पार्थो धनुर्धर' इत्यादि वाक्यो मे 'एव' कार का प्रयोग न होने पर भी तन्निमित्तक 'अर्जुन ही धनुर्धर है—यहाँ अर्थबोध होता है और कुछ नही२। प्रकृत मे भी यही सिद्धान्त लागू पडता है। स्यात्-शून्य केवल 'अस्ति घट' कहने पर भी यही अर्थ निकलता है, कि "कथचित् घट है, किसी अपेक्षा से घट है।" फिर भी भूल-चूक को माफ करने लिए किंवा वक्ता के भावो को समझने मे भ्रान्ति न हो जाये, इसलिये 'स्यात्' शब्द का प्रयोग अभीष्ट है। क्योकि ससार मे विद्वानो की अपेक्षा साधारण जनो की सख्या ही अधिक है। अत: सप्तभगी जैसे गम्भीर तत्त्व को समझने का बहुमत-सम्मत राजमार्ग यही है, कि सर्वत्र 'स्यात्'३ शब्द का प्रयोग किया जाए।

अन्य दर्शनों में भंग-योजना का रहस्य—

भगों के सम्बन्ध मे स्पष्टता की जा चुकी है, फिर भी अधिक स्पष्टीकरण के लिए इतना समझना आवश्यक है, कि सप्तभगी मे मूलभग तीन ही है—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। शेष चार भग सयोगजन्य है तीन द्विसयोगी और एक त्रिसयोगी है। अद्वैत वेदान्त, बौद्ध और वैशेषिक दर्शन की दृष्टि से मूल तीन भगो की योजना इस प्रकार की जाती है।

अद्वैत वेदान्त मे एकमात्र तत्त्व ब्रह्म ही है। किन्तु वह 'अस्ति' होकर भी अवक्तव्य है। उसकी सत्ता होने पर भी वाणी से उसकी अभिव्यक्ति नही की जा सकती। अत: वेदान्त मे ब्रह्म 'अस्ति' होकर भी 'अवक्तव्य' है। बौद्ध-दर्शन मे अन्यापोह 'नास्ति' होकर भी अवक्तव्य है। क्योकि वाणी के द्वारा अन्य का सर्वथा अपोह करने पर किसी भी विधिरूप वस्तु का बोध नही हो सकता। अत: बौद्ध का अन्यापोह 'नास्ति' होकर भी अवक्तव्य रहता है। वैशेषिक दर्शन मे सामान्य और विशेष दोनो स्वतन्त्र है। सामान्य-विशेष अस्ति-नास्ति१ होकर भी अवक्तव्य रहता है। वैशेषिकदर्शन मे सामान्य और विशेष दोनों स्वतन्त्र है। सामान्य-विशेष अस्ति-नास्ति होकर अवक्तव्य है। क्योकि वे दोनो किसी एक शब्द के वाच्य नही हो सकते है और न सर्वथा भिन्न सामान्य-विशेष मे कोई अर्थ क्रिया ही हो सकती है। इस दृष्टि से जैन सम्मत मूलभगो की स्थिति अन्य दर्शनो मे भी किसी न किसी रूप मे स्वीकृत है२।

सकलादेश और विकलादेश

यह बताया जा चुका है कि प्रमाण वाक्य को सकलादेश और नय-वाक्य को विकलादेश कहते है। फिर भी उक्त दोनो भेदो को और अधिक स्पष्टता से समझने की आवश्यकता है। पाच ज्ञानो मे श्रुतज्ञान भी एक भेद है।

---

१. अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र, कुशलश्चेत्प्रयोजक ॥६३॥
—लघीयस्त्रय, प्रवचन प्रवेश

२. सोऽप्रयुक्तोऽपि तज्ज्ञै सर्वत्रार्थात्प्रतीयते,
तथैवकारो योगादि व्यवच्छेद प्रयोजन ॥
—तत्त्वार्थ श्लोक वा० १, ६, ५६

३. स्यादित्यव्ययम् अनेकान्त द्योतकम् ॥ स्याद्वाद मजरी का० ५ आचार्य हेमचन्द्र सूरि स्यात् को अनेकान्त बोधक ही मानते हैं, अत: उन्हे स्यात् प्रमाण मे अभीष्ट है, नय मे नही।—सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थ······अयोग० का० २८। जबकि भट्टाकलक लघीयस्त्रय ६२ मे स्यात् को सम्यग् अनेकान्त और और सम्यग् एकान्त उभय का वाचक मानते है, अत. उन्हे प्रमाण और नय—दोनो मे ही स्यात् अभीष्ट है।

---

१. विशेष व्यावृत्ति हेतुक होने से नास्ति है।

२. देखो, प० महेन्द्रकुमार सम्पादित जैनदर्शन पृ. ५४३

उस श्रुतज्ञान के दो[1] उपयोग हैं—स्याद्वाद और नय। स्याद्वाद सकलादेश है और नयविकलादेश। ये सातो ही भग जब सकलादेशी होते है, तब प्रमाण और जब विकलादेशी होते हैं, तब नय कहे जाते है। वस्तु के समस्त धर्मों को ग्रहण करने वाला सकलादेश और किसी एक धर्म को मुख्यरूप से ग्रहण करने वाला[2] तथा शेष धर्मों के प्रति उदासीन अर्थात् तटस्थ रहने वाला विकलादेश कहा जाता है। आचार्य सिद्धसेन के शब्दों मे—स्याद्वाद सम्पूर्णार्थविनिश्चायी है[3]। अतः वह अनेकान्तात्मक पूर्ण अर्थ को ग्रहण करता है। जैसे 'जीव.' कहने से जीव के ज्ञान आदि असाधारण धर्म, सत्त्व आदि साधारण धर्म और अमूर्तत्व आदि साधारणा-साधारण आदि सभी गुणो का ग्रहण होता है। अत. यह प्रमाण-वाक्य है—स्याद्वाद वचन है। नय वाक्य वस्तु के किसी एक धर्म का मुख्य रूप से कथन करता है जैसे "जो जीव" कहने से जीव के अनन्त गुणो में से केवल ज्ञानगुण का ही बोध होता है, शेषधर्म गौणरूप से उदासीनता के कक्ष मे पड़े रहते है। सकलादेशी वाक्य के समान विकलादेशी वाक्य मे भी 'स्यात्' पद का प्रयोग अनेक आचार्यों ने किया है। क्योकि वह शेप धर्मो के अस्तित्व की गौणरूप से मूक सूचना करता है। इस आधार से सप्तभगी के दो भेद किये जाते है—प्रमाण-सप्तभगी और नय-सप्तभंगी।

1. उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ, स्याद्वाद नय-सज्ञितौ।
   स्याद्वाद. सकलादेशो नयो विकल सकथा॥
   —लघीयस्त्रय श्लोक ६२
2. अनेक-धर्मात्मक वस्तुविषयक-बोधजनकत्व सकलादेशत्वम्।
   एक धर्मात्मक-वस्तु-विषयक-बोधजनकत्वं विकलादेशत्वम्। —सप्तभग तरगिणी पृ० १६
3. नयनामेकनिष्ठानां, प्रवृत्तो श्रुतवर्त्मनि;
   सम्पूर्णार्थविनिश्चायी, स्याद्वाद श्रुत मुच्यते।
   —न्यायावतार सूत्र श्लो० ३०

प्रमाण सप्तभंगी—

आगम और युक्ति से यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि वस्तु मे अनन्त धर्म हैं। अत. किसी भी एक वस्तु के पूर्णरूप से कथन करने के लिए तत् तद् अनन्त धर्म-बोधक अनन्त शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। परन्तु न यह सम्भव है, और न व्यवहार्य ही। अनन्त धर्मो के लिए पृथक्-पृथक् अनन्त शब्दो के प्रयोग मे अनन्तकाल बीत सकता है, और तब तक एक पदाथ का भी समग्रबोध न हो सकेगा। अस्तु, कुछ भी हो, हमे किसी एक शब्द से ही सम्पूर्ण अर्थ के बोध का मार्ग अपनाना पड़ता है। वह एक शब्द ध्वनि-मुखेन भले ही बाहर मे एक धर्म का ही कथन करता-सा लगता है, परन्तु अभेद प्राधान्य वृत्ति अथवा अभेदोपचार से वह अन्य धर्मों का भी प्रतिपादन कर देता है। उक्त अभेद प्राधान्य वृत्ति या अभेदोपचार से एक शब्द के द्वारा एक धर्म का कथन होते हुए भी अखण्डरूप से अन्य समस्त धर्मो का भी युगपत् कथन हो जाता है। अत. इसको 'प्रमाण-सप्त' भगी कहते है।

प्रश्न है, कि यह अभेद वृत्ति अथवा अभेदोपचार क्या चीज है? जबकि वस्तु के अनन्त धर्म परस्पर भिन्न है, उन सबकी स्वरूप सत्ता पृथक् है, तब उनमें अभेद कैसे माना जा सकता है? सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए केवल कथन मात्र अपेक्षित ही नही होता, उसके लिए कोई ठोस आधार चाहिए। समाधान है कि वस्तु तत्त्व के प्रतिपादन की दो शैलियाँ है—अभेद और भेद। अभेद-शैली भिन्नता मे भी अभिन्नता का पथ पकड़ती है और भेद-शैली अभिन्नता में भिन्नता का पथ प्रशस्त करती है। अस्तु, अभेद प्राधान्य वृत्ति या अभेदोपचार विवक्षित वस्तु के अनन्त धर्मों को काल, आत्म, रूप, अर्थ, सम्बन्ध उपकार, गुणिदेश, ससर्ग और शब्द की अपेक्षा से एक साथ अखण्ड एक वस्तु के रूप मे उपस्थित करता है। इस प्रकार एक और अखण्ड वस्तु के समस्त धर्मो का एक साथ समूहात्मक परिज्ञान हो जाता है। —क्रमशः

यज्ञ और अहिंसक परम्पराएं

आचार्य श्री तुलसी

[प्रस्तुत निबन्ध में श्रमण और वैदिक परम्पराओं की दृष्टि से 'यज्ञ' का तुलनात्मक विश्लेषण है। श्रमण सस्थाएँ नितान्त अहिंसक थीं। उसके प्राचीन ग्रन्थों से प्रमाणित है कि पहले बलि-यज्ञ नहीं होते थे, वे औषधि-यज्ञ के रूप मे प्रचलित थे। पहले वेदानुयायी भी यज्ञों में बलि नहीं देते थे। जैन तीर्थंकर मुनि-सुव्रतनाथ के तीर्थकाल में यह कार्य प्रारम्भ हुआ। यही राम-लक्ष्मण का भी युग था। इनका विरोध केवल जैन और बौद्ध सस्थाओं ने ही नहीं, अपितु सांख्य, शैव, कृष्ण और महर्षि नारद से सम्बधित तत्त्वों ने भी किया। इस भाँति लेख में आचार्य श्री की गहन विद्वत्ता के दर्शन होते हैं। उन्होंने गवेषणा-पूर्ण तथ्यों को आयासहीन रोचक ढग से प्रस्तुत किया है। काश, शोध में संलग्न विद्वान् यह ढंग अपना सकें।

—सम्पादक]

यज्ञ भारतीय साहित्य का बड़ा विश्रुत शब्द है। इसका सामान्य अर्थ था देवपूजा। वैदिक विचार धारा के योग से यह विशेष अर्थ मे रूढ़ हो गया—वैदिक कर्म-काण्ड का वाचक बन गया। एक समय भारतीय जीवन मे यज्ञ संस्था की धूम थी, आज वह निष्प्राण सी है। वेद-काल मे उसे बहुत महत्व मिला और उपनिषद्काल मे उसका महत्व कम होने लगा।

ऋग्वेदकालीन मान्यता थी—"जो यज्ञ रूपी नौका पर सवार न हो सके, वे अधर्मी है, ऋणी है और नीच अवस्था में दबे हुए है[1]।"

इसके विपरीत मुण्डकोपनिषद् मे कहा गया है—"यज्ञ विनाशी और दुर्बल साधन है। जो मूढ इनको श्रेय मानते है, वे बार-बार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं[2]।"

यज्ञ का विरोध—

श्रमण सस्थाएँ अहिंसा-निष्ठ थी, इसलिए वे प्रारम्भ से यज्ञ का विरोध कर रही थी। उसका प्रज्वलित रूप हमे जैन, बौद्ध साहित्य और महाभारत मे मिलता है। महाभारत यद्यपि श्रमणों का विचार-ग्रन्थ नहीं है, पर उसका एक बहुत बडा भाग उनकी विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करता है। सांख्य और शैव भी यज्ञ-सस्था के उतने ही विरोधी रहे है, जितने जैन और बौद्ध। प्रजापति दक्ष के यज्ञ मे शिव का आह्वान नही किया गया। महर्षि दधीचि ने अपने योग बल से यह जान लिया कि ये सब देवता एक मत हो गए है, इसलिए उन्होने शिव को निमन्त्रित नही किया है[3]। उन्होंने प्रजापति दक्ष से कहा—"मैं जानता हूँ, आप सब लोगों ने मिल-जुलकर, शिव को निमन्त्रित न करने का निश्चय किया है परन्तु मैं शंकर से बढकर किसी को देव नही मानता। प्रजापति दक्ष का यह विशाल यज्ञ नष्ट हो जाएगा[4]। आखिर वही हुआ। पार्वती के अनुरोध पर शिव ने वीरभद्र की सृष्टि की। उसने प्रजापति दक्ष के यज्ञ का विध्वस कर डाला[5]।

---

१. ऋग्वेद संहिता १०।४४।६
न ये शेकुर्यज्ञिया नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपय।

२. मुन्डकोपनिषद् १।२।७
प्लावा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा,
अष्टादशोक्तमवर येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा,
जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति॥

३. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २८४।१६

४. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २८४।२१

५. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २८४।२६-५०

यह कथा बताती है कि शिव उस संस्कृति के थे, जिसे यज्ञ मान्य नही था। इसीलिए देवताओ ने उन्हे निमंत्रित नही किया था।

साख्य कारिका मे स्पष्ट है कि साख्य लोग यज्ञ मे विश्वास नही करते थे। वे इसे हेय मानते थे।

महर्षि कपिल और स्यूमरश्मि के संवाद में भी यही प्राप्त होता है। स्यूमरश्मि हिसा का समर्थन करता है और महर्षि कपिल अहिसा की प्राचीन परम्परा को पुष्ट करते है। उन्होंने त्वष्टा के लिए नियुक्त गाय को देखकर निश्वास लेते हुए कहा—हा वेद ! तुम्हारे नाम पर लोग ऐसा-ऐसा अनाचार करते है।

स्यूमरश्मि ने कहा—आप वेदो की प्रमाणिकता मे सन्देह करते है। महर्षि कपिल बोले—मैं वेदो की निन्दा नही करता हूँ। किन्तु वैदिक मत से भिन्न दूसरा मत है—कर्मों का आरम्भ न किया जाए—उसका प्रतिपादन कर रहा हूं। यज्ञ आदि कार्यों मे आलम्बन (पशु-वध) न करने पर दोष नही होता और आलम्बन करने पर महान् दोष होता है। मै अहिसा से परे कुछ भी नही देखता१।

राक्षस नाग आदि यज्ञ विरोधी थे। पुराणों के अनुसार असुर आर्हत धर्म के अनुयायी हो गये थे२। रावण ने भी राजा मरुत को हिसात्मक यज्ञ से विमुख किया था३।

यज्ञ के प्रकार—

यज्ञ के मुख्य तीन प्रकार मिलते है—

१. औपधी-यज्ञ, जिसमे फल-फूल आदि का व्यवहार होता।

२. प्राणी-यज्ञ, जिसमे पशु और मनुष्य की बलि दी जाती।

३ आत्म-यज्ञ, जो आध्यात्म व्रत से सम्पन्न होता।

औषधी-यज्ञ—

'अजैर्यष्टव्यम्'—इस वैदिक श्रुतिका अर्थ-परिवर्तन किया गया, तब पशु-बलि प्रचलित हुई। इससे पूर्व औपधि-यज्ञ किए जाते थे। महाभारत का एक प्रसग है—एक बार ब्रह्म-ऋषि यज्ञ के लिए एकत्रित हुए। उस समय

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६८, श्लोक ७-१७
२. विष्णुपुराण ३।१७,१८
३. त्रिषष्ठिशलाका, पुरुष चरित्र, पर्व ७, सर्ग २, पत्र ७

देवताओं ने उनसे कहा—अज से यज्ञ करना चाहिए और इस प्रकरण मे अज का अर्थ बकरा ही है। ब्रह्मर्षियो ने कहा—यज्ञ मे बीजो द्वारा यजन करना चाहिए, यह वैदिक श्रुति है। बीज का नाम ही अज है, बकरे का वध करना उचित नही। यह सत्युग चल रहा है, इसमें पशु का वध कैसे किया जा सकता है१ ? देवता और ऋषि संवाद कर रहे थे, इतने मे राजा वसु उस मार्ग से निकला। वह सत्य-वादी था। सत्य के प्रभाव से उपरिचर था—आकाश मे चलता था। उसे देख ब्रह्मर्षियो ने देवताओ से कहा—वसु हमारा सन्देह दूर कर देगा। वे सब उसके पास गये। प्रश्न उपस्थित किया। राजा ने दोनो का मत जान अपना निर्णय देवताओ के पक्ष मे दिया। वह जानबूझ कर असत्य बोला, अत. ब्रह्मर्षियो ने उसे शाप दिया और वह आकाश से नीचे गिर पाताल मे चला गया२।

जैन-साहित्य मे भी 'अजैर्यष्टव्यम्'—इस विवाद का उल्लेख मिलता है। एक बार साधु-परिषद मे 'अज' शब्द को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ। उस समय ऋषि नारद ने कहा—जिसमें अकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई, वैसा तीन वर्ष पुराना जो 'अज' कहलाता है। पर्वत ने इसका प्रतिवाद किया। वह बोला—अज का अर्थ बकरा है३।

उस परिषद् मे पर्वत का अर्थ मान्य नही हुआ। वह क्रुद्ध होकर वहा से चला गया। उसने महाकाल असुर से मिल जाल रचा। स्थान-स्थान पर यह प्रचार शुरू किया—"पशुओं की सृष्टि यज्ञ के लिए की गई है। उनका वध करने से पाप नही होता किन्तु स्वर्ग के द्वार

१ महाभारत, शान्तिपर्व श्लोक ३३७।३-५
२. महाभारत, शान्तिपर्व, श्लोक ३३७।६-१७
३ उत्तरपुराण, पर्व ६७, श्लोक ३२९-३३२

गच्छत्येव तयो. काले कदाचित्साधुसंसदि।
अजैर्होतव्यमित्यस्य वाक्यस्यार्थप्ररूपणे॥
विवादोऽभून्महांस्तत्र विगताङ्कुरशक्तिकम्।
यवबीजं त्रिवर्षस्थमजमित्यभिधीयते॥
तद्विकारेण सप्तार्चिमुखे देवार्चनं विद.।
वदन्ति यज्ञमित्याख्यदनुपद्धति नारद॥
पर्वतोप्यज शब्देन पशुभेदः प्रकीर्तित ।
यज्ञेऽग्नौ तद्विकारेण होत्र मित्यवदद्विधी.॥

खुल जाते है।" राजा सगर को विश्वास दिलाकर पर्वत ने साठ हजार पशु यज्ञ के लिए प्राप्त किए। मत्रोच्चारण पूर्वक उन्हे यज्ञ-कुण्ड मे डालना शुरू किया। महाकाल असुर ने दिखाया कि वे सब पशु विमान मे बैठ सदेह स्वर्ग जा रहे है। उस माया मे लोग मूढ हो गए। यज्ञ मे मरने को स्वर्ग प्राप्ति का उपाय मानने लगे१। राजा वसु की सभा मे भी नारद और पर्वत का विवाद हुआ। राजा वसु ने पर्वत की मा (अपने गुरु की पत्नी) के आग्रह से पर्वत का पक्ष ले अज का अर्थ बकरा किया। उसने कहा—पर्वत जो कहता है, वह स्वर्ग का साधन है। भय मुक्त होकर सब लोग उसका आचरण करे। इस असत्य-वाणी के साथ-साथ वसु का सिंहासन भूमि मे धस गया२।

इन दोनो आख्यानों से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि प्रारम्भ मे वैदिक लोग भी यज्ञ मे पशु-बलि नही देते थे। महाभारत के अनुसार वह देवताओ और उत्तर पुराण के अनुसार महाकाल असुर और पर्वत ब्राह्मण के आग्रह से शुरू हुई।

राजा वसु पहले पशु-यज्ञ का विरोधी और अहिंसा-प्रिय था। उसने एक बार यज्ञ किया। उसमे किसी पशु का वध नही हुआ उसमे जगल मे उत्पन्न फल-फूल आदि पदार्थ ही देवताओ के लिए निश्चित किए। उस समय देवाधिदेव भगवान् नारायण ने प्रसन्न होकर राजा को प्रत्यक्ष दर्शन दिया। किन्तु दूसरे किसी को उनका दर्शन नही हुआ३।

इस प्रकरण मे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वसु अहिंसा-धर्मी और निराशी कामनाओ से मुक्त था। उसने सभव है परम्परा के निर्वाह के लिए यज्ञ किया। पर उसका यज्ञ पूर्णत. औषधि-यज्ञ था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण भी पशु-बलि के नितान्त विरोधी थे। उन्होने वसु को दर्शन इसीलिए दिया कि उसने अपने यज्ञ मे पशु-बलि का सर्वथा तिरस्कार किया था।

१ उत्तरपुराण, पर्व ६७, श्लोक ४१३-४३६

२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३६, श्लोक १०-१२
सम्भूता सर्वसम्भारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ।
न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैव स्थितोऽभवत् ॥
अहिंस्र शुचिरक्षुद्रो निराशी कर्मसंस्तुत.।
आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिता ॥
प्रीतस्ततोऽस्य भगवान् देवदेव पुरातन ।
साक्षात् त दर्शयामास सोऽदृश्योऽन्येन केनचित् ॥

३. महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ३३६ श्लो० १०-१२

प्राणी यज्ञ

जैन पुराणो के अनुसार पशु बलि वाले यज्ञों का प्रारम्भ बीसवे तीर्थङ्कर मुनिसुव्रत के तीर्थकाल में हुआ। यही काल राम लक्ष्मण का अस्तित्व काल है। इस काल मे महाकाल असुर और पर्वत के द्वारा पशु यज्ञ का विधान किया गया१। महर्षि नारद ने उसका घोर विरोध किया था२।

वैश्य तुलाधार ने पशु हिंसा का विरोध किया तो मुनि जाजलि ने उसे नास्तिक कहा। इस पर तुलाधार ने कहा—जाजले! मैं नास्तिक नहीं हूँ, और यज्ञ का निन्दक भी नही हूँ। मै उस यज्ञ की निन्दा करता हूँ, जो अर्थ-लोलुप नास्ति व्यक्तियों द्वारा प्रवर्तित है३। हिंसक यज्ञ पहले नही थे। यह महाभारत से प्रमाणित होता है। राजा विचख्नु ने देखा—यज्ञशाला में एक बैल की गर्दन कटी हुई है बहुत सी गौएं आर्तनाद कर रही हैं और कितनी ही गौवे खडी है। यह देख राजा ने कहा—गौवो का कल्याण हो। यह तब कहा जब हिंसा प्रवृत्त हो रही थी४। जैन साहित्य मे मिलता है कि ऋषभपुत्र भरत के द्वारा वेदो की रचना हुई थी। उनमे हिंसा का विधान नही था। बाद मे कुछ व्यक्तियो द्वारा उनमे हिंसा के विधान कर दिए गए। इस विषय में महाभारत की भी सहमति है कि वेदो मे पहले हिंसात्मक विधान नहीं थे। वहाँ लिखा है—सुरा, आसव, मधु, मास, तिल और चावल

१ उत्तरपुराण, पर्व ६७, श्लोक ३२७–३८४

२. उत्तरपुराण, पर्व ६७, श्लोक ३८५–४४५

३ महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६३, श्लोक २-१८
"छिन्नस्थूण वृष दृष्ट्वा विलाप च गवा भृशम्।
गोग्रहेऽयज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिव ॥
स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचन कृतम्।
हिंसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषा तु कल्पिता ॥"

४. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५, श्लोक २३

की खिचडी—इन वस्तुओं को धूर्तों ने यज्ञ में प्रचलित कर दिया है। वेदों में इनके उपयोग का विधान नही है। उन धूर्तों ने अभिमान, मोह और लोभ के वशीभूत होकर उन वस्तुओं के प्रति अपनी लोलुपता ही प्रकट की है[१]।

जैन-साहित्य का उल्लेख है—ऋषभपुत्र भरत द्वारा स्थापित ब्राह्मण स्वाध्यायलीन थे। फिर बाद मे उनका स्थान लालची ब्राह्मणो ने ले लिया। महाभारत मे भी ऐसा उल्लेख मिलता है। वहाँ लिखा है—प्राचीनकाल के ब्राह्मण सत्य-यज्ञ और दम-यज्ञ का अनुष्ठान करते थे। वे परम पुरुषार्थ-मोक्ष के प्रति लोभ रखते थे। उन्हें धन की प्यास नही रहती थी। वे उससे सदा तृप्त थे। वे प्राप्त वस्तु का त्याग करने वाले और ईर्ष्या-द्वेष से रहित थे। वे शरीर और आत्मा के तत्त्व को जानने वाले और आत्म-यज्ञ परायण थे। वे ब्राह्मण वेद के अध्ययन में तत्पर रहते थे। स्वयं सन्तुष्ट थे और दूसरों को सन्तोष की शिक्षा देते थे[२]।

वैश्य तुलाधार ने उक्त बात ब्राह्मण ऋषि जाजल से कही। इसमें उस प्राचीन परम्परा की सूचना है जिसके अनुयायी ब्राह्मण भी अहिंसा-प्रधान थे।

आत्म-यज्ञ

नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर—इन चार तीर्थङ्करों के काल से हिंसापूर्ण यज्ञ का प्रतिरोध होता रहा। हिंसा के जो संस्कार सुदृढ हो गए थे, वे एक साथ ही नही टूटे। उन्हें टूटते-टूटते लम्बा समय लगा।

तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में हिंसक-यज्ञ के विरोध में आत्म-यज्ञ का स्वर प्रबल हो उठा था। श्री कृष्ण, जो अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे, आत्म-यज्ञ के प्रतिपादन मे बहुत प्रयत्नशील थे। अरिष्टनेमि और कृष्ण दोनो के समवेत प्रयत्न ने जो विशेष स्थिति का सूत्रपात किया, उसका परिणाम भगवान महावीर और बुद्ध के अस्तित्वकाल में संदृष्ट हुआ।

राजा विचरन्नु का वह स्वप्न साकार हो उठा—धर्मात्मा मनु ने सब कामों में अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है। मनुष्य अपनी ही इच्छा से यज्ञ की बाह्य वेदी पर पशुओं का बलिदान करते है। विद्वान पुरुष प्रमाण के द्वारा धर्म के सूक्ष्म स्वरूप का निर्णय करे। अहिंसा सब धर्मों मे ज्येष्ठ है। यह जान वेद की फल-श्रुतियो—काम्य कर्मों—का परित्याग कर दे। सकाम कर्मो के आचरण को अनाचार समझ उनमे प्रवृत्त न हो[१]।

उछ वृत्ति ऋषि के यज्ञ मे धर्म ने मृग का रूप धारण कर यही कहा था—अहिंसा ही पूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है[२]।

"सुरा मत्स्या मधु मासमासव कृसरौदनम्।
धूर्तै. प्रवर्तितं ह्य तन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥"

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५, श्लोक ९–१०
२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५, श्लोक १८-२१

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५, श्लोक ५–७
"अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः।"
२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २७२, श्लोक २०

अपभ्रंश का एक प्रमुख कथाकाव्य

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, रायपुर

[डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री का यह निबन्ध शोधपूर्ण है। उन्हें 'भविसयत्त कहा' पर ही अभी पी-एच० डी० की उपाधि आगरा विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई है। प्रस्तुत निबन्ध में 'भविसयत्त कहा' का साहित्यिक दृष्टि से पूर्ण परिचय दिया गया है। यदि अन्तिम दो-तीन पेराग्राफ जायसी के पद्मावत और जैनकवि लालचंद लब्धोदय के पद्मिनी-चरित से तुलनात्मक हो जाते तो निबध की 'केवल परिचय' वाली रूक्षता का परिहार हो जाता।
—सम्पादक]

अपभ्रंश के प्रकाशित तथा उपलब्ध कथाकाव्यों में 'भविसयत्त कहा' मुख्य कथाकाव्य है। यह काव्य बाईस सन्धियो मे और दो खण्डो मे निबद्ध है[१]। इसमे श्रुत-पंचमी व्रत के फल के वर्णन स्वरूप भविष्यदत्त की कथा का वर्णन है। इसलिए इसे 'श्रुतपचमी कथा' भी कहते है। अपभ्रंश तथा भारतीय अन्य भाषाओ मे छोटी-छोटी धार्मिक कथाओ की कमी नही है। हजारो की सख्या मे इतिवृत्तात्मक कथाएँ मिलती है। परन्तु प्रवन्ध काव्य के रूप मे लिखी गई कथाएँ कम है। भविष्यदत्त कथा का प्रकाशन सबसे पहली बार हर्मन जेकोबी ने सन् १६१८ मे मचन (जर्मन) से कराया था। यह काव्य प्रो० जेकोबी को भारत-यात्रा में २१ मार्च, १६१४ ई० को अहमदाबाद मे पण्य गुलाब विजय से प्राप्त हुआ था। भारतवर्ष मे इसे प्रकाशित कराने का श्रेय सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे को है। उनके प्रयत्न से यह प्रबन्ध काव्य सन् १६२३ मे गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बडौदा से प्रकाशित हुआ था। पहली बार भाषा की दृष्टि से इसका मूल्याकन किया गया था और दूसरी बार देशी शब्द और काव्यत्व की दृष्टि से इसका महत्व कूता गया। मेरी दृष्टि में काव्य-कला, प्रबन्ध-रचना और लोक-तत्त्वो की सयोजना मे इस रचना का वैशिष्ट्य लक्षित होता है। अतएव अपभ्रंश-साहित्य मे ही नहीं मध्ययुगीन भारतीय साहित्य में भी यह महत्त्व पूर्ण रचना सिद्ध होती है।

इस कथाकाव्य के लेखक महाकवि धनपाल है, जिन का जन्म धक्कड वश में हुआ था। यद्यपि कवि धनपाल के सम्बन्ध में अभी तक विशेष जानकारी नही मिल सकी है परन्तु ग्रन्थकार ने अपना जो परिचय दिया है वह संक्षिप्त होने पर भी महत्वपूर्ण है। कवि के पिता का नाम मायेसर और माता का नाम धनसिरिदेवी था[२]। उन्हे सरस्वती का वर प्राप्त था[३]। धर्कट या धक्कड जाति वैश्य थी। मुख्यरूप से यह मारवाड और गुजरात मे बसती थी। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय के लोग इस वश मे हुए है। धर्मपरीक्षा के रचयिता कवि हरिषेण भी इसी वश के थे। महाकवि वीर कृत 'जम्बू-स्वामी चरित' मे भी मालवदेश मे धक्कड़ वश के तिलक महासूदन के पुत्र तक्खडु श्रेष्ठी का उल्लेख मिलता है। देलवाड़ा के वि० सं० १२८७ के तेजपाल वाले शिलालेख मे भी धर्कट जाति का उल्लेख है[४]। ऐतिहासिक प्रमाणो

---

१. विरइउ एउ चरिउ धणवालि,
विहि खण्डहिं वावीसहिं सन्धिहिं।
—भविसयत्तकहा, २२, ६

२. धक्कडवणिवंसि माएसरहु समुब्भविण।
धणसिरिदेवि सुएण विरइउ सरसइ संभविण।
—वही २२, ६

३. चिन्तिय धणवालें वणिवरेण,
सरसइ बहुलद्ध महावरेण। —वही, १, ४

४. प० परमानन्द जैन शास्त्री का लेख 'अपभ्रंश भाषा का जम्बूस्वामीचरिउ और महाकवि वीर, प्रकाशित 'अनेकान्त', वर्ष १३, किरण ६, पृ० १५५

के आधार पर यह वंश दसवी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी तक प्रसिद्ध रहा है। अन्तरग प्रमाणो से भी पता चलता है कि कवि दिगम्बर जैन था। क्योंकि अष्ट-मूलगुणों का वर्णन, सल्लेखना का चतुर्थ शिक्षाव्रत के रूप में उल्लेख, सोलह स्वर्गों का वर्णन और अन्य सैद्धान्तिक विवेचन दिगम्बर मान्यताओं के अनुकूल हुआ है। 'जेण भजिवि दियम्बरि लायउ' से भी स्पष्ट है कि धनपाल दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

यद्यपि अद्यावधि धनपाल विरचित 'भविष्यदत्त कथा' ही एकमात्र रचना उपलब्ध हो सकी है परन्तु कवि की प्रतिभा और योग्यता को देखते हुए सहज मे ही यह प्रतीत होता है कि उसने अन्य रचनाएं भी की होंगी। प्रतिभा के धनी धनपाल ने अपनी रचनाओ का उल्लेख तो नही किया है परन्तु इनकी अन्य रचनाएँ भी सभावित है।

धनपाल नामधारी चार कवि

प० परमानन्द शास्त्री ने धनपाल नाम के चार विद्वानो का परिचय दिया है[५]। ये चारो ही भिन्न-भिन्न काल के परस्पर भिन्न कवि एव विद्वान् हैं। इनमे से दो सस्कृत के कवि थे और दो अपभ्र श के। सस्कृत के कवि धनपाल राजा भोज के आश्रित थे। इन्होने दसवी शताब्दी मे 'पाइयलच्छी नाममाला' की रचना की थी। दूसरे धनपाल तेरहवीं शताब्दी के सस्कृत कवि है। उनके द्वारा लिखित 'तिलकमजरीसार' नामक गद्य ग्रन्थ का ही अब तक पता लग पाया है। तीसरे धनपाल अपभ्र श भाषा मे लिखित 'बाहुबलिचरित' के रचयिता है जिनका समय पन्द्रहवी शताब्दी है। ये गुजरात के पुरवाड-वश के प्रधान थे। इनकी माता का नाम सुहडादेवी और पिता का नाम सेठ सुहडप्रभ था[६]। चौथे धनपाल आलोच्यमान मुख्य कथा-काव्य के लेखक धक्कड़वश के कवि थे। इस प्रकार चारो धनपाल नामधारी कवियो का समय अलग-अलग है। चारों ही भिन्न काल के विभिन्न कवि एव लेखक थे।

५. वही, अनेकान्त, किरण ७-८, पृ० ८२

६. गुज्जरपुरवाडवशतिलउ सिरि सुहडसेट्ठि गुणगणणिलउ। तहो मणहर छायागेहणिय सुहडाएवी णामे भणिय। —बाहुबलिचरित की अन्तिम प्रशस्ति।

इनमें थोडा-बहुत भी कही साम्य नही दिखाई पडता है। जिससे किसी कवि का विचार कर उनकी अभेदता पर प्रकाश डाला जा सके।

रचना-काल

अत्यन्त आश्चर्य है कि दसवी शताब्दी से लेकर सोलहवी शताब्दी तक के जिन कवियों के अपभ्रंश-काव्य प्रकाश मे आये है और जिनमे पूर्ववर्ती कवियो का उल्लेख किया है उनमे धनपाल का नाम नही मिलता है। इससे यह पता चलता है कि कवि की प्रसिद्धि लोक मे अधिक दिनों तक नही रही अथवा कवि अधिक दिनों तक पार्थिव देह मे नही रहा। परन्तु "भविसयत्तकहा" की प्रबन्ध-रचना और काव्य-शैली का प्रचलन किसी न किसी रूप मे बराबर बना रहा है।

जर्मन विद्वान् हर्मन जेकोबी ने श्री हरिभद्र सूरि के "णेमिणाहचरिउ" धनपाल की भविसत्तकहा की भाषा की तुलना करते हुए लिखा है कि कम से कम दसवीं शताब्दी मे धनपाल रहे होगे। क्योकि जेकोबी के अनुसार हरिभद्र सूरि नवमी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के कवि है। परन्तु मुनि जिनविजय जी के अनुसार वे आठवी शताब्दी के है जो कई प्रमाणो से निश्चित है[७]। प्रो० जेकोबी के विचारों मे दोनों नेरेटिव लिटरेचर है और हरिभद्र की भाषा धनपाल की भाषा से बिलकुल अलग है। हरिभद्र की भाषा पर प्राकृत का प्रभाव अधिक है। दोनों की शैली भी भिन्न है। धनपाल से हरिभद्र की शैली उदात्त है[८]। इस प्रकार भाषा की दृष्टि से जर्मन विद्वान् ने जो निष्कर्ष निकाले थे वे वास्तविकता से परे ही जान पड़ते है। उनके विचारो का विश्लेषण करते हुए सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे ने लिखा है कि धनपाल की भाषा, आ० हेमचन्द्र के व्याकरण मे प्रयुक्त अपभ्र श भाषा से प्राचीन है। उनकी

७. भविसयत्तकहा (स० दलाल और गुणे) की भूमिका, पृष्ठ ३।

८. डा० हर्मन जेकोबी द्वारा लिखित "इण्ट्रोडक्सन टु द भविसयत्तकहा" अनु० प्रो० एस० एन० घोषाल, प्रकाशित जर्नल आव द ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, बडौदा, जिल्द २, मार्च १९५३, सख्या ३, पृष्ठ २३८–३९।

भाषा में जो वैकल्पिक रूपो की प्रचुरता, लोच और व्याकरण के नियमों की शिथिलता दिखाई पड़ती है वह आ० हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरण मे नही मिलती। इसका यही अर्थ है कि धनपाल ने जब अपने इस काव्य को लिखा होगा तब अपभ्रंश लोक मे बोली जाती थी और हेमचन्द्र के समय मे (बारहवी शताब्दी) में आकर वह केवल साहित्य की भाषा बन कर रह गई थी९। डा० भायाणी ने स्वयम्भू के "पउमचरिउ" और धनपाल की 'भविसयत्त-कहा' के कुछ अशो की तुलना करते हुए यह निश्चय किया है कि धनपाल के सामने प्रारम्भिक कडवको को लिखते समय "पउमचरिउ" विद्यमान था१०। और इन सब प्रमाणो के आधार पर विद्वानो ने धनपाल का समय दसवी या ग्यारहवी शताब्दी माना है। यह तथ्य एक प्रकार से रूढ हो गया कि "भविसयत्तकहा" दसवी शताब्दी की रचना है। परन्तु उपलब्ध प्रति के आधार पर अब इन मतो का खण्डन हो गया है। लेखक को प्राप्त हुई इस कथाकाव्य की सबसे प्राचीन प्रति मे यह प्रमाणित है कि इसका रचना-काल दसवी शताब्दी न होकर चौदहवीं शताब्दी है।

यदि हम धनपाल की भविष्यदत्त कथा का प्रारम्भिक भाग यह मानकर छोड दे कि पूर्ववर्ती प्रबन्ध-काव्य की परम्परा उत्तरकालिक प्राकृत तथा अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यो की रचना होती रही है इसलिए महाकवि स्वयम्भू के "पउमचरिउ" का प्रभाव प्रस्तुत काव्य मे मिलता है तो स्वाभाविक ही है। दोनो को ध्यान मे देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि धनपाल ने "पउमचरिउ" को आदर्श मानकर कुछ बाते प्रभाव रूप मे और कुछ ज्यो की त्यो ग्रहण की है। उदाहरण के लिए—जिस प्रकार केतुमती पुत्र के वियोग मे "हा पुत्त-पुत्त" कह कर विलाप करती है वैसे ही कमलश्री भविष्यदत्त के शोक मे "हा हा पुत्त-पुत्त" कहती हुई करुण विलाप करती है। इससे स्पष्ट है कि धनपाल स्वयम्भू के पश्चात् हुए। और वर्षो के अन्तराल से नही वरन शताब्दियो के बाद हुए। अतएव उन पर स्वयम्भू का उतना प्रभाव नहीं है जितना कि विबुध श्रीधर विरचित "भविष्यदत्तचरित्र" बारहवी शताब्दी (वि०सं० १२३०)[†] की रचना मे है। लोक-जीवन का प्रभाव और अभिव्यंजना की लोक-प्रचलित शैली धनपाल ने सम्भवत: विबुध श्रीधर से ग्रहण की होगी। क्योकि चौदहवीं शताब्दी मे आकर अपभ्रंश रूढ हो चुकी थी। उसका विकास रुक गया था। वह परिनिष्ठित हो चुकी थी। किन्तु धनपाल की भाषा मे जो लोक-तत्त्व मिलता है वह विबुध श्रीधर का प्रभाव कहा जा सकता है। इस प्रकार अन्तरग प्रमाणो से यह प्रतीत होता है कि धनपाल का जन्म तेरहवी[‡] शताब्दी मे हुआ था और वि० स० १३९३ मे उन्होने "भविसयत्तकहा" की रचना की थी। यह कथा-काव्य कवि के शब्दो मे—वि० सवत्सर तेरह सौ तेरानवे मे, पौष मास मे, शुक्ल पक्ष मे, बारस सोमवार रोहिणी नक्षत्र मे, बाधू के लिए यह सुन्दर शास्त्र समाप्त हुआ था११। कवि ने उस समय दिल्ली के सिंहासन पर मुहम्मदशाह का शासन करना लिखा है। इतिहास मे बादशाह का नाम मुहम्मद बिन तुगलक मिलता है। किंतु उसके अन्य नामो मे मुहम्मद तुगलक और मुहम्मदशाह का भी उल्लेख मिलता है१२। मुहम्मद बिन तुगलक का शासनकाल १३२५–५१ ई० माना जाता है। आलोच्यमान रचनाकाल १३३६ ई० है। ग्रन्थ की पुष्पिका मे जिस

[†] यहाँ बारहवी शताब्दी नही किन्तु तेरहवी शताब्दी होना चाहिए क्योकि स० १२३० तेरहवी शताब्दी है। —सम्पादक

[‡] उक्त निष्कर्षानुसार धनपाल का जन्म विक्रम की १४वी शताब्दी मे हुआ था, तेरहवी मे नही। क्योंकि उसका रचनाकाल स० १३९३ दिया है। —संपादक

९. भविसयत्तकहा की भूमिका, पृ० ४।

१०. डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी : पउमचरिउ की भूमिका, पृष्ठ ३६–३७।

११. सुमवच्छरे अक्किरा विक्कमेण,
अहीर्एहि तेणवुदि तेरहमएण।
वारिस्सेय पूसेण सेयम्मि पक्खे,
तिही वारसी सोमिरोहिणिरिक्खे ॥
—भविसयत्तकहा की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति की अन्तिम प्रशस्ति मे।

१२. द दिल्ली सल्तनत : प्रकाशित भारतीय विद्याभवन प्रथम सस्करण, पृ० ६१।

विद्रोह का उल्लेख है वह दिल्ली सल्तनत से सम्बन्धित था जो लगभग १३३५ ई० के लगभग हुआ था। इसी प्रकार १३३५ ई० के अकाल का भी उल्लेख मिलता है। कवि धनपाल जौनपुर के निकट (लगभग चौदह-पन्द्रह मील दूर) जफ़राबाद मे रहते थे। अकाल पड़ने पर सन् १३३५ मे दिल्ली की दशा बहुत ही खराब हो गई थी। धर्मात्मा हिमपाल दिल्ली मे रहते थे। वे बहुत ही वैभव सम्पन्न थे। उसका पुत्र वाघू था। उसके लिए कवि ने यह कथा-काव्य लिखा था। और इसके समाप्त होने पर वाघू जफराबाद लेने के लिए पहुँचा था१३। इस प्रकार इतिहास के आलोक मे हमे जो तथ्य प्राप्त होते है उनकी संगति और प्रामाणिकता का भी निश्चय हो जाता है।

पूर्व परम्परा

अपभ्रंश में लिखी जाने वाली यह कथा धनपाल के लिए नई वस्तु नही थी। क्योंकि उसके पूर्व प्राकृत मे महेश्वरसूरि "ज्ञानपंचमी कथा" और सस्कृत मे श्रीधर कवि भविष्यदत्तचरित्र लिख चुके थे। अपभ्रंश मे भी विबुध श्रीधर "भविष्यदत्तचरित्र" की रचना कर चुके थे। "ज्ञान पचमी कथा" और 'भविसयत्तकहा' मे कई बातों में अन्तर है। मुख्य रूप से ज्ञान पंचमी कथा मे वरदत्त और गुणमंजरी की कथा वर्णित मिलती है। पात्रों मे नाम-भेद के साथ ही कही-कही कार्य-व्यापारो मे भी अन्तर मिलता है। परन्तु दोनो का उद्देश्य एक है। और कथा-वस्तु भी लगभग समान है। केवल नामों मे अन्तर है, मुख्य कामो मे नही। प्राकृत में लिखी गई कथा अत्यन्त संक्षिप्त पद्यबद्ध है। उसमे भविष्यदत्त कथा का उत्तरार्द्ध नहीं है। वस्तुत धनपाल की भविष्यदत्त कथा का कथानक अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर से लिया गया है। जिसमे कई बातो मे अद्भुत साम्य मिलता है। परन्तु सिन्धुनरेश के साथ भविष्यदत्त के युद्ध का वर्णन धनपाल की निजी कल्पना है जो पूर्ववर्ती रचनाओ मे नही मिलती।

जैन-साहित्य में भविष्यदत्त की कथा अत्यन्त विख्यात रही है अतएव प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में इस कथा के पद्यबद्ध लिखे जाने के उल्लेख मिलते है। जिन रत्नकोश मे दस "ज्ञान पंचमी" कथाओं का उल्लेख है।१४ इसी प्रकार मंजुश्री विरचित "कार्तिक सौभाग्य पचमी माहात्म्य कथा" सस्कृत मे तथा पद्मसुन्दर कृत "भविष्यदत्त चरित्र" (नाटक) का उल्लेख मिलता है। १५। हिन्दी में ब्र० रायमल्ल विरचित "भविष्यदत्त चौपई" मिलती है जिसे पंचमी कथा या पचमीरास भी कहते है। बनवारी कृत "भविसदत्त चरित्र" सवत् १६६६ की रचना है जो चौपाई छन्द मे निबद्ध है। इसी प्रकार मुनि सुरेन्द्र भूषण रचित "पचमी व्रत कथा" वि० स० १७५७ की लिखी रचना है, जिसे कवि ने "ऋषि पचमी व्रत कथा" कहा है। जिन उदय गुरु के शिष्य और ठक्कर माल्हे के पुत्र विद्धणू विरचित "चउपई" भी मिलती है जिसका उल्लेख प० नेमिचन्द्र शास्त्री ने किया है१६। न्यामतसिंह विरचित "भविष्यदत्त तिलकसुन्दरी" पद्यबद्ध नाटक है। और पन्नालाल चौधरी कृत "भविष्यदत्तचरित्र" हिन्दी-गद्य मे लिखा मिलता है। इसी प्रकार भविष्यदत्त तथा पंचमी व्रत कथा के नाम से कई अज्ञात रचनाए हिन्दी मे लिखी मिलती है। गुजराती में वणारसी कृत "ज्ञान पंचमी चैत्यवन्दन" ज्ञान-पचमी उद्यापनविधि स्वाध्याय, और विजयलक्ष्मीसूरि रचित "ज्ञान पचमीदेववन्दन", ज्ञान-पचमी स्वाध्याय तथा गुणविजय कृत "ज्ञान पंचमी स्तवन" आदि रचनाएँ मिलती है१७। सस्कृत मे मेघविजय विरचित "पचमी कथा" और क्षमा कल्याण कृत "सौभाग्य पचमी"

---

१३. डा० नागेन्द्र : अरस्तू का काव्य शास्त्र, पृ० ७५।

१४ मुहमइमाहो विराओ पयडो,
लिओ तेण सायरपमाणेहि दण्डो,
उसविकट्टि णिद्दलिवि मलिओवि माणो,
किओ रज्जु इकच्छत्ति उवयतमाणो।
पयट्टे विद्रुसम्मि काले रउद्दे,
पहुतो सुवद्धम जफरायवादे।
इहते परत्ते सुहायारहेउ,
तिणे लिहिय सुअपंचमी णियहं हेउ ॥ ग्रंथ-प्रशस्ति।

१५. स० एच० डी० वेलणकर · जिनरत्नकोश, पृ० १४८

१६. वही, पृ० ८५। १७. नेमिचन्द्र शास्त्री, जैन-साहित्य-परिशीलन, पृ० २०९।

कथा काव्यों का उल्लेख मिलता है[१८]। मुक्तिविमल कृत "ज्ञान पचमी" तो बहुत पहले (१६१६ ई०) मे प्रकाशित हो चुकी है। इस प्रकार कथाएँ मिलती है जिनमे भविष्यदत्त का कथानक काव्य के विभिन्न रूपों मे चित्रित किया गया है। परन्तु भावों की उदात्तता कल्पना की अतिशयता और वस्तु का जो यथार्थ चित्रण हमे धनपाल के कथा काव्य मे मिलता है उतने सुन्दर रूप मे अन्य काव्य मे नही है। कवि ने अपनी रचना को दो खण्डो और बाईस सधियों मे विभक्त कहा है। प्रबन्ध और वस्तु-तत्त्व की योजना सोद्देश्य नियोजित है। इसलिए धार्मिकता का पुट स्पष्ट है। किन्तु भवान्तर तथा अति लौकिक बातो को यदि छोड दिया जाये तो कथा शुद्ध रूप मे लोक कथा झलकने लगती है।

अपभ्र श के कथाकाव्यो मे भविष्यदत्त की कथा अत्यन्त करुण, सजीव और यथार्थ है। परिवार की छोटी-सी घटना को लेकर वस्तु-बीज किस प्रकार समाज, जाति और देश के मूल तक पहुँच जाता है—इसका सटीक वर्णन इस काव्य मे मिलता है। समस्याए प्रत्येक युग मे प्रत्येक सामाजिक के सामने रही है और उसकी सफलता तथा विफलता का समाधान प्रायः साहित्यकार करते हैं। यही नही, उनके परिणमन तथा सघर्षो के परिणामो का लेखा-जोखा भी किसी न किसी रूप मे चित्रबद्ध किया जाता रहा है। धनपाल के इस कथा काव्य को पढने से स्पष्ट हो जाता है कि उस युग मे किस प्रकार सामन्त युगीन धनिक वर्ग कामवासना की तृप्ति के लिए बहु विवाह करते थे और सतति पर उसका क्या दुष्परिणाम पडता था? इसी प्रकार सत्ता तथा बाहुबल पर किस प्रकार राजा लोग सुन्दरी का अपहरण करते थे और इस प्रकार छोटी-छोटी बातो के लिए युद्ध करते थे? भाई-भाई किस प्रकार सम्मान तथा आत्म-तृप्ति के लिए सगे भाई के साथ छल-कपट करते थे और किस प्रकार मातृ-तुल्य भौजाई को हथिया लेने का षड्यन्त्र रचते थे? किस प्रकार भाई तथा भौजाई अपनी परीक्षा देते थे और अन्त मे सफलता प्राप्त करते थे? ऐसे ही कुछ प्रश्न है, जिन पर कवि ने प्रकाश डाला है।

वस्तु-विवेचन

कथानक के दो भेद कहे जाते है—सरल और जटिल। सरल कथानक में कार्य-व्यापार एक ओर अविच्छिन्न रहता है। वस्तु की जटिलता एवं उलझन इसमे नही मिलती। जहाँ-कहीं लेखक को उलझन या रहस्य प्रतीत होता है वही तुरन्त घटना विशेष से उसका सम्बन्ध जोड देता है। इस प्रकार मुख्य कथा कई छोटी-छोटी कथाओ से एक माला के रूप मे अनुबद्ध रहती है। अपभ्र श के कथाकाव्यो मे हमे अधिकतर ऐसी ही कथाएँ मिलती है जो श्रृखलाबद्ध रूप मे वर्णित है। इसे ऐकिक कहानी कहा जा सकता है जिसमे कई सरल कथाओं से मिलकर एक बृहत्कथा बनती है। मूल रूप मे कथा बहुत छोटी रहती है किन्तु वस्तु-वर्णन तथा विभिन्न अभिप्राय-मूलक घटनाओ के योग से समूचे जीवन का चित्र चित्रित करने वाले प्रबन्ध काव्य का आकार ग्रहण कर लेती है। उदाहरण के लिए भविष्यदत्त की कथा मे एक साथ तीन अन्य उपकथाए जुडी हुई है। मुनि के आशीर्वाद से भविष्यदत्त का उत्पन्न होना और पॉच सौ व्यापरी एव भाई बन्धुदत्त के साथ समुद्री-यात्रा के लिए जाना, मार्ग मे मैनागद्वीप में बन्धुदत्त के द्वारा भविष्यदत्त को छोड दिया जाना, वहाँ से भविष्यदत्त का तिलकपुर मे पहुँचना और भविष्यानुरूपा से मिलना, बन्धुदत्त के लौट कर आने पर उसी द्वीप मे फिर से मिलने और छल से पुन: भाई को अकेला छोड कर बन्धुदत्त का भाभी के साथ घर पहुँचने की कथा एक सूत्र मे बद्ध है। यह कथा मूल रूप मे "बड़ी माँ की कहानी" है जिसमे सौतेली माँ का व्यवहार और उसके सिखाये हुए पाठ से बडे भाई के साथ छोटे भाई का खोटे से खोटा कर्म और नीच कर्म का वर्णन तथा उसके फल का विवरण है। कही-कही इन घटनाओ से कथा को गतिशील बनाये रखने के लिए उपवाक्यो की भाँति उपकथाएँ जुडी रहती है। संक्षेप मे, यदि भविष्यदत्त की कथा की घटनाओ पर विचार किया जाये तो निम्न-लिखित घटनाये मुख्य लक्षित होगी।

१८. महेश्वर सूरि कृत ज्ञानपंचमीकथा का प्रस्तावना, पृ० ७। १६. मोहनलाल दुलीचद देसाई: जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १६३३, पृ० ६५३।

(१) सेठ धनवइ का कमलश्री को त्याग कर दूसरा विवाह सरूपा से करना और बन्धुदत्त का जन्म होना। भविष्यदत्त का ननिहाल में पालन पोषण होना।

(२) पांच सौ व्यापारियों तथा बन्धुदत्त के साथ भविष्यदत्त की कंचनद्वीप की यात्रा, मार्ग मे मैनागद्वीप में भविष्यदत्त को अकेला छोडकर बन्धुदत्तकी आज्ञा से जहाज का कचन द्वीप के लिए प्रस्थान करना।

(३) भविष्यदत्त का उजाड नगर तिलकपुर मे प्रवेश करना तथा अपने साहस से राक्षस को प्रसन्न कर राजकन्या भविष्यानुरूपा का पाणिग्रहण कर बारह वर्षो के बाद अपने नगर के लिए प्रस्थान कर समुद्र तट पर पहुँचना। सयोग से बन्धुदत्त का मिल जाना। छल पूर्वक भविष्यदत्त को छोडकर भविष्यानुरूपा के साथ अतुल सपत्ति लेकर बन्धुदत्त का स्वदेश-गमन करना। मार्ग मे जल-देवता के प्रभाव से तूफान का आना और भविष्यानुरूपा के सतीत्व की रक्षा होना। एक मास की अवधि मे पति से मिलने का स्वप्न देखना। घर पहुँच कर बन्धुदत्त की भविष्यानुरूपा के साथ विवाह की तैयारी होना। इतने मे भविष्यदत्त का लौटकर घर पहुँचना। राजा को सच्चा वृत्तान्त ज्ञात होने पर बन्धुदत्त को दण्ड देना।

(४) राजा का भविष्यदत्त के साथ सुमित्रा का ब्याहने का प्रस्ताव रखना, धनवइ का उसे स्वीकार करना। पाचाल नरेश चित्राग का सुमित्रा को मागना और सकल राज्य मे वश मे करने तथा कर देने का प्रस्ताव रखना, भविष्यदत्त का विरोध करना। युद्ध के लिए तैयारी। भविष्यदत्त का चित्राग को बन्दी बनाकर सुमित्रा से विवाह करना। बरसो तक सुखोपभोग करने के बाद संन्यास मे दीक्षित होना तथा तपस्या कर परमपद को प्राप्त करना।

ये मुख्य घटनाएँ अपने आप मे छोटी-छोटी चार लोक-कथाएँ है जो आज भी अलग-अलग कई रूपो मे कही-सुनी जाती है। जहा तक कथा की पहली मुख्य घटना एव कहानी का सम्बंध है वह सौतेली मा की कहानी से सम्बन्धित है जिसमें एक ही राजा या सेठ की कई पत्नियो या दो रानियों में से सबसे छोटी के साथ और उसके पुत्र के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता है और बड़ी को तथा उसके पुत्र को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। सौतेला भाई कुछ तो स्वभाव से और कुछ माता के सिखाने से विमाता के लड़के को धोखा देकर मार डालने की चेष्टा करता है पर इस कार्य मे उसे पूर्ण सफलता नही मिलती। इतना ही नही, विमाता का पुत्र अपने भाइयो की सहायता या सकट से उनकी रक्षा करता है। किन्तु वही सौतेला भाई फिर से धोखा देकर उसका अनिष्ट करने की चेष्टा करता है और अन्त मे असफलता ही उसके हाथ लगती है।

पहली मुख्य घटना से सम्बन्धित एक अन्य घटना है—माता का पुत्र से विछोह हो जाने के कारण पुन. प्राप्ति के लिए व्रत करना और परिणामस्वरूप पुत्र मे भेट होना। ऐसी कई व्रत-कथाएँ है जिनमे बाहर गये हुए अथवा किसी प्रकार बिछुडे हुए पुत्र या पति की प्राप्ति के लिए व्रत-विधान निर्दिष्ट है तथा जिनके पालन से मनो-वाछित फल की प्राप्ति होती है। स्कन्द पुराण के अन्तर्गत "गणेश चतुर्थी" की कथा ऐसी ही कथा है जिसमे इस व्रत के पालन से रानी दमयन्ती को सातवे महीने मे पुत्र और पति की भेट होती है। इसी प्रकार ठाकुर 'मारझुलि' मे सङ्कलित 'कलावती राजकन्या' नाम की कहानी मे भी कलावती एक महीने के व्रत के फलस्वरूप पति को तथा बुद्ध और सुतुम की माता जल-देवता की आराधना से यात्रा से लौटे हुए पुत्र को प्राप्त करती है[२०]। इसी प्रकार साहसिक राजकुमारो तथा सौदागरो की अनेक कहानियाँ मिलती है जिनमे समुद्री-यात्रा करते समय अनेक सकटो को झेलना पड़ता है और अन्त मे उनसे उबर कर कचन-कामिनी एव अतुल वैभव प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। वस्तुत: सकट-निवारण के लिए व्रत-उपवास का पालन करना भारतीय जीवन की चिर-प्रचलित लोक-रूढि है। अतएव लोक-कथाओ मे उनका निर्देश होना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार सकट मे पड़े बिना, और साहसी कार्यो को बिना किए हुए मनुष्य जीवन की समृद्धि को प्राप्त नही कर सकता। इसलिए इन कथाओं मे रोमांचक तथा प्रेरक तत्त्वो की सयोजना इस रूप मे की गई है कि वे जीवन

---

२०. सं० दक्षिणारजन मित्र : ठाकुर मारझुलि, बागला रूपकथा, पृष्ठ १६।

की वास्तविक प्रगति का चित्रबद्ध रूप प्रकट करती हुई जान पड़ती है।

इसी प्रकार किसी उजाड़ नगरी या गन्धर्वों के देश मे अथवा पातालपुरी में किसी बहुत सुन्दर राजकुमारी का अकेला रहना और नायक का साहसिक कार्यों द्वारा उसे प्राप्त करने या प्राप्त हो जाने की घटना भी लोक-कथाओं तथा भविष्यदत्त कथा मे समान है। बगला मे "घुमन्तपुरी" नामक दादी की सुनाई हुई कहानी ऐसी ही है जिसमे एक राजा का पुत्र के बार-बार मना करने पर पिता की आज्ञा से देश-भ्रमण के लिए निकल पड़ता है और निर्जन एव निःशब्द वन मे किसी राजभवन मे पहुँच जाता है, जिस नगरी को राक्षसो ने उजाड दी थी और न जाने क्यो राजकुमारी को छोडकर राक्षस ने समस्त नगरी का ध्वस कर डाला था। राजकुमार उस राजकन्या को प्राणान्तक नीद से जगाकर बुद्धिबल से राक्षस का अन्त कर देता है[२१]। भविष्यदत्त भी माता के बहुत हठ कर मना करने पर भाई के साथ व्यापार करने कचन-द्वीप की यात्रा करता है। मैनागद्वीप मे छोड दिए जाने पर तिलकपुर मे भटक कर पहुँचता है। भविष्यदत्त उजाड नगरी को देखकर राजमहल मे जाता है जहाँ सुन्दर राजकुमारी से उसकी भेंट होती है। राक्षस को पास मे आते देखकर भविष्यदत्त उससे युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है। राक्षस भविष्यदत्त का साहस और पराक्रम देखकर प्रसन्न हो जाता है और भविष्यानुरूपा का विवाह उसके साथ कर देता है।

भविष्यदत्त कथा का लोक-रूप

यद्यपि अपभ्रंश की कथाए सच्ची मान कर लोगो के मन पर धार्मिक प्रभाव डालने के लिए लिखी गई है पर उनकी जडे लोक-कथाओ मे जमी हुई मिलती है। भविष्यदत्तकथा भी मूलत. लोक-कथा है, जो उद्देश्य विशेष से प्रबन्धकाव्य के रूप मे वर्णित है। इस तरह की कथा-कहानी आज भी हमारे यहाँ गाँवो मे कही जाती है। कही पर यह कहानी राजा-रानी और राजकुमारी के रूप में कही जाती है और कहीं पर सौदागर के रूप में[२२]। अधिकतर लोक-कहानियो मे राजकुमार की कहानी इससे मिलती-जुलती सुनी जाती है। बगाल की प्रसिद्ध लोक-कथाओं मे 'कलावती राजकन्या' की कहानी इसी प्रकार की रूपकथा है जिसमे पाँचो राजकुमार ईर्ष्यावश सबसे छोटे दोनो राजकुमारो को छोड़कर कलावती को पाने के लिए जहाज में बैठकर यात्रा करते है। किन्तु दोनो भाई भी डोगी मे बैठकर प्रस्थान करते हैं। दोनो भाई तीन बुढियो के देश मे पहुँचकर बुढिया के चंगुल मे फँसे हुए पाँचो भाइयो को छुडाते है। परन्तु इस पर भी पाँचों भाई दोनो भाइयों की उपेक्षा कर आगे बढ़ जाते है। मार्ग मे दिशाभ्रम की दशा मे दोनो भाइयो मे से बुद्धू पाँचो की सहायता करता है। अन्त मे तूफान आने से पाँचो भाई डूब जाते है। बुद्धू कलावती के नगर मे पहुँच कर देखता है कि पाँचो भाई बन्दीगृह मे हैं। उसे भी बन्दी बना लिया जाता है। परन्तु वह कला-कौशल से पाँचो भाइयो का तथा छोटे भाई को कलावती के साथ लेकर पोत मे बैठाकर घर के लिए लौट पड़ता है। पाँचो भाई कलावती को बुद्धू के पास देखकर जल-भुन उठते है और उन दोनो भाइयों को समुद्र मे फेक देते है। कलावती को कैद कर वे अपने नगर मे ले जाते हैं। राजा कलावती का विवाह राजकुमार से करना चाहता है, परन्तु वह तैयार नहीं होती। राजा उसे मार डालने की धमकी देता है। वह महीने का व्रत धारण करती है। इसी बीच दोनो राज-कुमार आकर कलावती से मिलते है। राजा को जब सारा रहस्य ज्ञात होता है तब वह बुद्धू का विवाह कलावती के साथ धूम-धाम से करता है। छोटे भाई का पाणिग्रहण भी किसी अन्य राजकुमारी से हो जाता है। पाँचों भाइयो को अपने किये का दण्ड मिलता है।

इस प्रकार सक्षेप मे भविष्यदत्त की लोक-कथा का रूप है—किसी नगर मे एक नगर सेठ रहता था। उसका नाम धनवइ था। कमलश्री नाम की उसके शील तथा रूपवती पत्नी थी। उन दोनो के भविष्यदत्त नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। धीरे-धीरे सेठ का मन उससे विरक्त हो

---

२१. वही, पृष्ठ ५६।

२२. डा० नामवरसिंह : हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योगदान, तृतीय परिवर्द्धित सस्करण, पृ० २५८

गया। उसका दूसरा विवाह सरूपा से हुआ। सरूपा स्वभाव से दुष्ट तथा रूपगर्विता थी। भविष्यदत्त ननिहाल मे पढ़-लिख कर बड़ा होता है। सरूपा के भी एक पुत्र उत्पन्न होता है, जिसका नाम बन्धुदत्त रक्खा जाता है। बन्धुदत्त नगर मे बहुत उत्पात मचाता है। नगर के लोग मन्त्रियो से निवेदन करते है। अन्त में प्रधान नगर-सेठ से कह कर उसे व्यापार के लिए भेजते है। पाँच सौ व्यापारियों का मुखिया बनकर बन्धुदत्त समुद्र के मार्ग से जहाज पर बैठकर यात्रा करता है। भविष्यदत्त भी साथ मे जाने के लिए तैयार होता है। उसकी माता कमलश्री बहुत समझाती है। अन्त मे मामा आदि के कहने से वह भविष्यदत्त को भेज देती है। बन्धुदत्त की माता बडे भाई भविष्यदत्त के सम्बन्ध मे सब कुछ बता देती है और किसी प्रकार मार्ग मे कही छोड आने या समुद्र मे गिरा देने की सीख देती है। कई दिनो के बाद बन्धुदत्त का जहाज मैनागद्वीप के तट पर लगता है। सब लोग उतरकर खाने पीते है। फल-फूलो को वन में से तोड़ते है। भविष्यदत्त फूलो को चुनता हुआ दूर निकल जाता है। अवसर पाते ही बन्धुदत्त भविष्यदत्त को वही छोड़कर जहाज चलवा देता है भविष्यदत्त रोता-गाता जगल मे भटकता है। एक रात धने जगल मे, जगली जानवरो के बीच एक सिला पर सोता हुआ बिताता है दूसरे दिन एक गुफा मे से निकल कर एक उजाड़ नगरी मे पहुँचता है। उस तिलकपुर मे उसे केवल एक सुन्दर राजकुमारी को छोडकर कोई नही मिलता। वह उससे सारा हाल पूछता है। वह कहती है—राक्षस ने इस नगरी को उजाड़ दिया है। तुम भी उससे नही बच सकते। राक्षस के आने पर वह ललकारता हुआ युद्ध के लिए तैयार हो जाता है। राक्षस उसके साहस तथा पराक्रम से प्रसन्न होकर उन दोनो का विवाह कर देता है। दोनों वहां पर बारह वर्षों तक साथ में रहते है। एक दिन भविष्यानुरूपा ससुराल के हाल-चाल पूछती है तो भविष्यदत्त को माता का स्मरण हो आता है। वह दूसरे दिन ही उस गुफा में से होकर समुद्र-तट पर पहुँचते है।

बारह वर्षों के बाद बन्धुदत्त का जहाज फिर उसी तट पर लगता है। लोग भविष्यदत्त को पहचान लेते है। बन्धुदत्त गले मिलता है। भाई से क्षमा माँगता है। भविष्यदत्त सब को भोजन कराता है। भविष्यानुरूपा के साथ सब माल जहाज पर चढा दिया जाता है। भविष्यानुरूपा को इतने मे ही स्मरण हो जाता है कि वह सेज पर नागमुद्रा भूल आई है। भविष्यदत्त उसे लेने के लिए जाता है। तभी बन्धुदत्त लोगो के मना करने पर भी जहाज खुलवा देता है। भविष्यदत्त बहुत पछताता है। भौजाई के रूप-सौन्दर्य से आकृष्ट होकर बन्धुदत्त उससे अनुनय-विनय करता है, वह मौन धारण कर लेती है। भोजन-पानी त्याग देती है। देवी उसे स्वप्न देती है कि एक महीने मे पति के दर्शन होगे। मार्ग में जल-देवता के प्रभाव से तूफान आता है। जहाज डगमगाने लगता है। सभी बन्धुदत्त को धिक्कारते है। भविष्यानुरूपा से क्षमा माँगते है। तब कही लहरे शान्त होती है और गजपुर की ओर आगे बढ़ते है। सभी अपने-अपने घर पहुँच जाते है। कमलश्री भविष्यदत्त को नही आया हुआ देखकर निराश होती है। वह सबसे पूछती है। सब यही कहते है कि किसी द्वीप मे रह गया है, आ जायगा। बन्धुदत्त के विवाह की तैयारियाँ होती है। पन्द्रह-बीस दिन बाद भविष्यदत्त घर लौट आता है। मामा के साथ वह राजा को सब वृत्तान्त सुनाता है। माता को भेजकर नागमुद्रिका के अभिज्ञान से वह भविष्यानुरूपा को राजदरबार मे बुला लेता है। राजा सभा बुलाता है। सारा रहस्य खुल जाता है। नगर सेठ और बन्धुदत्त को दण्ड मिलता है। जनता विरोध करती है। भविष्यदत्त के कहने पर धनवइ को छोड़ दिया जाता है। राजा अपनी कन्या सुमित्रा का विवाह भविष्यदत्त के साथ करने का निश्चय प्रकट करता है।

इसी बीच पाचाल नरेश की सेना आकर गजपुर को घेर लेती है। सुमित्रा को मागने और अधीनता स्वीकार कर लेने का प्रस्ताव रखा जाता है। राजा बड़े असमजस मे पड जाता है। भविष्यदत्त इस प्रस्ताव को ठुकरा देता है। स्वयं सेना का नेतृत्व कर युद्ध लड़ता है और चित्रांग को बन्दी बना लेता है। सुमित्रा से उसका विवाह हो जाता है। वह राजा बन जाता है। धनवइ भी अपनी भूल स्वीकार कर पूर्वत्यक्त कमलश्री को अपना लेता है। सभी का जीवन आनन्द से बीतता है।

अतएव अपभ्रंश की यह कथा लोक-कथा है, जिसमे

धर्म और साहित्य के परिप्रेक्ष्य में कतिपय कथाभिप्राय वर्णित है। ऐसी कथाएँ प्रायः लोक-जीवन और संस्कृति को समझने के लिए महत्वपूर्ण होती है। भविष्यदत्त की यह कथा उत्पाद्य है, जिसमें सुमित्रा के लिए युद्ध, मणिभद्र यक्ष की सहायता से मैनागद्वीप से गजपुर पहुँचने और भविष्यानुरूपा के दोहला के समय तिलकपुर मे भ्रमण की घटनाएँ एव वृत्त कल्पित जान पडता है। इसका मुख्य कारण धार्मिक वातावरण प्रस्तुत करना है।

चरित्र-चित्रण

घटनाओ की भाँति भावो मे सघर्ष का चित्रण करना अपभ्रंश-कथाकाव्यो की सामान्य प्रवृत्ति है। यद्यपि भविष्यदत्त सामान्य व्यक्ति है इसलिए भाई के द्वारा द्वीप मे छोड़ दिए जाने पर आसू बहाता है, पश्चाताप करता है परन्तु विनय, शालीनता, साहस और धैर्य आदि गुणो से सयुक्त होने के कारण वह धीरोदात्त नायक की भाँति चित्रित किया गया है। अपभ्रंश के कवियो ने अपने काव्यो मे सामान्य व्यक्ति को भी नायक मानकर उसके क्रिया-कलापो से उदात्त जीवन मे उन्हे प्रतिष्ठित किया है और इसका मूल कारण उनकी धार्मिक वृत्ति जान पडती है, जिसके अनुसार वे "नर से नारायण" बनने की मान्यता मे विश्वास रखते है। अतएव भविष्यदत्त धीर, वीर ही नही साहसी और क्षमाशील भी है। जातीय गुणों के साथ ही उसमे क्षात्रधर्म का दर्प और तेज भी दिखाई पडता है। अतएव सिन्धुनरेश के अन्यायपूर्ण प्रस्ताव से असहमत हो कर वह सबसे आगे बढकर युद्ध लड़ता है और निर्भीकता के साथ अपनी वीरता का परिचय देता है। इस प्रकार सामान्य वणिक्पुत्र होकर भी भविष्यदत्त राजोचित प्रवृत्तियो एव गुणो को प्रदर्शित कर अन्त मे राजा बनता है और सफलता से राज्य शासन करता है। लेखक ने जहाँ दैवी सयोग, आकस्मिकता और असाधारण वृत्तों की सयोजना धार्मिक प्रभाव स्पष्ट करने के हेतु की है वही नायक चारित्रिक गुणों पर भी प्रकाश डाला है।

प्रबन्ध-संघटना

कथा-बन्ध की दृष्टि से भविष्यदत्त कथा प्रबन्ध-काव्य है जिसमें घटनाओ की कार्य-कारण योजना और रसान्वित औचित्यपूर्ण लक्षित होती है। परन्तु अवान्तर कथाओं की विशेष संयोजना से कही-कही मध्य और अन्तिम भाग गतिहीन तथा प्रभावहीन जान पड़ता है। वस्तुतः प्रबन्ध का पूर्वार्द्ध जैसा कसा हुआ है वैसा उत्तरार्द्ध नहीं। इसलिए कही-कही प्रबन्ध-रचना मे शिथिलता दिखाई पडती है। एक तो यही कारण है और दूसरा आदर्श महत् न होने के कारण इसे महाकाव्य नही कहा जा सकता है। यह सस्कृत के एकार्थक कोटि का प्रबन्ध-काव्य है जो कथा काव्य की विशेष विधा के अनुरूप लिखा गया है।

समालोचकों ने प्रबन्ध-काव्य मे कार्यान्वय की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। डा० शम्भूनाथसिह के मत मे रोमाचक कथाकाव्यो मे कार्यान्विति नही होती और न नाटकीय तत्व ही अधिक होते है। उनका कथानक प्रवाहमय और वैविध्यपूर्ण अधिक होता है पर उसमे कसावट और थोडे मे अधिक कहने का गुण, जो महाकाव्य का प्रधान लक्षण है, नही होता[२३]। परन्तु भविष्यदत्त की कथा में थोडे मे अधिक कहने का गुण कूट-कूट कर भरा हुआ है। कार्यान्विति भी आदि से अन्त तक बराबर बनी हुई है। सम्भवतः इसीलिए विण्टरनित्स ने इसे रोमाचक महाकाव्य माना है[२४]। प्रबन्ध-काव्य के मौलिक गुणो की दृष्टि से यह एक सफल रचना कही जा सकती है। क्योकि इसमे कथानक का विस्तार कथातत्व के लिए न होकर चरित्र-चित्रण के लिए हुआ है, जो महाकाव्य का प्रधान गुण माना जाता है। चरित्र-चित्रण मे मनोवैज्ञानिकता का सन्निवेश इस काव्य की विशेषता है। फिर, कथानक मे नाटकीय तत्वो का भी समावेश हुआ है। स्थान-स्थान पर नाटकीय ढग से चित्रो की अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुत. इस कथाकाव्य का महत्व तीन बातों मे है—पौराणिकता से हटकर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण करना, काव्य-रूढियो का समाहार कर परम्परागत प्रवृत्ति का निर्वाह करना और चलते वर्णनो के बीच काव्य को सवेदनीय बनाना।

---

२३. डा० शम्भूनाथसिह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृष्ठ ८८।

२४. एम० विण्टरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, १९३३, खण्ड २ पृष्ठ ५३२।

काव्य-रूढ़ियाँ

आलोच्यमान कथाकाव्य में निम्नलिखित काव्यरूढ़ियों का पालन हुआ है.— १. मगलाचरण, २. विनय-प्रदर्शन, ३. काव्य-रचना का प्रयोजन, ४. सज्जन-दुर्जन वर्णन, ५. वन्दना (प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भ मे स्तुति या वन्दना), ६. श्रोता-वक्ता शैली और आत्म-परिचय।

अपभ्रंश के कथाकाव्यों मे काव्य-रूढियाँ प्रबन्ध-रचना की अंग विशेष लक्षित होती है। संस्कृत के प्रबन्ध-काव्यों में मंगलाचरण, सज्जन-दुर्जन वर्णन ही किसी-किसी मे दिखाई पडता है। रूढ नही है। परन्तु अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों में इनका विशेष ध्यान रखा गया है। इसी रूढिके अन्तर्गत कवि आत्म-परिचय भी दे सकता था। अत्यन्त प्राचीन कवियों में अपना परिचय देने की रूढि नही थी।

वस्तु-वर्णन

आलोच्य ग्रन्थ में वस्तु-वर्णन कई रूपों मे मिलता है। कवि ने जहाँ परम्परायुक्त वस्तु-परिगणन और इतिवृत्तात्मक शैली को अपनाया है वही लोक-प्रचलित शैली मे वस्तु-वर्णन कर लोक-प्रवृत्ति का परिचय दिया है। परम्परागत वर्णनो में नगर-वर्णन, नख-शिख वर्णन और प्रकृति-वर्णन दृष्टिगोचर होते है जिनमे कोई नवीनता लक्षित नहीं होती मुख्य वर्णन है—नगर-वर्णन, कचनद्वीप-यात्रा वर्णन, समुद्र-वर्णन, विवाह-वर्णन, युद्ध-वर्णन, वसत-वर्णन, राजद्वार-वर्णन, मैनागद्वीप-वर्णन, बाल-वर्णन, रूप-वर्णन तथा तैल चढाने का आदि का वर्णन।

इन वर्णनों मे कही-कही उपमानो मे नवीनता, लोक-तत्व और स्थानीय विशेपताएँ मिलती है जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि इस काव्य पर लोकजीवन का प्रभाव विशेप है।

शैली

अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यो की भाँति इस कथा-काव्य मे भी कडवकबन्ध है जो सामान्यत दस से सोलह पक्तियो का है। कम से कम दस और अधिक से अधिक तीस पंक्तियाँ एक कडवक मे प्रयुक्त है। कडवक् पज्झटिका, अडिल्ला या वस्तु से समन्वित होते है। कहीं-कही दुवई का प्रयोग भी मिलता है। इस भिन्नता का कारण यही प्रतीत होता है कि यह रचना की एक शैली थी जिसमें प्रबन्ध और विपय की दृष्टि से अन्त्यानुप्रास छन्दोयोजना नियत पक्तियों मे होती थी। साधारणतया एक कडवक मे कम से कम कुल आठ यमक या सोलह पक्तियाँ देखी जाती है। इसी प्रकार सोलह मात्राओं का एक पद कहा जाता है। किन्तु इसके सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि निश्चितता नही है। सामान्यतया कडवक के अन्त में दो पक्तियो का दोहा के आकार मे मिलते-जुलते छन्द देखे जाते है। यह काव्य पद्धडिया शैली में लिखा गया है।

काव्य-सौष्ठव

भविष्यदत्त कथा मे कई भावपूर्ण तथा मार्मिक स्थल मिलते है जिनमे कवि की प्रतिभा और भावुकता का सच्चा परिचय मिलता है। छोटे भाई को बडे भाई का अकेला बीहड़ द्वीप मे छोड देने से बढ कर मार्मिक करुण दृश्य और क्या हो सकता है। भविष्यदत्त की उस समय वही दशा होती है जो किसी साधारण जन की हो सकती है। वही धरती पर हाथ पटकता है, छाती कूटता है और अत्यन्त दुखी होकर कहता है कि माता ने पहले ही कहा था पर मै नही माना। मेरा कार्य ही नष्ट हो गया। मै व्यापार के लिए आया था पर यह अद्भुत दृश्य देख रहा हूँ कि मौत ही मेरे सामने अड गई है। इस प्रकार के विविध भावो मे डूबता उतराता भविष्यदत्त अपने भाग्य को कोसता हुआ कह उठता है कि मेरा भाग्य ही उलटा है; किसी का क्या दोष ? इस प्रसग में कवि ने भविष्यदत्त की विविध मानसिक दशाओं की विस्तृत अभिव्यञ्जना की है।

बन्धुदत्त को कचनद्वीप की यात्रा से घर लौटने पर जितनी अधिक प्रसन्नता होती है उससे कही अधिक नगर के लोगो को हर्ष होता है। उसके लौटने के समाचार मिलते ही लोग हर्ष में पगे हुए नदी के तीर पर दौड़े-दौड़े जाते है। वे इतने अधिक हर्ष से उल्लसित हैं कि किसी ने सिर का कपडा पहन लिया है, किसी ने शीघ्रता मे हाथो के कगन कही के कहीं पहन लिए है, कोई पुरुष किसी स्त्री से ही आलिंगन करने लगा, किसी के अग का प्रतिबिम्ब कही और पडने लगा, किसी ने किसी दूसरे का सिर चूम लिया। इस प्रकार सभ्रम और पुलक से भरे हुए लोग

अपने-अपने कामों को छोड़कर प्रिय की कुशल अकुशल की बात करते हुए नदी-तट पर पहुँचे। धनवइ ने आँखों में आँसू भरकर गदगद वाणी से बेटे की कुशल-क्षेम पूछी२५।

वियोग वर्णन

विप्रलम्भ शृङ्गार के पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण में से पूर्वराग को छोड़कर तीनों रूप मिलते हैं। कमलश्री धनवइ प्रियतम के मान धारण कर लेने पर घर मे ही अत्यन्त दुखी होकर वियोग में छटपटाती है। धनवइ के प्रणय से हीन उसका मन अत्यन्त संतप्त रहने लगता है। उसके अग विरहाग्नि सहन करने में असमर्थ हो जाते हैं। उसकी आँखें जाते हुए पति की ओर ही लगी रहती हैं। इतने पर भी उसे प्रिय के वचन, मदन, आसन और शयन कभी नही मिल पाते२६।

भविष्यदत्त के मैनागद्वीप में छूट जाने पर भविष्यानुरूा बहुत दुखी होती है। वह तरह-तरह से अपने मन को समझाती है। वह विचार करती है कि मैं गजपुर में हूँ और पतिदेव यहाँ से सैकड़ों योजन दूर द्वीपान्तर मे हैं। किस प्रकार से मिलना हो? जिस द्वीप की भूमि में कोई मनुष्य संचार नहीं करता वहाँ कैसे पहुँचू? मुझे जितना दुःख भोगना था उतना भोग लिया। बिना आशा के मैं कब तक प्राण धारण करूँ? इतने में ही वह किसी से सुनती है कि कमलश्री ने यह निश्चय किया है कि एक महीने में यदि मेरा पुत्र आकर नहीं मिला तो मैं अपने प्राणों को त्याग दूंगी२७। यहाँ पर कवि ने आकाशवाणी या किसी असाधारण घटना का समावेश न कर अस्वाभाविकता से कथानक को बचा लिया है। इस कथाकाव्य में और भी जो वियोग-वर्णन के स्थल हैं उनमें भी रीति-परम्परा से ग्रस्त मानवीय भावनाओं का प्रदर्शन न होकर जीवन की वास्तविक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है।

शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रसों में रौद्र, हास्य, वात्सल्य और भयानक की प्रसंगतः मधुर अभिव्यजना हुई है। विविध रसों के भाव, अनुभाव और हावो की भी योजना इस काव्य में मिलती है। यद्यपि शृङ्गार के दोनो पक्षों का चित्रण काव्य मे किया गया है परन्तु जायसी या सूर की भाँति वियोग-वर्णन की अतिशयता, रूप-विधान और गम्भीरता नहीं मिलती। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि कवि का लक्ष्य काव्य को शृङ्गार प्रधान न बना कर शान्तरस को अंगी मानकर अभिव्यक्त करना था। लगभग सभी कथाकाव्य शान्तरस प्रधान हैं।

भाषा

यद्यपि धनपाल की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है पर उसमे लोकभाषा का पूरा पुट है। इसलिए जहाँ एक ओर साहित्यिक वर्णन तथा शिष्ट प्रयोग हैं वही लोक-जीवन की सामान्य बातों का विवरण घरेलू वातावरण मे एव जनबोली मे वर्णित है। सजातीय लोगों की जेवनार मे कवि ने घेवर, लड्डू, खाजा, कसार, मांड़ा, भात, कचरिया पापड़ आदि न जाने कितनी वस्तुओ का वर्णन किया है।

डा० एच० जेकोबी के अनुसार धनपाल की भाषा बोली है जो उत्तर भारत की है२८। धनपाल की भाषा पूर्ण साहित्यिक है। केवल लोक-बोली का पुट या उसके शब्द-रूपों की प्रचुरता होने से हम उसे युग की बोली जाने वाली भाषा नहीं मान सकते। क्योंकि प्रत्येक रचना

---

२५. धाइउ सयलु लोउ विहडप्फडु
केणवि कहुवि लयउ सिरकप्पडु।
केणवि कहुवि छुड्डु करिकंकणु
केणवि कहु वि दिण्णु आलिंगणु।
केणवि कहुवि अंगु पडिविंवउ
केणवि कौवि लेवि सिरु चुंविउ।
गय वइयहिं कम्मइ मेल्लियइं
णयणइं हरिसुसुजलोल्लियइ।
पियकुसलाकुसल करंतियइं
चित्तइं सदेहविडंवियइं॥
८, १। भ० क०,
धणवइ अंसुलोल्लियणयणयणाउं
पुच्छइ पुणुवि सगिरवयणउं।

२६. वही, २, ६–७। २७. वही, ८, २०।

२८. डा० एच० जेकोबी: फ्राम इन्ट्रोडक्सन टु द भविसयत्तकहा, अनु० प्रो० एस० एन० घोसाल, प्रकाशित लेख, "जनरल आव द ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा," द्वितीय खण्ड, अंक संख्या ३, मार्च १९५३।

में बोल-चाल के कुछ शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है। धनपाल की भाषा में जैसी कसावट और संस्कृत के शब्दों के प्रति झुकाव है उससे यही सिद्ध होता है कि उनकी भाषा बोलचाल की न होकर साहित्य की है। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है। जैसे कि—

> किउ अब्भुत्थाणु णराहिवेण,
> अहिणउ पाहुडु अल्लविउ तेण।
> (कृत अभ्युत्थान नराधिपेन,
> अभिनव प्राभृत आहूत्य ? तेन)
> रयणाहरण विहूसिय कंठि,
> वेलासिरिव उयहिं उवकंठि।
> (रत्नाभरण विभूषित कण्ठ,
> वेलाश्रीरिव उद्गत उपकण्ठ)

डा० तगारे ने पश्चिमी अपभ्रंश की जिन विशेषताओं का निर्देश किया है वे आलोच्य कथाकाव्य मे भलीभाति मिलती है[२६]। इस कथाकाव्य की भाषा आदर्श भले ही न हो पर परिनिष्ठित अपभ्रंश अवश्य है, जिसके लक्षण हमें आचार्य हेमचन्द के व्याकरण मे मिलते है। अतएव धनपाल की भाषा साहित्यिक है, जिस पर बोलचाल का पानी चढ़ा हुआ है।

अलंकार-योजना

सादृश्यमूलक अलंकार ही विशेष रूप से मिलते हैं। कुछ मुख्य अलंकार इस प्रकार है—विनोक्ति, दृष्टान्त, काव्यलिंग विशेषोक्ति, विरोधाभास, लोकोक्ति, रूपक, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास और प्रतिवस्तूपमा। इनके अतिरिक्त और भी कई अलंकार मिलते हैं। उत्प्रेक्षा के कई भेद प्रयुक्त हैं। उनको देखकर यही प्रतीत होता कि धनपाल मानो उत्प्रेक्षा के ही कवि हैं।

छन्दयोजना

इस कथाकाव्य मे वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छन्द मिलते हैं। अधिकतर छन्द मात्रिक हैं। निम्नलिखित छन्द विशेष रूप से प्रयुक्त है—पज्झटिका या पद्धड़ी अडिल्ला, घत्ता, दुवई, मरहट्ठा चामर, भुजगप्रयात, शंखनारी, सिंहावलोकन, काव्य, प्लवंगम, कलहंस, गाथा और संकीर्ण स्कन्धक आदि।

भविष्यदत्त में समाज और संस्कृति

आलोच्य काव्य में राजपूतकालीन समाज और संस्कृति की स्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है। भविष्यदत्त केवल सकल कलाएँ, ज्ञान-विज्ञान, ज्योतिष तन्त्र-मन्त्रादिक ही नहीं सीखता है वरन् वणिक्पुत्र होकर भी विविध आयुधों का विभिन्न प्रकार से संचालन, सग्राम में विभिन्न चातुर्यों से अपना बचाव, मल्लयुद्ध तथा हाथी-घोडे आदि सवारी की भी शिक्षा प्राप्त करता है। उस युग मे स्त्रियाँ विभिन्न कलाओ मे तथा विशेष कर सगीत और वीणावादन में निपुण होती थी। सरूपा इन कलाओं से युक्त थी। सामाजिक वातावरण और लोक-रूढियो से भरित यह काव्य लोकयुगीन विशेषताओ की छाप से अकित है, जिसमें भविष्यदत्त को रण के लिए सजाना, वणिक्पुत्र भविष्यदत्त का रण में कौशल प्रकट करना, धनवइ का युद्ध के लिए तैयार होना, व्यापार जोड़ना आदि ऐसी बाते है जो राजपूतकाल की विशेषताएँ रही है। इसी प्रकार लोक-प्रचलित रूढ़ियो का भी विशेष विवरण इस काव्य मे मिलता है।

सक्षेप मे कथाकाव्य का स्वरूप तथा अपभ्रंश काव्य मे वर्णित लोक-जीवन और सस्कृति को समझने के लिए भविष्यदत्त कथा का अध्ययन आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है। भाषा की दृष्टि से तो इसका विशेष महत्व है। लोकोक्तियों, सूक्तियों और मुहावरो से जहाँ भाषा प्रभाव पूर्ण है वही साहित्यिक प्रयोग से भी समन्वित है। साहित्यिक और बोलचाल की भाषा का सुन्दर मेल इस काव्य की विशेषता है। देशी शब्दों की प्रचुरता इस काव्य में विशेष रूप से मिलती है। इसके वर्णनो को पढ़ते-पढ़ते लोक जीवन की विविध रगीन चित्रावली आँखों के सामने झूमने लगती है। उदाहरण के लिए वसन्त-वर्णन प्रस्तुत है :—

घर-घर में कुतूहल के साथ चाचर खेली जाने लगी। घर-घर मे उत्सव मनाये जाने लगे। घर-घर मे तोरण सजने लगे। घर-घर में लोग परस्पर प्रेम प्रदर्शित करने

---

२६. डा० गजानन वासुदेव तगारे; हिस्टारिकल ग्रामर आव अपभ्रंश, पूना, १९४८, पृ० २९०।

खजुराहो का आदिनाथ जिनालय

नीरज जैन

खजुराहो अपने अद्वितीय कला भण्डार के कारण दिन प्रति दिन प्रसिद्धि के शिखर की ओर बढ रहा है। यहाँ के शिल्प-सौंदर्य का कीर्तिगान सात समुन्दर पार भी अपनी पूरी लय और तान के साथ गूंज रहा है। यह स्थान मध्य प्रदेश के छतरपुर, जिले मे स्थित है तथा महोबा, हरपालपुर, छतरपुर और पन्ना तथा सतना से यहाँ के लिए बस द्वारा जाया जा सकता है।

खजुराहो मे अन्य धर्मों के साथ साथ जैनधर्म का भी बड़ा प्रचार रहा है और आज भी जो प्रचुर जैन पुरातत्त्व वहाँ पाया जाता है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैन पुरातत्त्व, मन्दिरों के एक प्रथक समूह मे ही स्थित है। जिसे हम—१. पारसनाथ मन्दिर, २. आदिनाथ मन्दिर, ३. शातिनाथ मन्दिर, ४ घंटाइ मन्दिर तथा ५ जैन संग्रहालय के रूप में जानते हैं। इस समस्त कला भण्डार का परिचयात्मक वर्णन तो मैंने अपनी एक प्रथक् पुस्तक "खजुराहो का जैन पुरातत्त्व" मे किया है परन्तु उनका सक्षिप्त वर्णन अनेकान्त के पाठकों की सेवा में क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। जैन ग्रुप का पार्श्वनाथ मन्दिर समूचे खजुराहो का सभवत सर्वाधिक सुन्दर मन्दिर कला मर्मज्ञों द्वारा माना गया है। उसका वर्णन अनेकान्त की किरण ४ पृष्ठ १५१ (अक्टूबर १९६३) में प्रकाशित हो चुका है। इस लेख मे आदिनाथ जिनालय का वर्णन प्रस्तुत है।

पार्श्वनाथ मन्दिर के पार्श्व में स्थित यह मन्दिर आकार प्रकार में उससे कुछ छोटा तथा लगभग एक सौ वर्ष उपरान्त की रचना माना जाता है। यह पंचायतन भी नहीं है परन्तु नागर शैली के मन्दिरो में उत्तर मध्य काल की एक विशिष्ट, सीधी परन्तु अलंकृत शिखर सयोजना के कारण समकालीन मन्दिरों मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है। ऊँचे अधिष्ठान पर स्थित इस मन्दिर के सामने का मण्डप कालदोष से ध्वस्त हो चुका था जो बाद मे ईट और चूने का बनवा दिया गया है। इसके अतिरिक्त शेष मन्दिर यथा स्थिति सुरक्षित है।

भित्तियो पर मूर्तियों का अकन यहाँ केवल बाहर पाया जाता है। प्रदक्षिणा पथ इसमें भीतर नहीं है। मूर्तियाँ उसी प्रकार एक पर एक तीन पक्तियो मे अकित हैं। ऊपर की छोटी पक्ति मे गधर्व, किन्नर, और विद्याधर तथा शेष दो पंक्तियों में शासन देवता—यक्ष, मिथुन तथा अप्सराये आदि दिखाये गये है। एक तो यह कि बीच की पक्ति मे देव कुलिकाये बना कर उनमे अनेक जैन शासन देवियो की बड़ी-बड़ी ललितासन मूर्तियाँ स्थापित हैं। ये कुल सोलह है तथा इनके वाहन, आयुध

लगे। घर-घर में चन्दन छिडक दिया गया। मुचकुन्द के वन फूल उठे। घर-घर पर शोभित होने वाले जयमगल कलश ऐसे जान पडने लगे मानो किसी देवता ने अवतार लिया हो।

कुल मिलाकर "भविसयत्तकहा" अपभ्रंश का मुख्य कथाकाव्य है जो धार्मिक होकर भी शुद्ध काव्य की दृष्टि से भी उत्तम रचना है अन्य कथाकाव्यो की भाँति मानव जीवन के वास्तविक विकास का क्रम प्रदर्शित कर कवि ने मानव-मन की सक्रिय चेतना का प्रसार किया है। इस प्रकार पौराणिकता से बहुत कुछ हट कर लोक-भूमि से चेतना ग्रहण कर कवि ने जिस वातावरण और भाव-भूमि की सृष्टि की है वह अत्यन्त स्फीत, प्रेरक एव यथार्थता से मण्डित है।

और परिकर का ऐसा सजीव और बारीक अंकन यहाँ किया गया है कि उसके द्वारा उन देवियों का सही और शास्त्रोक्त स्वरूप समझने में बड़ी सहायता मिलती है। देवगढ़ के अतिरिक्त शासन देवियों का ऐसा अंकन अन्यत्र मैंने नहीं देखा। ये सोलह विद्या देवियाँ भी हो सकती हैं पर पूरी शोध के बिना निश्चित कुछ कहना अभी ठीक न होगा।

इन पट्टिकाओं की दूसरी विशेषता यह है कि इनके कोणों पर भगवान युगादि देव के शासन सेवक गोवदन यक्ष का बड़ा सुन्दर और वैचित्र्य पूर्ण अंकन है। यह यक्ष अपनी दर्प पूर्ण मुद्रा में मन्दिर के चारों कोनों पर अंकित है और चतुर्भुज होकर भी सीधा, मनुष्याकृति खड़ा हुआ दिखाया गया है। इसके आयुध, अलंकार, यज्ञोपवीत आदि बड़े स्पष्ट और सुन्दर हैं।

अप्सराओं की मूर्तियाँ यहाँ निश्चित ही पार्श्वनाथ मन्दिर से कम हैं और उनका आकार भी थोड़ा छोटा है पर अपने विविध अभिप्रायों और भाव-भंगिमाओं को उजागर करने मे वे किसी भी प्रकार असमर्थ नहीं दिखलाई देतीं। यहाँ शिखर की उठान सादी होने के कारण दर्शक के लिए ये मूर्तियाँ एकांत आकर्षण का केन्द्र बनकर उसकी चेतना को मोह लेती हैं और दृष्टि को भटकने नहीं देती। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, बीच-बीच में शासन देवियों या विद्या देवियों का अकन होने के कारण इन रूप राशि अप्सराओं की मनोहरता और सार्थक्य अधिक मान्य हो उठा है।

इन अप्सराओं में आरसी देखकर सीमत मे सिन्दूर आलेखन करती हुई रूप गर्विता तथा आरसी देखकर ही नयन आँजती हुई सुनयना और चुम्बन के व्याज से वालक पर ममता उड़ेलती हुई जननी का चित्रण बहुत स्वाभाविक, बहुत सुन्दर और बहुत अविस्मरणीय है। शृंगार की दाहकता से पीड़ित दर्शक की दृष्टि मातृत्व की इस शीतल धारा मे अनुपम आनन्द की अनुभूति करती है। इन्हीं पंक्तियों में नायिकाओं तथा कामिनी भामिनियों का जो अंकन है वह भी एक गौरव तथा शालीनता के साथ भारतीय नारी के "स्त्रीत्व" की रक्षा का प्रयास करता हुआ सा जान पड़ता है। पश्चिम की और मध्य पंक्ति में खण्डिता नायिका की अस्त-व्यस्त वेषभूषा परन्तु लज्जापूर्ण मुद्रा मेरे इस कथन की साक्षी है।

एक और सविशेष अप्सरा का अंकन मध्य पंक्ति मे परिक्रमा प्रारम्भ करते ही तीसरी श्रेणी पर मिलता है। इस नृत्यांगना के शरीर की फुर्ती और अति गतिमान चरणों का अकन इतना सजीव है और मुद्रा इतनी शांत सौम्य तथा मनोहर है कि उसे देखकर मुझे विश्व-विश्रुत नर्तकी नीलाञ्जना का स्मरण हो आता है।

भगवत् जिनसेनाचार्य ने महापुराण के सत्रहवें पर्व में भगवान आदिनाथ के दीक्षा प्रसंग का जो वर्णन किया है उससे ज्ञात होता है कि एक बार इन्द्र ने भगवान की सभा मे उनकी आराधना हेतु नृत्य गान का आयोजन किया। उसी समय उसके मन में विचार आया कि भगवान को विराग कैसे उत्पन्न होगा? उसी वैराग्य के निमित्त रूप में इन्द्र ने अनिंद्य रूपवती नीलाञ्जना नाम की अप्सरा का नृत्य प्रारम्भ कराया। इन्द्र को ज्ञात था कि उस नर्तकी की आयु शीघ्र ही समाप्त होने वाली है।

इस सुर सुन्दरी के भाव-लय-पूर्ण नृत्य ने एक बार भगवान आदिनाथ के मन को भी इस प्रकार अनुरूप बना लिया, जैसे अत्यन्त शुद्ध स्फटिक मणि भी अन्य पदार्थों के संसर्ग से लालिमा ग्रहण कर लेता है—

तन्नृत्यं सुरनारीणां मनोऽस्यारञ्जयत प्रभो।
स्फटिकोहि मणिः शुद्धोऽप्यादत्ते राग मन्यतः॥

(महा पु० १७–५)

नृत्य के बीच में ही नीलाञ्जना की आयु समाप्त हो गई और उसका शरीर लोप हो गया। इन्द्र ने तत्क्षण उसी रूप रेखा की दूसरी नर्तकी इस प्रकार प्रस्तुत कर दी कि साधारण दर्शक इस परिवर्तन को लक्ष्य भी न कर सके, पर भगवान ने जीवन की भंगुरता को लक्ष्य किया और वही उनके वैराग्य का निमित्त कारण बना।

मैं जिस अप्सरा मूर्ति की चर्चा कर रहा हूँ, वह अपने परिकर के मध्य ऐसे असाधारण रूप से उभरी हुई अंकित की गई है जिसे देख कर मुझे विश्वास होता है कि भगवान आदिनाथ के वैराग्य प्रसंग की नायिका नीलाञ्जना का ही अवतरण कलाकार ने यहाँ किया है।

प्रदक्षिणा के इस अकन के बाद इस मन्दिर की जो विशेषता हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह है इसके ऊँचे शिखर की सादगी और उस पर रखे कलश की भव्यता। इस शिखर में पार्श्वनाथ मन्दिर के शिखर की तरह उरु शृंग अथवा कर्ण शिखर नही बनाए गए हैं, बल्कि अधिष्ठान और भित्तियों के ऊपर से एक दम प्रारम्भ होकर यहाँ शिखर ने भगवान की निर्वाण भूमि कैलाश की किसी अलंघ्य चोटी का रूप प्रदर्शित कर दिया है।

इस शिखर को देख कर सहज ही कोणार्क और भुवनेश्वर शैली के मन्दिरो की याद आ जाती है। सज्जा मे उपयुक्त एक रस शैली भी आँखो को ऊब नही देती बल्कि अपनी सहजता की ओर अधिक आकर्षित करती है।

ऊपर की सूची-चक्र-आमलक और कुम्भ-कलश बहुत मनोहर बन पड़े है और यह भाग निश्चित ही पार्श्वनाथ मन्दिर के शिखर भाग से अधिक लुभावना है।

इस मन्दिर का प्रवेश द्वार अपने समस्त सज्जागत शिल्प-वैभव के साथ अपनी सही स्थिति मे अवस्थित है। दोनो ओर गगा-यमुना और द्वारपाल अकित है। इनके ऊपर कोष्ठको मे जहाँ प्राय. मिथुन का अकन पाया जाता है यहाँ उसका अभाव है। मिथुन की जगह यहाँ इन कोष्ठकों मे चतुर्भुजी शासन देवियो की उपस्थिति उल्लेखनीय है। इन देवियो के आसन में हिरण, तोता, सिह और बैल आदि वाहन भी बने है। देवियो के दोनों ओर नृत्य गान रत गंधर्व हैं तथा ऊपर के तोरण में भी पाँच कोष्ठक बना कर प्रत्येक में वैसी ही शासन देवियों का अंकन है जिनके हाथों में शंख, कमल, कलश, कुलिश, पाश आदि आयुध हैं। एक देवी बालक को स्तन पान कराती हुई एक हाथ मे आम्र मंजरी लिए आम के वृक्ष के नीचे सिह पर बैठी दिखाई गई है। यह बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी अम्बिका है।

इस द्वार के सबसे ऊपर के तोरण में शची द्वारा सेवित तीर्थंकर की माता को शयन करते हुए अंकित किया गया है तथा उसके बाद माता के सोलह स्वप्न दिखाए गए हैं है। सोलह स्वप्न तो जैन मन्दिरों मे अनेक जगह अकित है किन्तु तीर्थंकर की माता का साथ में अंकन इस मन्दिर की विशेषता है।

मन्दिर का गर्भ गृह अत्यन्त सादा है और वेदिका बाद की बनाई गई ज्ञात होती है। दो कमल आकृति पाषाणो को जोड़ कर वह पद्मशिला बनाई गई है जिससे इस गर्भालय की सुन्दर छत का निर्माण हुआ है।

पार्श्वनाथ मन्दिर की तरह इस मन्दिर की मूल प्रतिमा भी स्थानांतरित हो चुकी है और वर्तमान में काले पाषाण की वृषभ चिह्नांकित जटाधारी भगवान आदिनाथ की जो प्रतिमा यहाँ विराजित है वह बाद मे स्थापित की गई है। इस पर भी सवत् १२१५ का शिलालेख है।

इस प्रकार यह मन्दिर छोटा होकर भी अपने आप में स्थापत्य की अनेक विधाओं को लिए हुए मध्यकालीन कला का एक श्रेष्ठ उदाहरण है।

एक सम्बोधक-पद

कविवर रूपचन्द

मानस जनमु वृथा तैं खोयो ॥
करम करम करि आइ मिल्यौ हो, निंध करम करि करि सुविगोयो ॥१॥
भाग्य विशेष सुधारस पायो, सो लै चरणनिको मल धोओ।
चिंतामनि फेंक्यो वाइसको, कुंजर भरि करि ईंधन ढोयो ॥२॥
धन की तृष्णा प्रीति वनिता की, भूलि रह्यो वृष तैं मुख गोयो।
सुख कै हेत विषय सब सेये, घृत के कारण सलिल विलोयो ॥३॥
माचि रह्यो प्रमाद मद मदिरा, अरु कंदर्प सर्प्प विष मोह्यो।
रूपचन्द चेत्यो न चितायो, मोह नींद निश्चल ह्वै सोयो ॥४॥

माणिकचंद : एक भक्त कवि

गंगाराम गर्ग एम० ए०, जयपुर

जब रीतिकाल में स्वर्ण-लोलुप कवि सुरा और सुन्दरी को अपना लक्ष्य बनाकर हिंदी-काव्य-धारा को पंकिल कर रहे थे और जिसकी कामुकता की भँवरों मे पड़कर मानव की जीवन-नौका दिशा-भ्रष्ट हो रही थी; उस समय उसे सम्बलित कर सही दिशा में ले जाने के लिए जैन कवि ही आगे आए। एक ने रीति-ग्रन्थो का अनुवाद करते हुए नायिकाओं की नग्नता और विलासिता का वर्णन कर मनुष्य की कामुकता को उभारा तो दूसरे ने चरित्र-ग्रन्थों का अनुवाद करते हुए उसको नैतिक जागरूकता प्रदान की; एक ने पार्थिव राजाओं की झूठी प्रशस्तियाँ गा-गा कर स्वर्ण-राशियाँ बटोरीं, तो दूसरे ने अपने आराध्य के चरणों में श्रद्धा-सुमन चढ़ाकर आत्म सुख को ही सर्वस्व समझा। मानव-जीवन की परस्पर विरोधी धारणाएँ समानान्तर होकर यदि साथ-साथ चली तो केवल रीतिकालीन काव्य में ही; एक धारणा के प्रतिनिधि थे बिहारी, कुलपति मतिराम और पद्माकर आदि दरबारी कवि तथा दूसरी के खुशालचन्द्र, जगतराम, अनन्तराम आदि जैन कवि।

माणिकचद भावसा का जन्म १९वी विक्रम शताब्दी के अन्त मे जयपुर मे हुआ था, जहाँ की भूमि को उनसे पहले जोधराज, बुधजन, नवल आदि प्रसिद्ध जैन कवि अपनी भक्ति-काव्य-धारा से रस-सिक्त कर चुके थे। उसी काव्य धारा को माणिकचद ने भी आगे बढाया। उनका कोई अनूदित चरित्र-ग्रन्थ तो उपलब्ध नही हुआ; हाँ, बाबा दुलीचन्द भडार जयपुर के पद-संग्रह ४२८ में उनके १८३ पद अवश्य प्राप्त हुए है।

माणिकचन्द की भक्ति—अपने आराध्य के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के लिए आचार्यों ने चार भाव प्रमुखतः माने हैं—वात्सल्य भाव, सख्य भाव, मधुर भाव और दास्य भाव। पांचवाँ भाव शान्त भाव इन्हीं में अन्तर्भूत माना जाता है। हिन्दी के जैन भक्तों के हृदय में प्रथम दो भावो का स्थान गौण है। तीर्थङ्करो के जन्म-कल्याणक उत्सवों के समय उनके हृदय मे वात्सल्य की स्थिति दृष्टिगोचर होती है किन्तु वह प्राय: सस्कृत और अपभ्रंश के ग्रन्थों के अनुसार है, मौलिक कम। परमात्मा द्वारा चेतन के उद्बोधित किए जाने मे ही जैन भक्तों का कहीं-कही सख्य भाव दिखाई देता है। माणिकचद के भी भक्तिपरक पदों मे दास्य और मधुर भाव की प्रधानता है।

दास्य-भाव—माणिकचद अपने सेव्य का स्वरूप अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्त वीर्य से युक्त, अविचल, अविकारी शान्त व परम दीप्तिमान् मानते है, जो जैन दर्शन के अनुसार ही है। भक्त ने केवल जैन दर्शन से ही न बधकर तीर्थङ्करों के स्वरूप में अपने दास्य भावानुकूल जगनायक और उद्धार-कर्तृत्व को भी स्थान दिया है—

"कहाँ जाउँ तज शरण तुम्हारो।
तुम शिव नायक सबके ज्ञायक शिव मारग दरशावनहारे।
जग के देव सरागी जिन हमरे सब काज बिगारे।
अष्ट कर्म तुम चूरि किये कीचक आदि अधम बहु तारे।
तुमरो ध्यान धरत सुर मुनि खग
मानिक हृदयबसो भवि प्यारे॥

'जिन' भगवान् के गुण-गान की अपेक्षा माणिकचद ने अपने अवगुणों तथा कष्टो को उनसे अधिक व्यक्त किया है। वे कहते है, इन राग, द्वेष व भ्रमों ने मेरे समस्त कार्य बिगाड दिए, हे अधम-उद्धारक ! इन्हें नष्ट कीजिये—

"श्री जिन म्हारी अरज सुनौ म्हाराज।
हे त्रिभुवन सिरताज।
राग दोष भ्रम भाव जु मेरो होन न देय निज काज।
मैं चिर दुःखी भयो विधि बस करि मेटि गरीब निवाज।
तुम तो अधम अनेक उधारे तिन पायो शिवराज।
'मानिक' चरण शरण गहि लीनौं तुम्हीं को हमारी लाज॥"

'मोह' शत्रु ने तो भक्त के आत्म-धन का अपहरण कर उसे चिर-सतप्त बना दिया है, इसीलिए उसे शीघ्र ही 'जिन' भगवान् की शरण लेनी पड़ी—

हे मेरी विनती सुनों जिनराय ।
मोह शत्रु निज धन हरि कै मोहि रक कियो भरमाय ।
मैं चिर दुःखी भयो भव-वन में सो कछु कह्यो न जाय ।
अधम उधारक शिव सुखकारक सुनि जस आयो धाय ।।

'पतित-उद्धार' जिन भगवान् का विरद है । नीचातिनीच व्यक्ति भी कर्म-शत्रु से तभी तक पीडित रहता है जब तक जिनेन्द्र उसकी ओर प्रवृत्त नही होते । माणिकचद 'जिन' भगवान् को अपने उद्धार की ओर प्रवृत्त कराने के लिए वैष्णव भक्तों के समान उनके विरद का भी ध्यान दिला देते है—

प्रभु तोरी हजूरियाँ ठाढ़ो ।
एजी मैने तारण तरण सुन्यों छे विरद थारो गाढ़ो ।
एजी थारी अनुपम शान्त छवी पं कोटि रवि वारो ।
एजी तुम बिन भव वन के माहो सहो दुख भारो ।
एजी म्हानें कर्म शत्रु अति पीडै न्याव निरवारो ।
एजी थे त्रिभुवन अंतरजामी अरज अवधारो ।
एजी अब 'मानिक' को भवदधि सं हस्त पकरि निरवारौ ।

माणिक जिनेन्द्र से अपना सम्बन्ध भी निकाल लेते हैं, वह पतित है जिनेन्द्र पतित पावन, दोनो का हित एक दूसरे पर निर्भर है। भक्तप्रवर तुलसी ने भी अपने आराध्य से उद्धार की प्रार्थना करते समय उनसे सम्बन्ध निकालने की युक्ति सोची थी 'मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानिक बने ।'१ 'जिन' भगवान् को भी पतित-पावन कहलाने के लिए अपने सम्बन्धी भक्त का उद्धार करना ही पड़ेगा—

म्हारो दुख वेगि मिटाउ जगतपति अधम उधारण ।
मोह शत्रु म्हारै पंड परो है निशिदिन करत दवाउ ।
म्हे तो पतित थे पतित जु पावन अपनो विरद निभाउ ।
'मानिक' अरज सुनौं करुणा करि अरि को सग छुड़ाउ ।

यहाँ 'म्हारो दुःख वेग मिटाउ' में भक्त का तीव्र सताप तथा उद्धार के लिए आतुरता भी स्पष्टत. द्योतित है ।

भक्त माणिक की सबसे बड़ी विशेषता है 'जिन' के प्रति अनन्यता । जिनेन्द्र की वीतरागता, ज्ञान, अ-क्रोध, भ्रम विनाश१ तथा भय और दुःख को दूर करके अधमों का उद्धार करने की प्रवृत्ति आदि ऐसी विशेषताएँ है जिनके कारण भक्त को उनके अतिरिक्त दूसरा देव सुहाता ही नही, अत. उसने अपने को मन, वचन व कर्म से केवल जिनेन्द्र का शरणागत व अन्य देवों का उपेक्षी बतलाया है—

प्रभुजी तुम्हारो ही आसरो मोहि और किसी सौं काम नहीं
तुम नाम रटत संकट जु कटत अघकर्म मिटत हैं ततछिन हीं
भयभंजन रंजन मुक्त वधू सुख करि गंजन केहरि तुमही
तुम अधम उधारण नाम सही यह कीरति तिहुजग छाय रही
भवसागर से प्रभु पार करो 'मानिक' मन-वच-तन शरण गही

आदर्श दास्य भक्तों को अपनी भक्ति के फल-स्वरूप किसी भौतिक समृद्धि की अभिलाषा नही हुआ करती; उन्हें कामना होती है केवल आदर्श अथवा अनुकरणीय मानव बनने की । तुलसी ने स्वय को सन्त बना देने की कृपा चाही थी२ । माणिकचन्द को भी जिनेन्द्र से इन्द्रिय-दमन, देव, धर्म व गुरुओं का सेवन, कुगुरुओं का परित्याग प्रमाद का विनाश तथा शास्त्र व सार्धमियों के ससर्ग व आत्म-चिन्तन की याचना ही अभीष्ट है—

निज हित मांहो भवि लागना ।
तेरो शत्रु प्रमाद प्रबल है निश दिन ताकौं त्यागना ।
इन्द्रिय चपल चोर निज धन के तिनके मग नहिं लागना ।
हित के कारण देव धर्म गुरु तिनसों नित प्रति पागना ।
अहित हेतुकुगुरादिक परखि कै दूरिहिं तें तजि भागना ।
जिन श्रुत साधर्मी सुसंगति 'मानिक' प्रभु तें मांगना ।

आराध्य का गुण-गान, स्वदोषो का कथन, उद्धार की प्रार्थना, भक्ति की अनन्यता व निष्कामता आदि विशेष-

१. विनय-पत्रिका पद १६०

२. पद सग्रह ४२८, पृ० ४४, दुलीचद भडार जयपुर

२. कबहुँक हौ यह रहनि रहौगे ।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते सन्त सुभाव गहौंगे ।
—विनय-पत्रिका

ताओं का अवलोकन करके माणिक को दास्य-भावना में तुलसी आदि के समकक्ष कहें तो अत्युक्ति न होगी।

माधुर्य भाव—हिन्दी के वैष्णव-भक्ति साहित्य में माधुर्य-भाव का समावेश अधिकांशतः सत्रहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ; तदनन्तर माधुर्योपासक हरिदासी, निम्बार्क, राधावल्लभ, ललित, श्री आदि सम्प्रदायों की बाढ-सी आ गई और प्रचुर साहित्य का निर्माण हुआ। जैन दास्य-भावना में वैष्णव-भक्तों से समानता रखते हुए भी जैन-भक्तों का माधुर्य-भाव उनसे कुछ भिन्न है तथा अपेक्षाकृत प्राचीन भी। भिन्नताएँ इस प्रकार हैं—

१. वैष्णव मधुर-भक्तों का आराध्य अपनी आह्लादिनी शक्ति के साथ लीला-हेतु वृन्दावन अथवा साकेत-धाम में अवतीर्ण होता है। जिनेन्द्र की न तो अपनी कोई आह्लादिनी शक्ति है और न वह लीला-हेतु अवतार ही लेता है। वह तो सामान्य जीवों की तरह इस जगत् में अपने ही विशिष्ट गुणों से एक महत्वपूर्ण स्थान पा गया है।

२. वैष्णव-मधुर-उपासकों को राम अथवा कृष्ण का लोक-रंजक रूप ही मान्य है किन्तु जैन-भक्तों को जिनेन्द्र का सत्य, शिवं, सुन्दरम् का समन्वित स्वरूप, अतः जहाँ के वैष्णव भक्त आराध्य के सौन्दर्य पर रीझकर उसे निरखते रहने की चाह करके रह गये हैं वहाँ जैन-मधुर-भक्तों ने जिनेन्द्र के लोक-मंगलकारी स्वरूप को भी अपने लिए अनुकरणीय माना है।

३. वैष्णव-भक्तों ने माधुर्य-भाव के तीन भेद किये हैं—गोपी-भाव, पत्नी-भाव व सखी-भाव। जैन मधुर-भक्तों में केवल पत्नी-भाव ही परिलक्षित होता है।

४. वैष्णव भक्तों की मधुर-साधना मे अष्टधाम और वर्षोत्सव लीलाओं के चित्रण मे लौकिक शृङ्गार की-सी बू आती है। जैन मधुर-भक्तों को अपने आराध्य के सयोग का अवसर ही न मिला, फिर अष्टधाम और वर्षोत्सव लीलाओं का वर्णन वे कहाँ से करते? आराध्य का सान्निध्य पाने के लिए विरह और तड़पन ही जैन मधुर-भक्तों का जीवन है।

५. वैष्णव भक्तों व सन्तों ने अपने आराध्य से सीधा ही माधुर्य सम्बन्ध स्थापित कर उसका संयोग-सुख लूटा अथवा उसके विरह में आँसू बहाये; जैन कवियों ने जिनेन्द्र से अपना माधुर्य सम्बन्ध व्यक्त करने के लिए प्रायः सर्वत्र ही राजमती को माध्यम बनाया है—तात्पर्य यह है कि राजमती विरह-वर्णन मे ही जैनभक्तों की मधुर-भावना-जन्य टीस, तड़पन अभिव्यक्त है।

माणिकचन्द के पद-संग्रह मे 'राजमती-विरह' के रूप में कई ऐसे पद संकलित हैं जिनमें क्षण-भर भी प्रिय-वियोग को सहने की सामर्थ्य माणिकचन्द में परिलक्षित नहीं होती—

अब क्यों बेर हो, जदुपति नेमिकुमार प्रभु सुनि।
किंचित सुख स्वप्नेवत बीत्यो अब दुःख सुमेर हो।
मैं अनाथ मोहि साथ निबाहो अब क्यों करत अबेर हो।
मानिक अरज सुनो रजमति प्रभु राखो चरननि लेर हो।

भक्ति के अन्य भाव—वात्सल्य व सख्य–माणिकचन्द के पदो म नहीं दिखाई देते।

३८वें ईसाई तथा सातवें बौद्ध विश्वसम्मेलन की श्री जैन संघ को प्रेरणा

कनकविजय जी महाराज

[अनेकान्त के विगत अंक में आचार्यप्रवर तुलसी गणी के 'तीन सुझाव' शीर्षक निबन्ध से अनुप्राणित होकर मुनि कनकविजय जी महाराज ने प्रस्तुत लेख की रचना की है। लेखक ने ३८वें ईसाई और ७वें बौद्ध विश्व-सम्मेलन स्वयं देखे थे। उससे जैन संघ के प्रति उनकी जो अनुभूतियाँ जागृत हुई, उनका इस निबन्ध में सांगोपांग विवेचन है। इस सम्बन्ध में मुनि जी की विस्तृत जानकारी है। यह निबन्ध जैन संघ के प्रति उनकी श्रद्धा का द्योतक है। आशा है कि जैन समाज के कर्णधार विचार करेंगे। लेख क्रमशः प्रकाशित होगा।

—सम्पादक]

लेख की प्रेरणा

सारनाथ वाराणसी में नवम्बर २९ से ४ दिसम्बर १९६४ तक ७वां विश्व बौद्ध सम्मेलन जो हुआ था उसका मैं बहुत समीप से दर्शक रहा हूँ। क्योंकि २८-११-६४ से ८-१२-६४ तक मैं सारनाथ मे ही रहा था। श्री जैन संघ का मेरे पर इतना महान् ऋण है कि जो किसी तरह से उऋण न किया जा सकता। अतः उस सम्पूर्ण प्रसग के प्रत्येक अनुभव से लेकर आज तक मेरी दृष्टि के सामने बराबर श्री जैन संघ रहा है। एक हित चितक के रूप मे श्री संघ की सेवा में कुछ लिखने की इच्छा तो थी ही, किन्तु जैन सघ की वर्तमान कर्त्तव्य शून्य अवस्था को देखते हुए उसका अमल नही होता था। भावनगर, सौराष्ट्र से प्रकाशित होने वाले १६-१२-६४ के 'जैन' मे विद्वान् संपादकीय लेखक महानुभाव ने सामयिक स्फुरण में ईसाई विश्व सम्मेलन के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा, वह पढ़ने के पश्चात् पुन. भीतर से उर्मि उठी, जिसकी पूर्ति ३-१-६५ के "जैन" मे आचार्य श्री तुलसी गणी जी महाराज का लेख "जैन समाज के लिए तीन सुझाव" पढ़ने के पश्चात् निर्णय हुआ और उसी कारण से कुछ विलम्ब से भी श्री संघ की सेवा मे यह लेख लिख रहा हूँ।

शास्त्रों का नहीं, जीवन्त अनेकान्तवाद चाहिए

श्री जैन संघ की आँखों के सामने ही अत्यन्त महत्व-पूर्ण ईसाई-बौद्ध-जैसे दो विश्व सम्मेलन हुए हैं। हर तीन वर्ष मे हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन, नासिक के कुम्भ के रूप मे तथा प्रति वर्ष माघ मेले के रूप मे घूमते-फिरते विशाल हिन्दू सम्मेलन तो होते ही है, फिर भी चालू वर्ष के अप्रैल मे विश्व हिन्दू सम्मेलन दिल्ली मे होगा। इतना ही नही सन १९६६ के माघ महीने में प्रयाग के पूर्ण कुम्भ पर पुनः दूसरा विश्व हिन्दू सम्मेलन भी होने वाला है। इन सारे प्रेरणादायी प्रसंगो से श्री जैन सघ जैसा अत्यन्त विचक्षण और बुद्धिमान संघ भी क्या कोई उपयोगी प्रेरणा ले सकता है कि नही ? और यदि ले सकता है तो क्या प्रेरणा लेनी चाहिए ? यह विचारने के लिए ही यह लेख लिख रहा हूँ। यद्यपि आचार्य श्री तुलसी गणी जी महाराज अर्थात् तेरापंथी जैन समाज का अणुव्रत आदोलन तथा मुनि श्री सुशीलकुमार जी का अनेकों स्थान मे हुए विश्व धर्म सम्मेलनों, श्री कामता प्रसाद जी जैन आदि के द्वारा संचालित विश्व जैन मिशन, अलीगंज, एटा आदि प्रवृत्तियाँ श्री जैन संघ के लिए गौरव रूप ही हैं, फिर भी इतना तो कहना ही पड़ता है कि उन प्रवृत्तियो में जैसा संगठन होना चाहिए, वैसा नहीं हैं। अतः भारत तथा विश्व में उतना समुचित प्रभाव भी नही पड़ता कि जिससे जैन सस्कृति का नाम उज्वल हो। बात तो यह होनी चाहिए थी कि संगठित जैन संघ की प्रेरणा विश्व की अन्य

संस्कृतियाँ भी लेतीं। यदि ऐसा होता तो जैनियों का अनेकान्त या स्यादवाद् जीवन्त है, ऐसा गिना जाता, किन्तु नहीं, विश्व के समग्र दर्शन तथा विचारधाराओं का समन्वय करने वाला जैनियों का अनेकान्तवाद केवल पुस्तकों या ग्रंथों की ही शोभा बढ़ाने वाला है। जीवन मे उस महान् अनेकान्तवाद का कोई विशेष उपयोग नही है और ऐसा होने से ही जैनियों के छोटे-मोटे पेटा-उपपेटा सम्प्रदाय भी आपस में नहीं मिल सकते। मिलने की बात तो दूर रही, वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए भले प्रगट न सही, किन्तु गुप्त रूप से भीतरी द्वेषभाव भी उनमें विद्यमान हैं। जिसकी समय-समय पर जन-साधारण को भी प्रतीति होती रहती है। जहाँ परिस्थिति यह हो, वहाँ आस्तिक-नास्तिक, ईश्वरवादी-अनीश्वरवादी आदि प्राचीन दृष्टि-भेदो का, तथा वर्तमान के साम्यवाद, समाजवाद, पूजीवाद, सर्वोदयवाद आदि मानव जीवन की वर्तमान अनेक विध समस्याओं का समाधान करने वाली बातों का जीवन्त समन्वय तो सम्भव ही कहाँ से हो? किन्तु अत्यन्त नम्रता से श्री संघ के सामने मैं इतना निवेदन अवश्य करूँगा कि वैसे जीवन्त अनेकान्त के बिना श्री जैन संघ की "सवी जीव करूँ शासन रसी" भावना केवल मनोराज्य की ही भावना होगी। वर्तमान विश्व में वैसी काल्पनिक भावनाओं का विशेष कोई मूल्य नहीं है।

श्री जैन संघ उपरोक्त दोनों सम्मेलनों में से क्या-क्या प्रेरणा ले सकता है? उसका विचार तथा निर्णय करने के पूर्व उन दोनों विश्व सम्मेलनों की कार्यवाही पर एक सरसरी निगाह डालें।

३८वां विश्व ईसाई सम्मेलन, बम्बई

भारत मे सर्वप्रथम ईसाई प्रचार ६०० ई० वर्ष पूर्व सेन्ट थोमस द्वारा शुरु हुआ था। वर्तमान में १,२०,००,००० एक करोड़ बीस लाख करीब भारत मे ईसाई है। वे अधिकतर हिन्दू से ही ईसाई बने हैं। केरल प्रान्त आधा क्रिश्चियन है, नागालैण्ड की चार लाख की आबादी में से साठ प्रतिशत ईसाई हो गये हैं। मध्यभारत में जसपुर स्टेट के आस-पास में भी क्रिश्चियनों का बड़ा भारी प्रचार चल रहा है। सम्पूर्ण एशिया में सर्वोत्तम विशाल चर्च मध्यभारत में बनाने की भी क्रिश्चियन सोसायटी की योजना है, जो बहुत जल्द शुरू होने वाली है। संसार में वर्तमान समय में ६० करोड़ ईसाई हैं।

ईसा का मुख्य शिष्य सन्त पेत्रुस के दो सौ चौसठवे उत्तराधिकारी वर्तमान पोप अर्थात् सत्त पिता ज्होन छट्ठा पोलुस की उम्र ६७ वर्ष की है। उन्हीं को सेवकों के सेवक भी कहे जाते है। जो पोप का ही शब्दार्थ है। वे इटली में रोम के पास में बेटिकन में रहते हैं। उनका विश्व भर में सबसे छोटा सार्वभौम स्वतन्त्र साम्राज्य है, जिसका क्षेत्रफल ६१६ माईल का है। उनका स्वतन्त्र सिक्का, पोलिस, पोस्ट विभाग, रेडियो स्टेशन आदि है। १३हवी शताब्दी तक सारे यूरोप पर पोप का आधिपत्य अर्थात् शासन था। रोमन कैथोलिक जनता पोप को साक्षात् प्रतिनिधि मानती है। उनके पास में अपार धन था, और वर्तमान में भी है। पोप की परम्परा ने धन का उपयोग जनता के ज्ञान, कला आदि के विकास के लिए भी किया है। भारत मे नालन्दा, तक्षशिला आदि प्राचीन विश्वविद्यालयों की तरह आक्सफोर्ड विश्वविद्य, पेरिस का विश्वविद्यालय आदि अनेकों विश्वविद्यालयों की पोप परम्परा ने स्थापना तथा वृद्धि की है। सन् १८७१ से प्रतिवर्ष १६ लाख रुपया मिलता है, किन्तु पोप के न लेने के कारण इटली के राज-भडार में जमा होता जाता है। इस प्रकार अब तक करोड़ों रुपया जमा हुआ है। २००० वर्षों के इतिहास में पोप अर्थात् सन्त पिता यूरोप में भी कदाचित् ही बाहर गये हों। एशिया में तो सर्वप्रथम यूरेरिस्टिक काग्रेस अर्थात् परमप्रसाद महासभा के ३८वें अधिवेशन के लिए ही आए थे, वह भी बम्बई के बड़े पादरी तथा कांग्रेस अध्यक्ष के अत्यन्त आग्रह के कारण ही। वे केवल ३ दिन के लिए ही विशेष हवाई जहाज से निजी राष्ट्र बेटीकन राज्य से भारत आये थे। हवाई जहाज को भीतर-बाहर से खूब सजाया गया था। पोप के दल में ७० सदस्य थे। पोप के केवल ३ दिन के बम्बई के प्रोग्राम के लिए खास सफेद रंग की कार भी अमेरिका से फोर्ड कं० ने जहाज द्वारा भिजवाई थी, जो अमेरिका की ही किसी यूनिवर्सिटी ने पोप के लिए भेट की थी। पोप ने भी उसका केवल ३ दिन उपयोग करके भारत के

ही ईसाई मिशन को भेंट कर दी। २००० पौण्ड का विशाल घंटा भी स्टाइंम से स्विस जहाज में खास कांग्रेस के अधिवेशन के लिए आया था।

पोप जब हवाई जहाज से बम्बई आये, तब हवाई अड्डे पर १० लाख की जनता एकत्रित थी, ऐसा बम्बई के एरोड्रोम में इधर कितने वर्षों के इतिहास मे नही हुआ था। उपराष्ट्रपति श्री जाकिरहुसेन तथा प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने बम्बई जाकर श्रीयुत् पोप का स्वागत किया था। राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् भी पोप से मिलने के लिए ही हवाई जहाज द्वारा ३-१२-६४ को दिल्ली से बम्बई गये थे। श्री पोप को डेढ़ सौ (१५०) वर्ष पुरानी खास बहुमूल्य काश्मीरी शाल भेंट की गई थी। पोप के भारत आगमन पर, भारत सरकार द्वारा पोष्ट के टिकट शुरू करके पोप का स्वागत किया गया था। गोवा, दिल्ली, कोचीन, अहमदाबाद तथा कलकत्ता से बम्बई के लिए ३ दिन की स्पेशल विमानो की सर्विस भी चालू हुई थी। प्रतिदिन दर्जनों ट्रेनें भी विभिन्न स्थानों से खास बम्बई के लिए चलाई गई थी। काग्रेस मे सम्मिलित होने के लिए ३३ राष्ट्रो के प्रतिनिधि हजारो की सख्या मे बम्बई आये थे। विमान बम्बई के एरोड्रोम मे पहुँचते ही विशाल जनसमूह को देखकर पोप ने हाथ जोड़कर जनता का अभिनन्दन स्वीकार किया। एक सभा की समाप्ति पर स्वयं पोप ने 'जय-हिन्द' का नारा लगाया था। भेंट में आये हुए रामायण और महाभारत को स्वीकार करते हुए पोप ने कहा था कि "महान् ग्रन्थों के रूप मे ये दोनों महाकाव्य अत्यन्त मूल्यवान हैं।" ३-१२-६४ के दिन ६ विशिष्ट पादरियों की पवित्रीकरण क्रिया श्रीयुत् पोप ने कराई थी। लगभग ३०,००० तीस हजार पादरी बम्बई में सम्मिलित हुए। पोप के पास समय न होने के कारण पोप के खास प्रतिनिधि सेण्ट जेवियर्स की समाधि पर श्रद्धा प्रकट करने के लिए विशेष विमान से गोवा गये थे। वहाँ जाकर जनता के साथ आदर भाव व्यक्त करके पोप बम्बई आये थे। बम्बई की काग्रेस तथा तत्सम्बन्धित समारोहों पर ८७ लाख से भी अधिक खर्च हुआ। इस अवसर पर गवर्नमेंट की ओर से एक लाख बोरी सीमेंट की व्यवस्था की गई थी।

पोप के भारत आगमन पर तिब्बत के श्री दलाई लामा ने कहा कि "भारत में दो धर्मों का विश्व सम्मेलन शुभ-सूचक है।" काची कामकोटि के श्री शङ्कराचार्य ने जनता से अपील की कि "पोप का अनादर न करें, शांति रखें।" शारदापीठ, (द्वारका, सौराष्ट्र) तथा शृंगेरी पीठ के शकराचार्यो ने कहा कि "पोपपाल जैसे महामनीषि का भारत मे स्वागत सत्कार होना चाहिए।" विनोबा भावे तथा श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी का जनता को शान्ति रखने का उद्‌बोधन महत्त्व का तो था ही। जैन मुनि श्री सुशीलकुमार जी का उद्‌बोधन भी श्री जैन सघ के गौरव को बढाने ही वाला था कि "पोप पाल का अनादर न करे।" यह सब होने पर भी आर्य समाज, हिन्दू महासभा आदि के द्वारा पोपपाल का विरोध भी हुआ। परिणामतः कितनी गिरफ्तारियाँ भी हुई। इतना होने पर भी पोपपाल ने भारत मे आते ही उदार भाव से उन सब गिरफ्तार व्यक्तियो को छुड़ा दिया। और कहा कि "मैं उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ।" पोप ने २४ हजार पौण्ड गरीबों के लिए दिया। ५०,००० रुपये का दान भारत के गरीब बालकों के लिए किया। गरीबों के लिए विश्वकोष बनाने की भी विश्व को अपील की। अनाथ बालकों के साथ में पोप ने स्वयं जलपान अर्थात् अल्पाहार भी किया। पोप को मिली हुई अनेक भेंटों में एक अन्ध व्यक्ति के उपहार को पोप ने सर्वाधिक महत्व का बतलाया था। पोप के जुलूस उत्सव आदि में अनेकों फोटोग्राफर फोटो लेने के लिए लगे हुए थे। उनमे श्री जोधामल नाम के एक फोटोग्राफर दुर्घटनाग्रस्त होकर मर गये। तब पोप ने जोधामल के परिवार को ५००० डालर की सहायता दी। पोप ने महाराष्ट्र प्रान्त के राज्यपाल को, श्रीमती विजयलक्ष्मी पडित तथा श्रीमती इन्दिरा गाँधी आदि कितने ही विशेष व्यक्तियों को चाँदी का पदक तथा चाँदी के फ्रेम में मढ़े हुए अपने फोटो भेंट दिए। पोप ने ३०० नर्तकों के विशिष्ट भारतीय नृत्यों को भी देखा। पोप ने अपने प्रवचनों में जनता को सम्बोधित करते हुए कहा, "जन साधारण में ईश्वर के प्रति निष्ठा होनी चाहिये, मानव समाज को रेडियो, विमान आदि वैज्ञानिक आविष्कारों से भी अधिक आवश्यकता प्रेम सौहार्द आदि की

है। जिसके द्वारा मनुष्य दूसरे मनुष्य के समीप पहुँच सके।" बम्बई से अपनी राजधानी बेटीकन की ओर हवाई जहाज द्वारा जाते हुए विमान के ही रेडियो से भारत के राष्ट्रपति के नाम सद्भावना सन्देश भी भेजा। क्योंकि डा० राधाकृष्णन् पोप से मिलने के लिए ही विमान के द्वारा दिल्ली से बम्बई गये थे।

इस सारे प्रसंग में भारत के लिए कलंक रूप, भारत का नैतिक जीवन भी कितना नीचा आ गया है? वह दर्शाता हुआ एक खास प्रसंग कहता है कि:—चोरी, बदमाशी आदि दुर्घटनाओं को रोकने के लिए गुप्तचर-विभाग पूर्ण सक्रिय था। दो सौ से अधिक गुण्डे जेबकतरे (पाकेटमार) बदमाश आदि को गिरफ्तार किया गया था। कहाँ प्राचीन भारत का गौरवपूर्ण आदर्श, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन, जहां जन-साधारण भी खुले पड़े सोने या जवाहरात के ऊपर दृष्टि नहीं करता था, वहाँ आज देव-मन्दिरों की सम्पत्ति की रक्षा करनी भी अत्यन्त दुर्लभ है। आज तो भारत की सरकार भी नैतिक रीति से सहस्राब्दियों से चली आती साधारण जनता को भी चोरी, बेईमानी, छल, प्रपंच, कपट, दगा, धोखा आदि के दुखद मार्ग पर बलात्कार धकेल रही है। जनसाधारण को भारत का वर्तमान जनजीवन बिल्कुल असह्य हो रहा है। ज्ञानी भगवान ही जाने कि भारत की आध्यात्मिक सस्कृति की रक्षा कौन? कब? कैसे करेगा? क्या किसी युग प्रधान महापुरुष के आगमन के मणकारे भारत के वायुमण्डल मे बज रहे है।

अड़तीसवें विश्व ईसाई सम्मेलन का उल्लेखनीय स्वागत सत्कार तो हुआ ही है किन्तु कितने स्थानों में विरोध भी। श्री पी० के० हरिवंश द्वारा ६-१२-६४ के दैनिक आज में 'भारत में पोप का स्वागत क्यों?' श्री भारतेन्द्रनाथ साहित्यालंकार द्वारा २२-११-६४ के दैनिक आज में 'पोप की सेना का भारत पर हमला'। ४-१-६५ के दैनिक आज में 'मुसलमान ईसाई धर्म-प्रचार से विरुद्ध है। क्योंकि ईसाई मुसलमानों को क्रिश्चियन बनाते हैं। ६-१२-६४ के दैनिक आज में "यदि ईसाई हजरत किसी मुस्लिम देश में अपना सम्मेलन करने का विचार भी करे तो मजा आ जाय। सम्मेलन करना तो दूर रहा मुसलमान प्रधान देश मे ईसाइयों को पैर रखने तक की अनुमति भी नही मिल सकती। इत्यादि।

ईसाई विश्व सम्मेलन की प्रशस्ति करते हुए भावनगर सौराष्ट्र से प्रगट होने वाले 'जैन' साप्ताहिक के विद्वान् तन्त्री ने पृष्ठ ७५३ पर लिखा है कि "अड़तीसवाँ विश्व ईसाई सम्मेलन का यह प्रसंग हिन्दुस्तान मे हुई एक महत्व की घटना के रूप मे यादगार बन गया। पोप ने समय को परख कर बेटीकन में ही अवरुद्ध रहने की प्रथा मे परिवर्तन किया। इतना बड़ा विश्व सम्मेलन भारत के लिए उदाहरण रूप बन गया है। "वहाँ व्यवस्था अजब थी और शान्ति अपूर्व।" तन्त्री श्री आगे चलकर लिखते हैं कि—पतित, दलित, दरिद्र, दु.खी और रोगग्रस्त अज्ञान मानव-समूहो को अपनाकर ही क्रिश्चियन धर्म विश्वभर मे महा वट-वृक्ष की तरह अपना विस्तार कर सका। यह बात कभी भी भूलने जैसी नहीं है।

अब अपन सातवे विश्व बौद्ध सम्मेलन की ओर आवे।

(क्रमशः)

स्व और पर को भिन्न करने वाला जो ज्ञान है वही ज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान को प्रयोजन भूत कहा गया है। इसके सिवाय बाकी का सब ज्ञान अज्ञान है। जिन भगवान् शुद्ध आत्मदशारूप शान्त हैं। उनकी प्रतीति को जिन-प्रतिबिम्ब सूचन करती है। उस शांतदशा को पाने के लिए जो परिणति, अनुकरण अथवा मार्ग है उसका नाम जैन मार्ग है। इस मार्ग पर चलने से जैनत्व प्राप्त होता है।

—श्रीमद् राजचन्द्र

साहित्य-समीक्षा

१—**उपासकाध्ययन,** मूललेखक—सोमदेव सूरि, सम्पादक अनुवादक प० कैलाशचन्द सिद्धान्तशास्त्री, प्रधानाचार्य स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, पृष्ठ सख्या ६३६। मूल्य सजिल्द प्रति का १२) रुपया।

प्रस्तुत उपासकाध्ययन सोमदेव सूरि के यशस्तिलक चम्पू के अन्तिम तीन आश्वास है। ग्रन्थकर्ता ने स्वय इन्हें उपासकाध्ययन नाम से उल्लेखित किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ ४६ कल्पो मे विभाजित है। जिनमे श्रावको के आचार और उनसे सम्बन्धित विषयो पर युक्ति पूर्वक विचार किया गया है। आचार्य सोमदेव अपने समय के प्रख्यात विद्वान् थे। वे तर्क, व्याकरण, सिद्धान्त, नीति और साहित्यादि विविध विषयो के अधिकारी बहुश्रुत विद्वान् थे। उनकी विद्वत्ता का परिचय उनकी कृति यशस्तिलक चम्पू से मिल जाता है। यह उच्चकोटि की रचना है। इनका समय शक स० ८८१ (वि० स० १०१६) है। कर्ता ने उस काल मे होने वाली दार्शनिक प्रवृत्तियो का आलोचन किया है और वस्तुतत्त्व को दर्शाने का सफल प्रयास किया है। साथ ही दर्शनान्तरीय मतो का युक्ति-पुरस्सर निरसन भी किया है, और जैन वस्तु-तत्त्वका-आप्त आगम और पदार्थ का—सुन्दर विवेचन किया है। पूजा और पूजा के प्रकारों का जितना सुन्दर वर्णन इस ग्रन्थ मे पाया जाता है वैसा अन्यत्र देखने मे नही आया। और जैन श्रावकाचार की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए गद्य-पद्य मे विस्तृत विवेचन किया है। उनमे अनेक बातो का वैसा सुन्दर वर्णन अन्यत्र उपलब्ध नही होता। ग्रन्थ का यह साङ्गोपाङ्ग विवेचन हृदयग्राही हुआ है। कर्ता ने लौकिक कार्यों के करने की सुन्दर सीमा का उल्लेख करते हुए अच्छा पथ-प्रदर्शन किया है।

सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्व हानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥
इस प्रकार का विधान अन्यत्र नही मिलता।

ग्रन्थ के अन्त में शोलापुर निवासी प० जिनदास शास्त्री द्वारा रचित सस्कृत टीका भी दे दी गई है। जिससे सस्कृत पाठी भी यथेष्ट लाभ उठा सकते है।

ग्रन्थ सम्पादक प० कैलाशचन्द शास्त्री ने अपनी ९६पृष्ठ की महत्वपूर्ण प्रस्तावना मे ग्रन्थ और ग्रन्थकार के विषय में सुन्दर विवेचन किया है। और श्रावकाचार के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। यदि श्वेताम्बरीय श्रावकाचारो से भी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता तो और भी अच्छा होता। पूजा के सम्बन्ध में वैदिक मान्यताओ का भी उल्लेख किया है। ऐसे कठिन ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करते हुए उसे सरल भाषा मे रखने का प्रयत्न किया है और भावार्थ द्वारा विषय को स्पष्ट करने का भी प्रयास किया है। इसके लिये वे बधाई के पात्र है। ऐसे सुन्दर सम्पादन प्रकाशन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ और उसके अधिकारीगण धन्यवाद के पात्र है।

२—**सत्यशासन परीक्षा**—आचार्य विद्यानन्दि, सम्पादक आचार्य गोकलचन्द जैन एम. ए, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी, मूल्य सजिल्द प्रति का ५) रुपया।

जैन परम्परा मे आचार्य विद्यानन्द का स्थान अकलक देव के पश्चात् ही आता है। उनकी अष्टसहस्री, तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि कृतियाँ जैन दर्शन की ही नही किन्तु भारतीय दर्शन की अमूल्य निधि है। वे उच्चकोटि के महान् दार्शनिक विद्वान् थे। उनकी कोटि के दार्शनिक विद्वान् भारतीय परम्परा मे बहुत ही कम हुए है। उनकी यह कृति अभी तक अप्रकाशित थी, प्रथम बार ही उस का प्रकाशन हुआ है। प्रति अपूर्ण है—उसकी पूर्ण प्रति अभी तक कही उपलब्ध नही हो सकी।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत इन चार अद्वैत शासनों की तथा चार्वाक, बौद्ध सेश्वरसाख्य, निरीश्वर साख्य, नैयायिक, वैशेषिक, भाट्ट

और प्रभाकर शासनों की परीक्षा की गई हैं। तत्त्वोपप्लव और अनेकान्त शासन की परीक्षा अनुपलब्ध है। मूलग्रन्थ ४७ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। अन्त में १३ पृष्ठों के परिशिष्ट है। प्रारम्भ मे जैन प्राकृत वैशाली इन्स्टीट्यूट के संचालक डा० नथमल टांटिया की अंग्रेजी प्रस्तावना है। उसके बाद सम्पादक की प्रस्तावना है, दोनों पृष्ठ संख्या ३८ और ३४ है, दोनों प्रस्तावनाएँ अपने मे महत्वपूर्ण हैं। डा० टांटिया ने अपनी प्रस्तावना मे चर्चित दर्शनों के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है और प्रारम्भ मे डाक्टर साहब ने समन्तभद्र और सिद्धसेन के सम्बन्ध मे भी कुछ लिखा है। पं० सुखलाल जी सघवी समन्तभद्र को सिद्धसेन और पूज्यपाद के बाद का विद्वान मानते है। डा० टांटिया ने भी उसी का अनुसरण किया है। जब एक दृष्टिकोण बना लिया जाता है, भले ही वह गलत हो, तो भी उसके अनुकूल साधन सामग्री जुटाने का यत्न किया जाता है। आचार्य समन्तभद्र के सम्बन्ध मे भी एक वर्ग ने अपना ऐसा ही दृष्टिकोण बना लिया है और वह उसी की पुष्टि मे लगा हुआ है। इस पर यहां कुछ लिखना अप्रासंगिक होगा, अतः फिर कभी इस गलत धारणा पर लिखने का यत्न किया जावेगा। निष्पक्ष ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी यह कल्पना सम्मत नहीं कही जा सकती, उसका यहां उल्लेख करना भी उचित न था।

श्री गोकुलचन्द जी का यह प्रथम सम्पादन कार्य है। प्रथम प्रयास मे ही उनकी सफलता बधाई के योग्य है। वे उदीयमान लेखक तथा सम्पादक है। उनसे समाज को बड़ी आशाएँ है। इस सुन्दर प्रकाशन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ धन्यवाद की पात्र है।

३—**भोज चरित्र**—लेखक श्री राजवल्लभ, सम्पादक डा० बी. सी. एच छाबड़ा एम ए., एम ओ. एल., पी. एच. डी. एफ. ए. एस. ज्वाइण्ट डायरेक्टर जनरल आफ आर्किलॉजी इन इण्डिया तथा एस. शंकर नारायणन एम. ए. शिरोमणि, असिस्टेण्ट सुपरिन्टेण्डेट फार एपिग्राफी। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी, पृष्ठ संख्या २१०, मूल्य ८) रुपये।

प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत भाषा का पद्यमय ग्रन्थ है, पद्य प्रायः अनुष्टुप है। ग्रन्थ पांच प्रस्तावो में विभक्त है। ग्रन्थ में महान् विद्या प्रचारक मालव नरेश का जो विद्वानों का सन्मानदाता था। और जो संस्कृत भाषा का अच्छा विद्वान् कवि था, उसकी राजसभा मे अनेक विद्वान रहते थे। जो कोई विद्वान नवीन श्लोक बना कर राजा भोज को सुनाता था, तब भोज उसे बड़ा पारितोषक प्रदान करता था। यदि कोई विद्वान दरिद्र होता था तो वह प्रचुर द्रव्य देकर उसकी दरिद्रता भी दूर कर देता था। राजा भोज की विद्या-वर्द्धिनी प्रवृत्ति पर भोज प्रबन्धादि अनेक ग्रन्थ लिखे गये है। इससे स्पष्ट है कि राजा भोज विद्वानो को कितना प्रिय था। वह उनके आश्रयदाता के रूप में प्रसिद्ध रहा है। इसी से विद्वानों ने भोज चरित्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे है। उनमे प्रस्तुत ग्रन्थ भी एक है, जो जैन कवि राजवल्लभ द्वारा रचा गया है। जिसमें भोजराज की पठनीय जीवनचर्या संगृहीत है। प्रस्तुत भोज चरित्र की एक बड़ी विशेषता यह है कि यह केवल चरित्र ही नही है किन्तु इसमे दिये गये अनेक विवरण साहित्य पुरातत्त्व की जांच मे सही निकलते है। इसी से इस काव्य की ऐतिहासिक महत्ता है।

सम्पादकों ने ग्रन्थ का सम्पादन बड़ी कुशलता से किया है। और प्रस्तावना मे उसके प्रतिपाद्य विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। सं० १४९८ की प्रति को कर्ता के काल की अन्तिम अवधि मान ली है महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना, नोट्स तथा परिशिष्ट भी दिये है। उसमे ग्रन्थ व कथा का संक्षिप्त परिचय और श्लोको का भाव स्पष्ट करने के लिए तथा उसके कर्ता के सम्बन्ध की समस्त ज्ञातव्य बातों का विद्वत्तापूर्ण रीति से विवेचन किया है। इस सुन्दर प्रकाशन के लिए सम्पादक और भारतीय ज्ञानपीठ, के संचालक धन्यवाद के पात्र है।

—**परमानन्द शास्त्री**

अनेकान्त के सत्तरहवें वर्ष की विषय-सूची

मुनि श्री कान्तिसागर के पत्र का महत्त्वपूर्ण अंश

"अनेकान्त मुझे यथा समय मिल जाता है। इसमें कोई सन्देह नही कि अब आपने इसका स्तर बहुत ही ऊँचा कर दिया है। निबन्ध पठनीय और स्थायी शोध की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। जैन समाज का यह शोध प्रधान पत्र विद्वत्समाज का मार्ग दर्शन कराता रहे, यही कामना है। मै भी यथा समय कुछ न कुछ भेजता रहूँगा।"

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता
५०) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, राची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, प० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पाड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाडी दि० जैन समाज, व्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्ति प्रसाद जी जैन
जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्डया झूमरीतलैया
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर
१००) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता

तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर पर विहार सरकार का पक्षपात पूर्ण रवैया

सम्मेदशिखर जैनियो का अत्यन्त पवित्र तीर्थ क्षेत्र है, इसे दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही पूज्य मानते है। समस्त टोकें दिगम्बर आम्नाय की प्रतीक है।

श्वेताम्बर समाज ने जमीदारी अधिकार छिन जाने पर भारतीय जैन समाज के नाम से आन्दोलन किया और कानूनी कार्यवाही भी की। पत्र व्यवहार तथा प्रतिनिधि मण्डल भेज कर मैमोरेण्डम आदि देकर तीर्थराज को पुन: प्राप्त करने का प्रयत्न किया। परिणाम स्वरूप सन् १९६४ मे भारत सरकार के रवैये मे कुछ परिवर्तन प्रतीत हुआ। भारतवर्षीय दि. जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी ने १८ अक्टूबर सन् १९६४ को विहार सरकार के मुख्य मत्री को एक ज्ञापन (मेमोरेण्डम) दिया कि तीर्थराज के सम्बन्ध में जो भी नया कदम उठाया जावे उसमें दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायों को समानता दी जाये। इस पर उनका आश्वासन भी प्राप्त हुआ। किन्तु हमें दु ख है कि ३ फर्वरी १९६५ को विहार सरकार ने अपने आश्वासन पर ध्यान न देते हुए जैनियो के परम पुनीत इस तीर्थ राज को श्वेताम्बर सम्प्रदाय के एक भाग केवल मूर्तिपूजक श्वेताम्बरो से एग्रीमेन्ट कर उन्हे अधिकार सौप दिया, जिससे समस्त दिगम्बर जैन समाज में अत्यन्त क्षोभ है।

दिगम्बर समाज देशभक्त और शान्ति का प्रचारक है। उसके द्वारा सदैव ऐसे कार्य सम्पन्न हुए है, जिनसे वातावरण मधुर बना रहे। परन्तु धार्मिक अधिकारो पर आघात मानव जीवन पर एक महान् प्रहार है। विहार सरकार के इस पक्षपातपूर्ण रवैये ने दिगम्बर समाज मे आतक पैदा कर दिया है। जिससे समाज मे अशान्ति उत्पन्न हो गई है। प्रत्येक जैन अपने धार्मिक अधिकारो का संरक्षण जीवन का परम कर्तव्य मानता है। वह चाहता है कि समस्या शान्तिपूर्ण ढङ्ग से सुलझ जाये।

सौभाग्य की बात है कि हमारे राष्ट्रपति महान् सन्त धर्मज्ञ और दार्शनिक हैं। समाज की दृष्टि उनकी ओर है। यदि वे हमारे धार्मिक अधिकारों की ओर ध्यान दे, तो समस्या आसानी से सुलझ सकती है। विहार सरकार ने मूर्तिपूजक श्वेताम्बर समाज से जो एग्रीमेण्ट किया है, वह सर्वथा एकांगी और अनुचित है। दिगम्बर समाज के अधिकारों पर कुठाराघात है। हमें पूर्ण आशा है कि विहार सरकार अन्यायपूर्ण एग्रीमेण्ट को वापिस ले लेगी।

दिगम्बर जैन समाज का कर्त्तव्य है कि वह विहार सरकार के अन्यायपूर्ण उक्त निर्णय का विरोध कर शक्तिशाली कदम उठाये और तीर्थराज पर अपने अधिकारों की रक्षार्थ सर्वस्व अर्पण के लिए तय्यार रहे। और दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के आन्दोलन में पूर्ण सहयोग देते हुए अपने सामाजिक संगठन को और भी अधिक मजबूत बनाये।

—**प्रेमचन्द जैन**
सं० मन्त्री वीरसेवा-मन्दिर

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीर सेवामन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज दिल्ली से मुद्रित।